Chapter एक

विदुर द्वारा पूछे गये प्रश्न

श्रीशुक उवाच
एवमेतत्पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान्किल ।
क्षत्त्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; एतत्—यह; पुरा—पूर्व काल में; पृष्टः—पूछने पर; मैत्रेयः—मैत्रेय ऋषि ने कहा; भगवान्—अनुग्रहकारी; किल—निश्चय ही; क्षत्रा—विदुर द्वारा; वनम्—जंगल में; प्रविष्टेन—प्रविष्ट हुए; त्यक्त्वा—त्याग कर; स्व-गृहम्—अपना घर; ऋद्धिमत्—समृद्ध।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : अपना समृद्ध घर त्याग कर जंगल में प्रवेश करके महान् भक्त राजा विदुर ने अनुग्रहकारी मैत्रेय ऋषि से यह प्रश्न पूछा।

यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवानखिलेश्वरः ।
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो घर; वै—और क्या कहा जा सकता है; अयम्—श्रीकृष्ण; मन्त्र-कृत्—मंत्री; वः—तुम लोग; भगवान्—भगवान्; अखिल-ईश्वरः—सबके स्वामी; पौरवेन्द्र—दुर्योधन के; गृहम्—घर को; हित्वा—त्याग कर; प्रविवेश—प्रविष्ट हुए; आत्मसात्—अपना ही; कृतम्—स्वीकार किया हुआ।

पाण्डवों के रिहायशी मकान के विषय में और क्या कहा जा सकता है? सबों के स्वामी श्रीकृष्ण तुम लोगों के मंत्री बने। वे उस घर में इस तरह प्रवेश करते थे मानो वह उन्हीं का अपना घर हो और वे दुर्योधन के घर की ओर कोई ध्यान ही नहीं देते थे।

तात्पर्य : गौडीय अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्व दर्शन के अनुसार जो भी वस्तु भगवान् श्रीकृष्ण की इन्द्रियों को तुष्ट करती हो वह भी श्रीकृष्ण है। उदाहरणार्थ, श्रीवृन्दावन धाम श्रीकृष्ण से अभिन्न है (*तद्धाम वृन्दावनम्*), क्योंकि भगवान् वृन्दावन में अपनी अन्तरंगा शक्ति का दिव्य आनन्द भोगते हैं। इसी तरह पाण्डवों का घर भी भगवान् के लिए दिव्य आनन्द का स्रोत था। यहाँ इसका उल्लेख हुआ है कि भगवान् ने इस घर को अपने ही घर की तरह समझा। अतएव पाण्डवों का घर वृन्दावन के समान था और विदुर को उस दिव्य आनन्द वाले स्थान का परित्याग नहीं करना चाहिए था। अत: उनके द्वारा घर छोड़ने का कारण वास्तव में पारिवारिक अनबन नहीं थी, प्रत्युत विदुर ने इस अवसर का लाभ ऋषि मैत्रेय से मिलने और दिव्य ज्ञान की चर्चा करने के लिए उठाया। विदुर जैसे साधु पुरुष के लिए सांसारिक मामलों को लेकर उठने वाला कोई विघ्न महत्त्वहीन था। किन्तु कभी-कभी ऐसे विघ्न

उच्चतर अनुभूति के लिए अनुकूल होते हैं, अतएव विदुर ने पारिवारिक अनबन का लाभ मैत्रेय ऋषि से भेंट करने में उठाया।

राजोवाच
कुत्र क्षत्तुर्भगवता मैत्रेयेणास सङ्गमः ।
कदा वा सह संवाद एतद्वर्णय नः प्रभो ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; कुत्र—कहाँ; क्षत्तुः—विदुर के साथ; भगवता—तथा अनुग्रहकारी; मैत्रेयेण—मैत्रेय के साथ; आस—हुई थी; सङ्गमः—मिलन, भेंट; कदा—कब; वा—भी; सह—साथ; संवादः—विचार-विमर्श; एतत्—यह; वर्णय—वर्णन कीजिये; नः—मुझसे; प्रभो—हे प्रभु।

राजा ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा : सन्त विदुर तथा अनुग्रहकारी मैत्रेय मुनि के बीच कहाँ और कब यह भेंट हुई तथा विचार-विमर्श हुआ? हे प्रभु, कृपा करके यह कहकर मुझे कृतकृत्य करें।

तात्पर्य : जिस तरह शौनक ऋषि ने सूत गोस्वामी से पूछा था और सूत गोस्वामी ने उत्तर दिया, ठीक उसी तरह श्रील शुकदेव गोस्वामी ने राजा परीक्षित की जिज्ञासाओं का उत्तर दिया। राजा इन दो महात्माओं के बीच सम्पन्न सार्थक विचार-विमर्श के विषय में जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक था।

न ह्यल्पार्थोदयस्तस्य विदुरस्यामलात्मनः ।
तस्मिन्वरीयसि प्रश्नः साधुवादोपबृंहितः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; हि—निश्चय ही; अल्प-अर्थ—लघु (महत्त्वहीन) कार्य; उदयः—उठाया; तस्य—उसका; विदुरस्य—विदुर का; अमल-आत्मनः—सन्त पुरुष का; तस्मिन्—उसमें; वरीयसि—अत्यन्त सार्थक; प्रश्नः—प्रश्न; साधु-वाद—सन्तों तथा ऋषियों द्वारा अनुमोदित वस्तुएँ; उपबृंहितः—से पूर्ण।

सन्त विदुर भगवान् के महान् एवं शुद्ध भक्त थे, अतएव कृपालु ऋषि मैत्रेय से पूछे गये उनके प्रश्न अत्यन्त सार्थक, उच्चस्तरीय तथा विद्वन्मण्डली द्वारा अनुमोदित रहे होंगे।

तात्पर्य : विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों के बीच के प्रश्नों तथा उत्तरों का भिन्न-भिन्न महत्त्व होता है। व्यापार-विनिमय में व्यापारी-व्यक्तियों द्वारा किये गये प्रश्नों का आध्यात्मिक महत्त्व नहीं हो सकता। विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों में उठने वाले प्रश्नों तथा उनके उत्तरों का अनुमान सम्बद्ध व्यक्तियों के बौद्धिक स्तर से लगाया जा सकता है। *भगवद्गीता* में जो विचार-विमर्श हुआ वह श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के बीच हुआ जो क्रमशः परम पुरुष तथा परम भक्त थे। भगवान् ने अर्जुन को अपना भक्त तथा मित्र स्वीकार किया (*भगवद्गीता* ४.३), अतएव कोई भी विवेकवान व्यक्ति अनुमान लगा सकता है कि यह

विचार-विमर्श *भक्तियोग* के सिद्धान्त पर आधारित था। वास्तव में सम्पूर्ण *भगवद्गीता* भक्तियोग के सिद्धान्त पर ही आधारित है। *कर्म* तथा *कर्मयोग* में अन्तर है। कर्म तो कर्ता द्वारा फल के भोग हेतु नियमित कार्य है, किन्तु कर्मयोग भगवान् की तुष्टि हेतु भक्त द्वारा सम्पन्न किया गया कार्य है। कर्मयोग भक्ति पर अर्थात् भगवान् को प्रसन्न करने पर आश्रित है, जबकि कर्म स्वयं कर्ता की इन्द्रियों को प्रसन्न करने पर आधारित है। *श्रीमद्भागवत* के अनुसार जब कोई व्यक्ति आध्यात्मिक ज्ञान के उच्च स्तर पर प्रश्न पूछना चाहता हो तो उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाने की सलाह दी जाती है। उस सामान्य व्यक्ति को, जिसे आध्यात्मिक बातों में कोई रुचि नहीं होती, फैशन के रूप में गुरु के पास जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

महाराज परीक्षित, छात्र के रूप में ईश-विज्ञान समझने के प्रति जिज्ञासु थे और शुकदेव गोस्वामी दिव्य विज्ञान के प्रामाणिक गुरु थे। दोनों ही जानते थे कि विदुर तथा ऋषि मैत्रेय के द्वारा जिन विषयों पर विचार-विमर्श हुआ होगा वे उच्चस्तरीय रहे होंगे, अतएव महाराज परीक्षित को अपने गुरु से यह जानने के लिए अतीव उत्कण्ठा थी।

सूत उवाच
स एवमृषिवर्योऽयं पृष्टो राज्ञा परीक्षिता ।
प्रत्याह तं सुबहुवित्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; सः—वह; एवम्—इस प्रकार; ऋषि-वर्यः—महान् ऋषि; अयम्—शुककदेव गोस्वामी; पृष्टः—पूछे जाने पर; राज्ञा—राजा; परीक्षिता—महाराज परीक्षित द्वारा; प्रति—से; आह—कहा; तम्—उस राजा को; सु-बहु-वित्—अत्यन्त अनुभवी; प्रीत-आत्मा—पूर्ण तुष्ट; श्रूयताम्—कृपया सुनें; इति—इस प्रकार।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : महर्षि शुकदेव गोस्वामी अत्यन्त अनुभवी थे और राजा से प्रसन्न थे। अत: राजा द्वारा प्रश्न किये जाने पर उन्होंने उससे कहा; ''कृपया इस विषय को ध्यानपूर्वक सुनें।''

श्रीशुक उवाच
यदा तु राजा स्वसुतानसाधून्
पुष्णान्न धर्मेण विनष्टदृष्टिः ।
भ्रातुर्यविष्ठस्य सुतान्विबन्धून्
प्रवेश्य लाक्षाभवने ददाह ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; यदा—जब; तु—लेकिन; राजा—राजा धृतराष्ट्र; स्व-सुतान्—अपने पुत्रों को; असाधून्—बेईमान; पुष्णन्—पोषण करते हुए; न—कभी नहीं; धर्मेण—उचित मार्ग पर; विनष्ट-दृष्टिः—जिसकी अन्तःदृष्टि खो चुकी है; भ्रातुः—अपने भाई के; यविष्ठस्य—छोटे, सुतान्; सुतान्—पुत्रों को; विबन्धून्—अनाथ; प्रवेश्य—प्रवेश करा कर; लाक्षा—लाख के; भवने—घर में; ददाह—आग लगा दी।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : राजा धृतराष्ट्र अपने बेईमान पुत्रों का पालन-पोषण करने की अपवित्र इच्छाओं के वश में होकर अन्तर्दृष्टि खो चुका था और उसने अपने पितृविहीन भतीजों, पाण्डवों को जला डालने के लिए लाक्षागृह में आग लगा दी।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र जन्मान्ध था, किन्तु अपने बेईमान पुत्रों के समर्थन हेतु अपवित्र कार्य करने में उसका अन्धापन, दृष्टि के शारीरिक दोष से कहीं बड़ा था। दृष्टि की शारीरिक कमी से किसी की आध्यात्मिक प्रगति नहीं रुकती। किन्तु जब कोई कायिक रूप से स्वस्थ होते हुए भी आध्यात्मिक रूप से अन्धा होता है, तो वह अन्धापन मनुष्य जीवन के उन्नति-मार्ग में भयावह रूप से बाधक होता है।

यदा सभायां कुरुदेवदेव्याः
केशाभिमर्शं सुतकर्म गर्ह्यम् ।
न वारयामास नृपः स्नुषायाः
स्वास्रैर्हरन्त्याः कुचकुङ्कुमानि ॥ ७॥

शब्दार्थ

यदा—जब; सभायाम्—सभा में; कुरु-देव-देव्याः—देवतुल्य युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी का; केश-अभिमर्शम्—उसके बाल पकड़ने के अपमान; सुत-कर्म—अपने पुत्र द्वारा किया गया कार्य; गर्ह्यम्—निन्दनीय; न—नहीं; वारयाम् आस—मना किया; नृपः—राजा; स्नुषायाः—अपनी पुत्रबधू के; स्वास्रैः—उसके अश्रुओं से; हरन्त्याः—धोती हुई; कुच-कुङ्कुमानि—अपने वक्षस्थल के कुंकुम को।

(इस) राजा ने अपने पुत्र दुःशासन द्वारा देवतुल्य राजा युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी के बाल खींचने के निन्दनीय कार्य के लिए मना नहीं किया, यद्यपि उसके अश्रुओं से उसके वक्षस्थल का कुंकुम तक धुल गया था।

द्यूते त्वधर्मेण जितस्य साधोः
सत्यावलम्बस्य वनं गतस्य ।
न याचतोऽदात्समयेन दायं
तमोजुषाणो यदजातशत्रोः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

द्यूते—जुआ खेलकर; तु—लेकिन; अधर्मेण—कुचाल से; जितस्य—पराजित; साधोः—सन्त पुरुष का; सत्य-अवलम्बस्य—जिसने सत्य को शरण बना लिया है; वनम्—जंगल; गतस्य—जाने वाले का; न—कभी नहीं; याचतः—माँगे जाने पर; अदात्—दिया; समयेन—समय आने पर; दायम्—उचित भाग; तमः-जुषाणः—मोह से अभिभूत; यत्—जितना; अजात-शत्रोः—जिसके कोई शत्रु न हो, उसका।

युधिष्ठिर, जो कि अजातशत्रु हैं, जुए में छलपूर्वक हरा दिये गये। किन्तु सत्य का व्रत लेने के कारण वे जंगल चले गये। समय पूरा होने पर जब वे वापस आये और जब उन्होंने साम्राज्य का अपना उचित भाग वापस करने की याचना की तो मोहग्रस्त धृतराष्ट्र ने देने से इनकार कर दिया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर अपने पिता के साम्राज्य के सही अधिकारी थे। किन्तु दुर्योधन इत्यादि अपने पुत्रों का पक्षपात करने के लिए महाराज युधिष्ठिर के ताऊ धृतराष्ट्र ने अपने भतीजों को उनके राज्याधिकार से वंचित करने के लिए अनेक छलपूर्ण युक्तियों का सहारा लिया। अन्त में पाण्डवों ने पाँचों भाइयों के लिए केवल पाँच गाँव माँगे, किन्तु अनधिकृत वंचको ने उससे भी इनकार कर दिया। इस घटना के फलस्वरूप कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ। अत: कुरुक्षेत्र का युद्ध पाण्डवों द्वारा नहीं, अपितु कौरवों द्वारा उकसाया गया था।

क्षत्रियों के रूप में पाण्डवों की सही जीविका तो एकमात्र शासन करना था, न कि कोई अन्य कार्य स्वीकार करना। एक ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य किसी भी परिस्थिति में अपनी जीविका के लिए नौकरी स्वीकार नहीं करेगा।

यदा च पार्थप्रहित: सभायां
जगद्गुरुर्यानि जगाद कृष्ण: ।
न तानि पुंसाममृतायनानि
राजोरु मेने क्षतपुण्यलेश: ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; च—भी; पार्थ-प्रहित:—अर्जुन द्वारा सलाह दिये जाने पर; सभायाम्—सभा में; जगत्-गुरु:—संसार के गुरु को; यानि—उन; जगाद—गया; कृष्ण:—भगवान् कृष्ण; न—कभी नहीं; तानि—शब्दों को; पुंसाम्—सभी विवेकवान व्यक्तियों के; अमृत-अयनानि—अमृत तुल्य; राजा—राजा (धृतराष्ट्र या दुर्योधन); उरु—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण; मेने—विचार किया; क्षत—क्षीण; पुण्य-लेश:—पुण्यकर्मों का अंश।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण को जगद्गुरु के रूप में (धृतराष्ट्र की) सभा में भेजा था और यद्यपि उनके शब्द कुछेक व्यक्तियों (यथा भीष्म) द्वारा शुद्ध अमृत के रूप में सुने गये थे, किन्तु जो लोग पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों के लेशमात्र से भी वंचित थे उन्हें वे वैसे नहीं लगे। राजा (धृतराष्ट्र या दुर्योधन) ने कृष्ण के शब्दों को गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया।

तात्पर्य : जगद्गुरु भगवान् कृष्ण ने दूतकार्य स्वीकार किया और अर्जुन द्वारा नियुक्त होकर वे शान्ति-मिशन में राजा धृतराष्ट्र की सभा में गये। कृष्ण सबों के स्वामी हैं फिर भी अर्जुन के दिव्य सखा

होने के कारण उन्होंने यह दूत-कर्म प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया मानो वे कोई सामान्य मित्र हों। अपने शुद्ध भक्तों के साथ भगवान् के बर्ताव का यही अनूठापन है। उन्होंने सभा में जाकर शान्ति के विषय में बातें कीं। इस सन्देश का आस्वाद भीष्म तथा अन्य प्रमुख जनों ने किया, क्योंकि यह सन्देश स्वयं भगवान् के मुख से निकला था। किन्तु पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों के क्षीण होने से दुर्योधन अथवा उसके पिता धृतराष्ट्र ने इस सन्देश को गम्भीरता से नहीं लिया। जिन व्यक्तियों के पुण्य क्षीण हो जाते हैं, वे ऐसा ही करते हैं। कोई व्यक्ति अपने विगत पुण्यकर्मों के बल पर देश का राजा बन सकता है, किन्तु दुर्योधन तथा उसकी टोली के पुण्यकर्मों के फल क्षीण हो चुके थे, अतएव उनके कार्यों से स्पष्ट हो गया था कि वे पाण्डवों के पक्ष में अपना राज्य खोने वाले थे। ईश्वर का सन्देश भक्तों के लिए तो सदैव अमृततुल्य होता है, किन्तु अभक्तों के लिए यह बिल्कुल उल्टा होता है। मिश्री स्वस्थ व्यक्ति को सदैव मीठी लगती है, किन्तु पीलिया रोग से पीड़ित व्यक्ति को यह अत्यन्त तीखी लगती है।

यदोपहूतो भवनं प्रविष्टो
मन्त्राय पृष्टः किल पूर्वजेन ।
अथाह तन्मन्त्रदृशां वरीयान्
यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; उपहूतः—बुलाया गया; भवनम्—राजमहल में; प्रविष्टः—प्रवेश किया; मन्त्राय—मंत्रणा के लिए; पृष्टः—पूछे जाने पर; किल—निस्सन्देह; पूर्वजेन—बड़े भाई द्वारा; अथ—इस प्रकार; आह—कहा; तत्—वह; मन्त्र—उपदेश; दृशाम्—उपयुक्त; वरीयान्—श्रेष्ठतम; यत्—जो; मन्त्रिणः—राज्य के मंत्री अथवा पटु राजनीतिज्ञ; वैदुरिकम्—विदुर द्वारा उपदेश; वदन्ति—कहते हैं।

जब विदुर अपने ज्येष्ठ भ्राता (धृतराष्ट्र) द्वारा मंत्रणा के लिए बुलाये गये तो वे राजमहल में प्रविष्ट हुए और उन्होंने ऐसे उपदेश दिये जो उपयुक्त थे। उनका उपदेश सर्वविदित है और राज्य के दक्ष मन्त्रियों द्वारा अनुमोदित है।

तात्पर्य : विदुर द्वारा दिये गये राजनीति विषयक सुझाव पटु होते हैं, जिस तरह आधुनिक काल में राजनीतिक तथा आचरण-सम्बन्धी अनुदेशों के विषय में अच्छी सलाह के लिए चाणक्य पण्डित प्रमाण माने जाते हैं।

अजातशत्रोः प्रतियच्छ दायं

तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः ।
सहानुजो यत्र वृकोदराहिः
श्वसन्रुषा यत्त्वमलं बिभेषि ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अजात-शत्रोः—युधिष्ठिर का, जिसका कोई शत्रु नहीं है; प्रतियच्छ—लौटा दो; दायम्—उचित भाग; तितिक्षतः—सहिष्णु का; दुर्विषहम्—असह्य; तव—तुम्हारा; आगः—अपराध; सह—सहित; अनुजः—छोटे भाइयों; यत्र—जिसमें; वृकोदर—भीम; अहिः—बदला लेने वाला सर्प; श्वसन्—उच्छ्वास भरा; रुषा—क्रोध में; यत्—जिससे; त्वम्—तुम; अलम्—निश्चय ही; बिभेषि—डरते हो।

[विदुर ने कहा] तुम्हें चाहिए कि युधिष्ठिर को उसका न्यायोचित भाग लौटा दो, क्योंकि उसका कोई शत्रु नहीं है और वह तुम्हारे अपराधों के कारण अकथनीय कष्ट सहन करता रहा है। वह अपने छोटे भाइयों सहित प्रतीक्षारत है जिनमें से प्रतिशोध की भावना से पूर्ण भीम सर्प की तरह उच्छ्वास ले रहा है। तुम निश्चय ही उससे भयभीत हो।

पार्थांस्तु देवो भगवान्मुकुन्दो
गृहीतवान्सक्षितिदेवदेवः ।
आस्ते स्वपुर्यां यदुदेवदेवो
विनिर्जिताशेषनृदेवदेवः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

पार्थान्—पृथा (कुन्ति) के पुत्रों को; तु—लेकिन; देवः—प्रभु; भगवान्—भगवान्; मुकुन्दः—मुक्तिदाता श्रीकृष्ण ने; गृहीतवान्—ग्रहण कर लिया है; स—सहित; क्षिति-देव-देवः—ब्राह्मण तथा देवता; आस्ते—उपस्थित है; स्व-पुर्याम्—अपने परिवार सहित; यदु-देव-देवः—यदुवंश के राजकुल द्वारा पूजित; विनिर्जित—जीते हुए; अशेष—असीम; नृदेव—राजा; देवः—स्वामी।

भगवान् कृष्ण ने पृथा के पुत्रों को अपना परिजन मान लिया है और संसार के सारे राजा श्रीकृष्ण के साथ हैं। वे अपने घर में अपने समस्त पारिवारिक जनों, यदुकुल के राजाओं तथा राजकुमारों के साथ, जिन्होंने असंख्य शासकों को जीत लिया है, उपस्थित हैं और वे उन सबों के स्वामी हैं।

तात्पर्य : विदुर ने धृतराष्ट्र को पृथा के पुत्र, पाण्डवों के साथ राजनीतिक सन्धि करने की बहुत अच्छी सलाह दी। पहली बात जो उन्होंने कही वह यह थी कि भगवान् कृष्ण उनके फुफेरे भाई के रूप में उनके निकट सम्बन्धी हैं। चूँकि कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, अतएव वे समस्त ब्राह्मणों तथा देवताओं द्वारा पूज्य हैं, जो ब्रह्माण्ड के कार्यकलापों का नियंत्रण करते हैं। इसके साथ ही, भगवान् कृष्ण तथा उनके यदुवंशी पारिवारिक जन संसार के समस्त राजाओं के विजेता हैं।

क्षत्रियगण विभिन्न राज्यों के राजाओं से युद्ध करते थे और उन्हें हराकर उनकी सुन्दर राजकुमारियों का अपहरण कर लेते थे। यह प्रणाली प्रशंसनीय थी, क्योंकि क्षत्रियों तथा राजकुमारियों का विवाह विजेता क्षत्रिय की वीरता के आधार पर होता था। यदुवंश के समस्त राजकुमारों ने वीरता के बल पर इसी तरह से अन्य राजाओं की कन्याओं से विवाह किया था। इस तरह वे संसार के समस्त राजाओं के विजेता थे। विदुर अपने भाई के मन में यह बात बैठा देना चाहते थे कि पाण्डवों से युद्ध करना अनेक खतरों से पूर्ण है, क्योंकि उनकी सहायता श्रीकृष्ण कर रहे थे, जिन्होंने अपने बाल्यकाल में ही कंस तथा जरासन्ध जैसे असुरों को और ब्रह्मा तथा इन्द्र जैसे देवताओं को जीत लिया था। अतएव विश्व की सम्पूर्ण शक्ति पाण्डवों के साथ थी।

स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते
गृहान्प्रविष्टो यमपत्यमत्या ।
पुष्णासि कृष्णाद्विमुखो गतश्रीस्
त्यजाश्वशैवं कुलकौशलाय ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; दोषः—साक्षात् अपराध; पुरुष-द्विट्—श्रीकृष्ण का ईर्ष्यालु; आस्ते—विद्यमान है; गृहान्—घर में; प्रविष्टः—प्रवेश किया हुआ; यम्—जिसको; अपत्य-मत्या—अपना पुत्र सोचकर; पुष्णासि—पालन कर रहे हो; कृष्णात्—कृष्ण से; विमुखः—विरुद्ध; गत-श्रीः—प्रत्येक शुभ वस्तु से विहीन; त्यज—त्याग दो; आशु—यथाशीघ्र; अशैवम्—अशुभ; कुल—परिवार; कौशलाय—के हेतु।

तुम साक्षात् अपराध रूप दुर्योधन का पालन-पोषण अपने अच्युत पुत्र के रूप में कर रहे हो, किन्तु वह भगवान् कृष्ण से ईर्ष्या करता है। चूँकि तुम इस तरह से कृष्ण के अभक्त का पालन कर रहे हो, अतएव तुम समस्त शुभ गुणों से विहीन हो। तुम यथाशीघ्र इस दुर्भाग्य से छुटकारा पा लो और सारे परिवार का कल्याण करो।

तात्पर्य : अच्छा पुत्र *अपत्य* कहा जाता है अर्थात् वह पिता को नीचे नहीं गिरने देता। पिता के मरने पर पुत्र भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ सम्पन्न करके अपने पिता की आत्मा की रक्षा कर सकता है। यह प्रथा भारत में अब भी प्रचलित है। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र भगवान् विष्णु के चरणकमलों पर यज्ञ करने के लिए गया जाता है और इस तरह, पितापथच्युत यदि हो गया हो, पिताकी आत्मा का उद्धार करता है। किन्तु यदि पुत्र पहले से विष्णु का शत्रु हो तो भला ऐसे शत्रु भाव में वह भगवान् विष्णु के चरणकमलों में यज्ञ कैसे कर सकता है? श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष भगवान् विष्णु

हैं और दुर्योधन उनकी ओर शत्रुवत् था। अतएव वह अपने पिता धृतराष्ट्र की मृत्यु के बाद उसकी रक्षा नहीं कर सकता था। विष्णु की ओर अपनी श्रद्धा विहीनता के कारण, उसका तो स्वयं का पतन होना है। तो फिर वह अपने पिता की रक्षा कैसे कर सकेगा? विदुर ने धृतराष्ट्र को सलाह दी कि यदि वह अपने परिवार का कल्याण देखना चाहता है, तो यथाशीघ्र वह दुर्योधन जैसे अयोग्य पुत्र से अपना पिंड छुड़ा ले।

चाणक्य पण्डित के नीति-उपदेशों के अनुसार "ऐसे पुत्र से क्या लाभ जो न तो विद्वान है, न भगवद्भक्त?" यदि पुत्र भगवद्भक्त नहीं है, तो वह अंधे नेत्रों के समान पीड़ा का कारण होता है। कभी कभी चिकित्सक ऐसी व्यर्थ आँखों को उनके गोलकों से निकाल देने की सलाह देता है, जिससे निरन्तर पीड़ा से छुटकारा मिल सके। दुर्योधन अन्धे कष्टकारक नेत्रों के तुल्य था। वह धृतराष्ट्र के परिवार के लिए महान् विपदा का स्रोत होगा, जैसाकि विदुर ने पहले ही देख लिया था। अत: विदुर ने अपने ज्येष्ठ भ्राता को इस कष्ट के स्रोत से छुटकारा पाने की ठीक ही सलाह दी थी। धृतराष्ट्र ऐसे साक्षात् अपराध को इस भ्रमपूर्ण धारणा से पाल-पोस रहा था कि दुर्योधन अच्छा पुत्र है, जो अपने पिता को मुक्ति दिलाने में समर्थ है।

इत्यूचिवांस्तत्र सुयोधनेन
प्रवृद्धकोपस्फुरिताधरेण ।
असत्कृतः सत्स्पृहणीयशीलः
क्षत्ता सकर्णानुजसौबलेन ॥ १४॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ऊचिवान्—कहते हुए; तत्र—वहाँ; सुयोधनेन—दुर्योधन द्वारा; प्रवृद्ध—फूला हुआ; कोप—क्रोध से; स्फुरित—फड़कते हुए; अधरेण—होठों से; असत्-कृतः—अपमानित; सत्—सम्मानित; स्पृहणीय-शीलः—वांछित गुण; क्षत्ता—विदुर; स—सहित; कर्ण—कर्ण; अनुज—छोटे भाइयों; सौबलेन—शकुनि सहित।

विदुर जिनके चरित्र का सभी सम्मानित व्यक्ति आदर करते थे, जब इस तरह बोल रहे थे तो दुर्योधन द्वारा उनको अपमानित किया गया। दर्योधन क्रोध के मारे फूला हुआ था और उसके होंठ फड़क रहे थे। दुर्योधन कर्ण, अपने छोटे भाइयों तथा अपने मामा शकुनी के साथ था।

तात्पर्य : कहा जाता है कि मूर्ख व्यक्ति उपदेश देने पर क्रुद्ध होता है, जिस तरह सर्प को दूध पिलाने से उसका विष बढ़ता है। सन्त विदुर इतने आदरणीय थे कि सारे सम्मानित व्यक्ति उनके चरित्र

की ओर देखते थे। किन्तु दुर्योधन इतना मूर्ख था कि उसने विदुर का अपमान करने का दुस्साहस कर डाला। यह उसके मामा शकुनि तथा उसके मित्र कर्ण की कुसंगति का फल था, जो उसके दुष्कृत्यों में सदा ही उसे उकसाते रहते थे।

क एनमत्रोपजुहाव जिह्मं
दास्याः सुतं यद्बलिनैव पुष्टः ।
तस्मिन्प्रतीपः परकृत्य आस्ते
निर्वास्यतामाशु पुराच्छ्वसानः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; एनम्—यह; अत्र—यहाँ; उपजुहाव—बुलाया; जिह्मम्—कुटिल; दास्याः—रखैल के; सुतम्—पुत्र को; यत्—जिसके; बलिना—भरण से; एव—निश्चय ही; पुष्टः—बड़ा हुआ; तस्मिन्—उसको; प्रतीपः—शत्रुता; परकृत्य—शत्रु का हित; आस्ते—स्थित है; निर्वास्यताम्—बाहर निकालो; आशु—तुरन्त; पुरात्—महल से; श्वसानः—उसकी केवल साँस चलने दो।

"इस रखैल के पुत्र को यहाँ आने के लिए किसने कहा है? यह इतना कुटिल है कि जिनके बल पर यह बड़ा हुआ है उन्हीं के विरुद्ध शत्रु-हित में गुप्तचरी करता है। इसे तुरन्त इस महल से निकाल बाहर करो और इसकी केवल साँस भर चलने दो।"

तात्पर्य : विवाह करते समय क्षत्रिय राजा अन्य कई युवतियों को विवाहित राजकुमारी के साथ लेते जाते थे। राजा की ये युवती-परिचारिकाएँ दासी कहलाती थीं। ये दासियाँ राजा के सहवास से पुत्र उत्पन्न करती थीं। ऐसे पुत्र दासीपुत्र कहलाते थे। इनका राज सिंहासन पर कोई अधिकार नहीं होता था, किन्तु उन्हें भरणपोषण तथा अन्य सुविधाएँ राजकुमारों के ही समान प्राप्त रहती थीं। विदुर ऐसी ही एक दासी के पुत्र थे, अतएव उनकी गणना क्षत्रियों में नहीं की जाती थी। राजा धृतराष्ट्र अपने इस छोटे दासीपुत्र भाई से अत्यधिक स्नेह करता था और विदुर उसके महान् मित्र तथा दार्शनिक सलाहकार थे। दुर्योधन यह भलीभाँति जानता था कि विदुर महात्मा तथा हितैषी हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश उसने अपने निर्दोष चाचा को मर्माहत करने वाले कठोर शब्दों का प्रयोग किया था। दुर्योधन ने न केवल विदुर के जन्म पर कटाक्ष किया, अपितु उसे कृतघ्न भी कहा, क्योंकि वह युधिष्ठिर का समर्थक प्रतीत होता था जिसे दुर्योधन अपना शत्रु मानता था। उसने चाहा कि विदुर को तुरन्त महल से निकाल दिया जाय और उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली जाय। यदि सम्भव होता तो वह उसके तब तक बेंत लगवाता जब तक उसके पास साँस के अतिरिक्त कुछ बाकी न बचता। उसने आरोप लगाया कि वह पाण्डवों का गुप्तचर

है, क्योंकि उसने धृतराष्ट्र को उनके पक्ष में सलाह दी थी। राजमहल के जीवन तथा कूटनीति की बारीकियों की ऐसी स्थिति होती है कि विदुर जैसे निर्दोष व्यक्ति पर भी गर्हित आरोप लगाया जाता है और दण्डित किया जाता है। विदुर अपने भतीजे दुर्योधन के ऐसे अप्रत्याशित व्यवहार से आश्चर्यचकित थे और इसके पूर्व कि सचमुच कोई घटना घट जाए उन्होंने राजमहल को सदा के लिए त्यागने का निश्चय किया।

स्वयं धनुर्द्वारि निधाय मायां
भ्रातुः पुरो मर्मसु ताडितोऽपि ।
स इत्थमत्युल्बणकर्णबाणै-
र्गतव्यथोऽयादुरु मानयानः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—स्वयं; धनुः द्वारि—दरवाजे पर धनुष; निधाय—रखकर; मायाम्—माया, बाहरी प्रकृति को; भ्रातुः—भाई के; पुरः—राजमहल से; मर्मसु—अपने हृदय में; ताडितः—दुखी होकर; अपि—भी; सः—वह (विदुर); इत्थम्—इस तरह; अति-उल्बण—अत्यंत कठोरता से; कर्ण—कान; बाणैः—तीरों से; गत-व्यथः—दुखी हुए बिना; अयात्—उत्तेजित हुआ; उरु—अत्यधिक; मान-यानः—इस प्रकार विचारते हुए।

इस तरह अपने कानों से होकर वाणों द्वारा बेधे गये और अपने हृदय के भीतर मर्माहत विदुर ने अपना धनुष दरवाजे पर रख दिया और अपने भाई के महल को छोड़ दिया। उन्हें कोई खेद नहीं था, क्योंकि वे माया के कार्यों को सर्वोपरि मानते थे।

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त ईश्वर की बहिरंगा शक्ति द्वारा उत्पन्न विषम परिस्थिति से कभी विचलित नहीं होता। *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

बद्धात्मा बहिरंगा शक्ति के विभिन्न गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत संसार में निमग्न रहता है। मिथ्या अहंकार में डूबा हुआ वह सोचता है कि हर कार्य वह स्वयं कर रहा है। भगवान् की बहिरंगा शक्ति अर्थात् भौतिक प्रकृति पूरी तरह से परमेश्वर के अधीन है और बद्धात्मा बहिरंगा शक्ति के पूर्ण नियंत्रण में होता है। अतः बद्धजीव पूर्णतः भगवान् के नियमों के अधीन होता है। किन्तु केवल मायावश वह अपने को अपने कर्मों में स्वतंत्र मानता है। दुर्योधन बहिरंगा प्रकृति के ऐसे प्रभाव के अन्तर्गत कार्य कर रहा था जिसके फलस्वरूप अन्त में उसका सफाया हो जाएगा। उसने विदुर के परामर्श को नहीं माना,

उल्टे उन महात्मा को अपमानित किया, जो उसके सारे परिवार के हितैषी थे। विदुर इसे समझते थे, क्योंकि वे भगवान् के शुद्ध भक्त थे। दुर्योधन के वचनों से बुरी तरह अपमानित होने पर भी विदुर यह देख सके कि दुर्योधन माया (बहिरंगा शक्ति) के वश में होने से अपने ही विनाश के पथ पर अग्रसर हो रहा है। अतएव उन्होंने बहिरंगा शक्ति के कार्यों को सर्वोपरि माना; तथापि उन्होंने यह भी देखा कि भगवान् की अन्तरंगा शक्ति उस विशिष्ट स्थिति में किस तरह उनकी सहायता कर रही थी। भक्त सदैव विरक्त भाव से रहता है, क्योंकि सांसारिक आकर्षण उसको कभी तुष्ट नहीं कर पाते। विदुर कभी भी अपने भाई के राजमहल द्वारा आकृष्ट नहीं थे। वे सदैव उस राजमहल को त्याग कर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अपने को पूरी तरह लगाने के लिए तैयार रहते थे। अब दुर्योधन की कृपा से उन्हें अवसर मिला था। अत: अपमान के कटु वचनों से दुखी होने की बजाय उन्होंने मन ही मन उसे धन्यवाद दिया, क्योंकि उसके कारण उन्हें पवित्र स्थान में अकेले रहने और भगवद्भक्ति में लगे रहने का अवसर प्राप्त हुआ। *गत-व्यथ:* शब्द (बिना दुखी हुए) यहाँ पर महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि विदुर उन यातनाओं से मुक्त हो गये जिनसे भौतिक कार्यों में बँधा हुआ प्रत्येक व्यक्ति पीड़ित होता रहता है। अतएव उन्होंने सोचा कि धनुष के द्वारा अपने भाई की रक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं रही, क्योंकि उसके भाई का विनाश तो निश्चित ही है। इसलिए इसके पूर्व कि दुर्योधन कोई कार्यवाही करे उन्होंने महल छोड़ दिया। यहाँ पर भगवान् की परम शक्ति माया ने अंदर से तथा बाहर से दोनों प्रकार से कार्य किया।

स निर्गत: कौरवपुण्यलब्धो
गजाह्वयात्तीर्थपद: पदानि ।
अन्वाक्रमत्पुण्यचिकीर्षयोर्व्याम्
अधिष्ठितो यानि सहस्त्रमूर्ति: ॥ १७॥

शब्दार्थ

स:—वह (विदुर); निर्गत:—छोड़ने के बाद; कौरव—कुरु वंश; पुण्य—पुण्य; लब्ध:—प्राप्त किया हुआ; गज-आह्वयात्—हस्तिनापुर से; तीर्थ-पद:—भगवान् की; पदानि—तीर्थयात्राओं की; अन्वाक्रमत्—शरण ली; पुण्य—पुण्य; चिकीर्षया—ऐसी इच्छा करते हुए; उर्व्याम्—उच्चकोटि की; अधिष्ठित:—स्थित; यानि—वे सभी; सहस्र—हजारों; मूर्ति:—स्वरूप।

अपने पुण्य के द्वारा विदुर ने पुण्यात्मा कौरवों के सारे लाभ प्राप्त किये। उन्होंने हस्तिनापुर छोड़ने के बाद अनेक तीर्थस्थानों की शरण ग्रहण की जो कि भगवान् के चरणकमल हैं। उच्चकोटि का पवित्र जीवन पाने की इच्छा से उन्होंने उन पवित्र स्थानों की यात्रा की जहाँ

भगवान् के हजारों दिव्य रूप स्थित हैं।

तात्पर्य : विदुर निस्सन्देह अति उच्चोकिट के पुण्यात्मा थे, अन्यथा वे कौरव वंश में उत्पन्न न हुए होते। उच्च कुल पाना ऐश्वर्यमय होना, उच्च विद्वान होना और शरीर से अति सुन्दर होना—ये सब विगत पुण्यकर्मों के फलस्वरूप मिलते हैं। किन्तु भगवान् की कृपा पाने तथा उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहने के लिए ऐसी पवित्र वस्तुएँ ही पर्याप्त नहीं हैं। विदुर अपने आपको कम पवित्र मानते थे, अतएव उन्होंने अधिक पुण्य प्राप्त करने तथा भगवान् के निकट पहुँचने के लिए संसार के सभी महान् तीर्थ स्थानों की यात्रा करने का निश्चय किया। उस समय यद्यपि भगवान् कृष्ण सदेह इस जगत में उपस्थित थे और विदुर तत्काल सीधे उनके पास पहुँच सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि वे पापों से पूरी तरह मुक्त नहीं हुए थे। जब तक पाप के प्रभावों से पूरी तरह मुक्त न हो लिया जाय तब तक कोई मनुष्य भगवान् के प्रति शत प्रतिशत अनुरक्त नहीं हो सकता। विदुर को इसका भान था कि कूटनीतिज्ञ धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन की संगति के कारण उनका पुण्य समाप्त हो चुका है, अतएव वे तुरन्त ही भगवान् की संगति करने के योग्य नहीं हैं। *भगवद्गीता* (७.२८) में इसकी पुष्टि निम्नलिखित श्लोक में हुई है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

कंस तथा जरासन्ध जैसे पापी असुर व्यक्ति सोच ही नहीं सकते कि कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्थात् परम सत्य हैं। केवल वे, जो शुद्ध भक्त हैं, जो शास्त्रों में निर्दिष्ट धार्मिक जीवन के नियामक सिद्धान्तों का पालन करते हैं, अपने को कर्मयोग में, तत्पश्चात् ज्ञानयोग में लगा पाते हैं और उसके बाद शुद्ध ध्यान द्वारा विशुद्ध चेतना को समझ सकते हैं। ईशचेतना (भावनामृत) उत्पन्न होने पर मनुष्य शुद्ध भक्तों की संगति का लाभ उठा सकता है। *स्यान् महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्*—इसी जीवन काल में भगवान् की संगति की जा सकती है।

तीर्थ स्थान तीर्थयात्रियों के पापों का निवारण करने के निमित्त होते हैं और शुद्ध जीवन तथा ईश–साक्षात्कार प्राप्त करने वालों की सुविधा के लिए ये तीर्थस्थान ब्रह्माण्ड भर में फैल हुए हैं। किन्तु मनुष्य को केवल तीर्थस्थानों में जाने तथा अपने नियत कर्मों को करने से ही तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए।

उसे उन महात्माओं से मिलने के लिए उत्सुक रहना चाहिए जो पहले से वहाँ भगवान् की सेवा में लगे हुए हैं, प्रत्येक तीर्थस्थान में भगवान् अपने विविध दिव्य स्वरूपों में वर्तमान रहते हैं।

ये स्वरूप *अर्चामूर्ति* कहलाते हैं—अर्थात् भगवान् के वे रूप जिन्हें सामान्य व्यक्ति आसानी से समझ सकता है। भगवान् हमारी सांसारिक इन्द्रियों के लिए अगम्य हैं। वे हमारी वर्तमान आँखों से देखे नहीं जा सकते हैं, न ही वे हमारे वर्तमान कानों से सुने जा सकते हैं। हम उस मात्रा में जितना कि हम भगवत्सेवा में प्रविष्ट हो चुके हैं या उस अनुपात में जितना हमारे जीवन पापों से मुक्त हुए रहते हैं, भगवान् का अनुभव कर सकते हैं। किन्तु यद्यपि हम पापों से मुक्त नहीं होते, भगवान् इतने कृपालु हैं कि वे मन्दिर में अपनी अर्चामूर्तियों के रूप में हमें अपना दर्शन देने की सुविधा प्रदान करते हैं। ईश्वर सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे अपना अर्चा रूप प्रस्तुत करके हमारी सेवाएँ स्वीकार कर सकते हैं। इसलिए किसी को यह सोचने की मूर्खता नहीं करनी चाहिए कि मन्दिर का *अर्चारूप* एक मूर्ति है। ऐसी *अर्चामूर्ति* मूर्ति नहीं, अपितु स्वयं भगवान् होती है और जो जिस अनुपात में पापों से मुक्त हुआ होता है, उसी के अनुसार वह अर्चामूर्ति के महत्त्व को समझ सकता है। अतएव मार्गदर्शन पाने के लिए किसी शुद्ध भक्त की आवश्यकता सदैव बनी रहती है।

भारतवर्ष में देश भर में लाखों तीर्थस्थल फैले हुए हैं और परम्परानुसार सामान्य व्यक्ति वर्ष की सारी ऋतुओं में इन पवित्र स्थानों की यात्रा करता है। विभिन्न तीर्थस्थानों में स्थित कतिपय अर्चा स्वरूपों का उल्लेख इस प्रकार है : वे मथुरा में (कृष्ण का जन्मस्थान) आदिकेशव रूप में, पुरी (उड़ीसा) में भगवान् जगन्नाथ (पुरुषोत्तम भी) के रूप में, इलाहाबाद (प्रयाग) में बिन्दु-माधव के रूप में, मन्दराचल में मधुसूदन रूप में, आनन्दारण्य में वासुदेव, पद्मनाभ, तथा जनार्दन रूप में, विष्णुकाञ्ची में विष्णु रूप में तथा मायापुर में हरि रूप में विराजमान हैं। ब्रह्माण्ड भर में भगवान् की ऐसी करोड़ों अर्चामूर्तियाँ हैं। इन समस्त अर्चामूर्तियों का सारांश *चैतन्य-चरितामृत* में इस प्रकार दिया हुआ है—

सर्वत्र प्रकाश ताँर—भक्ते सुख दिते।
जगतेर अधर्म नाशि' धर्म स्थापिते॥

"भगवान् ने अपने को ब्रह्माण्ड भर में इस तरह फैला रखा है, जिससे भक्तों को आनन्द मिले,

सामान्य जनों को अपने पापों से निवारण करने की सुविधा प्राप्त हो तथा संसार में धर्म की स्थापना की जा सके।''

पुरेषु पुण्योपवनाद्रिकुञ्जे-
ष्वपङ्कतोयेषु सरित्सरःसु ।
अनन्तलिङ्गैः समलङ्कृतेषु
चचार तीर्थायतनेष्वनन्यः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

पुरेषु—अयोध्या, द्वारका तथा मथुरा जैसे स्थानों में; पुण्य—पुण्य; उप-वन—वायु; अद्रि—पर्वत; कुञ्जेषु—बगीचों में; अपङ्क—पापरहित; तोयेषु—जल में; सरित्—नदी; सरःसु—झीलों में; अनन्त-लिङ्गैः—अनन्त के रूपों; समलङ्कृतेषु—इस तरह से अलंकृत किये गये; चचार—सम्पन्न किया; तीर्थ—तीर्थस्थान; आयतनेषु—पवित्र भूमि; अनन्यः—एकमात्र या केवल कृष्ण का दर्शन करना।

वे एकमात्र कृष्ण का चिन्तन करते हुए अकेले ही विविध पवित्र स्थानों यथा अयोध्या, द्वारका तथा मथुरा से होते हुए यात्रा करने निकल पड़े। उन्होंने ऐसे स्थानों की यात्रा की जहाँ की वायु, पर्वत, बगीचे, नदियाँ तथा झीलें शुद्ध तथा निष्पाप थीं और जहाँ अनन्त के विग्रह मन्दिरों की शोभा बढ़ाते हैं। इस तरह उन्होंने तीर्थयात्रा की प्रगति सम्पन्न की।

तात्पर्य : भगवान् के अर्चारूपों को नास्तिक जन मूर्तियाँ मान सकते हैं, किन्तु विदुर या उनके अन्य अनेक सेवक ऐसा नहीं मानते। भगवान् के स्वरूपों का उल्लेख यहाँ पर *अनन्त लिंग* के रूप में हुआ है। भगवान् के ऐसे रूपों में असीम शक्ति होती है, जो स्वयं भगवान् जैसी ही होती है। अर्चा की शक्तियों तथा भगवान् के साकार रूपों की शक्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। यहाँ पर पत्रपेटी (पोस्ट बाक्स) तथा डाकघर (पोस्ट आफिस) का उदाहरण लागू होता है। शहर भर में लगी छोटी छोटी पत्रपेटियों में सार्वजनिक डाक व्यवस्था के समान ही शक्ति होती है। डाकघर का कार्य पत्रों का एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाना है। यदि कोई व्यक्ति सार्वजनिक डाकघर द्वारा मान्य पत्रपेटियों में पत्र डालता है, तो पत्र ले जाने का कार्य निश्चित रूप से सम्पन्न होता है। इसी तरह *अर्चामूर्ति* भगवान् के साक्षात् उपस्थित होने जैसी असीम शक्ति प्रदान कर सकती है। इसलिए विदुर को विविध अर्चारूपों में कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखा और अन्ततः वे एकमात्र कृष्ण का साक्षात्कार कर सके, अन्य किसी का नहीं।

गां पर्यटन्मेध्यविविक्तवृत्तिः
सदाप्लुतोऽधः शयनोऽवधूतः ।
अलक्षितः स्वैरवधूतवेषो
व्रतानि चेरे हरितोषणानि ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

गाम्—पृथ्वी पर; पर्यटन्—भ्रमण करते; मेध्य—शुद्ध; विविक्त-वृत्तिः—जीने के लिए स्वतंत्र पेशा; सदा—सदैव; आप्लुतः—पवित्र किया गया; अधः—पृथ्वी पर; शयनः—लेटे हुए; अवधूतः—(बाल, नाखून इत्यादि) बिना सँवारे या कटे.); अलक्षितः—किसी के द्वारा बिना देखे हुए; स्वैः—अकेले; अवधूत-वेषः—साधू की तरह वेश धारण किये; व्रतानि—व्रत; चेरे—सम्पन्न किया; हरि-तोषणानि—भगवान् को प्रसन्न करने वाले।.

इस तरह पृथ्वी का भ्रमण करते हुए उन्होंने भगवान् हरि को प्रसन्न करने के लिए कृतकार्य किये। उनकी वृत्ति शुद्ध एवं स्वतंत्र थी। वे पवित्र स्थानों में स्नान करके निरन्तर शुद्ध होते रहे, यद्यपि वे अवधूत वेश में थे—न तो उनके बाल सँवरे हुए थे न ही लेटने के लिए उनके पास बिस्तर था। इस तरह वे अपने तमाम परिजनों से अलक्षित रहे।

तात्पर्य : तीर्थयात्री का सर्वप्रमुख कर्तव्य (कृतकार्य) भगवान् हरि को प्रसन्न करना है। तीर्थयात्रा करते समय उसे समाज की प्रसन्नता की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। उसे सामाजिक औपचारिकताओं या वृत्ति या वेश पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रहती। उसे सदा भगवान् को प्रसन्न करने वाले कार्य में लीन रहना चाहिए। इस तरह विचार तथा कर्म से शुद्ध हुआ तीर्थयात्री तीर्थ यात्रा की विधि से परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकता है।

इत्थं व्रजन्भारतमेव वर्षं
कालेन यावद्गतवान्प्रभासम् ।
तावच्छशास क्षितिमेक चक्रा-
मेकातपत्रामजितेन पार्थः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस तरह से; व्रजन्—विचरण करते हुए; भारतम्—भारत; एव—केवल; वर्षम्—भूखण्ड; कालेन—यथासमय; यावत्—जब; गतवान्—गया; प्रभासम्—प्रभास तीर्थस्थान; तावत्—तब; शशास—शासन किया; क्षितिम्—पृथ्वी पर; एक-चक्राम्—एक सैन्य बल से; एक—एक; आतपत्राम्—ध्वजा; अजितेन—अजित कृष्ण की कृपा से; पार्थः—महाराज युधिष्ठिर।.

इस तरह जब वे भारतवर्ष की भूमि में समस्त तीर्थस्थलों का भ्रमण कर रहे थे तो वे प्रभास क्षेत्र गये। उस समय महाराज युधिष्ठिर सम्राट थे और वे सारे जगत को एक सैन्य शक्ति तथा एक ध्वजा के अन्तर्गत किये हुए थे।

तात्पर्य : पाँच हजार से अधिक वर्ष पूर्व जब सन्त विदुर तीर्थयात्री के रूप में पृथ्वी का भ्रमण कर रहे थे तो 'इण्डिया' भारतवर्ष के नाम से विख्यात था, जैसाकि आज भी है। विश्व इतिहास भूत काल के तीन हजार वर्षों से अधिक का क्रमबद्ध विवरण नहीं दे सकता, किन्तु उसके पूर्व सारा संसार महाराज युधिष्ठिर के ध्वज एवं सैन्य शक्ति के अधीन था और वे संसार के सम्राट (चक्रवर्ती राजा) थे। आज के समय में संयुक्त राष्ट्र में सैकड़ों हजारों ध्वज फहराते हैं, किन्तु विदुर के समय, भगवान् कृष्ण अर्थात् अजित की कृपा से, केवल एक ध्वज था। संसार के सारे राष्ट्र पुनः एक ध्वज के नीचे एक सत्ता के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं, किन्तु इसके लिए उन्हें भगवान् कृष्ण की कृपा प्राप्त करनी होगी, क्योंकि केवल वे ही एक विश्वव्यापी राष्ट्र बनाने में सहायक बन सकते हैं।

तत्राथ शुश्राव सुहृद्विनष्टिं
वनं यथा वेणुजवह्निसंश्रयम् ।
संस्पर्धया दग्धमथानुशोचन्
सरस्वतीं प्रत्यगियाय तूष्णीम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अथ—तत्पश्चात्; शुश्राव—सुना; सुहृत्—प्रियजन; विनष्टिम्—मृत; वनम्—जंगल; यथा—जिस तरह; वेणुज-वह्नि—बाँस के कारण लगी अग्नि; संश्रयम्—एक दूसरे से घर्षण; संस्पर्धया—उग्र कामेच्छा द्वारा; दग्धम्—जला हुआ; अथ—इस प्रकार; अनुशोचन्—सोचते हुए; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी को; प्रत्यक्—पश्चिम की ओर; इयाय—गया; तूष्णीम्—मौन होकर।

प्रभास तीर्थ स्थान में उन्हें पता चला कि उनके सारे सम्बन्धी उग्र आवेश के कारण उसी तरह मारे जा चुके हैं जिस तरह बाँसों के घर्षण से उत्पन्न अग्नि सारे जंगल को जला देती है। इसके बाद वे पश्चिम की ओर बढ़ते गये जहाँ सरस्वती नदी बहती है।

तात्पर्य : कौरव तथा यादवगण दोनों ही विदुर के सम्बन्धी थे। विदुर ने बन्धुघाती युद्ध के फलस्वरूप उनके सर्वनाश का समाचार सुना। जंगली बाँसों के घर्षण की तुलना आवेशपूर्ण (विक्षुब्ध) मानव समाज से करना उपयुक्त है। सम्पूर्ण संसार की तुलना जंगल से की गई है। जंगल में घर्षण के कारण किसी भी क्षण आग भड़क सकती है। जंगल में कोई आग लगाने नहीं जाता, किन्तु बाँसों के बीच संघर्षण मात्र से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, जो सारे जंगल को जला डालती है। इसी तरह सांसारिक मेरा-तेरा रूपी महत्तर जंगल में माया के द्वारा मोहित बद्ध आत्माओं के उग्र आवेश के कारण युद्ध रूपी अग्नि लग जाती है। ऐसी सांसारिक अग्नि सन्तों की कृपा रूपी बादल के जल से ही बुझाई

जा सकती है, जिस तरह जंगल की आग केवल बादल से बरसने वाली वर्षा से बुझाई जा सकती है।

तस्यां त्रितस्योशनसो मनोश्च
पृथोरथाग्नेरसितस्य वायोः ।
तीर्थं सुदासस्य गवां गुहस्य
यच्छ्राद्धदेवस्य स आसिषेवे ॥ २२॥

शब्दार्थ

तस्याम्—सरस्वती नदी के किनारे; त्रितस्य—त्रित नामक तीर्थस्थल; उशनसः—उशना नामक तीर्थस्थल; मनोः च—मनु नामक तीर्थस्थल भी; पृथोः—पृथु के; अथ—तत्पश्चात्; अग्नेः—अग्नि के; असितस्य—असित के; वायोः—वायु के; तीर्थम्—तीर्थस्थान; सुदासस्य—सुदास नाम का; गवाम्—गो नामक; गुहस्य—तथा गुह का; यत्—तत्पश्चात्; श्राद्धदेवस्य—श्राद्धदेव का; सः—विदुर ने; आसिषेवे—ठीक से देखा और कर्मकाण्ड किया।

सरस्वती नदी के तट पर ग्यारह तीर्थस्थल थे जिनके नाम हैं (१) त्रित (२) उशना (३) मनु (४) पृथु (५) अग्नि (६) असित (७) वायु (८) सुदास (९) गो (१०) गुह तथा (११) श्राद्धदेव। विदुर इन सबों में गये और ठीक से कर्मकाण्ड किये।

अन्यानि चेह द्विजदेवदेवैः
कृतानि नानायतनानि विष्णोः ।
प्रत्यङ्गमुख्याङ्कितमन्दिराणि
यद्दर्शनात्कृष्णमनुस्मरन्ति ॥ २३॥

शब्दार्थ

अन्यानि—अन्य; च—तथा; इह—यहाँ; द्विज-देव—महर्षियों द्वारा; देवैः—तथा देवताओं द्वारा; कृतानि—स्थापित; नाना—विविध; आयतनानि—विविध रूप; विष्णोः—भगवान् के; प्रति—प्रत्येक; अङ्ग—अंग; मुख्य—प्रमुख; अङ्कित—चिन्हित; मन्दिराणि—मन्दिर; यत्—जिनके; दर्शनात्—दूर से देखने से; कृष्णम्—आदि भगवान् को; अनुस्मरन्ति—निरन्तर स्मरण कराते हैं।

वहाँ महर्षियों तथा देवताओं द्वारा स्थापित किये गये पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु के विविध रूपों से युक्त अनेक अन्य मन्दिर भी थे। ये मन्दिर भगवान् के प्रमुख प्रतीकों से अंकित थे और आदि भगवान् श्रीकृष्ण का सदैव स्मरण कराने वाले थे।

तात्पर्य : मानव समाज चार सामाजिक वर्णों तथा चार आध्यात्मिक प्रयागों में विभाजित है, जो प्रत्येक मनुष्य पर लागू होता है। यह प्रणाली *वर्णाश्रम धर्म* कहलाती है और इस महान् ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर इसकी व्याख्या की जा चुकी है। साधु सन्त या वे व्यक्ति जो सम्पूर्ण मानव समाज के आध्यात्मिक उत्थान में पूर्णतः लगे रहते थे *द्विज देव* कहलाते थे, अर्थात् द्विजों में सर्वश्रेष्ठ। चन्द्रलोक से ऊपर के

उत्कृष्ट लोकों के वासी *देव* कहलाते थे। *द्विजदेव* तथा *देव* दोनों ही विष्णु के विविध स्वरूपों वाले, यथा गोविन्द, मधुसूदन, नृसिंह, माधव, केशव, नारायण, पद्मनाभ, पार्थसारथी आदि नामों वाले मन्दिरों की स्थापना करते हैं। भगवान् असंख्य रूपों में अपना विस्तार करते हैं, किन्तु वे सभी रूप एक दूसरे से अभिन्न होते हैं। भगवान् विष्णु के चार हाथ रहते हैं और प्रत्येक हाथ में विशेष वस्तु—यथा शंख, चक्र, गदा या कमल का फूल रहता है। इन चार चिह्नों में से चक्र प्रमुख है; आदि विष्णु रूप होने से कृष्ण के एक ही चिह्न, चक्र, होता है, इसीलिए कभी-कभी उनको चक्री भी कहा जाता है। भगवान् का चक्र शक्ति का प्रतीक है, जिससे वे सारे जगत का नियंत्रण करते हैं। विष्णु मन्दिरों के शिखरों पर चक्र का प्रतीक रहता है, जिससे लोग दूर से इस प्रतीक को देख सकें और तुरन्त भगवान् कृष्ण का स्मरण कर सकें। अत्यन्त ऊँचे मन्दिरों के निर्माण का उद्देश्य लोगों को दूर से दर्शन करने का सुयोग प्रदान करना है। भारत में जब भी कोई नया मन्दिर बनाया जाता है, तो यही शैली अपनायी जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि लिखित इतिहास के पहले से ही यह शैली चली आ रही है। नास्तिकों द्वारा किये जाने वाले इस मूर्खतापूर्ण प्रचार का कि मन्दिरों का निर्माण बाद में हुआ, यहाँ पर खण्डन हो जाता है, क्योंकि कम से कम पाँच हजार वर्ष पूर्व विदुर ने इन मन्दिरों को देखा था और विष्णु के ये मन्दिर विदुर द्वारा देखे जाने के बहुत पहले से विद्यमान थे। महर्षियों तथा देवताओं ने कभी भी मनुष्यों या देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित नहीं कीं, किन्तु सामान्य लोगों के लाभार्थ, उन्हें ईशभावनामृत के स्तर तक उठाने के लिए, उन्होंने विष्णु मन्दिरों की स्थापना की।

ततस्त्वतिव्रज्य सुराष्ट्रमृद्धं
सौवीरमत्स्यान्कुरुजाङ्गलांश्च ।
कालेन तावद्यमुनामुपेत्य
तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श ॥ २४॥

शब्दार्थ

ततः—वहाँ से; तु—लेकिन; अतिव्रज्य—पार करके; सुराष्ट्रम्—सूरत का राज्य; ऋद्धम्—अत्यन्त धनवान; सौवीर—सौवीर, साम्राज्य; मत्स्यान्—मत्स्य साम्राज्य; कुरुजाङ्गलान्—दिल्ली प्रान्त तक फैला पश्चिमी भारत का साम्राज्य; च—भी; कालेन—यथासमय; तावत्—ज्योंही; यमुनाम्—यमुना नदी के किनारे; उपेत्य—पहुँच कर; तत्र—वहाँ; उद्धवम्—यदुओं में प्रमुख, उद्धव को; भागवतम्—भगवान् कृष्ण के भक्त; ददर्श—देखा।

तत्पश्चात् वे अत्यन्त धनवान प्रान्तों यथा सूरत, सौवीर और मत्स्य से होकर तथा कुरुजांगल नाम से विख्यात पश्चिमी भारत से होकर गुजरे। अन्त में वे यमुना के तट पर पहुँचे जहाँ उनकी

भेंट कृष्ण के महान् भक्त उद्धव से हुई।

तात्पर्य : आधुनिक दिल्ली से लेकर उत्तर प्रदेश के मथुरा जिले तक का लगभग एक सौ वर्गमील का भूखण्ड जिसमें हरियाणा प्रदेश के गुड़गाँव जिले का कुछ अंश सम्मिलित हैं इन्हें सारे भारत में तीर्थयात्रा के लिए सर्वोपरि स्थान माना जाता है। यह भूभाग पवित्र है, क्योंकि भगवान् कृष्ण ने इस भूभाग की कई बार यात्रा की थी। अपने आविर्भाव काल से अपने मामा कंस के वहाँ पैदा होकर वे वृन्दावन में अपने पालक पिता महाराज नन्द के यहाँ पले। आज भी वहाँ पर भगवान् के कई भक्त कृष्ण तथा उनकी बाल सहेलियों, गोपियों, की खोज में भाव-विभोर होकर रह रहे हैं। ऐसा नहीं है कि ऐसे भक्त उस भूभाग में कृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, किन्तु भक्त का उत्सुकतापूर्वक कृष्ण की खोज करते रहना उनके साक्षात् दर्शन करने के ही समान है। ऐसा कैसे है ? इसकी व्याख्या तो नहीं की जा सकती है, किन्तु जो भगवान् के शुद्ध भक्त हैं उनके द्वारा ऐसा अनुभव किया जाता है। दार्शनिक रूप से मनुष्य यह समझ सकता है कि भगवान् कृष्ण तथा उनकी स्मृति परम स्तर पर होती है और शुद्ध ईशचेतना में वृन्दावन में उनकी खोज करने का विचार उनके साक्षात् दर्शन करने की अपेक्षा अपने में भक्त को अधिक आनन्द प्रदान करने वाला है। ऐसे भगवद्भक्त उनका दर्शन प्रतिक्षण करते हैं जिसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३८)में हुई है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''जो लोग भगवान् श्यामसुन्दर (कृष्ण) से भावाविष्ट प्रेम करते हैं, वे भगवान् के प्रति प्रेम तथा अपनी भक्ति के कारण उन्हें सदैव अपने हृदयों में देखते हैं।'' विदुर तथा उद्धव दोनों ही ऐसे उच्चस्थ भक्त थे, अतएव दोनों ही यमुना के तट पर आ पहुँचे और एक दूसरे से मिले।

स वासुदेवानुचरं प्रशान्तं
बृहस्पतेः प्राक्तनयं प्रतीतम् ।
आलिङ्ग्य गाढं प्रणयेन भद्रं

स्वानामपृच्छद्भगवत्प्रजानाम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, विदुर; वासुदेव—कृष्ण का; अनुचरम्—नित्य संगी; प्रशान्तम्—अत्यन्त शान्त एवं सौम्य; बृहस्पतेः—देवताओं के विद्वान गुरु बृहस्पति का; प्राक्—पूर्वकाल में; तनयम्—पुत्र या शिष्य; प्रतीतम्—स्वीकार किया; आलिङ्ग्य—आलिगंन करके; गाढम्—गहराई से; प्रणयेन—प्रेम में; भद्रम्—शुभ; स्वानाम्—निजी; अपृच्छत्—पूछा; भगवत्—भगवान् के; प्रजानाम्—परिवार का।

तत्पश्चात् अत्यधिक प्रेम तथा अनुभूति के कारण विदुर ने भगवान् कृष्ण के नित्य संगी तथा बृहस्पति के पूर्व महान् शिष्य उद्धव का आलिंगन किया। तत्पश्चात् विदुर ने भगवान् कृष्ण के परिवार का समाचार पूछा।

तात्पर्य : विदुर उद्धव से आयु में बड़े थे, पितृतुल्य थे, अतएव जब दोनों मिले तो उद्धव ने विदुर को शीश झुकाया और विदुर ने उद्धव का आलिंगन किया, क्योंकि उद्धव छोटे थे, अतएव पुत्रतुल्य थे। विदुर के भाई पाण्डु कृष्ण के फूफा थे और उद्धव कृष्ण के चचेरे भाई थे। अतएव सामाजिक प्रथा के अनुसार विदुर का सम्मान उद्धव द्वारा पिता के स्तर पर होना चाहिए था। उद्धव तर्कशास्त्र के महान् विद्वान थे और वे देवताओं के गुरु तथा परम विद्वान पुरोहित बृहस्पति के शिष्य के रूप में विख्यात थे। विदुर ने उद्धव से उनके सम्बन्धियों की कुशलता के विषय में पूछा, यद्यपि उन्हें ज्ञात था कि वे सब इस लोक में नहीं रहे। यह जिज्ञासा अजीब लगती है, किन्तु श्रील जीव गोस्वामी कहते है कि यह समाचार विदुर के लिए आघात था इसीलिए उन्होंने अतीव उत्कण्ठावश पुनः पूछा। उनकी यह जिज्ञासा मनोवैज्ञानिक ही थी, व्यावहारिक नहीं।

कच्चित्पुराणौ पुरुषौ स्वनाभ्य-
पाद्मानुवृत्त्येह किलावतीर्णौ ।
आसात उर्व्याः कुशलं विधाय
कृतक्षणौ कुशलं शूरगेहे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; पुराणौ—आदि; पुरुषौ—दो भगवान् (कृष्ण तथा बलराम); स्वनाभ्य—ब्रह्मा; पाद्म-अनुवृत्त्या—कमल से उत्पन्न होने वाले के अनुरोध पर; इह—यहाँ; किल—निश्चय ही; अवतीर्णौ—अवतरित; आसाते—हैं; उर्व्याः—जगत में; कुशलम्—कुशल-क्षेम; विधाय—ऐसा करने के लिए; कृत-क्षणौ—हर एक की सम्पन्नता के उन्नायक; कुशलम्—सर्वमंगल; शूर-गेहे—शूरसेन के घर में।

[कृपया मुझे बतलाएँ] कि (भगवान् की नाभि से निकले कमल से उत्पन्न) ब्रह्मा के अनुरोध पर अवतरित होने वाले दोनों आदि भगवान्, जिन्होंने हर व्यक्ति को ऊपर उठा कर

सम्पन्नता में वृद्धि की है, शूरसेन के घर में ठीक से तो रह रहे हैं?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण तथा बलराम दो पृथक्-पृथक् भगवान् नहीं हैं। ईश्वर अद्वितीय हैं, किन्तु वे अनेक रूपों में, जो एक दूसरे से भिन्न नहीं होते, अपना विस्तार करते हैं। ये सभी स्वांश होते हैं। कृष्ण के निकटतम अंश बलदेव हैं और गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से निकले कमल से उत्पन्न ब्रह्मा बलदेव के अंश हैं। यह सूचित करता है कि कृष्ण तथा बलदेव पर ब्रह्माण्ड के विधि-विधान लागू नहीं होते। उल्टे, सारा ब्रह्माण्ड उनके अधीन है। वे ब्रह्मा की प्रार्थना पर संसार का भार हटाने के लिए प्रकट हुए थे और उन्होंने अनेक अतिमानवीय कार्यों द्वारा संसार को इससे छुटकारा दिलाया जिससे हर व्यक्ति सुखी तथा सम्पन्न हो सका। भगवत्कृपा के बिना कोई व्यक्ति सुखी तथा सम्पन्न नहीं हो सकता। चूँकि भगवान् के भक्तों के परिवार का सुख भगवान् के सुख पर निर्भर करता है, अतएव विदुर ने सबसे पहले भगवान् की कुशल-क्षेम पूछी।

कच्चित्कुरूणां परमः सुहृन्नो
भामः स आस्ते सुखमङ्ग शौरिः ।
यो वै स्वसॄणां पितृवद्ददाति
वरान्वदान्यो वरतर्पणेन ॥ २७॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; कुरूणाम्—कुरुओं के; परमः—सबसे बड़े; सुहृत्—शुभचिन्तक; नः—हमारा; भामः—बहनोई; सः—वह; आस्ते—है; सुखम्—सुखी; अङ्ग—हे उद्धव; शौरिः—वसुदेव; यः—जो; वै—निस्सन्देह; स्वसॄणाम्—बहनों का; पितृ-वत्—पिता के समान; ददाति—देता है; वरान्—इच्छित वस्तुएँ; वदान्यः—अत्यन्त उदार; वर—स्त्री; तर्पणेन—प्रसन्न करके।

[कृपया मुझे बताएँ] कि कुरुओं के सबसे अच्छे मित्र हमारे बहनोई वसुदेव कुशलतापूर्वक तो हैं? वे अत्यन्त दयालु हैं। वे अपनी बहनों के प्रति पिता के तुल्य हैं और अपनी पत्नियों के प्रति सदैव हँसमुख रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण के पिता वसुदेव के सोलह पत्नियाँ थीं जिनमें से एक का नाम पौरवी या रोहिणी था, जो बलदेव की माता थीं और विदुर की बहिन थीं। इसीलिए वसुदेव विदुर की बहिन के पति थे और वे दोनों साले-बहनोई थे। वसुदेव की बहन कुन्ती विदुर के बड़े भाई पाण्डु की पत्नी थीं और उस तरह से भी वसुदेव विदुर के साले थे। कुन्ती वसुदेव से छोटी थीं और बड़े भाई का कर्तव्य है कि वह अपनी छोटी बहिनों को पुत्रियों के समान माने। जब भी कुन्ती को किसी भी प्रकार की

आवश्यकता पड़ती तो वसुदेव अपनी छोटी बहिन के प्रति अत्यधिक प्रेम के कारण उसे उदारतापूर्वक प्रदान करते थे। वसुदेव ने अपनी पत्नियों को कभी असन्तुष्ट नहीं होने दिया और साथ ही साथ वे अपनी बहिन को इच्छित वस्तुएँ प्रदान करते रहे। वे कुन्ती का विशेष ध्यान रखते, क्योंकि वे अल्पायु में ही विधवा हो चुकी थीं। वसुदेव की कुशलता पूछते समय विदुर को ये सारी बातें तथा पारिवारिक सम्बन्ध स्मरण हो आये।

कच्चिद्वरूथाधिपतिर्यदूनां
प्रद्युम्न आस्ते सुखमङ्ग वीरः ।
यं रुक्मिणी भगवतोऽभिलेभे
आराध्य विप्रान्स्मरमादिसर्गे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; वरूथ—सेना का; अधिपतिः—नायक; यदूनाम्—यदुओं का; प्रद्युम्नः—कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न; आस्ते—है; सुखम्—सुखी; अङ्ग—हे उद्धव; वीरः—महान् योद्धा; यम्—जिसको; रुक्मिणी—कृष्ण की पत्नी, रुक्मिणी ने; भगवतः—भगवान् से; अभिलेभे—पुरस्कारस्वरूप प्राप्त किया; आराध्य—प्रसन्न करके; विप्रान्—ब्राह्मणों को; स्मरम्—कामदेव; आदि-सर्गे—अपने पूर्व जन्म में।

हे उद्धव, मुझे बताओ कि यदुओं का सेनानायक प्रद्युम्न, जो पूर्वजन्म में कामदेव था, कैसा है? रुक्मिणी ने ब्राह्मणों को प्रसन्न करके उनकी कृपा से भगवान् कृष्ण से अपने पुत्र रुपमें उसे उत्पन्न किया था।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार स्मर (कामदेव) भगवान् कृष्ण के नित्यसंगियों में से है। इसकी व्याख्या उन्होंने अपने भाष्य *कृष्ण सन्दर्भ* में विस्तार से की है।

कच्चित्सुखं सात्वतवृष्णिभोज-
दाशार्हकाणामधिपः स आस्ते ।
यमभ्यषिञ्चच्छतपत्रनेत्रो
नृपासनाशां परिहृत्य दूरात् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; सुखम्—सब कुशल मंगल है; सात्वत—सात्वत जाति; वृष्णि—वृष्णि वंश; भोज—भोज वंश; दाशार्हकाणाम्—दाशार्ह जाति; अधिपः—राजा उग्रसेन; सः—वह; आस्ते—है; यम्—जिसको; अभ्यषिञ्चत्—प्रतिष्ठित; शत-पत्र-नेत्रः—श्रीकृष्ण ने; नृप-आसन-आशाम्—राजसिंहासन की आशा; परिहृत्य—त्याग कर; दूरात्—दूरस्थान पर।

हे मित्र, (मुझे बताओ) क्या सात्वतों, वृष्णियों, भोजों तथा दाशार्हों के राजा उग्रसेन अब

कुशल-मंगल तो हैं? वे अपने राजसिंहासन की सारी आशाएँ त्यागकर अपने साम्राज्य से दूर चले गये थे, किन्तु भगवान् कृष्ण ने पुनः उन्हें प्रतिष्ठित किया।

कच्चिद्धरेः सौम्य सुतः सदृक्ष
आस्तेऽग्रणी रथिनां साधु साम्बः ।
असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या
देवं गुहं योऽम्बिकया धृतोऽग्रे ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; हरेः—भगवान् का; सौम्य—हे गम्भीर; सुतः—पुत्र; सदृक्षः—समान; आस्ते—ठीक से रह रहा है; अग्रणीः—अग्रगण्य; रथिनाम्—योद्धाओं के; साधु—अच्छे आचरण वाला; साम्बः—साम्ब; असूत—जन्म दिया; यम्—जिसको; जाम्बवती—कृष्ण की पत्नी जाम्बवती ने; व्रताढ्या—व्रतों से सम्पन्न; देवम्—देवता; गुहम्—कार्तिकेय नामक; यः—जिसको; अम्बिकया—शिव की पत्नी से; धृतः—उत्पन्न; अग्रे—पूर्व जन्म में।

हे भद्रपुरुष, साम्ब ठीक से तो है? वह भगवान् के पुत्र सदृश ही है। पूर्वजन्म में वह शिव की पत्नी के गर्भ से कार्तिकेय के रूप में जन्मा था और अब वही कृष्ण की अत्यन्त सौभाग्यशालिनी पत्नी जाम्बवती के गर्भ से उत्पन्न हुआ है।

तात्पर्य : भगवान् के तीन गुणावतारों में शिव भगवान् के स्वांश हैं। उनसे उत्पन्न कार्तिकेय भगवान् कृष्ण के अन्य पुत्र प्रद्युम्न के ही समकक्ष है। जब भगवान् कृष्ण भौतिक जगत में अवतरित होते हैं, तो उनके सभी स्वांश भी उनके साथ उनके विभिन्न कार्यों को प्रकट करने हेतु उत्पन्न होते हैं। किन्तु वृन्दावन की लीलाओं के अतिरिक्त भगवान् के सारे कार्य उनके विभिन्न स्वांशों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। वासुदेव नारायण के स्वांश हैं, अतः जब भगवान् देवकी तथा वसुदेव के समक्ष वासुदेव रूप में प्रकट हुए तो वे अपने नारायण के रूप में ही प्रकट हुए। इसी तरह स्वर्ग के सारे देवता प्रद्युम्न, साम्ब, उद्धव इत्यादि भगवान् के संगियों के रूप में प्रकट हुए। इस श्लोक से यह समझा जा सकता है कि कामदेव प्रद्युम्न के रूप में, कार्तिकेय साम्ब के रूप में और वसुओं में से एक वसु उद्धव के रूप में प्रकट हुए। इन सबों ने भगवान् की लीलाओं को सम्वर्धित करने के लिए विभिन्न पदों पर रहकर सेवा की।

क्षेमं स कच्चिद्युयुधान आस्ते
यः फाल्गुनाल्लब्धधनूरहस्यः ।

लेभेऽञ्जसाधोक्षजसेवयैव
गतिं तदीयां यतिभिर्दुरापाम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

क्षेमम्—सर्वमंगल; सः—वह; कच्चित्—क्या; युयुधानः—सात्यकि; आस्ते—है; यः—जिसने; फाल्गुनात्—अर्जुन से; लब्ध—प्राप्त किया है; धनुः-रहस्यः—सैन्यकला के भेदों का जानकार; लेभे—प्राप्त किया है; अञ्जसा—भलीभाँति; अधोक्षज—ब्रह्म का; सेवया—सेवा से; एव—निश्चय ही; गतिम्—गन्तव्य; तदीयाम्—दिव्य; यतिभिः—बड़े-बड़े संन्यासियों द्वारा; दुरापाम्—प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन।

हे उद्धव, क्या युयुधान कुशल से? उसने अर्जुन से सैन्य कला की जटिलताएँ सीखीं और उस दिव्य गन्तव्य को प्राप्त किया जिस तक बड़े-बड़े संन्यासी भी बहुत कठिनाई से पहुँच पाते हैं।

तात्पर्य : अध्यात्म का गन्तव्य है भगवान् *अधोक्षज* का, जो इन्द्रियों की पहुँच के परे हैं, पार्षद बन जाना। ब्रह्मसुख का आनन्द प्राप्त करने के लिए संन्यासी लोग समस्त सांसारिक सम्बन्धों को, यथा परिवार, पत्नी, सन्तान, मित्र, घर, सम्पत्ति, को त्याग देते हैं। किन्तु *अधोक्षज* सुख ब्रह्मसुख से बढ़कर है। ज्ञानीजन परब्रह्म के विषय में दार्शनिक चिन्तन करते हुए आनन्द के दिव्य गुण का भोग करते हैं, किन्तु इस आनन्द के परे वह सुख है, जिसका भोग भगवान् का नित्य स्वरूप ब्रह्म करता है। जीवों द्वारा ब्रह्मानन्द का भोग भवबन्धन से मोक्ष पाने के बाद ही हो पाता है। किन्तु परब्रह्म अपनी ही शक्ति का, जिसे *ह्लादिनी* शक्ति कहते हैं, नित्य आनन्द भोग करता है। ज्ञानी, जो कि बाह्य गुणों के निषेध द्वारा ब्रह्म का अध्ययन करता है, ब्रह्म की *ह्लादिनी शक्ति* को नहीं समझ पाता। सर्वशक्तिमान की अनेक शक्तियों में उनकी अन्तरंगा शक्ति के तीन रूप हैं—ये हैं *संवित, सन्धिनी* तथा *ह्लादिनी*। महान् *योगी* तथा *ज्ञानीजन यम, नियम, आसन, ध्यान, धारणा* तथा *प्राणायाम* के नियमों का दृढ़ता से पालन करने पर भी भगवान् की अन्तरंगा शक्ति में प्रवेश नहीं कर पाते। किन्तु भगवद्भक्तों को भक्ति के बल पर इस अन्तरंगा शक्ति की अनुभूति सहज ही हो जाती है। युयुधान जीवन की इस अवस्था को उसी तरह प्राप्त कर चुका था जिस तरह उसने अर्जुन से सैन्यविज्ञान का पटु ज्ञान प्राप्त किया था। इस तरह उसका जीवन भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से सर्वथा सफल था। भगवान् की भक्ति का यही मार्ग है।

कच्चिद्बुधः स्वस्त्यनमीव आस्ते

श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः ।
यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांसु-
ष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; बुधः—अत्यन्त विद्वान; स्वस्ति—ठीक से; अनमीवः—त्रुटिरहित; आस्ते—है; श्वफल्क-पुत्रः—श्वफल्क का पुत्र अक्रूर; भगवत्—भगवान् के; प्रपन्नः—शरणागत; यः—वह जो; कृष्ण—भगवान् श्रीकृष्ण; पाद-अङ्कित—चरणचिह्नों से शोभित; मार्ग—रास्ता; पांसुषु—धूल में; अचेष्टत—प्रकट किया; प्रेम-विभिन्न—दिव्य प्रेम में निमग्न; धैर्यः—मानसिक संतुलन।.

कृपया मुझे बताएँ कि श्वफल्क पुत्र अक्रूर ठीक से तो है? वह भगवान् का शरणागत एक दोषरहित आत्मा है। उसने एक बार दिव्य प्रेम-भाव में अपना मानसिक सन्तुलन खो दिया था और उस मार्ग की धूल में गिर पड़ा था जिसमें भगवान् कृष्ण के पदचिन्ह अंकित थे।

तात्पर्य : जब अक्रूर कृष्ण की खोज में वृन्दावन आये तो उन्होंने नन्दग्राम की धूलि में भगवान् के चरणचिह्न देखे और वे भावावेश में तुरन्त ही उन पर गिर पड़े। यह भाव उसी भक्त में सम्भव है, जो कृष्ण के सतत विचारों में पूर्णतया निमग्न हो। भगवान् का ऐसा शुद्ध भक्त स्वभावतः दोष रहित होता है, क्योंकि वह परम रुप से शुद्ध भगवान् से सदैव सम्बद्ध रहता है। भगवान् का निरन्तर ध्यान करना भौतिक गुणों के दूषण से अपने को मुक्त रखने की प्रतिसंदूषण विधि है। भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के विषय में सोचते रहने के कारण सदैव उनकी संगति में रहता है। तो भी देश तथा काल के विशेष सन्दर्भ में दिव्य भावानाएँ विभिन्न मोड़ लेती हैं और इससे भक्त का मानसिक सन्तुलन डगमगा जाता है। भगवान् चैतन्य ने दिव्य भाव का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया जैसाकि ईश्वर के इस अवतार के जीवन से हम समझ पाते हैं।

कच्चिच्छिवं देवकभोजपुत्र्या
विष्णुप्रजाया इव देवमातुः ।
या वै स्वगर्भेण दधार देवं
त्रयी यथा यज्ञवितानमर्थम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; शिवम्—ठीकठाक; देवक-भोज-पुत्र्याः—राजा देवक भोज की पुत्री का; विष्णु-प्रजायाः—भगवान् को जन्म देने वाली; इव—सदृश; देव-मातुः—देवताओं की माता (अदिति) का; या—जो; वै—निस्सन्देह; स्व-गर्भेण—अपने गर्भ से; दधार—धारण किया; देवम्—भगवान् को; त्रयी—वेद; यथा—जितना कि; यज्ञ-वितानम्—यज्ञ के प्रसार का; अर्थम्—उद्देश्य।.

जिस तरह सारे वेद याज्ञिक कार्यों के आगार हैं उसी तरह राजा देवक-भोज की पुत्री ने

देवताओं की माता के ही सदृश भगवान् को अपने गर्भ में धारण किया। क्या वह (देवकी) कुशल से है?

तात्पर्य : सारे वेद दिव्य ज्ञान तथा आध्यात्मिक मूल्यों से परिपूर्ण हैं। इस तरह भगवान् कृष्ण की माता देवकी ने वेदों के साक्षात् अर्थ रूप में भगवान् को अपने गर्भ में धारण किया। वेदों में तथा भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। वेदों का उद्देश्य भगवान् को समझना है और भगवान् साक्षात् वेद हैं। देवकी की तुलना अर्थपूर्ण वेदों से तथा भगवान् की तुलना उनके उद्देश्य से की गई है।

अपिस्विदास्ते भगवान्सुखं वो
यः सात्वतां कामदुघोऽनिरुद्धः ।
यमामनन्ति स्म हि शब्दयोनिं
मनोमयं सत्त्वतुरीयतत्त्वम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अपि—भी; स्वित्—क्या; आस्ते—है; भगवान्—भगवान्; सुखम्—समस्त सुख; वः—तुम्हारा; यः—जो; सात्वताम्—भक्तों की; काम-दुघः—समस्त इच्छाओं का स्रोत; अनिरुद्धः—स्वांश अनिरुद्ध; यम्—जिसको; आमनन्ति—स्वीकार करते हैं; स्म—प्राचीन काल से; हि—निश्चय ही; शब्द-योनिम्—ऋग्वेद का कारण; मनः-मयम्—मन का स्रष्टा; सत्त्व—दिव्य; तुरीय—चौथा विस्तार; तत्त्वम्—तत्व, सिद्धान्त।

क्या मैं पूछ सकता हूँ कि अनिरुद्ध कुशलतापूर्वक है? वह शुद्ध भक्तों की समस्त इच्छाओं की पूर्ति करने वाला है और प्राचीन काल से ऋग्वेद का कारण, मन का स्रष्टा तथा विष्णु का चौथा स्वांश माना जाता रहा है।

तात्पर्य : आदि चतुर्भुज (व्यूह) बलदेव के आदि अंश वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध हैं। ये सभी विष्णु-तत्त्व हैं। श्रीराम के अवतार में ये सारे के सारे अंश विशिष्ट लीलाओं के लिए प्रकट हुए। भगवान् राम आदि वासुदेव हैं और संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध उनके भाई थे। अनिरुद्ध महाविष्णु के कारण भी हैं जिनके श्वास से ऋग्वेद प्रकट हुआ। *मार्कण्डेय पुराण* में इसकी सुन्दर ढंग से व्याख्या हुई है। भगवान् कृष्ण के अवतार में अनिरुद्ध उनके पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। द्वारका में भगवान् कृष्ण आदि व्यूह के वासुदेव अंश हैं। आदि भगवान् कृष्ण गोलोक वृन्दावन कभी नहीं छोड़ते। समस्त स्वांश एक ही विष्णुतत्त्व हैं और उनकी शक्ति में कोई अन्तर नहीं है।

अपिस्विदन्ये च निजात्मदैव-

मनन्यवृत्त्या समनुव्रता ये ।
हृदीकसत्यात्मजचारुदेष्ण
गदादयः स्वस्ति चरन्ति सौम्य ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अपि—भी; स्वित्—क्या; अन्ये—अन्य; च—तथा; निज-आत्म—अपने ही; दैवम्—श्रीकृष्ण; अनन्य—पूर्णरूपेण; वृत्त्या—श्रद्धा; समनुव्रताः—अनुयायीगण; ये—वे जो; हृदीक—हृदीक; सत्य-आत्मज—सत्यभामा का पुत्र; चारुदेष्ण—चारुदेष्ण; गद—गद; आदयः—इत्यादि; स्वस्ति—कुशलतापूर्वक; चरन्ति—समय बिताते हैं; सौम्य—हे भद्रःपुरुष।

हे भद्र पुरुष, अन्य लोग, यथा हृदीक, चारुदेष्ण, गद तथा सत्यभामा का पुत्र जो श्रीकृष्ण को अपनी आत्मा के रूप में मानते हैं और बिना किसी विचलन के उनके मार्ग का अनुसरण करते हैं-ठीक से तो हैं?

अपि स्वदोर्भ्यां विजयाच्युताभ्यां
धर्मेण धर्मः परिपाति सेतुम् ।
दुर्योधनोऽतप्यत यत्सभायां
साम्राज्यलक्ष्म्या विजयानुवृत्त्या ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अपि—भी; स्व-दोर्भ्याम्—अपनी भुजाएँ; विजय—अर्जुन; अच्युता-भ्याम्—श्रीकृष्ण समेत; धर्मेण—धर्म द्वारा; धर्मः—राजा युधिष्ठिर; परिपाति—पालनपोषण करता है; सेतुम्—धर्म का सम्मान; दुर्योधनः—दुर्योधन; अतप्यत—ईर्ष्या करता था; यत्—जिसका; सभायाम्—राज दरबार; साम्राज्य—राजसी; लक्ष्म्या—ऐश्वर्य; विजय-अनुवृत्त्या—अर्जुन की सेवा द्वारा।

अब मैं पूछना चाहूँगा कि महाराज युधिष्ठिर धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार तथा धर्मपथ के प्रति सम्मान सहित राज्य का पालन-पोषण कर तो रहे हैं? पहले तो दुर्योधन ईर्ष्या से जलता रहता था, क्योंकि युधिष्ठिर कृष्ण तथा अर्जुन रूपी दो बाहुओं के द्वारा रक्षित रहते थे जैसे वे उनकी अपनी ही भुजाएँ हों।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर धर्म के प्रतीक थे। जब वे भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन की सहायता से अपने साम्राज्य पर शासन करते थे तो उनके साम्राज्य का ऐश्वर्य स्वर्ग के भी ऐश्वर्य की सभी कल्पनाओं को मात कर चुका था। उनकी असली बाहें तो भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन थे। इस तरह वे हर एक के ऐश्वर्य से बहुत आगे थे। दुर्योधन इस ऐश्वर्य से ईर्ष्या करता था, अतएव उसने युधिष्ठिर को संकट में डालने के लिए अनेक चालें चलीं और अन्त में कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ। कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद महाराज युधिष्ठिर एक बार फिर से अपने वैध साम्राज्य पर शासन कर सके तथा उन्होंने धर्म के प्रति सम्मान तथा आदर भाव की पुनर्स्थापना की। महाराज युधिष्ठिर जैसे पुण्यात्मा राजा द्वारा शासित साम्राज्य की यही

शोभा है।

किं वा कृताघेष्वघमत्यमर्षी
भीमोऽहिवद्दीर्घतमं व्यमुञ्चत् ।
यस्याङ्घ्रिपातं रणभूर्न सेहे
मार्गं गदायाश्चरतो विचित्रम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; वा—अथवा; कृत—सम्पन्न; अघेषु—पापियों के प्रति; अघम्—क्रुद्ध; अति-अमर्षी—अजेय; भीमः—भीम; अहि-वत्—काले सर्प की भाँति; दीर्घ-तमम्—दीर्घ काल से; व्यमुञ्चत्—विमुक्त किया; यस्य—जिसका; अङ्घ्रि-पातम्—पदचाप; रण-भूः—युद्ध भूमि; न—नहीं; सेहे—सह सका; मार्गम्—मार्ग; गदायाः—गदाओं द्वारा; चरतः—चलाते हुए; विचित्रम्—विचित्र।

[कृपया मुझे बताएँ] क्या विषैले सर्प तुल्य एवं अजेय भीम ने पापियों पर अपना दीर्घकालीन क्रोध बाहर निकाल दिया है? गदा-चालन के उसके कौशल को रण-भूमि भी सहन नहीं कर सकती थी, जब वह उस पथ पर चल पड़ता था।

तात्पर्य : भीम के बल से विदुर परिचित थे। जब भी भीम युद्धक्षेत्र में होता तो पथ पर उसकी पदचाप तथा उसके अद्‌भुत गदा-कौशल शत्रु के लिए असह्य होते। बलशाली भीम ने लम्बे समय तक धृतराष्ट्र के पुत्रों के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाया। विदुर की जिज्ञासा थी कि क्या उसने अभी तक सताये हुए विषैले सर्प की भाँति अपना क्रोध बाहर निकाला है? जब सर्प लम्बेसमय से पनप रहे क्रोध के पश्चात् अपना विष छोड़ता है, तो शिकार जीवित नहीं रह सकता।

कच्चिद्यशोधा रथयूथपानां
गाण्डीवधन्वोपरतारिरास्ते ।
अलक्षितो यच्छरकूटगूढो
मायाकिरातो गिरिशस्तुतोष ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; यशः-धा—विख्यात; रथ-यूथपानाम्—महान् रथियों के बीच; गाण्डीव—गाण्डीव; धन्व—धनुष; उपरत-अरिः—जिसने शत्रुओं का विनाश कर दिया है; आस्ते—ठीक से है; अलक्षितः—बिना पहचाने हुए; यत्—जिसका; शर-कूट-गूढः—बाणों से आच्छादित होकर; माया-किरातः—छद्म शिकारी; गिरिशः—शिवजी; तुतोष—सन्तुष्ट हो गये थे।

[कृपया मुझे बताएँ] कि अर्जुन, जिसके धनुष का नाम गाण्डीव है और जो अपने शत्रुओं का विनाश करने में रथियों में सदैव विख्यात है, ठीक से तो है? एक बार उसने न पहचाने जानेवाले छद्म शिकारी के रूप में आये हुए शिवजी को बाणों की बौछार करके उन्हें तुष्ट किया

था।

तात्पर्य : शिवजी ने अर्जुन के बल की परीक्षा एक सुअर के शिकार को लेकर हुए झगड़े के द्वारा ली। उन्होंने शिकारी के छद्म वेश में अर्जुन का सामना किया। अर्जुन उन्हें तब तक बाणों से आच्छादित करता रहा जब तक कि वे अर्जुन के युद्ध से तुष्ट नहीं हो गये उन्होंने अर्जुन को पाशुपति अस्त्र दिया और आशीर्वाद दिया। यहाँ पर विदुर इसी महान् योद्धा की कुशलक्षेत्र के विषय में पूछ रहे हैं।

यमावुतस्वित्तनयौ पृथायाः
पार्थैर्वृतौ पक्ष्मभिरक्षिणीव ।
रेमात उद्दाय मृधे स्वरिक्थं
परात्सुपर्णाविव वज्रिवक्त्रात् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यमौ—जुड़वाँ (नकुल तथा सहदेव); **उतस्वित्**—क्या; **तनयौ**—पुत्र; **पृथायाः**—पृथा के; **पार्थैः**—पृथा के पुत्रों द्वारा; **वृतौ**—संरक्षित; **पक्ष्मभिः**—पलकों द्वारा; **अक्षिणी**—आँखों के; **इव**—सदृश; **रेमाते**—असावधानीपूर्वक खेलते हुए; **उद्दाय**—छीन कर; **मृधे**—युद्ध में; **स्व-रिक्थम्**—अपनी सम्पत्ति; **परात्**—शत्रु दुर्योधन से; **सुपर्णौ**—विष्णु का वाहन गरुड़; **इव**—सदृश; **वज्रि-वक्त्रात्**—इन्द्र के मुख से।

क्या अपने भाइयों के संरक्षण में रह रहे जुड़वाँ भाई कुशल पूर्वक हैं? जिस तरह आँख पलक द्वारा सदैव सुरक्षित रहती है उसी तरह वे पृथा पुत्रों द्वारा संरक्षित हैं जिन्होंने अपने शत्रु दुर्योधन के हाथों से अपना न्यायसंगत साम्राज्य उसी तरह छीन लिया है, जिस तरह गरुड़ ने वज्रधारी इन्द्र के मुख से अमृत छीन लिया था।

तात्पर्य : स्वर्ग का राजा इन्द्र अपने हाथ में वज्र धारण करता है और अत्यन्त बलशाली है, किन्तु भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ ने उसके मुख से अमृत छीन लिया था। इसी तरह दुर्योधन स्वर्ग के राजा के ही समान बलशाली था फिर भी पृथापुत्र पाण्डव दुर्योधन से अपना साम्राज्य छीनने में सफल रहे। गरुड़ तथा पार्थगण दोनों ही लाड़ले भगवद्भक्त हैं, इसीलिए वे ऐसे प्रबल शत्रुओं का सामना कर सके।

विदुर की जिज्ञासा पाण्डवों के सबसे छोटे दो भाइयों नकुल तथा सहदेव के विषय में थी। ये जुड़वाँ भाई माद्री के पुत्र थे, जो अन्य पाण्डवों की विमाता थी। जब माद्री अपने पति महाराज पाण्डु के साथ प्रयाण कर गई तो कुन्ती ने उनका भार सँभाला था। यद्यपि ये सौतेले भाई थे, किन्तु नकुल तथा सहदेव अन्य तीन पाण्डवों अर्थात् युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन के ही समान थे। ये पाँचों भाई विश्व में

सगे भाईयों के रूप में विख्यात हैं। तीनों ज्येष्ठ पाण्डवों ने अपने छोटे भाइयों की उसी तरह देखरेख की जिस तरह आँख की रखवाली पलक करती है। विदुर यह जानने के लिए उत्सुक थे कि दुर्योधन के हाथों से अपना साम्राज्य जीत लेने के बाद पांडवों के छोटे भाई बड़े भाइयों के संरक्षण में सुखपूर्वक तो रह रहे हैं।

अहो पृथापि ध्रियतेऽर्भकार्थे
राजर्षिवर्येण विनापि तेन ।
यस्त्वेकवीरोऽधिरथो विजिग्ये
धनुर्द्वितीयः ककुभश्चतस्रः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; पृथा—कुन्ती; अपि—भी; ध्रियते—अपना जीवन बिताती है; अर्भक-अर्थे—पितृविहीन बच्चों के निमित्त; राजर्षि—राजा पाण्डु; वर्येण—सर्वश्रेष्ठ; विना अपि—बिना भी; तेन—उसके; यः—जो; तु—लेकिन; एक—अकेला; वीरः—योद्धा; अधिरथः—सेनानायक; विजिग्ये—जीत सका; धनुः—धनुष; द्वितीयः—दूसरा; ककुभः—दिशाएँ; चतस्रः—चारों।

हे स्वामी, क्या पृथा अब भी जीवित है? वह अपने पितृविहीन बालकों के निमित्त ही जीवित रही अन्यथा राजा पाण्डु के बिना उसका जीवित रह पाना असम्भव था, जो कि महानतम सेनानायक थे और जिन्होंने अकेले ही अपने दूसरे धनुष के बल पर चारों दिशाएँ जीत ली थीं।

तात्पर्य : एक पतिव्रता पत्नी अपने स्वामी अर्थात् पति के बिना जीवित नहीं रह सकती, इसीलिए समस्त विधवाएँ स्वेच्छा से उस प्रज्वलित अग्नि को गले लगाती थीं जो मृत पति को भस्म कर देती थी। भारत में यह अत्यन्त सामान्य प्रथा थी, क्योंकि सारी पत्नियाँ सती तथा पतिव्रता होती थीं। बाद में, कलियुग के आगमन के साथ ही पत्नियों का पतिपरायण होना कम होता गया और विधवाओं द्वारा स्वेच्छा से अग्निदाह अब अतीत की बात हो गई है। अभी थोड़े ही वर्षों पूर्व यह प्रथा समाप्त कर दी गई, क्योंकि स्वेच्छिक प्रथा ने बलात् सामाजिक प्रथा का रूप धारण कर लिया था।

जब महाराज पाण्डु मरे तो उनकी दोनों ही पत्नियाँ, माद्री तथा कुन्ती, अग्निदाह के लिए तैयार थीं, किन्तु माद्री ने कुन्ती से अनुरोध किया कि वे पाँच पाण्डवों के, जो छोटे बच्चे ही थे, निमित्त जीवित रहें। जब व्यासदेव ने भी यही आग्रह किया, तो कुन्ती ने ऐसा करना स्वीकार कर लिया। अतिशय विछोह के बावजूद कुन्ती ने अपने पति की अनुपस्थिति में जीवन का भोग करने के लिए नहीं, अपितु बच्चों को संरक्षण प्रदान करने के लिए जीवित रहने का निश्चय किया। विदुर इसी घटना

का प्रसंग दे रहे हैं, क्योंकि वे अपनी भावज कुन्तीदेवी के विषय में सारी बातें जानते थे। यह ज्ञात होता है कि महाराज पाण्डु महान् योद्धा थे और उन्होंने धनुषबाण की सहायता से अकेले ही विश्व की चारों दिशाओं को जीता था। ऐसे पति की अनुपस्थिति में कुन्ती के लिए विधवा के रूप में भी जीवित रहना असम्भव था, तो भी पाँच पुत्रों के लिए उन्हें ऐसा करना पड़ा।

सौम्यानुशोचे तमधःपतन्तं
भ्रात्रे परेताय विदुद्रुहे यः ।
निर्यापितो येन सुहृत्स्वपुर्या
अहं स्वपुत्रान्समनुव्रतेन ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

सौम्य—हे भद्रपुरुष; अनुशोचे—शोक करता हूँ; तम्—उसको; अधः-पतन्तम्—नीचे गिरते हुए; भ्रात्रे—अपने भाई पर; परेताय—मृत्यु; विदुद्रुहे—विद्रोह किया; यः—जिसने; निर्यापितः—भगा दिया गया; येन—जिसके द्वारा; सुहृत्—शुभैषी; स्व-पुर्याः—अपने ही घर से; अहम्—मैं; स्व-पुत्रान्—अपने पुत्रों समेत; समनु-व्रतेन—वैसी ही कार्यवाही को स्वीकार करते हुए।.

हे भद्रपुरुष, मैं तो एकमात्र उस (धृतराष्ट्र) के लिए शोक कर रहा हूँ जिसने अपने भाई की मृत्यु के बाद उसके प्रति विद्रोह किया। उसका निष्ठावान हितैषी होते हुए भी उसके द्वारा मैं अपने घर से निकाल दिया गया, क्योंकि उसने भी अपने पुत्रों के द्वारा अपनाए गये मार्ग का ही अनुसरण किया था।

तात्पर्य : विदुर ने अपने जेष्ठ भ्राता की कुशलता के बारे में नहीं पूछा, क्योंकि उसके कल्याण का कोई अवसर नहीं था, उसके अध:पतित होने का ही समाचार हो सकता था। विदुर धृतराष्ट्र के निष्ठावान हितैषी थे और उनके मन के भीतर उसके विषय में एक विचार था। उन्होंने शोक व्यक्त किया कि धृतराष्ट्र ने अपने मृत भ्राता पाण्डु के पुत्रों के विरुद्ध विद्रोह कर सकता था और यह की उसने अपने कुटिल पुत्रों के आदेश पर उन्हें ही (विदुर को) उनके घर से निकाल दिया। इन कार्यों के बावजूद विदुर कभी भी धृतराष्ट्र के शत्रु नहीं बने, प्रत्युत उसके हितैषी बने रहे, यहाँ तक कि धृतराष्ट्र के अन्तिम दिनों में विदुर ही उसके एकमात्र असली मित्र सिद्ध हुए। विदुर जैसे वैष्णव का आचरण ही ऐसा होता है—वह अपने शत्रुओं का भी भला सोचता है।

सोऽहं हरेर्मर्त्यविडम्बनेन

दृशो नृणां चालयतो विधातुः ।
नान्योपलक्ष्यः पदवीं प्रसादा-
च्चरामि पश्यन्गतविस्मयोऽत्र ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—इसलिए मैं; हरेः—भगवान् का; मर्त्य—इस मर्त्यलोक में; विडम्बनेन—बिना जाने-पहचाने; दृशः—देखने पर; नृणाम्—सामान्य लोगों के; चालयतः—मोहग्रस्त; विधातुः—इसे करने के लिए; न—नहीं; अन्य—दूसरा; उपलक्ष्यः—दूसरों द्वारा देखा गया; पदवीम्—महिमा; प्रसादात्—कृपा से; चरामि—घूमता हूँ; पश्यन्—देखते हुए; गत-विस्मयः—बिना संशय के; अत्र—इस मामले में।

अन्यों द्वारा अलक्षित रहकर विश्वभर में भ्रमण करने के बाद मुझे इस पर कोई आश्चर्य नहीं हो रहा। भगवान् के कार्यकलाप जो इस मर्त्यलोक के मनुष्य जैसे हैं, अन्यों को मोहित करने वाले हैं, किन्तु भगवान् की कृपा से मैं उनकी महानता को जानता हूँ, अतएव मैं सभी प्रकार से सुखी हूँ।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र का भाई होते हुए भी विदुर सर्वथा भिन्न थे। भगवान् कृष्ण की कृपा से वे अपने भाई की तरह मूर्ख न थे, अतएव भाई की संगति उन पर प्रभाव नहीं डाल पाई। धृतराष्ट्र तथा उसके भौतिकतावादी पुत्र अपने बल से विश्व पर अपना झूठा दबदबा बनाना चाह रहे थे। इसमें भगवान् ने उन्हें प्रोत्साहित किया इस प्रकार वे अधिकाधिक मोहग्रस्त होते रहे। किन्तु विदुर तो भगवान् की निष्ठायुक्त भक्ति चाहते थे, अतएव उन्होंने पूरी तरह से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण कर ली। वे अपनी तीर्थयात्रा के समय इसका अनुभव कर पाये, फलतः वे समस्त संशयों से मुक्त हो गये। उन्हें अपने घर-बार से वंचित होने का तनिक भी खेद न था, क्योंकि अब उन्हें अनुभव हो रहा था कि भगवान् की कृपा पर आश्रित रहना घर पर रहने की तथाकथित स्वतंत्रता से कहीं बढ़कर है। मनुष्य को तब तक संन्यास ग्रहण नहीं करना चाहिए जब तक उसे पूर्णविश्वास न हो ले कि वह भगवान् द्वारा रक्षित है। *भगवद्गीता* में जीवन की इस अवस्था को *अभयं सत्त्वसंशुद्धिः* कहा गया है—प्रत्येक जीव वस्तुतः भगवत्कृपा पर पूर्णतया आश्रित है, किन्तु शुद्ध जीवन प्राप्त किये बिना वह इस पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। यह आश्रित अवस्था *सत्त्वसंशुद्धिः* कहलाती है। ऐसी संशुद्धि का फल निर्भीकता में प्रकट होता है। भगवद्भक्त जो कि *नारायण-पर* कहलाता है कभी किसी वस्तु से भयभीत नहीं होता, क्योंकि वह इस तथ्य से सदैव अवगत रहता है कि सभी परिस्थितियों में भगवान् उसकी रक्षा करेंगे। इसी संकल्प के साथ विदुर अकेले ही यात्रा कर रहे थे और उन्हें न तो किसी मित्र ने न किसी शत्रु ने

देखा अथवा पहचाना था। इस तरह वे संसार के अनेक कर्तव्यों को करने के लिए बाध्य हुए बिना जीवन की स्वतंत्रता का उपभोग कर पाए थे।

जब भगवान् श्रीकृष्ण इस मर्त्यलोक में अपने नित्य आनन्दमय श्यामसुन्दर रूप में उपस्थित थे तो जो लोग भगवान् के शुद्ध भक्त नहीं थे वे न तो उन्हें पहचान सके, न उनकी महिमा को जान पाये। *अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्* (*भगवद्गीता* ९.११)—वे अभक्तों को सदैव मोहित करने वाले हैं, किन्तु भक्तगण भगवान् की शुद्ध भक्ति के कारण उन्हें सदैव देख सकते हैं।

नूनं नृपाणां त्रिमदोत्पथानां
महीं मुहुश्चालयतां चमूभिः ।
वधात्प्रपन्नार्तिजिहीर्षयेशो-
ऽप्युपैक्षताघं भगवान्कुरूणाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्सन्देह; नृपाणाम्—राजाओं के; त्रि—तीन; मद-उत्पथानाम्—मिथ्या गर्व से बहके हुए; महीम्—पृथ्वी को; मुहुः—निरन्तर; चालयताम्—क्षुब्ध करते; चमूभिः—सैनिकों की गति से; वधात्—हत्या के कार्य से; प्रपन्न—शरणागत; आर्ति-जिहीर्षय—पीड़ितों के दुख को दूर करने के लिए इच्छुक; ईशः—भगवान् ने; अपि—के बावजूद; उपैक्षत—प्रतीक्षा की; अघम्—अपराध; भगवान्—भगवान्; कुरूणाम्—कुरुओं के।

(कृष्ण) भगवान् होते हुए भी तथा पीड़ितों के दुख को सदैव दूर करने की इच्छा रखते हुए भी, वे कुरुओं का वध करने से अपने को बचाते रहे, यद्यपि वे देख रहे थे कि उन लोगों ने सभी प्रकार के पाप किये हैं और यह भी देख रहे थे कि, अन्य राजा तीन प्रकार के मिथ्या गर्व के वश में होकर अपनी प्रबल सैन्य गतिविधियों से पृथ्वी को निरन्तर क्षुब्ध कर रहे हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में घोषणा की गई है भगवान् इस मर्त्यलोक में दुष्टों का वध करने तथा पीड़ित श्रद्धावानों की रक्षा करने के उद्देश्य को पूरा करने के लिए प्रकट होते हैं। इस उद्देश्य के बावजूद भगवान् कृष्ण कौरवों द्वारा द्रौपदी के अपमान को तथा पाण्डवों के प्रति किये जा रहे अन्याय के साथ-साथ अपने अपमान को सहते रहे। यह प्रश्न उठाया जा सकता है, ''उन्होंने अपनी उपस्थिति में ऐसे अन्यायों तथा अपमानों को क्यों सहा? उन्होंने कुरुओं को तुरन्त दण्ड क्यों नहीं दिया?'' जब कौरवों द्वारा सबों की उपस्थिति में द्रौपदी को भरी सभा में नुग्न देखने के प्रयास में उन्हें अपमानित किया गया तो भगवान् ने उनके वस्त्र को असीमित रुप में बढ़ाकर उनकी रक्षा की। किन्तु उन्होंने अपमान करने वाले पक्ष को तुरन्त दण्ड नहीं दिया। इस चुप्पी का यह अर्थ नहीं होता कि उन्होंने

कुरुओं के अपराधों को क्षमा कर दिया था। पृथ्वी पर ऐसे अनेक राजा थे, जो तीन प्रकार की सम्पत्तियों—धन, शिक्षा तथा अनुयायियों—के कारण गर्वित हो उठे थे और वे सैन्यबल की गतिविधियों से पृथ्वी को लगातार उद्विग्न बना रहे थे। भगवान् इस ताक में थे कि वे सभी कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में एकत्र हों तो उन सबों का एकसाथ सफाया कर दिया जाय जिससे उनका वध करने का उद्देश्य थोड़े में पूरा हो सके। ईशविहीन राजागण या राज्यों के प्रधान जब धन, शिक्षा तथा जनसंख्या वृद्धि से गर्वित हो उठते हैं, तो वे सैन्यबल का प्रदर्शन करते हैं और निर्दोषों को कष्ट देते हैं। जब भगवान् कृष्ण स्वयं उपस्थित थे तो संसार भर में ऐसे अनेक राजा थे, अत: भगवान् ने कुरुक्षेत्र युद्ध के लिए योजना तैयार की। अपने विश्वरूप के प्राकट्य में भगवान् ने वध करने के अपने उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त किया है, ''मैं अवांछित जनसंख्या को कम करने के लिए क्रूर कालरूप में इस पृथ्वी पर स्वेच्छा से अवतरित हुआ हूँ। मैं तुम पाण्डवों के अतिरिक्त यहाँ पर एकत्रित सारे लोगों का सफाया कर डालूँगा। यह वध कार्य तुम्हारी भागीदारी की प्रतीक्षा नहीं करेगा। यह पहले से नियोजित है। सारे लोग मेरे द्वारा वध किये जाएँगे। यदि तुम युद्धभूमि में वीर की तरह प्रसिद्ध बनना चाहते हो और युद्ध में लूटी हुई सम्पत्ति का भोग करना चाहते हो तो हे सव्यसाची! तुम अविलम्ब इस वध के निमित्त बनकर इसका श्रेय प्राप्त करो। द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य महान् योद्धा पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। तुम चिन्ता मत करो। तुम युद्ध करो और महान् योद्धा के रूप में विख्यात बनो। (*भगवद्गीता*११.३२-३४)

भगवान् सदैव चाहते रहते हैं कि उनका भक्त उनके द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले किसी उपाख्यान का नायक बने। वे अपने भक्त तथा मित्र अर्जुन को कुरुक्षेत्र युद्ध के वीर के रूप में देखना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने संसार के सारे दुष्टों को एकत्र होने की प्रतीक्षा की। उनके प्रतीक्षा करने का यही कारण है, और कोई अन्य कारण नहीं है।

अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय
कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम् ।
नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं
परो गुणानामुत कर्मतन्त्रम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

अजस्य—अजन्मा का; जन्म—प्राकट्य; उत्पथ-नाशनाय—दुष्टों का विनाश करने के लिए; कर्माणि—कार्य; अकर्तुः—निठल्ले का; ग्रहणाय—ग्रहण करने के लिए; पुंसाम्—सारे व्यक्तियों का; ननु अन्यथा—नहीं तो; कः—कौन; अर्हति—योग्य हो सकता है; देह-योगम्—शरीर का सम्पर्क; परः—दिव्य; गुणानाम्—तीन गुणों का; उत—क्या कहा जा सकता है; कर्म-तन्त्रम्—कार्य-कारण का नियम।.

भगवान् का प्राकट्य दुष्टों का संहार करने के लिए होता है। उनके कार्य दिव्य होते हैं और समस्त व्यक्तियों के समझने के लिए ही किये जाते हैं। अन्यथा, समस्त भौतिक गुणों से परे रहने वाले भगवान् का इस पृथ्वी में आने का क्या प्रयोजन हो सकता है?

तात्पर्य : *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः* (*ब्रह्म-संहिता* ५.१)—भगवान् का स्वरूप नित्य, आनन्दमय तथा सर्वज्ञ है। अतएव उनका तथाकथित जन्म एक तरह से केवल प्राकट्य होता है, जिस तरह क्षितिज से सूर्य का उत्पन्न होना है। उनका जन्म जीवों जैसा प्रकृति के प्रभाव तथा विगत कर्मों के फलों के बन्धन के अन्तर्गत नहीं होता। उनके कार्य एवं गतिविधियाँ स्वतंत्र लीलाएँ हैं और भौतिक प्रकृति के कर्मफलों के अधीन नहीं हैं। *भगवद्गीता* (४.१४) में कहा गया है—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

जीवों के लिए भगवान् द्वारा बनाया गया कर्म का नियम स्वंय भगवान् पर लागू नहीं होता, न ही वे सामान्य जीवों की तरह कर्मों के द्वारा अपने को सुधारने के लिए इच्छुक रहते हैं। साधारण जीव अपने बद्ध जीवन को सुधारने के लिए कर्म करते हैं, किन्तु भगवान् पहले से समस्त ऐश्वर्य, समस्त बल, समस्त यश, समस्त सौन्दर्य, समस्त ज्ञान तथा समस्त त्याग से परिपूर्ण हैं। तो फिर वे सुधार के लिए इच्छा क्यों करें? कोई व्यक्ति किसी भी ऐश्वर्य में उनसे आगे नहीं जा सकता, अतएव सुधार की इच्छा उनके लिए सर्वथा निरर्थक है। मनुष्य को सदैव भगवान् तथा सामान्य जीवों के कार्यकलापों में अन्तर करना चाहिए। तभी वह भगवान् के दिव्य पद के विषय में सही निर्णय पर पहुँच सकता है। जो भगवान् की दिव्यता के विषय में किसी निर्णय पर पहुँच जाता है, वह भगवान् का भक्त बन सकता है और अपने विगत कर्मों के समस्त फलों से तुरन्त मुक्त हो सकता है। कहा गया है *कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्;* भगवान् भक्त के विगत कर्मों के फलों को या तो कम कर देते हैं या एकदम निष्प्रभावित कर देते हैं (*ब्रह्म-संहिता* ५.५४)

भगवान् के कार्यकलाप सभी जीवों द्वारा अपनाए जाने तथा आस्वाद किये जाने के लिए हैं। उनके कार्यकलाप सामान्य व्यक्ति को भगवान् के प्रति आकृष्ट करने के लिए होते हैं। भगवान् सदैव भक्तों के हित में कार्य करते हैं, अतएव सामान्य व्यक्ति, जो कि सकामकर्मी होते हैं या मोक्षकामी होते हैं, भगवान् के प्रति आकृष्ट हो सकते हैं जब वे भक्तों के रक्षक के रूप में कार्य करते हैं। सकाम *कर्मी* भक्ति-मय सेवा द्वारा अपने लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं और मोक्षकामी भी भगवद्भक्ति द्वारा अपना जीवन लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। भक्तगण न तो अपने कर्म का फल चाहते हैं न ही वे किसी प्रकार का मोक्ष चाहते हैं। वे तो भगवान् के यशस्वी अतिमानवीय कार्यों का, यथा उनके द्वारा गोवर्धन पर्वत के उठाये जाने तथा बाल्यावस्था में ही पूतना राक्षसी का वध किये जाने का, आस्वादन करते हैं। उनके कार्य सभी प्रकार के लोगों—*कर्मियों, ज्ञानियों* तथा *भक्तों*—को आकृष्ट करने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। चूँकि वे कर्म के समस्त नियमों से परे हैं, अतएव उनके लिए माया के रूप को स्वीकार करने की सम्भावना नहीं रहती, जिस प्रकार अपने कर्मों के फलों से बद्ध सामान्य जीव बाध्य हो जाते हैं।

उनके प्राकट्य का गौण प्रयोजन दुष्ट असुरों का संहार करने तथा अल्पज्ञों द्वारा अनर्गल नास्तिकतावादी प्रचार को रोकना है। भगवान् की अहैतुकी कृपा से भगवान् द्वारा मारे जाने वाले असुरों को मोक्ष प्राप्त होता है। भगवान् का सार्थक प्राकट्य सामान्य जन्म से सदैव भिन्न होता है। यहाँ तक कि शुद्ध भक्तों का भी भौतिक देह से कोई सम्बन्ध नहीं होता और सच्चिदानन्द रूप में प्रकट होने वाले भगवान् निश्चित रूप से भौतिक स्वरूप द्वारा परि-सीमित नहीं होते।

तस्य प्रपन्नाखिललोकपाना-
मवस्थितानामनुशासने स्वे ।
अर्थाय जातस्य यदुष्वजस्य
वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; प्रपन्न—शरणागत; अखिल-लोक-पानाम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सारे शासकों के; अवस्थितानाम्—स्थित; अनुशासने—नियंत्रण में; स्वे—अपने; अर्थाय—स्वार्थ हेतु; जातस्य—उत्पन्न होने वाले का; यदुषु—यदु कुल में; अजस्य—अजन्मा की; वार्ताम्—कथाएँ; सखे—हे मित्र; कीर्तय—कहो; तीर्थ-कीर्तेः—तीर्थस्थानों में जिन के यश का कीर्तन होता है, उन भगवान् का।

अतएव हे मित्र, उन भगवान् की महिमा का कीर्तन करो जो तीर्थस्थानों में महिमामंडित किये जाने के निमित्त हैं। वे अजन्मा हैं फिर भी ब्रह्माण्ड के सभी भागों के शरणागत शासकों

पर अपनी अहैतुकी कृपा द्वारा वे प्रकट होते हैं। उन्हीं के हितार्थ वे अपने शुद्ध भक्त यदुओं के परिवार में प्रकट हुए।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड भर में नाना प्रकार के लोकों में असंख्य शासक हैं—सूर्यलोक में सूर्यदेव, चन्द्रलोक में चन्द्रदेव, स्वर्गलोक में इन्द्र, वायु, वरुण, तथा ब्रह्मलोक में देवता जिसमें ब्रह्माजी निवास करते हैं। ये सभी भगवान् के आज्ञाकारी सेवक हैं; जब भी विभिन्न ब्रह्माण्डों के असंख्य लोकों के प्रशासन में कोई विपत्ति आती है, तो उनके शासक भगवान् से प्रकट होने के लिए प्रार्थना करते हैं और वे प्रकट होते हैं। इसकी पुष्टि *भागवत* (१.३.२८) में निम्नलिखित श्लोक में पहले ही हुई है—

एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥

हर युग में, जब भी आज्ञाकारी शासकों पर कोई विपत्ति आती है, तो भगवान् प्रकट होते हैं। वे अपने शुद्ध अनन्य भक्तों के लिए भी प्रकट होते हैं। शरणागत शासक तथा शुद्ध भक्तगण सदैव भगवान् के कठोर नियंत्रण में रहते हैं और वे कभी भी भगवान् की इच्छाओं का उल्लंघन नहीं करते। इसीलिए भगवान् सदैव उनका ध्यान रखते हैं।

तीर्थाटन का उद्देश्य भगवान् का निरन्तर स्मरण करना है इसीलिए भगवान् *तीर्थकीर्ति* कहलाते हैं। तीर्थस्थान की यात्रा करने का उद्देश्य भगवान् की महिमा के गायन का अवसर प्राप्त करना है। आज भी, यद्यपि समय बदल चुका है, फिर भी भारत में तीर्थयात्रा के अनेक स्थल हैं। उदाहरणार्थ, मथुरा तथा वृन्दावन में, जहाँ हमें ठहरने का अवसर प्राप्त हुआ है, लोग प्रात: काल चार बजे से जग कर रात होने तक किसी न किसी रूप में भगवान् की महिमा के गायन में लगे रहते हैं। ऐसे तीर्थस्थान की शोभा यह है कि मनुष्य को स्वत: भगवान् की पवित्र महिमा का स्मरण हो आता है। उनका नाम, यश, गुण, रूप, लीलाएँ तथा साज-सामग्री भगवान् से अभिन्न हैं, अतएव भगवान् की महिमा के कीर्तन से भगवान् की साकारता का आवाहन होता है। किसी भी समय या कहीं भी शुद्ध भक्त-गण मिल कर भगवान् की महिमा का कीर्तन करते हैं, तो निस्सन्देह भगवान् आकर उपस्थित होते हैं। भगवान् ने स्वयं कहा है कि जहाँ उनके शुद्ध भक्त उनकी महिमाओं का गायन करते हैं वहाँ वे सदैव निवास करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''विदुर द्वारा पूछे गये प्रश्न'' नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

भगवान् कृष्ण का स्मरण

श्रीशुक उवाच
इति भागवतः पृष्टः क्षत्त्रा वार्तां प्रियाश्रयाम् ।
प्रतिवक्तुं न चोत्सेह औत्कण्ठ्यात्स्मारितेश्वरः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; भागवतः—महान् भक्त; पृष्टः—पूछे जाने पर; क्षत्त्रा—विदुर द्वारा; वार्ताम्—सन्देश; प्रिय-आश्रयाम्—प्रियतम के विषय में; प्रतिवक्तुम्—उत्तर देने के लिए; न—नहीं; च—भी; उत्सेहे—उत्सुक हुआ; औत्कण्ठ्यात्—अत्यधिक उत्सुकता वश; स्मारित—स्मृति; ईश्वरः—ईश्वर।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब विदुर ने महान् भक्त उद्धव से प्रियतम (कृष्ण) का सन्देश बतलाने के लिए कहा तो भगवान् की स्मृति के विषय में अत्यधिक विह्वलता के कारण उद्धव तुरन्त उत्तर नहीं दे पाये।

यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः ।
तन्नैच्छद्रचयन्यस्य सपर्यां बाललीलया ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; पञ्च—पाँच; हायनः—वर्ष का; मात्रा—अपनी माता द्वारा; प्रातः-आशाय—कलेवा के लिए; याचितः—बुलाये जाने पर; तत्—उस; न—नहीं; ऐच्छत्—चाहा; रचयन्—खेलते हुए; यस्य—जिसकी; सपर्याम्—सेवा; बाल-लीलया—बचपन।

वे अपने बचपन में ही जब पाँच वर्ष के थे तो भगवान् कृष्ण की सेवा में इतने लीन हो जाते थे कि जब उनकी माता प्रातःकालीन कलेवा करने के लिए बुलातीं तो वे कलेवा करना नहीं चाहते थे।

तात्पर्य : अपने जन्म से ही उद्धव भगवान् कृष्ण के सहज भक्त अर्थात् नित्य-सिद्ध, मुक्त-आत्मा थे। वे अपने बचपन में भी स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा के कारण कृष्ण की सेवा करते थे। वे कृष्ण के स्वरूप वाले गुड्डों से खेला करते, उन्हें वस्त्र पहनाते, खिलाते और पूजा किया करते। इस तरह वे दिव्य साक्षात्कार की क्रीड़ा में निरन्तर लीन रहते। ये ही सब नित्य मुक्तात्मा के लक्षण हैं। नित्य मुक्तात्मा भगवान् का भक्त होता है, जो उनको कभी नहीं भुलाता। मानव जीवन भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को पुनर्जागृत करने के लिए होता है और सारे धार्मिक आदेश जीव की इस सुप्त अन्तः प्रेरणा को जागृत करने के लिए होते हैं। यह जागृति जितनी ही जल्दी लाई जा सके उतनी ही तेजी से मानव

जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। भक्तों के अच्छे परिवार में बालक को भगवान् की सेवा करने का अनेक प्रकार से अवसर मिलता है। ऐसा व्यक्ति जो पहले से भक्ति में प्रगति कर चुका होता है, उसे ऐसे प्रबुद्ध परिवार में जन्म लेने का अवसर प्राप्त होता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (६.४१) में हुई है—*शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते*—पतित भक्त को भी सुसम्पन्न ब्राह्मण परिवार में, या धनी वैश्य परिवार में जन्म लेने का अवसर प्राप्त होता है। इन दोनों परिवारों में ईश-भावनामृत के अपने बोध को स्वत: पुनरुज्जीवित करने का अच्छा अवसर रहता हैं, क्योंकि इन परिवारों में नियमित रूप से भगवान् कृष्ण की पूजा की जाती है और बालक को पूजाविधि अर्थात् अर्चना का अनुकरण करने का सुअवसर प्राप्त होता है।

भक्ति में लोगों को प्रशिक्षित करने के लिए *पाञ्चरात्रिकी विधि* मन्दिर पूजा है, जिसके द्वारा नवदीक्षितों को भगवद्भक्ति सीखने का अवसर मिलता है। महाराज परीक्षित भी अपने बचपन में कृष्ण के गुड्डों से खेला करते थे। अब भी भारत में अच्छे परिवारों में बच्चों को खेलने के लिए राम तथा कृष्ण के खिलौने या कभी-कभी देवताओं के खिलौने दिये जाते हैं जिससे उनमें भगवान् की सेवा करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो। भगवत्कृपा से हमें भी हमारे माता-पिता ने ऐसा ही सुअवसर प्रदान किया और हमारे जीवन का शुभारम्भ इसी सिद्धान्त पर आधारित था।

स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः ।
पृष्टो वार्तां प्रतिब्रूयाद्भर्तुः पादावनुस्मरन् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सः—उद्धव; कथम्—कैसे; सेवया—ऐसी सेवा से; तस्य—उसका; कालेन—समय के साथ; जरसम्—अशक्तता को; गतः—प्राप्त; पृष्टः—पूछे जाने पर; वार्ताम्—सन्देश; प्रतिब्रूयात्—उत्तर देने के लिए; भर्तुः—भगवान् के; पादौ—चरण कमलों का; अनुस्मरन्—स्मरण करते हुए।

इस तरह उद्धव अपने बचपन से ही लगातार कृष्ण की सेवा करते रहे और उनकी वृद्धावस्था में सेवा की वह प्रवृत्ति कभी शिथिल नहीं हुई। जैसे ही उनसे भगवान् के सन्देश के विषय में पूछा गया, उन्हें तुरन्त उनके विषय में सब कुछ स्मरण हो आया।

तात्पर्य : भगवान् के प्रति दिव्य सेवा लौकिक नहीं होती। भक्त की सेवा-प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती जाती है और वह कभी शिथिल नहीं पड़ती। सामान्यतया वृद्धावस्था में व्यक्ति को संसारी सेवा से

निवृत्ति लेने की अनुमति दे दी जाती है, किन्तु भगवान् की दिव्य सेवा से कोई निवृत्त नहीं होता। विपरित इसके आयु बढ़ने के साथ-साथ भक्ति की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती जाती है। चूँकि दिव्य सेवा में तृप्ति नहीं होती, अत: इससे कोई निवृत्ति नहीं होती है। भौतिक दृष्टि से जब मनुष्य अपने भौतिक शरीर से सेवा करते करते थक जाता है, तो उसे सेवा से निवृत्ति की अनुमति दे दी जाती है, किन्तु दिव्य सेवा में थकान का अनुभव नहीं होता, क्योंकि यह आध्यात्मिक सेवा होती है और शारीरिक स्तर पर नहीं होती। शारीरिक स्तर पर होने वाली सेवा शरीर के वृद्ध होने के साथ घटती जाती है, किन्तु आत्मा कभी वृद्ध नहीं होता, अत: आध्यात्मिक स्तर पर सेवा कभी उबाऊ नहीं लगती।

निस्सन्देह, उद्धव वृद्ध हो चुके थे, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी आत्मा वृद्ध हो गई थी। दिव्य स्तर पर उनकी सेवा-प्रवृत्ति परिपक्व हो चुकी थी, अतएव जब विदुर ने कृष्ण के विषय में प्रश्न किया, तो उन्होंने तुरन्त भगवान् को सारे सन्दर्भों सहित स्मरण किया और वे शारीरिक स्तर पर स्वयं को भूल गये। यह शुद्ध भगवद्भक्ति का लक्षण है, जैसाकि बाद में भगवान् कपिल द्वारा अपनी माता देवहूति को दिये गये (*लक्षणं भक्ति योगस्य...*) उपदेशों के प्रसंग में बतलाया जाएगा।

स मुहूर्तमभूत्तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम् ।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृतः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—उद्धव; मुहूर्तम्—क्षण भर के लिए; अभूत्—हो गया; तूष्णीम्—मौन; कृष्ण-अङ्घ्रि—भगवान् के चरणकमलों के; सुधया—अमृत से; भृशम्—सुपक्व; तीव्रेण—अत्यन्त प्रबल; भक्ति-योगेन—भक्ति द्वारा; निमग्नः—डूबे हुए; साधु—उत्तम; निर्वृतः—प्रेम पूर्ण।

वे क्षणभर के लिए एकदम मौन हो गये और उनका शरीर हिला-डुला तक नहीं। वे भक्तिभाव में भगवान् के चरणकमलों के स्मरण रूपी अमृत में पूरी तरह निमग्न हो गये और उसी भाव में वे गहरे उतरते दिखने लगे।

तात्पर्य : विदुर द्वारा कृष्ण के विषय में पूछे जाने पर ऐसा प्रतीत हुआ मानो उद्धव नींद से जगे हों। वे यह खेद करते प्रतीत हुए कि उन्होंने भगवान् के चरणकमलों को भुला दिया है। इस पर उन्होंने पुन: भगवान् के चरणकमलों का स्मरण किया और उनके प्रति अपनी दिव्य प्रेमाभक्ति का स्मरण किया। ऐसा करने से उन्हें वैसा ही आनन्द मिला जैसाकि वे भगवान् की उपस्थिति में अनुभव करते

थे। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव उनकी स्मृति तथा उनकी सदेह उपस्थिति में कोई अन्तर नहीं है। इस तरह उद्धव एक क्षण के लिए पूर्णत: मौन रहे, किन्तु वे उस आनन्द में अधिकाधिक गहरे जाते प्रतीत हुए। भावावेश का प्रदर्शन महाभागवतों द्वारा किया जाता है। शरीर में आठ प्रकार के दिव्य परिवर्तन होते हैं। ये हैं अश्रु, कम्पन, प्रस्वेदन, बेचैनी, रोमांच, गले का रुँधना इत्यादि और विदुर के समक्ष उद्धव में इन सबका प्राकट्य हुआ।

पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चन्मीलद्दृशा शुचः ।
पूर्णार्थो लक्षितस्तेन स्नेहप्रसरसम्प्लुतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

पुलक-उद्भिन्न—दिव्य भाव के शारीरिक परिवर्तन; सर्व-अङ्गः—शरीर का हर भाग; मुञ्चन्—लेपते हुए; मीलत्—खोलते हुए; दृशा—आँखों द्वारा; शुचः—शोक के अश्रु; पूर्ण-अर्थः—पूर्ण सिद्धि; लक्षितः—इस तरह देखा गया; तेन—विदुर द्वारा; स्नेह-प्रसर—विस्तृत प्रेम; सम्प्लुतः—पूर्णरूपेण स्वात्मीकृत।

विदुर ने देखा कि उद्धव में सम्पूर्ण भावों के कारण समस्त दिव्य शारीरिक परिवर्तन उत्पन्न हो आये हैं और वे अपनी आँखों से विछोह के आँसुओं को पोंछ डालने का प्रयास कर रहे हैं। इस तरह विदुर यह जान गये कि उद्धव ने भगवान् के प्रति गहन प्रेम को पूर्णरूपेण आत्मसात् कर लिया है।

तात्पर्य : भगवान् के एक अनुभवी भक्त विदुर ने उद्धव में भक्तिमय जीवन के उच्चतम लक्षण देखे और उन्होंने उनके भगवत्प्रेम की सिद्धावस्था की पुष्टि की। ऐसे भावमय शारीरिक परिवर्तन आध्यात्मिक स्तर पर प्रगट होते हैं और ये अभ्यास द्वारा उत्पन्न की गई कृत्रिम अभिव्यक्तियाँ नहीं होते। भक्ति के विकास की तीन विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था है भक्ति संहिताओं में संस्तुत विधि-विधानों का पालन करना। दूसरी अवस्था है भक्ति की स्थायी दशा का आत्मसात् होना तथा उसकी अनुभूति होना और अन्तिम अवस्था है दिव्य शारीरिक अभिव्यक्ति के लक्षणों वाली भाव-अवस्था। भक्ति की नौ विभिन्न विधियाँ यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि इस विधि के शुभारम्भ हैं। भगवान् की महिमाओं तथा लीलाओं के नियमपूर्वक श्रवण से शिष्य के हृदय की अशुद्धियाँ धुलने लगती हैं। जिस शिष्य की अशुद्धियाँ जितनी अधिक धुल जाती है, वह भक्ति में उतना ही अधिक दृढ़ होता जाता है। क्रमशः ये भक्ति कार्य एक-एक करके स्थिरता, दृढ़ विश्वास, स्वाद, अनुभूति तथा

आत्मसात् का रूप धारण कर लेते हैं। क्रमिक विकास की ये विभिन्न अवस्थाएँ ईश प्रेम को सर्वोच्च अवस्था तक पहुँचा देती हैं और इस सर्वोच्च अवस्था में भी स्नेह, क्रोध तथा अनुराग जैसे अन्य लक्षण पाये जाते हैं। धीरे-धीरे विशेष दशाओं में ये *महाभाव* की दशा को प्राप्त कर लेते हैं, जो जीवों में सामान्यतया सम्भव नहीं हैं। ये सभी ईश्वर प्रेम के साक्षात् रूप श्री चैतन्य महाप्रभु में प्रकट होते थे।

श्री चैतन्य महाप्रभु के मुख्य शिष्य श्री रूप गोस्वामी कृत *भक्ति-रसामृत-सिन्धु* में इन दिव्य लक्षणों का क्रमबद्ध वर्णन हुआ है, जो उद्धव जैसे शुद्ध भक्तों द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं। हमने भी *भक्ति-रसामृत-सिन्धु* का सार रूप में *दि नेक्टर आफ डिवोशन* शीर्षक से एक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक को भक्ति विज्ञान पर अधिक जानकारी हेतु देखा जा सकता है।

शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः ।
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रीत्याहोद्धव उत्स्मयन् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

शनकैः—धीरे-धीरे; भगवत्—भगवान्; लोकात्—धाम से; नृलोकम्—मनुष्य लोक को; पुनः आगतः—फिर से आकर; विमृज्य—पोंछकर; नेत्रे—आँखें; विदुरम्—विदुर से; प्रीत्या—स्नेहपूर्वक; आह—कहा; उद्धवः—उद्धव ने; उत्स्मयन्—उन स्मृतियों के द्वारा।

महाभागवत उद्धव तुरन्त ही भगवान् के धाम से मानव-स्तर पर उतर आये और अपनी आँखें पोंछते हुए उन्होंने अपनी पुरानी स्मृतियों को जगाया तथा वे विदुर से प्रसन्नचित्त होकर बोले।

तात्पर्य : जब उद्धव ईशप्रेम के दिव्य भाव में मग्न थे तो वे बाह्य जगत के विषय में सब कुछ भूल गये थे। शुद्ध भक्त निरन्तर भगवद्धाम में रहता है यहाँ तक कि वर्तमान शरीर में भी जो कि इस जगत से सम्बन्धित है। शुद्ध भक्त पूरी तरह शारीरिक स्तर पर नहीं रहता, क्योंकि वह परमात्मा के दिव्य विचार में निमग्न रहता है। चूँकि अब उद्धव विदुर से बात करना चाह रहे थे, अत: उद्धव भगवद्धाम द्वारका से नीचे उतर कर मनुष्यों के भौतिक स्तर पर आ गये। यद्यपि शुद्ध भक्त इस मर्त्य जगत में उपस्थित रहता है, किन्तु भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे होने के कारण ही वह यहाँ पर रहता है, किसी अन्य भौतिक कारण से नहीं। जीव अपने अस्तित्व की स्थिति के अनुसार या तो भौतिक स्तर पर रह सकता है या भगवान् के दिव्य धाम में। जीव में होनेवाले पारिस्थितिक परिवर्तनों की व्याख्या भगवान् श्री चैतन्य द्वारा श्रील रूप गोस्वामी को दिए गये उपदेशों में *चैतन्य चरितामृत* में की गई है, "समस्त

ब्रह्माण्डों में सारे जीव अपने कर्म का फल जन्म-जन्मांतर भोगते हैं। इनमें से कुछ जीव शुद्ध भक्तों की संगति में आकर रस प्राप्ति के द्वारा भक्ति करने का अवसर प्राप्त कर पाते हैं। यही आस्वाद भक्ति का बीज है और जो इस बीज को प्राप्त करने का परम भाग्यशाली होता है उसे सलाह दी जाती है कि वह अपने हृदय के अन्तस्थल में इस बीज को बो दे। जिस तरह बीज बोने के बाद उसमें फल लगने के लिए पानी देकर सींचना पड़ता है उसी तरह भक्त के हृदय में बोया हुआ भक्ति का बीज भगवान् के नाम तथा लीलाओं के श्रवण तथा कीर्तन रूपी जल से सींच कर बड़ा किया जा सकता है। इस तरह से पोषित भक्ति की लता क्रमश: बढ़ती जाती है और भक्त माली के रूप में निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन रूपी जल से उसे सींचता रहता है। यह भक्तिलता धीरे-धीरे इतनी ऊँची बढ़ जाती है कि सारे भौतिक ब्रह्माण्ड को पार करते हुए वह वैकुण्ठलोक में पहुँचती है जहाँ से आगे बढ़ते हुए वह गोलोक वृन्दावन पहुँच जाती है। भक्त रूपी माली मात्र श्रवण तथा कीर्तन द्वारा भगवान् की भक्ति करने से भौतिक स्तर पर होते हुए भी भगवद्धाम के सम्पर्क में रहता है। जिस तरह लता किसी अन्य बलवान् वृक्ष की शरण लेती है उसी तरह भक्ति रूपी लता भक्त द्वारा पोषित होकर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करती है और इस तरह स्थिर हो जाती है। जब लता स्थिर हो जाती है, तो उसमें फल लग जाता है और तब जिस माली ने इसका पोषण किया था वह प्रेम रूपी फल का आस्वाद कर सकता है और उसका जीवन सफल हो जाता है।'' उद्धव को यह अवस्था प्राप्त हो गई थी, यह उनके व्यवहार से स्पष्ट है। वे परम धाम पहुँच सकते थे और उसी के साथ-साथ इस जगत में भी प्रकट हो सकते थे।

उद्धव उवाच

कृष्णद्युमणि निम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह ।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; कृष्ण-द्युमणि—कृष्ण सूर्य; निम्लोचे—अस्त होने पर; गीर्णेषु—निगला जाकर; अजगरेण—अजगर सर्प द्वारा; ह—भूतकाल में; किम्—क्या; नु—अन्य; नः—हमारी; कुशलम्—कुशल-मंगल; ब्रूयाम्—मैं कहूँ; गत—गई हुई, विहीन; श्रीषु गृहेषु—घर में; अहम्—मैं।

श्री उद्धव ने कहा : हे विदुर, संसार का सूर्य कृष्ण अस्त हो चुका है और अब हमारे घर को काल रूपी भारी अजगर ने निगल लिया है। मैं आपसे अपनी कुशलता के विषय में क्या कह सकता हूँ?

तात्पर्य : कृष्ण रूपी सूर्य के अस्त होने की व्याख्या श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका के अनुसार इस प्रकार की जा सकती है : जब विदुर को महान् यदुवंश के तथा अपने परिवार कुरुवंश के संहार का संकेत मिला तो वे अत्यधिक उद्विग्न हो उठे। उद्धव विदुर के शोक को समझ गये, अत: उन्होंने सर्वप्रथम यह कहकर कि सूर्य के अस्त होने पर सारे लोग अंधकार में हैं, संवदेना प्रकट करनी चाही। चूँकि सारा जगत शोक के अंधकार में डूबा था अत: न तो विदुर, न उद्धव, न ही अन्य कोई प्रसन्न रह सकता था। विदुर जितने ही उद्धव भी दुखी थे, अत: उनके कुशलक्षेम के विषय में इससे अधिक कहने के लिए उनके पास कुछ न था।

सूर्य से कृष्ण की तुलना उपयुक्त है। सूर्य के अस्त होते ही अंधकार स्वत: छा जाता है। किन्तु सामान्य व्यक्ति द्वारा अनुभव किया गया अंधकार सूर्य को प्रभावित नहीं करता चाहे समय सूर्योदय का हो या सूर्यास्त का। कृष्ण का आविर्भाव तथा उनका तिरोभाव सूर्य के ही समान हैं। वे असंख्य ब्रह्माण्डों में प्रकट होते तथा अन्तर्धान होते रहते हैं और जब तक वे किसी ब्रह्माण्ड विशेष में विद्यमान रहते हैं तब तक उस ब्रह्माण्ड में दिव्य प्रकाश रहता है, किन्तु जिस ब्रह्माण्ड से वे चले जाते हैं वह अंधकार में समा जाता है। तो भी उनकी लीलाएँ शाश्वत हैं। भगवान् सदैव किसी न किसी ब्रह्माण्ड में विद्यमान रहते हैं जिस तरह सूर्य पूर्वी या पश्चिमी गोलार्ध में विद्यमान रहता है। सूर्य सदा ही भारत में या अमरीका में रहता है, किन्तु जब सूर्य भारत में रहता है, तो अमरीका देश अंधकार में रहता है और जब सूर्य अमरीका में रहता है, तो भारतीय गोलार्ध अंधकार में रहता है।

जिस तरह सूर्य प्रात:काल उदय होता है और क्रमश: मध्याकाश में पहुँचता है, तत्पश्चात् किसी गोलार्ध में अस्त होकर उसी के साथ किसी अन्य गोलार्ध में उदय होता है उसी तरह किसी एक ब्रह्माण्ड से भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने के साथ ही अन्य ब्रह्माण्ड में उनकी विभिन्न लीलाओं का शुभारम्भ होना है। ज्योंही यहाँ कोई एक लीला समाप्त हो जाती है, त्योंही वह अन्य ब्रह्माण्ड में प्रकट होती है। इस तरह उनकी नित्य लीलाएँ निरन्तर चलती रहती हैं। जिस तरह सूर्योदय चौबीस घण्टों में एक बार होता है उसी तरह एक ब्रह्माण्ड में कृष्ण की लीलाएँ ब्रह्मा के एक दिन में सम्पन्न होती है। *भगवद्गीता* में ब्रह्मा के एक दिन का विवरण ४,३०,००,००,००० सौर वर्ष दिया गया है। किन्तु भगवान् जहाँ भी उपस्थित रहते हैं, उनकी समस्त विविध लीलाएँ नियमित अन्तराल पर होती रहती हैं

जैसाकि शास्त्रों में बतलाया गया है।

सूर्यास्त के समय सर्प प्रबल हो उठते हैं, चोरों को प्रोत्साहन मिलता है, भूत-प्रेत सक्रिय हो उठते हैं, कमल म्लान हो जाते हैं तथा चक्रवाकी विलाप करने लगती है। उसी तरह भगवान् कृष्ण के तिरोभाव से नास्तिक प्रफुल्लित होते हैं और भक्तगण दुखी होते हैं।

दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि ।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

दुर्भगः—**अभागा**; **बत**—**निश्चय ही**; **लोकः**—**ब्रह्माण्ड**; **अयम्**—**यह**; **यदवः**—**यदुकुल**; **नितराम्**—**विशेषरूप से**; **अपि**—**भी**; **ये**—**जो**; **संवसन्तः**—**एकसाथ रहते हुए**; **न**—**नहीं**; **विदुः**—**जान पाये**; **हरिम्**—**भगवान् को**; **मीनाः**—**मछलियाँ**; **इव उडुपम्**—**चन्द्रमा की तरह**।

समस्त लोकों समेत यह ब्रह्माण्ड अत्यन्त अभागा है। युदुकुल के सदस्य तो उनसे भी बढ़कर अभागे हैं, क्योंकि वे श्री हरि को भगवान् के रूप में नहीं पहचान पाये जिस तरह मछलियाँ चन्द्रमा को नहीं पहचान पातीं।

तात्पर्य : उद्धव इस संसार के उन अभागे लोगों के प्रति शोक व्यक्त कर रहे थे, जो भगवान् कृष्ण के समस्त दिव्य सद्गुणों को देखते हुए भी उन्हें नहीं पहचान पाते। राजा कंस के बन्दीघर के सीकचों के भीतर उनके प्राकट्य से लेकर उनकी मौसल लीला तक मूर्ख लोग यह नहीं समझ पाये कि वे भगवान् थे, यद्यपि उन्होंने भगवान् के रूप में अपना षडेश्वर्य धन, बल, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा त्याग—प्रदर्शित किया था। मूर्ख लोगों ने उन्हें एक अद्वितीय ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में समझा होगा, क्योंकि भगवान् से उनका घनिष्ठ सम्पर्क नहीं था, किन्तु इनसे भी अधिक अभागे भगवान् के पारिवारिक सदस्य यदुवंशी थे, जो भगवान् के संग में सदैव रहते हुए भी उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में नहीं पहचान पाये। उद्धव ने अपने भाग्य पर भी शोक व्यक्त किया, क्योंकि कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानते हुए भी वे इस अवसर का लाभ भगवान् की भक्ति करने में नहीं उठा पाये। उन्होंने स्वयं समेत सबों के भाग्य पर खेद प्रकट किया। भगवान् का शुद्ध भक्त अपने को सर्वाधिक अभागा सोचता है। ऐसा भगवत्प्रेम की अधिकता के कारण होता है और यह विरह की दिव्य अनुभूतियों में से एक है।

शास्त्रों से यह जानकारी मिलती है कि चन्द्रमा का जन्म क्षीर सागर से हुआ। क्षीर सागर ऊपरी लोकों में है और उसमें भगवान् विष्णु जो परमात्मा रूप में हर जीव के हृदय को नियंत्रित करने वाले हैं, क्षीरोकदशायी विष्णु के रूप में निवास करते हैं। जो लोग क्षीर सागर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते, उन्होंने समुद्र में केवल नमकीन (खारे) जल का अनुभव किया है, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि यह संसार *गो* भी कहलाता है, जिसका अर्थ है गाय। गाय का मूत्र नमकीन होता है और आयुर्वेदिक ओषधि में गाय का मूत्र यकृत से पीड़ित रोगियों का उपचार करने में अत्यधिक प्रभावशाली होता है। ऐसे रोगियों को गाय के दूध का अनुभव नहीं होगा, क्योंकि यकृत रोगियों को दूध कभी नहीं दिया जाता। किन्तु यकृत रोगी को जानना चाहिए कि गाय दूध भी देती है भले ही उस रोगी ने दूध कभी न चखा हो। इसी तरह जिन लोगों को इस क्षुद्र लोक का ही अनुभव है, जिसमें केवल नमकीन जल का सागर विद्यमान है, वे शास्त्रों से यह जानकारी प्राप्त कर सकते हैं कि दूध का भी सागर (क्षीर सागर) होता है, भले ही उन्होंने उसे न देखा हो। इस क्षीर सागर से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ था, किन्तु क्षीर सागर की मछलियाँ यह नहीं पहचान पाईं कि चन्द्रमा उन जैसी मछली नहीं है। मछलियों ने चन्द्रमा को अपने जैसी मछली या कोई चमकीली वस्तु से अधिक कुछ नहीं मान रखा था। वे अभागे लोग जो कृष्ण को नहीं पहचान पाते वे ऐसी ही मछलियों के तुल्य हैं। वे उन्हें अपने में से एक, किन्तु ऐश्वर्य, बल आदि में कुछ अद्वितीय करके, मानते हैं। *भगवद्गीता* (९.११) में ऐसे मूर्ख व्यक्तियों को सर्वाधिक अभागा कहा गया है—*अवजानन्ति मां मूढा: मानुषीं तनुमाश्रितम्*।

इङ्गितज्ञाः पुरुप्रौढा एकारामाश्च सात्वताः ।
सात्वतामृषभं सर्वे भूतावासममंसत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इङ्गित-ज्ञाः—मनोवैज्ञानिक अध्ययन में पटु; पुरु-प्रौढाः—अत्यन्त अनुभवी; एक—एक; आरामाः—विश्राम; च—भी; सात्वताः—भक्तगण या अपने ही लोग; सात्वताम् ऋषभम्—परिवार का मुखिया; सर्वे—समस्त; भूत-आवासम्—सर्व-व्यापी; अमंसत—जान सके।

यदुगण अनुभवी भक्त, विद्वान तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन में पटु थे। इससे भी बड़ी बात यह थी कि वे सभी लोग समस्त प्रकार की विश्रान्ति में भगवान् के साथ रहते थे, फिर भी वे उन्हें केवल उस ब्रह्म के रूप में जान पाये जो सर्वत्र निवास करता है।

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है कि परमात्मा को मात्र विद्वत्ता या मानसिक चिन्तन के बल पर नहीं समझा जा सकता—*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन*। (*कठ् उपनिषद् १.२.२३*) वे केवल उसके द्वारा ज्ञेय हैं जिसे भगवत्कृपा प्राप्त होती है। सारे यादव असाधारण विद्वान एवं अनुभवी थे, किन्तु भगवान् को हर एक के हृदय में वास करने वाले के रूप में जानते हुए भी वे यह न समझ पाये कि वे आदि भगवान् हैं। ज्ञान की यह कमी उनके अपर्याप्त पाण्डित्य के कारण नहीं, अपितु उनके दुर्भाग्य के कारण था। किन्तु वृन्दावन में भगवान् परमात्मा रूप में भी विख्यात नहीं थे, क्योंकि वृन्दावन के निवासी भगवान् के शुद्ध अनौपचारिक भक्त थे और वे उन्हें अपने प्रेम का एकमात्र लक्ष्य समझते थे। वे यह नहीं जानते थे कि वे भगवान् हैं। किन्तु यदुगण अथवा द्वारकापुरी के निवासी कृष्ण को वासुदेव के रूप में या सर्वत्र निवास करने वाले परमात्मा के रूप में जानते थे, परन्तु परमेश्वर के रूप में नहीं जानते थे। वेदों के विद्वान होने के नाते वे वेदों के स्तोत्रों *एकोदेवः...सर्वभूताधिवासः... अन्तर्यामी...* तथा *वृष्णीनां परदेवता* की पुष्टि करते थे। इसलिए यदुओं ने भगवान् कृष्ण को परमात्मा के रूप में स्वीकार किया जिन्होंने उनके परिवार में अवतार लिया था, इससे अधिक और कुछ नहीं।

देवस्य मायया स्पृष्टा ये चान्यदसदाश्रिताः ।
भ्राम्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनो हरौ ॥ १० ॥

शब्दार्थ

देवस्य—भगवान् की; मायया—माया के प्रभाव से; स्पृष्टाः—दूषित हुए; ये—जो लोग; च—तथा; अन्यत्—अन्य लोग; असत्—मायावी; आश्रिताः—वशीभूत; भ्राम्यते—मोहग्रस्त बनाते हैं; धीः—बुद्धि; न—नहीं; तत्—उनके; वाक्यैः—वचनों से; आत्मनि—परमात्मा में; उप्त-आत्मनः—शरणागत आत्माएँ; हरौ—हरि के प्रति।.

भगवान् की माया द्वारा मोहित व्यक्तियों के वचन किसी भी स्थिति में उन लोगों की बुद्धि को विचलित नहीं कर सकते जो पूर्णतया शरणागत हैं।

तात्पर्य : वेदों के समस्त प्रमाणों के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। सभी आचार्यों ने, यहाँ तक कि श्रीपाद शंकराचार्य ने उन्हें भगवान् स्वीकार किया है, किन्तु जब कृष्ण इस संसार में विद्यमान थे तो विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से उन्हें स्वीकार किया। अतएव भगवान् विषयक उनके अनुमान भी भिन्न-भिन्न थे। सामान्यतया जिन लोगों को शास्त्रों में विश्वास था उन्होंने भगवान् को यथारूप में स्वीकार किया और इस जगत से भगवान् के अन्तर्धान होने पर सारे लोग उनके

विकट विछोह में डूब गये। प्रथम स्कन्ध में हम अर्जुन तथा युधिष्ठिर के शोक की विवेचना कर चुके हैं, जिनके लिए कृष्ण का अन्तर्धान होना उनके जीवन के अन्त तक अतीव असह्य बना रहा।

यादवगण भगवान् से आंशिक रूप में अवगत थे। वे भी महिमावान हैं, क्योंकि उन्हें अपने परिवार के प्रमुख के रूप में भगवान् की संगति करने का अवसर मिला था और उन लोगों ने भगवान् की अन्तरंग सेवा भी की थी। यादवगण तथा भगवान् के अन्य भक्त उन लोगों से भिन्न हैं, जिन्होंने गलत आकलन द्वारा उन्हें सामान्य व्यक्ति मान लिया था। ऐसे लोग निश्चित रूप से माया द्वारा भ्रमित होते हैं। वे नारकीय होते हैं और भगवान् से ईर्ष्या करते हैं। उन पर माया अत्यन्त बलपूर्वक कार्य करती है, क्योंकि ऐसे लोग उच्च संसारी शिक्षा के बावजूद श्रद्धाविहीन होते हैं तथा नास्तिकता की मानसिकता से संदूषित होते हैं। वे लोग यह स्थापित करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं कि कृष्ण सामान्य पुरुष थे, जो पृथ्वी के आसुरी राजाओं अर्थात्, धृतराष्ट्र के पुत्रों तथा जरासन्ध को मारने का षड्यंत्र करने के पापों के फलस्वरूप एक शिकारी द्वारा मार डाले गये। वे *भगवद्गीता* के इन कथनों में कोई विश्वास नहीं रखते कि भगवान् कर्मफलों से अप्रभावित रहते हैं—*न मां कर्माणि लिम्पन्ति*। नास्तिकतावादी दृष्टिकोण के अनुसार भगवान् कृष्ण का सारा परिवार यदुवंश, कृष्ण द्वारा धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध करने आदि के फलस्वरूप किये गये पापों के कारण ब्राह्मणों से शापित होने से विनष्ट हो गया। ये लांछन भगवद्भक्तों के हृदय को स्पर्श नहीं करते, क्योंकि वे वास्तविकता जानते रहते हैं। भगवान् के सम्बन्ध में उनकी बुद्धि कभी विचलित नहीं होती। किन्तु जो लोग असुरों के कथनों से विचलित हो उठते हैं उनकी भी भर्त्सना की जाती है। इस श्लोक में उद्धव यही कहना चाहते हैं।

प्रदर्श्यातप्ततपसामवितृप्तदृशां नृणाम् ।
आदायान्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

प्रदर्श्य—दिखलाकर; अतप्त—बिना किये; तपसाम्—तपस्या; अवितृप्त-दृशाम्—दर्शन को पूरा किया; नृणाम्—लोगों का; आदाय—लेकर; अन्तः—अन्तर्धान; अधात्—सम्पन्न किया; यः—जिसने; तु—लेकिन; स्व-बिम्बम्—अपने ही स्वरूप को; लोक-लोचनम्—सार्वजनिक दृष्टि में।

भगवान् श्रीकृष्ण, जिन्होंने पृथ्वी पर सबों की दृष्टि के समक्ष अपना नित्य स्वरूप प्रकट किया था, अपने स्वरूप को उन लोगों की दृष्टि से हटाकर अन्तर्धान हो गये जो वांछित तपस्या न

कर सकने के कारण उन्हें यथार्थ रूप में देख पाने में असमर्थ थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अवितृप्त-दृशाम्* शब्द अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भौतिक जगत में बद्धात्माएँ विविध प्रकार से अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने में लगी हुई हैं, किन्तु वे वैसा करने में असफल रही हैं, क्योंकि ऐसे प्रयासों से तुष्ट हो पाना असम्भव है। स्थल पर मछली का दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है। यदि कोई मछली को पानी से बाहर निकाल कर स्थल पर रख देता है, तो वह सुखी नहीं रह पाती चाहे उसे कितना ही आनन्द क्यों न प्रदान किया जाय। आत्मा परम पुरुष भगवान् के ही सान्निध्य में सुखी रह सकता है, अन्यत्र नहीं। भगवान् की असीम अहैतुकी कृपा से उनके पास आध्यात्मिक जगत में *ब्रह्मज्योति* मण्डल में असंख्य वैकुण्ठलोक और उस दिव्य जगत में जीवों के असीम आनन्द के लिए अनन्त व्यवस्था है।

भगवान् स्वयं अपनी उन दिव्य लीलाओं को प्रदर्शित करने के लिए आते हैं, जो विशेष रूप से वृन्दावन, मथुरा तथा द्वारका में सम्पन्न की जाती हैं। वे बद्धात्माओं को शाश्वत लोक भगवद्धाम के लिए आकृष्ट करने हेतु प्रकट होते हैं। किन्तु पर्याप्त पुण्य के अभाव में दर्शकगण भगवान् की ऐसी लीलाओं के प्रति आकृष्ट नहीं होते। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जिन्होंने पापमार्ग को पूरी तरह लाँघ लिया है, वे ही भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अपने को लगा सकते हैं। सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड का उद्देश्य प्रत्येक बद्धात्मा को पुण्य मार्ग पर लगाना है। समस्त वर्णों के लिए नियत नियमों का कड़ाई से पालन करने पर मनुष्य सत्य, मनोनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह, धैर्य इत्यादि गुणों को प्राप्त कर सकता है और भगवान् की शुद्ध भक्ति करने के पद तक उठ सकता है। ऐसी दिव्य दृष्टि से ही मनुष्य की भौतिक लालसाएँ पूर्णतया तुष्ट हो सकती हैं।

जब भगवान् विद्यमान थे तो जो लोग उन्हें असली रूप में देखने की अपनी भौतिक लालसा पूरी कर सके वे उन के साथ भगवद्धाम वापस जा सके। किन्तु जो लोग भगवान् को यथारूप में नहीं देख पाये वे भौतिक लालसाओं से बद्ध रहे और भगवद्धाम वापस नहीं जा सके। जब भगवान् सबों की दृष्टि से परे चले गये तो उन्होंने अपने आदि नित्य रूप में ऐसा किया जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है। उन्होंने सशरीर प्रयाण किया। उन्होंने अपना शरीर छोड़ा नहीं जैसाकि बद्धात्माएँ सामान्य रूप से गलती से समझती हैं। यह कथन उन श्रद्धाविहीन अभक्तों के इस मिथ्या प्रचार को झुठला देता है कि भगवान्

सामान्य बद्धात्मा की तरह दिवगंत हुए। भगवान् इस जगत से अविश्वासी असुरों का अनुचित भार हटाने के लिए प्रकट हुए थे और ऐसा करने के बाद संसार की दृष्टि से ओझल हो गये।

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

यत्—उनका जो नित्यरूप; मर्त्य—मर्त्यजगत; लीला-उपयिकम्—लीलाओं के लिए उपयुक्त; स्व-योग-माया-बलम्—अन्तरंगा शक्ति का बल; दर्शयता—अभिव्यक्ति के लिए; गृहीतम्—ढूँढ निकाला; विस्मापनम्—अद्‌भुत; स्वस्य—अपना; च—तथा; सौभग-ऋद्धेः—ऐश्वर्यवान् का; परम्—परम; पदम्—गन्तव्य; भूषण—आभूषण; भूषण-अङ्गम्—आभूषणों का।.

भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति योगमाया के द्वारा मर्त्यलोक में प्रकट हुए। वे अपने नित्य रूप में आये जो उनकी लीलाओं के लिए उपयुक्त है। ये लीलाएँ सबों के लिए आश्चर्यजनक थीं, यहाँ तक कि उन लोगों के लिए भी जिन्हें अपने ऐश्वर्य का गर्व है, जिसमें वैकुण्ठपति के रूप में भगवान् का स्वरूप भी सम्मिलित है। इस तरह उनका (श्रीकृष्ण का) दिव्य शरीर समस्त आभूषणों का आभूषण है।

तात्पर्य : वैदिक स्रोतों के अनुसार—(*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*) भगवान् भौतिक जगत में समस्त ब्रह्माण्डों के भीतर के अन्य सारे जीवों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं। वे समस्त जीवों में प्रधान हैं। धन, बल, यश, सौन्दर्य, ज्ञान अथवा त्याग के क्षेत्र में न तो कोई उनके समकक्ष है न उनसे बढ़कर है। जब भगवान् कृष्ण इस ब्रह्माण्ड में थे तो वे मनुष्य प्रतीत होते थे, क्योंकि वे मर्त्यलोक की अपनी लीलाओं के लिए उपयुक्त रूप में प्रकट हुए थे। वे मानव समाज में अपने चतुर्भुजी वैकुण्ठ स्वरूप में प्रकट नहीं हुए, क्योंकि यह स्वरूप उनकी लीलाओं के उपयुक्त न होता। किन्तु मनुष्य के रूप में प्रकट होते हुए भी कोई व्यक्ति विविध षडैश्वर्यों में से किसी एक में भी न तो उनके तुल्य था, न है। हर व्यक्ति इस जगत में अपने ऐश्वर्य के प्रति न्यूनाधिक गर्वित रहता है, किन्तु जब भगवान् कृष्ण मानव समाज में थे तो वे ब्रह्माण्ड में अपने समस्त समकालीन व्यक्तियों से बढ़कर थे।

जब भगवान् की लीलाएँ मनुष्य को दृष्टिगोचर होती हैं, तो वे *प्रकट* कहलाती हैं और जब वे दृष्टिगोचर नहीं होतीं तो *अप्रकट* कहलाती हैं। वस्तुतः भगवान् की लीलाएँ कभी नहीं रुकतीं जिस तरह

सूर्य कभी आकाश को नहीं छोड़ता। सूर्य सदैव आकाश में सही कक्ष्या पर बना रहता है, किन्तु हमारी सीमित दृष्टि में वह कभी दिखता है, तो कभी ओझल रहता है। इसी तरह भगवान् की लीलाएँ सदैव किसी न किसी ब्रह्माण्ड में चलती रहती हैं। जब कृष्ण द्वारका के दिव्य धाम से अन्तर्धान हो गये तो यह वहाँ के लोगों की आँखों से उनका ओझल होना था। इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि उनका दिव्य शरीर जो मर्त्यलोक की लीलाओं के लिए उपयुक्त था, वैकुण्ठलोक में उनके विभिन्न अंशों से किसी तरह निकृष्ट था। भौतिक जगत में प्रकट होने वाला उनका शरीर इस बात में सर्वोत्कृष्ट है कि मर्त्यलोक में उनकी लीलाएँ वैकुण्ठलोक में प्रदर्शित उनकी कृपा से बढ़कर हैं। वैकुण्ठलोक में भगवान् मुक्त या *नित्यमुक्त* जीवों के प्रति ही दयालु होते हैं, किन्तु मर्त्य जगत की अपनी लीलाओं में वे उन पतितात्माओं पर भी दयालु होते हैं, जो *नित्यबद्ध* हैं। मर्त्यलोक में अपनी अन्तरंगा शक्ति या *योगमाया* के द्वारा प्रदर्शित *षड् ऐश्वर्य* वैकुण्ठलोक तक में दुर्लभ हैं। उनकी समस्त लीलाएँ किसी भौतिक शक्ति द्वारा नहीं, अपितु आध्यात्मिक शक्ति द्वारा प्रदर्शित की गई थीं। वृन्दावन में उनकी रासलीला की अनुपमता तथा सोलह हजार पत्नियों के साथ उनका गृहस्थ जीवन वैकुण्ठ में नारायण के लिए भी आश्चर्यजनक है और इस मर्त्यलोक के अन्य जीवों के लिए भी निश्चित रूप से ऐसा ही है। उनकी लीलाएँ भगवान् के अन्य अवतारों के लिए भी, यथा श्रीराम, नृसिंह तथा वराह के लिए भी, आश्चर्यजनक हैं। उनका ऐश्वर्य इतना सर्वोत्कृष्ट था कि उनकी लीलाओं की प्रशंसा वैकुण्ठ के स्वामी द्वारा भी की गई जो कि स्वयं भगवान् कृष्ण से भिन्न नहीं हैं।

यद्धर्मसूनोर्बत राजसूये
निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः ।
कात्स्‍‍‍‍‍न्र्येन चाद्येह गतं विधातुर्
अर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो रूप; धर्म-सूनोः—महाराज युधिष्ठिर के; बत—निश्चय ही; राजसूये—राजसूय यज्ञ शाला में; निरीक्ष्य—देखकर; दृक्—दृष्टि; स्वस्त्ययनम्—मनोहर; त्रि-लोकः—तीनों लोक के; कार्त्स्न्येन—सम्पूर्णतः; च—इस तरह; अद्य—आज; इह—इस ब्रह्माण्ड के भीतर; गतम्—पार करके; विधातुः—स्त्रष्टा (ब्रह्मा) का; अर्वाक्—अर्वाचीन मानव; सृतौ—भौतिक जगत में; कौशलम्—दक्षता; इति—इस प्रकार; अमन्यत—सोचा।

महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न किये गये राजसूय यज्ञ शाला में उच्चतर, मध्य तथा अधोलोकों से सारे देवता एकत्र हुए। उन सबों ने भगवान् कृष्ण के सुन्दर शारीरिक स्वरूप को

देखकर विचार किया कि वे मनुष्यों के स्रष्टा ब्रह्मा की चरम कौशलपूर्ण सृष्टि हैं।

तात्पर्य : जब भगवान श्रीकृष्ण इस जगत में वर्तमान थे तो उनके शारीरिक स्वरूप की तुलना करने वाली कोई वस्तु नहीं थी। भौतिक जगत के सुन्दरतम पदार्थ की तुलना नीले कमल से या आकाश में पूर्ण चन्द्रमा से की जा सकती है, किन्तु कमल तथा चन्द्रमा भी कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य के समक्ष पराजित हो जाते थे जिसकी पुष्टि ब्रह्माण्ड के सबसे सुन्दर प्राणियों अर्थात् देवताओं द्वारा की गई। देवताओं ने सोचा कि उन्हीं की तरह भगवान् कृष्ण भी ब्रह्मा द्वारा सृजित हुए हैं। जब कि तथ्य यह है कि ब्रह्मा का सृजन भगवान् कृष्ण द्वारा हुआ। भगवान् के दिव्य सौन्दर्य का सर्जन करना ब्रह्मा की शक्ति में न था। कोई भी व्यक्ति कृष्ण का स्रष्टा नहीं है, प्रत्युत वे हर एक के स्रष्टा हैं। *भगवद्गीता* (१०.८) में कहा गया है—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते* ।

यस्यानुरागप्लुतहासरास-
लीलावलोकप्रतिलब्धमानाः ।
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्त
धियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः ॥ १४॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; अनुराग—आसक्ति; प्लुत—वर्धित; हास—हँसी; रास—मजाक, विनोद; लीला—लीलाएँ; अवलोक—चितवन; प्रतिलब्ध—से प्राप्त; मानाः—व्यथित; व्रज-स्त्रियः—व्रज की बालाएँ; दृग्भिः—आँखों से; अनुप्रवृत्त—अनुगमन करती; धियः—बुद्धि द्वारा; अवतस्थुः—चुपचाप बैठ गईं; किल—निस्सन्देह; कृत्य-शेषाः—घर का काम काज।

हँसी, विनोद तथा देखादेखी की लीलाओं के पश्चात् व्रज की बालाएँ कृष्ण के चले जाने पर व्यथित हो जातीं। वे अपनी आँखों से उनका पीछा करती थीं, अतः वे हतबुद्धि होकर बैठ जातीं और अपने घरेलू कामकाज पूरा न कर पातीं।

तात्पर्य : वृन्दावन में अपनी बाल्यावस्था में भगवान् कृष्ण समवयस्का सारी बालाओं को दिव्य प्रेमवश छेड़छाड़ करने के लिए प्रख्यात थे। उनके प्रति कृष्ण का प्रेम इतना प्रगाढ़ था कि उस आनन्द की कोई तुलना नहीं है और व्रज बालाएँ उन पर इतनी अनुरक्त थीं कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे महान् देवताओं के भी स्नेह से बढ़कर उनका स्नेह था। भगवान् कृष्ण ने अन्त में गोपियों के दिव्य स्नेह के समक्ष अपनी पराजय स्वीकार की और घोषित किया कि वे उनके विशुद्ध स्नेह से कभी उऋण नहीं हो सकते। यद्यपि गोपियाँ भगवान् के तंग करने के व्यवहार पर व्यथित प्रतीत होती थीं, किन्तु जब कृष्ण

उन्हें छोड़ कर जाते तो वे इस विरह को न सह सकतीं और अपने नेत्रों तथा मन से उनका पीछा करती थीं। वे इस स्थिति से इतनी स्तब्ध हो उठतीं कि वे अपने घरेलू कामकाज पूरा न कर पातीं। युवकों तथा युवतियों के मध्य प्रेम-व्यापार में भी कोई उनसे आगे न बढ़ सकता। शास्त्रों में कहा गया है कि भगवान् स्वयं कभी भी वृन्दावन की सीमा से बाहर नहीं जाते। वे वहाँ के निवासियों के दिव्य प्रेम के वशीभूत होकर निरन्तर वहाँ रहते जाते हैं। इस तरह यद्यपि आज कल वे दृष्टिगोचर नहीं हैं, किन्तु वे क्षण भर के लिए भी वृन्दावन से दूर नहीं जाते।

स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपै-
रभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो
ह्यजोऽपि जातो भगवान्यथाग्निः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

स्व-शान्त-रूपेषु—अपने शान्त भक्तों के प्रति; **इतरैः**—अन्यों, अभक्तों; **स्व-रूपैः**—अपने गुणों के अनुसार; **अभ्यर्द्यमानेषु**—सताए जाकर; **अनुकम्पित-आत्मा**—सर्वदयामय भगवान्; **पर-अवर**—आध्यात्मिक तथा भौतिक; **ईशः**—नियंत्रक; **महत्-अंश-युक्तः**—महत् तत्त्व अंश के साथ; **हि**—निश्चय ही; **अजः**—अजन्मा; **अपि**—यद्यपि; **जातः**—उत्पन्न है; **भगवान्**—भगवान्; **यथा**—मानो; **अग्निः**—आग।

आध्यात्मिक तथा भौतिक सृष्टियों के सर्वदयालु नियन्ता भगवान् अजन्मा हैं, किन्तु जब उनके शान्त भक्तों तथा भौतिक गुणों वाले व्यक्तियों के बीच संघर्ष होता है, तो वे महत् तत्त्व के साथ उसी तरह जन्म लेते हैं जिस तरह अग्नि उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : भगवद्भक्त स्वभाव से शान्त होते हैं, क्योंकि उनमें कोई भौतिक लालसा नहीं होती। मुक्तात्मा लालसारहित होता है, अतएव उसे शोक नहीं होता। जो व्यक्ति कुछ सम्पत्ति पाना चाहता है, और जब वह उसे खो देता है, तो वह भी शोक करता है। भक्तों में भौतिक सम्पत्ति के लिए अथवा आध्यात्मिक मोक्ष के लिए कोई लालसा नहीं होती। वे कर्तव्य के रूप में भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में स्थित होते हैं और वे इसकी परवाह नहीं करते कि वे कहाँ हैं अथवा उन्हें किस तरह कार्य करना चाहिए। *कर्मी, ज्ञानी* तथा *योगी,* सभी कुछ न कुछ भौतिक या आध्यात्मिक सम्पत्ति के लिए लालायित रहते हैं। *कर्मीजन* भौतिक सम्पत्ति चाहते हैं, *ज्ञानी* तथा योगीजन आध्यात्मिक सम्पत्ति चाहते हैं, किन्तु भक्तगण कोई भौतिक या आध्यात्मिक सम्पत्ति नहीं चाहते। वे भौतिक अथवा आध्यात्मिक लोकों में कहीं भी भगवान् की इच्छानुसार केवल उनकी सेवा करना चाहते हैं और भगवान् ऐसे भक्तों के प्रति

सदैव ही विशेषरूप से ही दयालु रहते हैं।

कर्मियों, ज्ञानियों तथा *योगियों* की प्रकृति के गुणों में विशेष प्रवृत्तियाँ होती हैं, अतएव वे *इतर* या अभक्त कहलाते हैं। ये इतरजन जिनमें योगी भी सम्मिलित हैं, कभी-कभी भगवद्भक्तों को सताते हैं। महान् योगी दुर्वासा मुनि ने महाराज अम्बरीष को इसलिए सताया कि वे भगवान् के महान् भक्त थे। महान् कर्मी तथा ज्ञानी हिरण्यकशिपु ने अपने ही वैष्णव पुत्र प्रह्लाद महाराज को सताया। इतरों द्वारा शान्त भगवद्भक्तों के सताये जाने के ऐसे अनेक उदाहरण हैं। जब ऐसा टकराव होता छिड़ता है, तो भगवान् अपने शुद्ध भक्तों के प्रति महान् कृपा-वश महत् तत्त्व को नियंत्रित करने वाले अपने स्वांशों के साथ साकार रूप में प्रकट होते हैं।

भगवान् सर्वत्र, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगतों में हैं और जब उनके भक्तों तथा अभक्तों के बीच संघर्ष छिड़ता है, तो वे अपने भक्तों के लिए प्रकट होते हैं। जिस तरह पदार्थ के घर्षण से कहीं भी बिजली उत्पन्न हो जाती है, उसी तरह भगवान् सर्वव्यापी होने के कारण भक्तों तथा अभक्तों के संघर्ष के कारण कहीं भी उत्पन्न होते हैं। जब भगवान् कृष्ण किसी उद्देश्य (मिशन) के लिए प्रकट होते हैं, तो उनके सारे स्वांश उनके साथ होते हैं। जब वे वसुदेव के पुत्र रूप में प्रकट हुए तो उनके अवतार के विषय में मतभेद था। कुछ ने कहा ''वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।'' कुछ ने कहा ''वे नारायण के अवतार हैं।'' दूसरों ने कहा ''वे क्षीरोदकशायी विष्णु के अवतार हैं'' किन्तु वास्तव में वे आदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं—*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्* तथा नारायण, सारे पुरुष एवं अन्य अवतार, उनकी लीलाओं के विभिन्न अंगों का कार्य करने के लिए उनके साथ आते हैं। *महद्-अंश-युक्तः* यह संकेत देता है कि उनके साथ पुरुष रहते हैं, जो महत् तत्त्व की सृष्टि करते हैं। इसकी पुष्टि इस वैदिक स्तुति *महान्तं विभुमात्मानम्* से होती है।

जब कंस तथा वसुदेव एवं उग्रसेन के बीच टकराव हुआ तो भगवान् कृष्ण बिजली की तरह प्रकट हो गये। वसुदेव तथा उग्रसेन भगवान् के भक्त थे और कंस *कर्मियों* तथा *ज्ञानियों* का प्रतिनिधि अभक्त था। कृष्ण अपने यथारूप में सूर्य के समान हैं। वे सर्वप्रथम देवकी के गर्भरूपी सागर से उदित हुए, धीरे-धीरे उन्होंने मथुरा के निकटवर्ती स्थानों के निवासियों को तुष्ट किया जिस तरह सूर्य प्रातःकाल कमल के फूल को प्रफुल्लित कर देता है। क्रमशः द्वारका के मध्याकाश तक उठकर भगवान् सूर्य की

ही तरह सारी वस्तुओं को अंधकार में छोड़ते हुए अस्त हो गये जैसाकि उद्धव ने वर्णन किया।

मां खेदयत्येतदजस्य जन्म-
विडम्बनं यद्वसुदेवगेहे ।
व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं
पुराद्व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्यः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; खेदयति—पीड़ा पहुँचाता है; एतत्—यह; अजस्य—अजन्मा का; जन्म—जन्म; विडम्बनम्—मोहित करना; यत्—जो; वसुदेव-गेहे—वसुदेव के घर में; व्रजे—वृन्दावन में; च—भी; वासः—निवास; अरि—शत्रु के; भयात्—भय से; इव—मानो; स्वयम्—स्वयं; पुरात्—मथुरा पुरी से; व्यवात्सीत्—भाग गया; यत्—जो हैं; अनन्त-वीर्यः—असीम बलशाली।

जब मैं भगवान् कृष्ण के बारे में सोचता हूँ कि वे अजन्मा होते हुए किस तरह वसुदेव के बन्दीगृह में उत्पन्न हुए थे, किस तरह अपने पिता के संरक्षण से व्रज चले गये और वहाँ शत्रु-भय से प्रच्छन्न रहते रहे तथा किस तरह असीम बलशाली होते हुए भी वे भयवश मथुरा से भाग गये—ये सारी भ्रमित करने वाली घटनाएँ मुझे पीड़ा पहुँचाती हैं।

तात्पर्य : चूँकि श्रीकृष्ण आदि पुरुष हैं जिनसे सारी वस्तुएँ और सारे जीव उद्भूत हुए हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवः* (*भगवद्गीता* १०.८), *जन्माद्यस्य यतः* (*वेदान्त सूत्र* १.१.२) अतएव उनके तुल्य या उनसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं हो सकती। भगवान् परम पूर्ण हैं और जब भी वे पुत्र, प्रतिद्वन्द्वी या शत्रुवत् अपनी दिव्यलीला करते हैं, तो वे अपनी भूमिका इतनी पूर्णता से निभाते हैं कि उद्धव जैसे शुद्ध भक्त भी मोहग्रस्त हो उठते हैं। उदाहरणार्थ, उद्धव यह भलीभाँति जानते थे कि श्रीकृष्ण नित्य विद्यमान रहते हैं और वे सदा के लिए कभी न तो मर सकते हैं न विलुप्त हो सकते हैं फिर भी वे कृष्ण के लिए शोक कर रहे थे। ये सारी घटनाएँ उनके परम यश को पूर्णता प्रदान करने के लिए मानो पूर्ण व्यवस्थाएँ हैं। यह सब आनन्द के निमित्त है। जब पिता अपने नन्हें बेटे के साथ खेलता है और वह जमीन पर लेट जाता है मानो बेटे द्वारा पराजित हो गया हो तो यह केवल उस नन्हें बेटे को आनन्द प्रदान करने के लिए है और कुछ नहीं। चूँकि भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे जन्म-अजन्म, शक्ति तथा पराजय, भय तथा अभय जैसे विलोमों को समंजित कर सकते हैं। एक शुद्ध भक्त भली भाँति जानता है कि भगवान् के लिए विरोधाभासों को समंजित करना कैसे सम्भव है, किन्तु वह उन अभक्तों के लिए शोक करता है, जो भगवान् के परम यशों को न जानते हुए उन्हें इसलिए काल्पनिक सोचते हैं क्योंकि शास्त्रों

में ऊपरी तौर पर अनेक विरोधी कथन पाये जाते हैं। वस्तुतः कुछ भी विरोध-मूलक नहीं है। जब हम भगवान् को भगवान् के रूप में समझ लेते हैं और अपूर्णताओं से युक्त अपने समान उन्हें नहीं मानते, तो सब कुछ सम्भव हो जाता है।

दुनोति चेतः स्मरतो ममैतद्
यदाह पादावभिवन्द्य पित्रोः ।
ताताम्ब कंसादुरुशङ्कितानां
प्रसीदतं नोऽकृतनिष्कृतीनाम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

दुनोति—मुझे पीड़ा पहुँचाता है; चेतः—हृदय; स्मरतः—सोचते हुए; मम—मेरा; एतत्—यह; यत्—जितना; आह—कहा; पादौ—चरणों की; अभिवन्द्य—पूजकर; पित्रोः—माता-पिता के; तात—हे पिता; अम्ब—हे माता; कंसात्—कंस से; उरु—महान्; शङ्कितानाम्—भयभीतों का; प्रसीदतम्—प्रसन्न हों; नः—हमारा; अकृत—सम्पन्न नहीं हुआ; निष्कृतीनाम्—आपकी सेवा करने के कर्तव्य।

भगवान् कृष्ण ने अपने माता-पिता से उनके चरणों की सेवा न कर पाने की अपनी (कृष्ण तथा बलराम की) अक्षमता के लिए क्षमा माँगी, क्योंकि कंस के विकट भय के कारण वे घर से दूर रहते रहे। उन्होंने कहा, ''हे माता, हे पिता, हमारी असमर्थता के लिए हमें क्षमा करें।'' भगवान् का यह सारा आचरण मेरे हृदय को पीड़ा पहुँचाता है।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि कृष्ण तथा बलराम दोनों ही कंस से अत्यधिक भयभीत थे, इसीलिए उन्हें अपने आपको छिपा कर रखना पड़ा। किन्तु यदि कृष्ण तथा बलराम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वे कंस से भयभीत थे? क्या ऐसे कथनों में कोई विरोध है? वसुदेव कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के कारण उन्हें संरक्षण प्रदान करना चाहते थे। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि कृष्ण परमेश्वर हैं और वे स्वयं अपनी रक्षा कर सकते हैं। उन्होंने कृष्ण को अपना पुत्र समझा। चूँकि वसुदेव महाभागवत थे, अतएव वे यह सोचना नहीं चाहते थे कि कृष्ण उनके अन्य पुत्रों की तरह मार डाले जाँए। नैतिक दृष्टि से वसुदेव कृष्ण को कंस के हाथों सौंपने के लिए वचनबद्ध थे, क्योंकि उन्होंने सारी सन्तानें उसे दे देने का वचन दिया था। किन्तु कृष्ण के प्रति अगाध प्रेम के कारण उन्होंने अपना वचन तोड़ा। वसुदेव की इस दिव्य मनोवृत्ति पर भगवान् अत्यधिक प्रसन्न थे। वे वसुदेव के अगाध स्नेह को विचलित नहीं करना चाहते थे, अतएव उन्होंने अपने पिता द्वारा नन्द तथा यशोदा के घर ले जाया जाना स्वीकार कर लिया। फिर वसुदेव के प्रगाढ़ प्रेम की परीक्षा करने के लिए ही जब

उनके पिता नदी पार कर रहे थे तो भगवान् कृष्ण यमुना के जल में गिर पड़े थे तब वसुदेव अपने पुत्र को उफनती नदी के बीच में फिर से पा लेने के प्रयास में बावले हो गये थे।

ये सब भगवान् की महिमामण्डित लीलाएँ हैं और ऐसे प्रदर्शन में कोई विरोधाभास नहीं है। चूँकि कृष्ण परमेश्वर हैं, अतएव वे कंस से कभी भी भयभीत नहीं थे, किन्तु अपने पिता को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने ऐसा करना स्वीकार किया। उनके परम चरित्र का सबसे यशस्वी अंश यह था कि उन्होंने अपने माता-पिता से इसके लिए क्षमा माँगी कि कंस के भय से घर से अनुपस्थित रहने के कारण वे उनके चरणों की सेवा नहीं कर सके। वे भगवान्, जिनके चरणकमलों की पूजा ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं द्वारा की जाती है, वसुदेव के चरणों की पूजा करना चाहते थे। भगवान् द्वारा विश्व को दिया गया ऐसा उपदेश अत्यन्त उपयुक्त है। चाहे कोई भगवान् ही क्यों न हो उसे अपने माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। पुत्र अनेक प्रकार से अपने माता-पिता का ऋणी होता है और पुत्र चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो उसका यह कर्तव्य है कि वह अपने माता-पिता की सेवा करे। अप्रत्यक्ष रूप से, कृष्ण उन नास्तिकों को, जो ईश्वर के परम पितृत्व को स्वीकार नहीं करते, शिक्षा देना चाहते थे और वे इस कार्य से यह सीख सकते हैं कि परम पिता का कितना अधिक सम्मान किया जाना चाहिए। उद्धव भगवान् के ऐसे यशस्वी आचरण पर आश्चर्यचकित थे और वे अत्यन्त दुखी थे कि वे उनके साथ क्यों नहीं कूच कर सके।

को वा अमुष्याङ्घ्रिसरोजरेणुं
विस्मर्तुमीशीत पुमान्विजिघ्रन् ।
यो विस्फुरद्भ्रूविटपेन भूमे-
र्भारं कृतान्तेन तिरश्चकार ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कः—और कौन; वा—अथवा; अमुष्य—भगवान् के; अङ्घ्रि—पाँव; सरोज-रेणुम्—कमल की धूल; विस्मर्तुम्—भुलाने के लिए; ईशीत—समर्थ हो सके; पुमान्—मनुष्य; विजिघ्रन्—सूँघते हुए; यः—जो; विस्फुरत्—विस्तार करते हुए; भ्रू-विटपेन—भौहों की पत्तियों के द्वारा; भूमेः—पृथ्वी का; भारम्—भार; कृत-अन्तेन—मृत्यु प्रहारों से; तिरश्चकार—सम्पन्न किया।

भला ऐसा कौन होगा जो उनके चरणकमलों की धूल को एकबार भी सूँघ कर उसे भुला सके? कृष्ण ने अपनी भौहों की पत्तियों को विस्तीर्ण करके उन लोगों पर मृत्यु जैसा प्रहार किया है, जो पृथ्वी पर भार बने हुए थे।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण को मनुष्य नहीं माना जा सकता, भले ही उन्होंने आज्ञाकारी पुत्र की भूमिका ही क्यों न निबाही हो। उनके कार्य इतने असामान्य थे कि केवल अपनी भौंहों को उठाकर वे उन लोगों पर मृत्यु-प्रहार कर सके जो पृथ्वी पर भार बने हुए थे।

दृष्टा भवद्भिर्ननु राजसूये
चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः ।
यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग्
योगेन कस्तद्विरहं सहेत ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

दृष्टा—देखी गयी; भवद्भिः—आपके द्वारा; ननु—निस्सन्देह; राजसूये—महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न राजसूय यज्ञ की सभा में; चैद्यस्य—चेदिराज (शिशुपाल) के; कृष्णम्—कृष्ण के प्रति; द्विषतः—ईर्ष्या से; अपि—के बावजूद; सिद्धिः—सफलता; याम्—जो; योगिनः—योगीजन; संस्पृहयन्ति—तीव्रता से इच्छा करते हैं; सम्यक्—पूर्णरूपेण; योगेन—योग द्वारा; कः—कौन; तत्—उनका; विरहम्—विच्छेद; सहेत—सहन कर सकता है।

आप स्वयं देख चुके हैं कि चेदि के राजा (शिशुपाल) ने किस तरह योगाभ्यास में सफलता प्राप्त की यद्यपि वह भगवान् कृष्ण से ईर्ष्या करता था। वास्तविक योगी भी अपने विविध अभ्यासों द्वारा ऐसी सफलता की सुरुचिपूर्वक कामना करते हैं। भला उनके विछोह को कौन सह सकता है?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की अहैतुकी कृपा का प्राकट्य महाराज युधिष्ठिर की विराट सभा में हुआ। वे अपने शत्रु चेदि के राजा पर भी कृपालु थे, जो सदैव भगवान् का ईर्ष्यालु प्रतिद्वन्द्वी बनने का प्रयास करता रहा। चूँकि भगवान् का प्रामाणिक प्रतिद्वन्द्वी बनना सम्भव नहीं है, अतः चेदि का राजा भगवान् कृष्ण का अत्यधिक द्रोही था। इस बात में वह अन्य असुरों यथा कंस तथा जरासंध की ही तरह था। शिशुपाल ने महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न होने वाले *राजसूय यज्ञ* की खुली सभा में भगवान् कृष्ण का अपमान किया और अन्त में वह भगवान् द्वारा मार डाला गया। किन्तु उस सभा के हर व्यक्ति ने देखा कि चेदि के राजा के शरीर से प्रकाश की एक किरण निकली जो भगवान् कृष्ण के शरीर में लीन हो गई। इसका अर्थ हुआ कि चेदिराज को सायुज्य मुक्ति प्राप्त हुई जिसकी तीव्र इच्छा *ज्ञानियों* तथा *योगियों* को रहती है और जिसके लिए वे अनेक प्रकार के दिव्य कार्य सम्पन्न करते हैं।

यह तथ्य है कि जो लोग मानसिक चिन्तन, या *योग* शक्तियों के निजी प्रयासों द्वारा परब्रह्म को समझने का प्रयास कर रहे हैं उन्हें वही लक्ष्य प्राप्त होता है, जो उन लोगों को प्राप्त होता है जिनका

वध स्वयं भगवान् द्वारा किया जाता है। दोनों ही को भगवान् के दिव्य शरीर की ब्रह्मज्योति की किरणों में तादात्म्य होने की मुक्ति प्राप्त होती है। भगवान् अपने शत्रु पर भी कृपालु थे और चेदिराज की सफलता उन सबों द्वारा देखी गई जो सभा में उपस्थित थे। विदुर भी वहाँ उपस्थित थे, इसीलिए उद्धव ने इस घटना का स्मरण कराया।

तथैव चान्ये नरलोकवीरा
य आहवे कृष्णमुखारविन्दम् ।
नेत्रैः पिबन्तो नयनाभिरामं
पार्थास्त्रपूतः पदमापुरस्य ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तथा—भी; एव च—तथा निश्चय ही; अन्ये—अन्य; नर-लोक—मानव समाज; वीराः—योद्धा; ये—जो; आहवे—युद्धभूमि (कुरुक्षेत्र की) में; कृष्ण—भगवान् कृष्ण का; मुख-अरविन्दम्—कमल के फूल जैसा मुँह; नेत्रैः—नेत्रों से; पिबन्तः—देखते हुए; नयन-अभिरामम्—आँखों को अतीव अच्छा लगने वाले; पार्थ—अर्जुन के; अस्त्र-पूतः—बाणों से शुद्ध हुआ; पदम्—धाम; आपुः—प्राप्त किया; अस्य—उनका।

निश्चय ही कुरुक्षेत्र युद्धस्थल के अन्य योद्धागण अर्जुन के बाणों के प्रहार से शुद्ध बन गये और आँखों को अति मनभावन लगने वाले कृष्ण के कमल-मुख को देखकर उन्होंने भगवद्धाम प्राप्त किया।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण इस जगत में दो उद्देश्यों से प्रकट होते हैं—श्रद्धावानों का उद्धार करने तथा दुष्टों का संहार करने, किन्तु परम पूर्ण होने से भगवान् के ये दो प्रकार के कार्य भले ही ऊपर से भिन्न लगें, किन्तु अन्ततः एक ही होते हैं। शिशुपाल जैसे व्यक्ति का उनके द्वारा संहार किया जाना उतना ही शुभ है जितना कि श्रद्धावान की रक्षा के लिए किया जानेवाला कार्य। उन सारे योद्धाओं ने, जिन्होंने अर्जुन के विरुद्ध युद्ध किया था, किन्तु युद्धभूमि में भगवान् के कमलवत् मुख का दर्शन किया था, उसी तरह भगवद्धाम प्राप्त किया जिस तरह भगवान् के भक्त प्राप्त करते हैं। "द्रष्टा की आखों को अच्छा लगने वाले" ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जब युद्धभूमि के दूसरे पक्ष के योद्धाओं ने भगवान् कृष्ण को सामने से देखा तो उन्होंने उनके सौन्दर्य को सराहा और ईश्वर के प्रति उनकी सुसुप्त भावना जागृत हो उठी। शिशुपाल ने भी भगवान् को देखा, किन्तु उसने उन्हें अपने शत्रु के रूप में देखा जिससे उसका प्रेम जागृत नहीं हुआ। इसलिए शिशुपाल ने भगवान् के शरीर की निर्विशेष ज्योति, ब्रह्मज्योति में लीन होकर भगवान् से तादात्म्य प्राप्त किया। अन्य लोगों को जो तटस्थ थे, जो न

तो मित्र थे न शत्रु, किन्तु भगवान् के मुख के सौन्दर्य को सराहने के कारण यत्किंचित भगवान् के प्रेम में थे, उन्हें तुरन्त वैकुण्ठलोक भेज दिया गया। भगवान् का निजी धाम गोलोक वृन्दावन कहलाता है और वे धाम, जहाँ उनके स्वांश निवास करते हैं वैकुण्ठलोक कहलाते हैं जहाँ भगवान् नारायण रूप में विद्यमान रहते हैं। हर जीव में भगवत्प्रेम प्रसुप्त रहता है और भगवान् की भक्ति की समूची विधि इस प्रसुप्त नित्य भगवत्प्रेम को जागृत करने के लिए होती है। किन्तु ऐसी दिव्य जागृति की कोटियाँ होती हैं। जिन लोगों में भगवत्प्रेम पूरी तरह जागृत हुआ रहता है वे आध्यात्मिक आकाश में गोलोक वृन्दावन लोक जाते हैं, किन्तु जिन लोगों में संयोगवश या संगति के द्वारा भगवत्प्रेम ठीक से जागृत हुआ होता है वे वैकुण्ठलोक भेज दिये जाते हैं। तात्विक दृष्टि से गोलोक तथा वैकुण्ठ में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु वैकुण्ठ में भगवान् की सेवा असीम ऐश्वर्य द्वारा की जाती है, जबकि गोलोक में उनकी सेवा सहज स्नेह भाव में की जाती है।

यह भगवत्प्रेम भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति से जागृत होता है। यहाँ पर *पार्थास्त्र-पूतः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जिन लोगों ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भगवान् की सुन्दर मुखाकृति देखी थी, उन्हें पहले अर्जुन ने अपने बाणों के प्रहार से शुद्ध बना दिया था। भगवान् संसार का भार हल्का करने के उद्देश्य से प्रकट हुए थे और अर्जुन उनकी ओर से युद्ध करके उनकी सहायता कर रहे थे। अर्जुन ने व्यक्तिगत रूप से युद्ध करने से इनकार कर दिया था और अर्जुन को युद्ध में लगाने के लिए *भगवद्गीता* का सम्पूर्ण उपदेश दिया गया था। भगवान् के शुद्ध भक्त के रूप में अर्जुन ने अपने निर्णय के समक्ष इसे वरीयता देते हुए युद्ध करना स्वीकार किया। इस तरह अर्जुन ने संसार के भार को कम करने के भगवान् के उद्देश्य में सहायक बनने के लिए युद्ध किया। शुद्ध भक्त द्वारा सारे कार्य भगवान् की ओर से सम्पन्न किये जाते हैं, क्योंकि भगवान् के शुद्ध भक्त के पास करने के लिए निजी कुछ भी नहीं रहता। अर्जुन द्वारा संहार किया जाना स्वयं भगवान् द्वारा किये जाने वाले संहार के तुल्य था। ज्योंही अर्जुन किसी शत्रु पर बाण चलाते, वह शत्रु सारे भौतिक कल्मष से शुद्ध बनकर वैकुण्ठ जाने का पात्र बन जाता। जिन योद्धाओं ने भगवान् के चरणकमलों की प्रशंसा की तथा सामने से भगवान् के मुख को देखा उनमें सुप्त भगवत्प्रेम जाग उठा और इस तरह वे लोग शिशुपाल की ही तरह ब्रह्मज्योति की निर्विशेष दशा में नहीं, अपितु सीधे, वैकुण्ठलोक भेज दिये गये। शिशुपाल भगवान् की प्रशंसा किये बिना मर गया, किन्तु

अन्य लोग भगवान् की प्रशंसा करके मरे थे। दोनों ही को आध्यात्मिक आकाश में भेज दिया गया, किन्तु जिनमें भगवत्प्रेम जागृत हो चुका था वे दिव्य आकाश के लोकों में भेज दिये गये।

उद्धव ऊपर से शोक कर रहे थे कि उनका अपना पद कुरुक्षेत्र युद्धभूमि के योद्धाओं से भी न्यून है, क्योंकि उन लोगों को तो वैकुण्ठलोक मिल चुका था, जबकि उद्धव भगवान् के तिरोधान का शोक ही करते रह गये।

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः
स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः
किरीटकोट्येडितपादपीठः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—स्वयं; तु—लेकिन; असाम्य—अद्वितीय; अतिशयः—महत्तर; त्रि-अधीशः—तीन का स्वामी; स्वाराज्य—स्वतंत्र सत्ता; लक्ष्मी—सम्पत्ति; आप्त—प्राप्त किया; समस्त-कामः—सारी इच्छाएँ; बलिम्—पूजा की साज सामग्री; हरद्भिः—प्रदत्त; चिर-लोक-पालैः—सृष्टि की व्यवस्था को नित्य बनाये रखने वालों द्वारा; किरीट-कोटि—करोड़ों मुकुट; एडित-पाद-पीठः—स्तुतियों द्वारा सम्मानित पाँव।

भगवान् श्रीकृष्ण समस्त त्रयियों के स्वामी हैं और समस्त प्रकार के सौभाग्य की उपलब्धि के द्वारा स्वतंत्र रूप से सर्वोच्च हैं। वे सृष्टि के नित्य लोकपालों द्वारा पूजित हैं, जो अपने करोड़ों मुकुटों द्वारा उनके पाँवों का स्पर्श करके उन्हें पूजा की साज-सामग्री अर्पित करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त उदार तथा कृपालु हैं जैसाकि ऊपर के श्लोकों में बतलाया गया है, फिर भी वे समस्त त्रयियों के स्वामी हैं। वे तीन लोकों, प्रकृति के तीन गुणों तथा तीन पुरुषों (कारणोदकशायी, गर्भोदकशायी तथा क्षीरोदकशायी विष्णु) के स्वामी हैं। ब्रह्माण्ड अनन्त हैं और इनमें से प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र के विभिन्न स्वरूप हैं। इनके अतिरिक्त, शेषमूर्ति भी हैं, जो समस्त ब्रह्माण्डों को अपने फनों पर धारण करते हैं। भगवान् कृष्ण इन सबों के स्वामी हैं। मनु के अवतार रूप में वे असंख्य ब्रह्माण्डों में समस्त मनुओं के आदि स्रोत हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ५,०४,००० मनु होते हैं। भगवान् तीन प्रधान शक्तियों—*चितशक्ति, मायाशक्ति* तथा *तटस्थशक्ति* के स्वामी हैं और वे षडैश्वर्यों—धन, बल, यश, सौन्दर्य, ज्ञान तथा वैराग्य—के समग्रस्वामी हैं। ऐसा अन्य कोई नहीं जो भोग की किसी बात में उनसे बढ़कर हो और उनसे बड़ा तो कोई है ही नहीं। कोई उनके तुल्य या उनसे बढ़कर नहीं है। हर व्यक्ति चाहे वह जो भी हो तथा जहाँ भी हो, उसका यह कर्तव्य है कि पूरी

तरह उनकी शरण ग्रहण करे। अतएव यह आश्चर्यजनक नहीं है कि सारे लोकपाल उनके शरणागत बनकर उन्हें पूजा की सारी वस्तुएँ अर्पित करते हैं।

तत्तस्य कैङ्कर्यमलं भृतान्नो
विग्लापयत्यङ्ग यदुग्रसेनम् ।
तिष्ठन्निषण्णं परमेष्ठिधिष्ण्ये
न्यबोधयद्देव निधारयेति ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; तस्य—उसकी; कैङ्कर्यम्—सेवा; अलम्—निस्सन्देह; भृतान्—सेवकों को; नः—हम; विग्लापयति—पीड़ा देती है; अङ्ग—हे विदुर; यत्—जितनी कि; उग्रसेनम्—राजा उग्रसेन को; तिष्ठन्—बैठे हुए; निषण्णम्—सेवा में खड़े; परमेष्ठि-धिष्ण्ये—राजसिंहासन पर; न्यबोधयत्—निवेदन किया; देव—मेरे प्रभु को सम्बोधित करते हुए; निधारय—आप जान लें; इति—इस प्रकार।

अतएव हे विदुर, क्या उनके सेवकगण हम लोगों को पीड़ा नहीं पहुँचती जब हम स्मरण करते हैं कि वे (भगवान् कृष्ण) राजसिंहासन पर आसीन राजा उग्रसेन के समक्ष खड़े होकर, ''हे प्रभु, आपको विदित हो कि'' यह कहते हुए सारे स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते थे।

तात्पर्य : अपने तथाकथित गुरुजनों, यथा अपने पिता, बाबा तथा ज्येष्ठ भाई, के समक्ष भगवान् कृष्ण का भद्र व्यवहार, अपनी तथाकथित पत्नियों, मित्रों तथा समसामयिकों के साथ मिलनसार आचरण, अपनी माता यशोदा के समक्ष शिशु रूप में उनका व्यवहार तथा अपनी तरुणी सखियों के प्रति उनका नटखट व्यवहार, उद्धव जैसे शुद्ध भक्त को मोहित नहीं कर सकता। अन्य लोग जो कि भक्त नहीं हैं, मनुष्य जैसा आचरण करने वाले भगवान् के ऐसे व्यवहार से मोहित हो उठते हैं। भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (९.११) में ऐसे मोह की व्याख्या निम्न प्रकार से की है—

अवजानन्ति मां मूढा: मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।

अल्पज्ञ व्यक्ति भगवान् कृष्ण के इस उच्च पद को कि वे हर वस्तु के स्वामी हैं, न जानते हुए भगवान् को कम महत्त्व का बताते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने अपने पद की स्पष्टतया व्याख्या की है, किन्तु आसुरी नास्तिक अध्येता अपने निजी उद्देश्य से मनमानी व्याख्या निकाल लेता है और अभागे अनुयायियों को उसी मनोवृत्ति में भटकाता बनाता है। ऐसे अभागे व्यक्ति ज्ञान के महान् ग्रंथ में से मात्र कुछ नारे चुन लेते हैं, किन्तु भगवान् का सही आकलन करने में असमर्थ रहते हैं। किन्तु उद्धव जैसे

शुद्ध भक्त कभी भी ऐसे नास्तिक अवसरवादियों द्वारा गुमराह नहीं बनाये जा सकते।

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; बकी—असुरिनी (पूतना); यम्—जिसको; स्तन—अपने स्तन में; काल—घातक; कूटम्—विष; जिघांसया—ईर्ष्यावश; अपाययत्—पिलाया; अपि—यद्यपि; असाध्वी—कृतघ्न; लेभे—प्राप्त किया; गतिम्—गन्तव्य; धात्री-उचिताम्—धाई के उपयुक्त; ततः—जिसके आगे; अन्यम्—दूसरा; कम्—अन्य कोई; वा—निश्चय ही; दयालुम्—कृपालु; शरणम्—शरण; व्रजेम—ग्रहण करूँगा।

ओह, भला मैं उनसे अधिक दयालु किसी और की शरण कैसे ग्रहण करूँगा जिन्होंने उस असुरिनी (पूतना) को माता का पद प्रदान किया, यद्यपि वह कृतघ्न थी और उसने अपने स्तन से पिलाए जाने के लिए घातक विष तैयार किया था ?

तात्पर्य : यहाँ पर अपने शत्रु पर भी भगवान् की चरम कृपा का उदाहरण मिलता है। कहा जाता है कि नेक पुरुष संदिग्ध चरित्र वाले व्यक्ति के भी सद्‌गुणों को स्वीकार करता है, जिस तरह विष के आगार से अमृत ले लिया जाता है। कृष्ण को बाल्यकाल में पूतना नामक असुरिनी ने घातक विष पिलाया था, क्योंकि वह इस अद्‌भुत शिशु को मार डालना चाहती थी। चूँकि वह असुरिनी थी, इस कारण से उसके लिए यह जान पाना असम्भव था कि भगवान् शिशु की भूमिका निभाते हुए भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से कम न थे। अपनी भक्त यशोदा को प्रसन्न करने के लिए उनका शिशु बनने से भगवान् का मान घटा नहीं। भगवान् चाहे शिशु का रूप धारण करें या मनुष्य के अतिरिक्त अन्य कोई रूप धारण करें, इससे तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता। वे सदैव वही ब्रह्म बने रहते हैं। कोई सजीव प्राणी अपनी कठिन तपस्या के बल पर कितना ही शक्तिशाली क्यों न बन जाए किन्तु वह कभी भी भगवान् के तुल्य नहीं हो सकता।

भगवान् कृष्ण ने पूतना का मातृत्व स्वीकार किया, क्योंकि उसने स्नेहिल माता का स्वाँग करते हुए कृष्ण को अपना स्तन पीने दिया। भगवान् जीव की न्यूनतम योग्यता स्वीकार करते हैं और उसे सबसे बड़ा पुरस्कार प्रदान करते हैं। उनके चरित्र का यही मानदण्ड है। अतएव भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कौन परम आश्रय हो सकता है ?

मन्येऽसुरान्भागवतांस्त्र्यधीशे
संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्र-
मंसे सुनाभायुधमापतन्तम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

मन्ये—मैं सोचता हूँ; असुरान्—असुरों को; भागवतान्—महान् भक्तों को; त्रि-अधीशे—तीन के स्वामी को; संरम्भ—शत्रुता; मार्ग—मार्ग से होकर; अभिनिविष्ट-चित्तान्—विचारों में मग्न; ये—जो; संयुगे—युद्ध में; अचक्षत—देख सका; तार्क्ष्य-पुत्रम्—भगवान् के वाहन गरुड़ को; अंसे—कन्धे पर; सुनाभ—चक्र; आयुधम्—हथियार धारण करनेवाला; आपतन्तम्—सामने आता हुआ।

मैं उन असुरों को जो भगवान् के प्रति शत्रुभाव रखते हैं, भक्तों से बढ़कर मानता हूँ, क्योंकि शत्रुता के भावों से भरे वे सभी युद्ध करते हुए भगवान् को तार्क्ष्य (कश्यप) पुत्र गरुड़ के कन्धों पर बैठे तथा अपने हाथ में चक्रायुध लिए देख सकते हैं।

तात्पर्य : जिन असुरों ने भगवान् से आमने-सामने युद्ध किया, उन्होंने भगवान् द्वारा मारे जाने के कारण मोक्ष प्राप्त किया। असुरों का यह मोक्ष उनके भगवद्भक्त होने के कारण नहीं है, अपितु भगवान् की अहैतुकी कृपा के परिणामस्वरूप है। जो कोई भगवान् के तनिक भी सम्पर्क में आता है, वह भगवान् की सर्वोत्कृष्टता के कारण मोक्ष तक का महानतम लाभ पा लेता है। वे इतने दयालु हैं कि अपने शत्रुओं तक को मोक्ष प्रदान करते हैं, क्योंकि वे लोग उनके सम्पर्क में आते हैं और अपने शत्रुवत् विचारों के कारण अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् में लीन रहते हैं। वस्तुत: असुरगण कभी भी भक्तों के तुल्य नहीं हो सकते, किन्तु उद्धव विछोह-भावना के कारण उस तरह से सोच रहे थे। वे सोच रहे थे कि अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में हो सकता है कि वे भगवान् को अपने समक्ष न देख सकें जिन्हें देखने का अवसर असुरों तक को मिला था। तथ्य तो यह है कि जो भक्त सदैव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहकर उन्हें आध्यात्मिक लोकों में भेजे जाने से वे असुरों की अपेक्षा लाखों गुना अधिक पुरस्कृत होते हैं जहाँ वे भगवान् के साथ नित्य आनन्दमय जीवन बिताते हैं। असुरों तथा निर्विशेषवादियों को भगवान् की ब्रह्मज्योति में लीन होने की सुविधा प्रदान की जाती है, जबकि भक्तों को आध्यात्मिक लोक में प्रवेश करने दिया जाता है। तुलना के लिए आकाश में तैरत रहने और आकाश के किसी लोक में निवास करने में जो अन्तर है उसकी कल्पना की जा सकती है। इन लोकों में जीवों का आनन्द उनकी तुलना में अधिक होता है जिनके कोई शरीर नहीं होता (अशरीरी) और जो

सूर्य की किरणों के अणुओं में लीन हो जाते हैं। इसलिए भगवान् द्वारा निर्विशेषवादियों पर अपने शत्रुओं की अपेक्षा अधिक कृपा नहीं की जाती, प्रत्युत दोनों ही आध्यात्मिक मोक्ष के समान स्तर पर होते हैं।

वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने ।
चिकीर्षुर्भगवानस्याः शमजेनाभियाचितः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

वसुदेवस्य—वसुदेव की पत्नी के; देवक्याम्—देवकी के गर्भ में; जातः—उत्पन्न; भोज-इन्द्र—भोजों के राजा के; बन्धने—बन्दीगृह में; चिकीर्षुः—करने के लिए; भगवान्—भगवान्; अस्याः—पृथ्वी का; शम्—कल्याण; अजेन—ब्रह्म द्वारा; अभियाचितः—याचना किये जाने पर।

पृथ्वी पर कल्याण लाने के लिए ब्रह्मा द्वारा याचना किये जाने पर भगवान् श्री कृष्ण को भोज के राजा के बन्दीगृह में वसुदेव ने अपनी पत्नी देवकी के गर्भ से उत्पन्न किया।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् के आविर्भाव तथा तिरोभाव में कोई अन्तर नहीं होता, किन्तु भक्तगण सामान्यतया उनके तिरोभाव के विषय में चर्चा नहीं करते। विदुर ने उद्धव से कृष्णकथा सुनाने के लिए आग्रह करके भगवान् के तिरोधान की घटना के विषय में उद्धव से अप्रत्यक्ष रूप से पूछा। अतः उद्धव ने भोजों के राजा कंस के मथुरा बन्दीगृह में वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में उनके आविर्भाव से कथा कहनी प्रारम्भ की। इस जगत में भगवान् के लिए कोई काम नहीं हैं, किन्तु जब ब्रह्मा जैसे भक्तों द्वारा उनसे अनुरोध किया जाता है, तो वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कल्याण हेतु पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। *भगवद्गीता* (४.८) में इसका उल्लेख हुआ है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्विबिभ्यता ।
एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; नन्द-व्रजम्—नन्द महाराज के चरागाहों में; इतः—पाले-पोषे जाकर; पित्रा—अपने पिता द्वारा; कंसात्—कंस से; विबिभ्यता—भयभीत होकर; एकादश—ग्यारह; समाः—वर्ष; तत्र—वहाँ; गूढ-अर्चिः—प्रच्छन्न अग्नि; स-बलः—बलराम सहित; अवसत्—रहे।

तत्पश्चात् कंस से भयभीत होकर उनके पिता उन्हें नन्द महाराज के चरागाहों में ले आये जहाँ

वे अपने बड़े भाई बलदेव सहित ढकी हुई अग्नि की तरह ग्यारह वर्षों तक रहे।

तात्पर्य : प्रकट होते ही भगवान् को मार डालने के कंस के संकल्प के भय से उन्हें नन्द महाराज के घर भेज देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यह असुरों का ही कार्य होता है कि भगवान् को मार डालने का प्रयास करें या सभी प्रकार से यह सिद्ध करें कि ईश्वर नहीं है या कि कृष्ण सामान्य मनुष्य हैं और वे ईश्वर नहीं हैं। भगवान् कृष्ण कंस जैसे व्यक्तियों के ऐसे संकल्प से तनिक भी प्रभावित नहीं होते, किन्तु शिशु की भूमिका के निर्वाह हेतु उन्होंने अपने पिता द्वारा नन्द महाराज के चरागाहों तक ले जाया जाना स्वीकार किया, क्योंकि वसुदेव कंस से भयभीत थे। महाराज नन्द को अपने पुत्र रूप में उन्हें प्राप्त करना ही था और यशोदा माई को भी भगवान् की बाल-लीलाओं का आनन्द लेना था, इसलिए सबों की इच्छापूर्ति हेतु कंस के बंदीगृह में उनके आविर्भाव के तुरन्त बाद उन्हें मथुरा से वृन्दावन ले जाया गया। वे वहाँ ग्यारह वर्षों तक रहे और उन्होंने अपने बड़े भाई तथा अपने प्रथम अंश बलदेव के साथ बाल्यकाल, कुमारावस्था तथा किशोरावस्था की मनोहारी लीलाएँ पूरी कीं। कंस के क्रोध से कृष्ण की रक्षा करने का वसुदेव का विचार दिव्य सम्बन्ध का एक अंश है। भगवान् को तब अधिक आनन्द प्राप्त होता है जब कोई व्यक्ति उन्हें अपने अधीनस्थ पुत्र के रूप में स्वीकार करता है, जिसे पिता के संरक्षण की आवश्यकता होती है अपेक्षा इसके कि कोई उन्हें भगवान् रूप में स्वीकार करे। वे सबों के पिता हैं और सबों की रक्षा करते हैं, किन्तु जब उनका भक्त यह मान लेता है कि भगवान् को भक्त की देखरेख में रहकर सुरक्षा प्राप्त करनी है, तो इससे उन्हें दिव्य हर्ष होता है। अतएव जब कंस के भय से वसुदेव उन्हें वृन्दावन ले गये तो भगवान् को आनन्द प्राप्त हुआ अन्यथा उन्हें कंस से या अन्य किसी से कोई भय नहीं था।

परीतो वत्सपैर्वत्सांश्चारयन्व्यहरद्विभुः ।
यमुनोपवने कूजद्द्विजसङ्कुलिताङ्घ्रिपे ॥ २७॥

शब्दार्थ

परीतः—घिरे; वत्सपैः—ग्वालबालों से; वत्सान्—बछड़ों को; चारयन्—चराते हुए; व्यहरत्—विहार का आनन्द लिया; विभुः—सर्वशक्तिमान; यमुना—यमुना नदी; उपवने—तट के बगीचे में; कूजत्—शब्दायमान; द्विज—पक्षी; सङ्कुलित—सघन; अङ्घ्रिपे—वृक्षों में।.

अपने बाल्यकाल में सर्वशक्तिमान भगवान् ग्वालबालों तथा बछड़ों से घिरे रहते थे। इस

तरह वे यमुना नदी के तट पर सघन वृक्षों से आच्छादित तथा चहचहाते पक्षियों की ध्वनि से पूरित बगीचों में विहार करते थे।

तात्पर्य : नन्द महाराज कंस के भूमिधर थे, किन्तु जाति से वैश्य होने के कारण उन्होंने हजारों गौवें पाल रखी थीं। वैश्यों का कर्तव्य है कि गौवों को सुरक्षा प्रदान करें जिस तरह क्षत्रियों को मनुष्यों को सुरक्षा प्रदान करनी होती है। चूँकि भगवान् बालक थे, इसीलिए उन्हें अन्य ग्वालमित्रों के साथ बछड़ों को चराने का भार सौंप दिया गया था। ये ग्वालबाल अपने पूर्वजन्म में *महर्षि* तथा योगी थे और ऐसे अनेक पवित्र जन्मों के बाद उन्हें भगवान् की संगति प्राप्त हुई थी जिससे वे उनके साथ समान स्तर पर खेल सकते थे। ऐसे ग्वालबालों ने यह जानने की कभी परवाह नहीं की कि कृष्ण कौन हैं, किन्तु वे अत्यन्त घनिष्ठ तथा प्रिय मित्र के रूप में उनके साथ खेलते थे। वे भगवान् को इतना चाहते थे कि रात में भी वे यही सोचते कि कब भोर हो और वे भगवान् से मिलकर एकसाथ गौवें चराने जंगल जाँए।

यमुना के किनारे के सारे जंगल सुन्दर बगीचे थे, जो आम, कटहल, सेब, अमरूद, नारंगी, अंगूर, बेर, ताड़फल के पेड़ों तथा अन्य कई पौधों और सुगन्धित पुष्पों से भरे पड़े थे। चूँकि यह जंगल यमुना के तट पर था, अतएव स्वाभाविक है कि यहाँ बत्तख, सारस तथा वृक्षों की शाखाओं पर मोर होते। ये सारे वृक्ष तथा पक्षी एवं पशु पवित्र जीव थे, जो वृन्दावन के दिव्य धाम में भगवान् को एवं उनके नित्य संगी ग्वालबालों को आनन्द प्रदान करने के लिए थे।

भगवान् ने अपने संगियों के साथ छोटे शिशु की तरह खेलते हुए अघासुर, बकासुर, प्रलम्बासुर तथा गर्दभासुर असुरों का वध किया। यद्यपि वे वृन्दावन में एक बालक रूप में प्रकट हुए थे, किन्तु वास्तव में वे अग्नि की ढकी हुई लपटों के तुल्य थे। आग की एक चिनगारी ईंधन से मिलकर भीषण अग्नि उत्पन्न कर सकती है; उसी तरह भगवान् ने नन्द महाराज के घर में अपने बाल्यकाल से ही आरम्भ करके इन सभी महान् असुरों का वध किया। भगवान् के बाल्यकाल की क्रीड़ास्थली वृन्दावन की भूमि आज भी है और जो कोई भी इन स्थानों में जाता है, वह वही दिव्य आनन्द पाता है, यद्यपि भगवान् हमारी अपूर्ण आँखों को सदेह दृष्टिगोचर नहीं होते। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् की इस भूमि को भगवान् से अभिन्न बतलाया, अतएव भक्तों द्वारा यह पूजनीय है। इस उपदेश को चैतन्य

महाप्रभु के अनुयायी, जो गौड़ीय वैष्णव कहलाते है, विशेषरूप से मानते हैं। चूँकि यह भूमि भगवान् से अभिन्न है, अतएव उद्धव तथा विदुर जैसे भक्तों ने ५००० वर्ष पूर्व इन स्थानों का भ्रमण किया जिससे वे दृश्य या अदृश्य भगवान् से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर सकें। आज भी भगवान् के हजारों भक्त वृन्दावन के इन पवित्र स्थानों में भ्रमण करते हैं और इस तरह वे भगवद्धाम जाने की तैयारी करते हैं।

कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम् ।
रुदन्निव हसन्मुग्धबालसिंहावलोकनः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

कौमारीम्—बचपन के लिए उपयुक्त; दर्शयन्—दिखलाते हुए; चेष्टाम्—कार्यकलाप; प्रेक्षणीयाम्—देखने के योग्य, दर्शनीय; व्रज-ओकसाम्—वृन्दावन के वासियों द्वारा; रुदन्—चिल्लाते; इव—सदृश; हसन्—हँसते; मुग्ध—आश्चर्यचकित; बाल-सिंह—सिंह-शावक; अवलोकनः—उसी तरह का दिखते हुए।

जब भगवान् ने बालोचित कार्यों का प्रदर्शन किया, तो वे एकमात्र वृन्दावनवासियों को ही दृष्टिगोचर थे। वे शिशु की तरह कभी रोते तो कभी हँसते और ऐसा करते हुए वे सिंह के बच्चे के समान प्रतीत होते थे।

तात्पर्य : यदि कोई व्यक्ति भगवान् की बाल-लीलाओं का आनन्द लेना चाहता है, तो उसे नन्द, उपनन्द तथा वृन्दावन के अन्य पितृवत् निवासियों के पदचिह्नों का अनुसरण करना होगा। बालक किसी वस्तु को पाने के लिए हठ कर सकता है और इसे पाने के लिए कितना भी रो सकता है, जिससे सारे पड़ोस की शान्ति भंग हो सकती है, किन्तु वांछित वस्तु के मिलते ही वह बालक तुरन्त हँसने लगता है। ऐसा रोना तथा हँसना माता-पिता तथा परिवार के गुरुजनों के लिए आनन्ददायक होता है। उसी तरह भगवान् एक ही समय रोते तथा हँसते और अपने भक्त माता-पिता को दिव्य आनन्द रस में निमग्न कर देते। ये घटनाएँ एकमात्र व्रजवासियों द्वारा, यथा नन्द महाराज द्वारा, आस्वाद्य हैं, ब्रह्म या परमात्मा के निर्विशेषवादी पूजकों द्वारा नहीं। कभी-कभी जब जंगल में कृष्ण पर असुर आक्रमण कर देते तो वे आश्चर्यचकित प्रतीत होते, किन्तु वे उन पर सिंह के बच्चे के समान दृष्टि डालते और उनको मार डालते; उनके बचपन के संगी भी आश्चर्यचकित हो उठते और जब वे घर लौटकर आते तो सारी कहानी अपने माता-पिता से कह सुनाते जिससे सारे लोग अपने कृष्ण के गुणों की सराहना करते।

बालक कृष्ण मात्र अपने माता-पिता नन्द तथा यशोदा के ही नहीं थे। वे वृन्दावन के समस्त वयोवृद्ध निवासियों के पुत्र थे और समस्त समवयस्क बालकों तथा बालिकाओं के मित्र थे। सारे लोग कृष्ण से प्रेम करते थे। वे पशुओं-गौवों बछड़ों समेत सभी लोगों के प्राणाधार थे।

स एव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सितगोवृषम् ।
चारयन्ननुगान्गोपान्रणद्वेणुररीरमत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (कृष्ण); एव—निश्चय ही; गो-धनम्—गौ रूपी खजाना; लक्ष्म्याः—ऐश्वर्य से; निकेतम्—आगार; सित-गो-वृषम्—सुन्दर गौवें तथा बैल; चारयन्—चराते हुए; अनुगान्—अनुयायियों को; गोपान्—ग्वाल बालों को; रणत्—बजती हुई; वेणुः—वंशी; अरीरमत्—उल्लसित किया।

अत्यन्त सुन्दर गाय-बैलों को चराते हुए समस्त ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति के आगार भगवान् अपनी वंशी बजाया करते। इस तरह वे अपने श्रद्धावान् अनुयायी ग्वाल-बालों को प्रफुल्लित करते थे।

तात्पर्य : जब भगवान् छः-सात वर्ष के हुए तो उन्हें चरागाहों में गौवों तथा बैलों की देखभाल करने का काम सौंप दिया गया। वे ऐसे सम्पन्न भूमिधर के पुत्र थे जिसके पास हजारों गौवें थीं। वैदिक अर्थशास्त्र के अनुसार मनुष्य अपने अन्न भंडार तथा गौवों के बल पर धनी व्यक्ति माना जाता है। केवल इन्हीं दो वस्तुओं, गौवों तथा अन्न, से मनुष्य अपनी खाद्य समस्या हल कर सकता है। मानव समाज को अपनी आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए केवल पर्याप्त अन्न तथा पर्याप्त गौवों की आवश्यकता होती है। इन दोनों वस्तुओं के अतिरिक्त बाकी सारी वस्तुएँ कृत्रिम आवश्यकताएँ हैं, जिन्हें मनुष्य ने अपने मूल्यवान जीवन का हनन करने तथा व्यर्थ की वस्तुओं में अपना समय नष्ट करने के लिए उत्पन्न किया है। मानव समाज के शिक्षक रूप में भगवान् कृष्ण ने अपने कार्यों से यह दिखलाया कि वैश्यों को गौवें तथा बैल पालने चाहिए और मूल्यवान पशुओं को संरक्षण प्रदान करना चाहिए। स्मृति के नियमों के अनुसार गाय मनुष्य जाति की माता और बैल पिता है। गाय माता है, क्योंकि मनुष्य जिस तरह माता के स्तन का दूध पीता है, मानव समाज गाय का दूध पीता है। इसी तरह बैल मानव समाज का पिता है, क्योंकि पिता बच्चों के लिए उसी प्रकार कमाता है, जिस तरह कि बैल अन्न उत्पन्न करने के लिए भूमि जोतता है। मानव समाज पिता तथा माता का वध करके जीवन-आत्मा

का हनन कर देगा। यहाँ इसका उल्लेख हुआ है कि सुन्दर गौवें तथा बैल विभिन्न चौकड़ीदार रंगों वाले थे लाल, काले, हरे, पीले, धूसर इत्यादि। उनके रंगों तथा स्वस्थ हँसमुख चेहरों के कारण वातावरण उल्लासपूर्ण था।

इन सबसे भी अधिक था, भगवान् अपनी सुविख्यात वंशी बजाया करते। उनकी वंशी की ध्वनि उनके मित्रों को दिव्य आनन्द प्रदान करती जिससे वे निर्विशेषवादियों द्वारा बहुप्रशंसित *ब्रह्मानन्द* की बातें भूल जाते थे। जैसाकि शुकदेव गोस्वामी बतलायेंगे, ये ग्वालबाल ऐसे जीव थे जिन्होंने ढेरों पुण्यकर्म संचित किये थे और जो भगवान् के साथ आनन्द ले रहे थे तथा उनकी दिव्य वंशी सुन रहे थे। *ब्रह्म-संहिता* से (५.३०) उनके द्वारा दिव्य वंशी बजाने की पुष्टि होती है :

वेणुं क्वणन्तम् अरविन्ददलायताक्षं

बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दरांगम् ।

कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।

ब्रह्माजी ने कहा, ''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपनी दिव्य वंशी बजाते हैं। उनकी आँखें कमल के फूलों जैसी हैं। वे मोरपंखों से सुशोभित हैं, और उनके शरीर का रंग नवीन श्याम बादल के सदृश है। उनका शारीरिक स्वरूप करोड़ों कामदेवों से भी अधिक सुन्दर है।'' ये भगवान् के विशिष्ट गुण हैं।

प्रयुक्तान्भोजराजेन मायिनः कामरूपिणः ।
लीलया व्यनुदत्तांस्तान्बालः क्रीडनकानिव ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

प्रयुक्तान्—लगाये गये; भोज-राजेन—कंस द्वारा; मायिनः—बड़े-बड़े जादूगर, मायावी; काम-रूपिणः—इच्छानुसार रूप धारण करने वाले; लीलया—लीलाओं के दौरान; व्यनुदत्—मार डाला; तान्—उनको; तान्—जैसे ही वे निकट आये; बालः—बालक; क्रीडनकान्—खिलौनों; इव—सदृश।

भोज के राजा कंस ने कृष्ण को मारने के लिए बड़े-बड़े जादूगरों को लगा रखा था, जो कैसा भी रूप धारण कर सकते थे। किन्तु अपनी लीलाओं के दौरान भगवान् ने उन सबों को उतनी ही आसानी से मार डाला जिस तरह कोई बालक खिलौनों को तोड़ डालता है।

तात्पर्य : नास्तिक कंस कृष्ण को जन्मते ही मार डालना चाहता था। वह ऐसा करने में विफल रहा, किन्तु बाद में उसे यह जानकारी मिली कि कृष्ण वृन्दावन में नन्द महाराज के घर में रह रहे हैं। अतएव उसने कई जादूगर लगाये जो अद्‌भुत कार्य कर सकते थे और इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर सकते थे। वे सभी बालक भगवान् के समक्ष विविध रूपों में, यथा अघ, बक, पूतना, शकट, तृणावर्त, धेनुक तथा गर्दभ रूपों में प्रकट हुए और हर बार उन्होंने भगवान् को मार डालने का प्रयास किया। किन्तु भगवान् ने एक-एक करके सबों को इस तरह मार डाला मानो वे खिलौनों से खेल रहे हों। बच्चे सिंह, हाथी, भालू तथा अन्य ऐसे ही विविध खिलौनों से खेलते हैं और खेलते खेलते वे इनको तोड़ डालते हैं। शक्तिशाली भगवान् के सामने कोई भी शक्तिशाली जीव खेलते हुए बच्चे के हाथों में सिंह के खिलौने के समान होता है। कोई भी व्यक्ति किसी भी तरह ईश्वर से बढ़कर नहीं हो सकता। अतएव कोई भी व्यक्ति न तो उनके समान हो सकता है, न उनसे बड़ा। न ही किसी भी प्रकार के प्रयत्न से कोई व्यक्ति ईश्वर की समता कर सकता है। *ज्ञान, योग* तथा *भक्ति* ये आध्यात्मिक साक्षात्कार की तीन मान्य विधियाँ हैं। ऐसी विधियों की पूर्णता मनुष्य को आध्यात्मिक मूल्यों में जीवन के वांछित गन्तव्य तक पहुँचा सकती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसे प्रयत्नों से मनुष्य भगवान् की ही जैसी पूर्णता प्राप्त कर सकता है। भगवान् प्रत्येक अवस्था में भगवान् रहते हैं। जब वे यशोदामाई की गोद में शिशु की तरह या जब वे ग्वलाबाल के रूप में अपने दिव्य मित्रों के साथ खेल रहे थे तो वे अपने षडैश्वर्यों में किञ्चित कमी किये बिना ईश्वर बने रहे। इस तरह वे सदैव अद्वय हैं।

विपन्नान्विषपानेन निगृह्य भुजगाधिपम् ।
उत्थाप्यापाययद्गावस्तत्तोयं प्रकृतिस्थितम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

विपन्नान्—महान् विपदाओं में परेशान; विष-पानेन—विष पीने से; निगृह्य—दमन करके; भुजग-अधिपम्—सर्पों के मुखिया को; उत्थाप्य—बाहर निकाल कर; अपाययत्—पिलाया; गाव:—गौवें; तत्—उस; तोयम्—जल को; प्रकृति—स्वाभाविक; स्थितम्—स्थिति में।.

वृन्दावन के निवासी घोर विपत्ति के कारण परेशान थे, क्योंकि यमुना के कुछ अंश का जल सर्पों के प्रमुख (कालिय) द्वारा विषाक्त किया जा चुका था। भगवान् ने सर्पराज को जल के भीतर प्रताड़ित किया और उसे दूर खदेड़ दिया। फिर नदी से बाहर आकर उन्होंने गौवों को

जल पिलाया तथा यह सिद्ध किया कि वह जल पुनः अपनी स्वाभाविक स्थिति में है।

अयाजयद्गोसवेन गोपराजं द्विजोत्तमैः ।
वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षन्सद्व्ययं विभुः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अयाजयत्—सम्पन्न कराया; गो-सवेन—गौवों की पूजा द्वारा; गोप-राजम्—ग्वालों के राजा; द्विज-उत्तमैः—विद्वान ब्राह्मणों द्वारा; वित्तस्य—सम्पत्ति का; च—भी; उरु-भारस्य—महान् ऐश्वर्य; चिकीर्षन्—कार्य करने की इच्छा से; सत्-व्ययम्—उचित उपभोग; विभुः—महान्।

भगवान् कृष्ण महाराज नन्द की ऐश्वर्यशाली आर्थिक शक्ति का उपयोग गौवों की पूजा के लिए कराना चाहते थे और वे स्वर्ग के राजा इन्द्र को भी पाठ पढ़ाना चाह रहे थे। अतः उन्होंने अपने पिता को सलाह दी थी कि वे विद्वान ब्राह्मणों की सहायता से गो अर्थात् चरागाह तथा गौवों की पूजा कराएँ।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सबों के शिक्षक हैं, अतएव उन्होंने अपने पिता नन्द महाराज को भी शिक्षा दी। नन्द महाराज एक सम्पन्न भूमिधर तथा अनेक गौवों के स्वामी थे और प्रथा के अनुसार वे प्रतिवर्ष स्वर्ग के राजा इन्द्र की पूजा बड़ी ही सजधज के साथ किया करते थे। वैदिक वाङ्मय में भी जनता द्वारा देवताओं की इस पूजा की सलाह दी गई है, जिससे लोग भगवान् की श्रेष्ठता को स्वीकार करें। देवता तो भगवान् के दास हैं, जिन्हें ब्रह्माण्ड विषयक विविध कार्यों का प्रबन्ध देखने के लिए नियुक्त किया गया हैं। इसलिए वैदिक शास्त्रों में सलाह दी गई हैं कि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य यज्ञ सम्पन्न करें। किन्तु जो व्यक्ति परमेश्वर की भक्ति करता है उसे देवताओं को प्रसन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है। सामान्यजनों द्वारा देवताओं की पूजा परमेश्वर की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार करने की एक व्यवस्था है किन्तु ऐसा करना आवश्यक नहीं है। ऐसा तुष्टीकरण सामान्यतया भौतिक लाभों के लिए ही किया जाता है। जैसे कि इस ग्रन्थ के द्वितीय स्कन्ध में हम पहले ही कह चुके हैं, जो व्यक्ति भगवान् की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार कर लेता है, उसे गौण देवताओं की पूजा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कभी-कभी अल्पज्ञ जीवों द्वारा पूजा तथा आराधना किये जाने से देवता गर्वित हो उठते हैं और वे भगवान् की श्रेष्ठता को भूल जाते हैं। ऐसी ही घटना तब घटी जब भगवान् कृष्ण इस ब्रह्माण्ड में उपस्थित थे, अतः भगवान् ने स्वर्ग के राजा इन्द्र को पाठ सिखाना चाहा। उन्होंने नन्द महाराज से कहा

कि वे इन्द्र को अर्पित किया जाने वाला यज्ञ बन्द कर दें और गौवों तथा गोवर्धन पर्वत पर स्थित चरागाहों की पूजा करके धन का समुचित उपयोग करें। इस कार्य से भगवान् कृष्ण ने मानव समाज को शिक्षा दी, जैसाकि *भगवद्गीता* में भी उन्होंने उपदेश दिया है कि मनुष्य को अपने समस्त कर्मों तथा उनके फलों द्वारा ब्रह्म की पूजा करनी चाहिए। इससे वांछित सफलता प्राप्त हो सकेगी। वैश्यों को विशेषरूप से सलाह दी गई है कि वे गौवों तथा उनके चरागाहों की कृषियोग्य भूमि को संरक्षण प्रदान करें और गाढ़ी कमाई को व्यर्थ न फूँकें। इससे भगवान् तुष्ट होंगे। अपने व्यवसायपरक कर्तव्य की पूर्णता, चाहे वह कर्तव्य अपने प्रति, अपनी जाति के प्रति या अपने राष्ट्र के प्रति हो, भगवान् की तुष्टि की कोटि से आँकी जाती है।

वर्षतीन्द्रे व्रजः कोपाद्भग्नमानेऽतिविह्वलः ।
गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्णता ॥ ३३॥

शब्दार्थ

वर्षति—जब बरसात में; इन्द्रे—इन्द्र द्वारा; व्रजः—गौवों की भूमि (वृन्दावन); कोपात् भग्नमाने—अपमानित होने से क्रुद्ध; अति—अत्यधिक; विह्वलः—विचलित; गोत्र—गायों के लिए पर्वत; लीला-आतपत्रेण—छाता की लीला द्वारा; त्रातः—बचा लिये गये; भद्र—हे सौम्य; अनुगृह्णता—कृपालु भगवान् द्वारा।.

हे भद्र विदुर, अपमानित होने से राजा इन्द्र ने वृन्दावन पर मूसलाधार वर्षा की। इस तरह गौवों की भूमि व्रज के निवासी बहुत ही व्याकुल हो उठे। किन्तु दयालु भगवान् कृष्ण ने अपने लीलाछत्र गोवर्धन पर्वत से उन्हें संकट से उबार लिया।

शरच्छशिकरैर्मृष्टं मानयन्रजनीमुखम् ।
गायन्कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

शरत्—शरद् कालीन; शशि—चन्द्रमा की; करैः—किरणों से; मृष्टम्—चमकीला; मानयन्—सोचते हुए; रजनी-मुखम्—रात का मुख; गायन्—गाते हुए; कल-पदम्—मनोहर गीत; रेमे—विहार किया; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; मण्डल-मण्डनः—स्त्रियों की सभा के मुख्य आकर्षण के रूप में।.

वर्ष की तृतीय ऋतु में भगवान् ने स्त्रियों की सभा के मध्यवर्ती सौन्दर्य के रूप में चाँदनी से उजली हुई शरद् की रात में अपने मनोहर गीतों से उन्हें आकृष्ट करके उनके साथ विहार किया।

तात्पर्य : गौवों की भूमि वृन्दावन छोड़ने के पूर्व भगवान् ने अपनी युवा-सखियों अर्थात् दिव्य गोपियों को अपनी रासलीला द्वारा आनन्दित किया। यहाँ पर उद्धव ने भगवान् के कार्यों का वर्णन

करना रोक दिया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् कृष्ण का स्मरण'' नामक दूसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

वृन्दावन से बाहर भगवान् की लीलाएँ

उद्धव उवाच
ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रो-
श्चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः ।
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथं
हतं व्यकर्षद्व्यसुमोजसोर्व्याम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

उद्धवः उवाच—श्रीउद्धव ने कहा; ततः—तत्पश्चात्; सः—भगवान्; आगत्य—आकर; पुरम्—मथुरा नगरी में; स्व-पित्रोः—अपने माता पिता की; चिकीर्षया—चाहते हुए; शम्—कुशलता; बलदेव-संयुतः—बलदेव के साथ; निपात्य—नीचे खींचकर; तुङ्गात्—सिंहासन से; रिपु-यूथ-नाथम्—जनता के शत्रुओं के मुखिया को; हतम्—मार डाला; व्यकर्षत्—खींचा; व्यसुम्—मृत; ओजसा—बल से; उर्व्याम्—पृथ्वी पर।

श्री उद्धव ने कहा : तत्पश्चात् भगवान् कृष्ण श्री बलदेव के साथ मथुरा नगरी आये और अपने माता पिता को प्रसन्न करने के लिए जनता के शत्रुओं के अगुवा कंस को उसके सिंहासन से खींच कर अत्यन्त बलपर्वूक भूमि पर घसीटते हुए मार डाला।

तात्पर्य : यहाँ पर कंस की मृत्यु का संक्षिप्त वर्णन हुआ है, क्योंकि ऐसी लीलाएँ दशम स्कन्ध में स्पष्टता से और विस्तार से वर्णित हैं। भगवान् ने सोलह वर्ष की आयु में ही अपने को माता-पिता का योग्य पुत्र सिद्ध किया। दोनों भाई कृष्ण तथा भगवान् बलराम वृन्दावन से मथुरा गये और उन्होंने अपने मामा कंस का वध किया जिसने उनके माता-पिता वसुदेव तथा देवकी को अत्यधिक कष्ट दे रखा था। कंस एक विराट दैत्य था और वसुदेव एवं देवकी ने कभी सोचा भी नहीं था कि कृष्ण तथा बलराम (बलदेव) इतने बड़े तथा बलवान शत्रु का संहार कर सकेंगे। जब दोनों भाइयों ने सिंहासनारूढ़ कंस पर आक्रमण किया, तो उनके माता पिता डर गये कि अब कंस को हमारे उन पुत्रों को मार डालने का अवसर प्राप्त हो जाएगा, जिन्हें हमने इतने दीर्घकाल तक नन्द महाराज के घर में छिपा रखा था। भगवान् के माता-पिता संतति के प्रति स्नेहवश अत्यधिक त्रास का अनुभव कर रहे थे और वे मूर्छित से हो गये थे। उन्हीं को आश्वस्त करने के लिए ही कृष्ण तथा बलराम ने कंस को मारा और उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए ही उसके मृत शरीर को धरती पर घसीटा।

सान्दीपनेः सकृत्प्रोक्तं ब्रह्माधीत्य सविस्तरम् ।
तस्मै प्रादाद्वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सान्दीपनेः—सान्दीपनि मुनि के; सकृत्—केवल एक बार; प्रोक्तम्—कहा गया; ब्रह्म—ज्ञान की विभिन्न शाखाओं समेत सारे वेद; अधीत्य—अध्ययन करके; स-विस्तरम्—विस्तार सहित; तस्मै—उसको; प्रादात्—दिया; वरम्—वरदान; पुत्रम्—उसके पुत्र का; मृतम्—मरे हुए; पञ्च-जन—मृतात्माओं का क्षेत्र; उदरात्—के भीतर से।.

भगवान् ने अपने शिक्षक सान्दीपनि मुनि से केवल एक बार सुनकर सारे वेदों को उनकी विभिन्न शाखाओं समेत सीखा और गुरुदक्षिणा के रूप में अपने शिक्षक के मृत पुत्र को यमलोक से वापस लाकर दे दिया।

तात्पर्य : एकमात्र कृष्ण ऐसे हैं, जो अपने गुरु के मुख से एक बार सुन कर ही वैदिक विद्या की समस्त शाखाओं में पारंगत हो सकते हैं। यमराज के क्षेत्र में आत्मा के चले जाने पर कोई व्यक्ति मृत शरीर को जीवित नहीं कर सकता है। किन्तु भगवान् कृष्ण ने यमलोक तक जाने का साहस किया और अपने गुरु के मृतपुत्र को ढूँढा तथा उसे वापस लाकर उनसे प्राप्त शिक्षा के लिए गुरुदक्षिणा के रूप में सौंप दिया। भगवान् स्वभावत: सारे वेदों में सिद्धहस्त हैं, किन्तु सबों के समक्ष यह दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए कि प्रामाणिक गुरु से वेदों का अध्ययन करना चाहिए और सेवा तथा दक्षिणा द्वारा गुरु को प्रसन्न करना चाहिए, उन्होंने स्वयं इस पद्धति को अपनाया। भगवान् ने अपने गुरु सान्दीपनि मुनि की सेवा की और भगवान् की शक्ति को समझ करके ही मुनि ने ऐसी वस्तु माँगी जिसे पूरा कर पाना अन्य किसी के लिए असम्भव था। गुरु ने कहा कि उसका मृत पुत्र लाकर के उसे दिया जाय और भगवान् ने उनके इस आग्रह को पूरा किया। अतएव भगवान् अपने प्रति किसी भी प्रकार की सेवा करने वाले के प्रति कृतघ्न नहीं हैं। भगवान् के वे भक्त जो सदैव उनकी प्रेमाभक्ति में व्यस्त रहते हैं कभी भी भक्ति के प्रगतिशील प्रयाण में निराश नहीं होते।

समाहुता भीष्मककन्यया ये
श्रियः सवर्णेन बुभूषयैषाम् ।
गान्धर्ववृत्त्या मिषतां स्वभागं
जह्रे पदं मूर्ध्नि दधत्सुपर्णः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

समाहुता:—आमंत्रित; भीष्मक—राजा भीष्मक की; कन्यया—पुत्री द्वारा; ये—जो; श्रिय:—सम्पत्ति; स-वर्णेन—उसी तरह के क्रम में; बुभूषया—ऐसा होने की आशा से; एषाम्—उनका; गान्धर्व—ब्याह की; वृत्त्या—ऐसी प्रथा द्वारा; मिषताम्—ले जाते हुए; स्व-भागम्—अपना हिस्सा; जह्रे—ले गया; पदम्—पाँव; मूर्ध्नि—सिर पर; दधत्—रखते हुए; सुपर्ण:—गरुड़।

राजा भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी के सौन्दर्य तथा सम्पत्ति से आकृष्ट होकर अनेक बड़े-बड़े राजकुमार तथा राजा उससे ब्याह करने के लिए एकत्र हुए। किन्तु भगवान् कृष्ण अन्य आशावान् अभ्यर्थियों को पछाड़ते हुए उसी तरह अपना भाग जान कर उसे उठा ले गये जिस तरह गरुड़ अमृत ले गया था।

तात्पर्य : राजा भीष्मक की पुत्री कुमारी रुक्मिणी सचमुच ही लक्ष्मी जैसी आकर्षक थीं, क्योंकि वे रंग तथा गुण दोनों में ही स्वर्ण जैसी मूल्यवान थीं। चूँकि लक्ष्मीजी भगवान् की सम्पत्ति हैं, अत: रुक्मिणी वास्तव में कृष्ण के ही निमित्त थीं। किन्तु रुक्मिणी के बड़े भाई ने शिशुपाल को उसके पति के रूप में चुना था, यद्यपि राजा भीष्मक अपनी पुत्री का विवाह कृष्ण से करना चाहते थे। रुक्मिणी ने शिशुपाल के चंगुल से अपने को छुड़ाने के लिए कृष्ण को आमंत्रित किया, अत: जब दूल्हा बनकर शिशुपाल अपनी टोली सहित रुक्मिणी से विवाह करने की इच्छा से वहाँ आया तो कृष्ण सहसा ही सभी राजकुमारों को पछाड़ते हुए रुक्मिणी को वहाँ से ऐसे उठा ले गये जिस तरह गरुड़ असुरों के हाथ से अमृत ले भागा था। इस घटना की स्पष्ट विवेचना दशम स्कन्ध में की जाएगी।

ककुद्मिनोऽविद्धनसो दमित्वा
स्वयंवरे नाग्नजितीमुवाह ।
तद्भग्नमानानपि गृध्यतोऽज्ञा-
ञ्जघ्नेऽक्षत: शस्त्रभृत: स्वशस्त्रै: ॥ ४॥

शब्दार्थ

ककुद्मिन:—बैल जिनकी नाकें छिदी हुई नहीं थीं; अविद्ध-नस:—नाकें छिदी हुई; दमित्वा—दमन करके; स्वयंवरे—दुलहिन चुनने के लिए खुली स्पर्धा में; नाग्नजितीम्—राजकुमारी नाग्नजिती को; उवाह—ब्याहा; तत्-भग्नमानान्—इस तरह निराश हुओं को; अपि—यद्यपि; गृध्यत:—चाहा; अज्ञान्—मूर्खजन; जघ्ने—मारा तथा घायल किया; अक्षत:—बिना घायल हुऐ; शस्त्र-भृत:—सभी हथियारों से लैस; स्व-शस्त्रै:—अपने हथियारों से।

बिना नथ वाले सात बैलों का दमन करके भगवान् ने स्वयंवर की खुली स्पर्धा में राजकुमारी नाग्नजिती का हाथ प्राप्त किया। यद्यपि भगवान् विजयी हुए, किन्तु उनके प्रत्याशियों ने राजकुमारी का हाथ चाहा, अत: युद्ध हुआ। अत: शस्त्रों से अच्छी तरह लैस, भगवान् ने उन सबों को मार डाला या घायल कर दिया, परन्तु स्वयं उन्हें कोई चोट नहीं आई।

प्रियं प्रभुर्ग्राम्य इव प्रियाया
विधित्सुरार्च्छद्द्युतरुं यदर्थे ।
वज्र्याद्रवत्तं सगणो रुषान्धः
क्रीडामृगो नूनमयं वधूनाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

प्रियम्—प्रिय पत्नी के; प्रभुः—स्वामी; ग्राम्यः—सामान्य जीव; इव—सदृश; प्रियायाः—प्रसन्न करने के लिए; विधित्सुः—चाहते हुए; आर्च्छत्—ले आये; द्युतरुम्—पारिजात पुष्प का वृक्ष; यत्—जिसके; अर्थे—विषय में; वज्री—स्वर्ग का राजा इन्द्र; आद्रवत् तम्—उससे लड़ने आया; स-गणः—दलबल सहित; रुषा—क्रोध में; अन्धः—अन्धा; क्रीडा-मृगः—कठपुतली; नूनम्—निस्सन्देह; अयम्—यह; वधूनाम्—स्त्रियों का।

अपनी प्रिय पत्नी को प्रसन्न करने के लिए भगवान् स्वर्ग से पारिजात वृक्ष ले आये जिस तरह कि एक सामान्य पति करता है। किन्तु स्वर्ग के राजा इन्द्र ने अपनी पत्नियों के उकसाने पर (क्योंकि वह स्त्रीवश्य था) लड़ने के लिए दलबल सहित भगवान् का पीछा किया।

तात्पर्य : एक बार जब भगवान् देवताओं की माता अदिति को कान के कुण्डल भेंट करने स्वर्गलोक गये तो उनकी पत्नी सत्यभामा भी उनके साथ गई थीं। पारिजात नामक एक विशेष पुष्प वृक्ष केवल स्वर्ग में ही उगता है। सत्यभामा ने इस वृक्ष को लेने की इच्छा प्रकट की। भगवान् अपनी पत्नी को प्रसन्न करने के लिए सामान्य पति की तरह वह वृक्ष अपने साथ ले आये। इससे वज्री अर्थात् वज्र का नियन्ता इन्द्र कुपित हो उठा। इन्द्र की पत्नियों ने उसे युद्ध करने के लिए भगवान् का पीछा करने को उकसाया। चूँकि इन्द्र स्त्रीवश्य पति था और मूर्ख भी था, अतः वह उनके कहने में आ गया और उसने कृष्ण से युद्ध करने का दुस्साहस किया। वह इस अवसर पर मूर्ख बना, क्योंकि वह भूल गया कि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है।

यद्यपि भगवान् स्वर्गलोक से वृक्ष ले आये थे, किन्तु इसमें उनका कोई दोष नहीं था। फिर भी शची जैसी सुन्दर पत्नियों का वशीभूत इन्द्र, स्त्रीवश्य होने से, मूर्ख बना जिस तरह स्त्री के वश में रहने वाले सामान्य व्यक्ति मूर्ख होते हैं। इन्द्र ने सोचा कि कृष्ण स्त्रीवश्य पति हैं जिसने अपनी पत्नी सत्यभामा की इच्छा मात्र से स्वर्ग की सम्पत्ति का हरण किया है, अतः उसने कृष्ण को दण्ड देने की सोची। वह यह भूल गया कि भगवान् प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं, और वे स्त्रीवश्य नहीं हो सकते। भगवान् पूर्णतया स्वतंत्र हैं, और इच्छा मात्र से वे सत्यभामा जैसी हजारों पत्नियाँ पा सकते हैं। अतः वे सत्यभामा पर इसलिए अनुरक्त नहीं थे कि वह सुन्दर पत्नी थी, अपितु वे उसकी भक्ति से प्रसन्न थे,

अत: वे अपने भक्त की शुद्ध भक्ति का प्रतिदान देना चाह रहे थे।

सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं
दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या ।
आमन्त्रितस्तत्तनयाय शेषं
दत्त्वा तदन्तःपुरमाविवेश ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सुतम्—पुत्र को; मृधे—युद्ध में; खम्—आकाश; वपुषा—अपने शरीर से; ग्रसन्तम्—निगलते हुए; दृष्ट्वा—देखकर; सुनाभ—सुदर्शन चक्र से; उन्मथितम्—मार डाला; धरित्र्या—पृथ्वी द्वारा; आमन्त्रितः—प्रार्थना किये जाने पर; तत्-तनयाय—नरकासुर के पुत्र को; शेषम्—उससे लिया हुआ; दत्त्वा—लौटा कर; तत्—उसके; अन्तः-पुरम्—घर के भीतर; आविवेश—घुसे।.

धरित्री अर्थात् पृथ्वी के पुत्र नरकासुर ने सम्पूर्ण आकाश को निगलना चाहा जिसके कारण युद्ध में वह भगवान् द्वारा मार डाला गया। तब उसकी माता ने भगवान् से प्रार्थना की। इससे नरकासुर के पुत्र को राज्य लौटा दिया गया और भगवान् उस असुर के घर में प्रविष्ट हुए।

तात्पर्य : अन्य पुराणों में यह कहा गया है कि नरकासुर भगवान् द्वारा उत्पन्न धरित्री पृथ्वी का पुत्र था। किन्तु वह एक अन्य असुर बाण की कुसंगति के कारण असुर बन गया। नास्तिक को असुर कहा जाता है और यह एक तथ्य है कि अच्छे माता पिता से उत्पन्न व्यक्ति भी कुसंगति से असुर बन सकता है। किसी का जन्म ही सदैव अच्छाई की कसौटी नहीं है। जब तक कोई व्यक्ति अच्छी संगति की शिक्षा नहीं पाता तब तक वह अच्छा नहीं बन सकता।

तत्राहृतास्ता नरदेवकन्याः
कुजेन दृष्ट्वा हरिमार्तबन्धुम् ।
उत्थाय सद्यो जगृहुः प्रहर्ष-
व्रीडानुरागप्रहितावलोकैः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तत्र—नरकासुर के घर के भीतर; आहृताः—अपहृत, भगाई हुई; ताः—उन सबों को; नर-देव-कन्याः—अनेक राजाओं की पुत्रियों को; कुजेन—असुर द्वारा; दृष्ट्वा—देखकर; हरिम्—भगवान् को; आर्त-बन्धुम्—दुखियारों के मित्र; उत्थाय—उठकर; सद्यः—वहीं पर, तत्काल; जगृहुः—स्वीकार किया; प्रहर्ष—हँसी खुशी के साथ; व्रीड—लज्जा; अनुराग—आसक्ति; प्रहित-अवलोकैः—उत्सुक चितवनों से।.

उस असुर के घर में नरकासुर द्वारा हरण की गई सारी राजकुमारियाँ दुखियारों के मित्र भगवान् को देखते ही चौकन्नी हो उठीं। उन्होंने अतीव उत्सुकता, हर्ष तथा लज्जा से भगवान की ओर देखा और अपने को उनकी पत्नियों के रूप में अर्पित कर दिया।

तात्पर्य : नरकासुर ने बड़े-बड़े राजाओं की अनेक पुत्रियों का अपरहण किया था और उन्हें अपने राजमहल में बन्दी बनाकर रखा था। किन्तु जब वह भगवान् द्वारा मार डाला गया और जब भगवान् उस असुर के घर में प्रविष्ट हुए तो सारी राजकुमारियाँ हर्ष से प्रफुल्लित हो उठीं और उन्होंने उनकी पत्नियाँ बनने के लिए स्वयं को अर्पित कर दिया, क्योंकि भगवान् ही दुखियारों के एकमात्र मित्र हैं। यदि भगवान् उन्हें स्वीकार नहीं करते तो उन सबों के विवाहित होने की कोई सम्भावना नहीं थी, क्योंकि उस असुर ने उनको उनके पिता के संरक्षण से अपहरण किया था, अत: कोई भी व्यक्ति उनसे विवाह करने के लिए राजी न होता। वैदिक समाज की रीति के अनुसार कन्याएँ पिता के संरक्षण से पति के संरक्षण में भेजी जाती हैं। चूँकि ये कन्याएँ पहले ही अपने-अपने पिता के संरक्षण से अपहृत की जा चुकी थीं, अतएव भगवान् के अतिरिक्त उनके लिए अन्य कोई पति प्राप्त कर पाना असम्भव होता।

आसां मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु योषिताम् ।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः स्वमायया ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आसाम्—सबों को; मुहूर्ते—एक समय; एकस्मिन्—एकसाथ; नाना-आगारेषु—विभिन्न कमरों में; योषिताम्—स्त्रियों के; स-विधम्—विधिपूर्वक; जगृहे—स्वीकार किया; पाणीन्—हाथों को; अनुरूपः—के अनुरूप; स्व-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से।

वे सभी राजकुमारियाँ अलग-अलग भवनों में रखी गई थीं और भगवान् ने एकसाथ प्रत्येक राजकुमारी के लिए उपयुक्त युग्म के रूप में विभिन्न शारीरिक अंश धारण कर लिये। उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा विधिवत् उनके साथ पाणिग्रहण कर लिया।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.३३) में भगवान् उनके असंख्य स्वांशों के साथ निम्नवत् वर्णन हुआ है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषंनवयौवनं च।

वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो आदि भगवान् हैं। वे अपने असंख्य स्वांशों से

अभिन्न हैं; वे अच्युत, आदि, तथा असीम हैं एवं नित्य स्वरूपों वाले हैं। यद्यपि वे सबसे प्राचीन पुरुष हैं, किन्तु वे सदैव नवीन तथा युवा रहते हैं।'' भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से *स्वयं प्रकाश* के विविध पुरुषों में और पुन: *प्राभव* तथा *वैभव* रूपों में विस्तार कर सकते हैं। ये सारे रूप एक दूसरे से अभिन्न होते हैं। भगवान् ने विभिन्न भवनों में रह रही राजकुमारियों के साथ विवाह करने के लिए जिन रूपों में अपना विस्तार किया वे उनमें से हर एक के अनुरूप होने से कुछ-कुछ भिन्न थे। वे भगवान् के *वैभव-विलास* रूप कहलाते हैं और उनकी अन्तरंगा शक्ति *योग-माया* द्वारा क्रियाशील होते हैं।

तास्वपत्यान्यजनयदात्मतुल्यानि सर्वत: ।
एकैकस्यां दश दश प्रकृतेर्विबुभूषया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तासु—उनके; अपत्यानि—सन्तानें; अजनयत्—उत्पन्न किया; आत्म-तुल्यानि—अपने ही समान; सर्वत:—सभी तरह से; एक-एकस्याम्—उनमें से हर एक में; दश—दस; दश—दस; प्रकृते:—अपना विस्तार करने के लिए; विबुभूषया—ऐसी इच्छा करते हुए।.

अपने दिव्य स्वरूपों के अनुसार ही अपना विस्तार करने के लिए भगवान् ने उनमें से हर एक से ठीक अपने ही गुणों वाली दस-दस सन्तानें उत्पन्न कीं।

कालमागधशाल्वादीननीकै रुन्धत: पुरम् ।
अजीघनत्स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

काल—कालयवन; मागध—मगध का राजा (जरासन्ध); शाल्व—शाल्व राजा; आदीन्—इत्यादि; अनीकै:—सैनिकों से; रुन्धत:—घिरा हुआ; पुरम्—मथुरा नगरी; अजीघनत्—मार डाला; स्वयम्—स्वयं; दिव्यम्—दिव्य; स्व-पुंसाम्—अपने ही लोगों को; तेज:—तेज; आदिशत्—प्रकट किया।.

कालयवन, मगध के राजा तथा शाल्व ने मथुरा नगरी पर आक्रमण किया, किन्तु जब नगरी उनके सैनिकों से घिर गई तो भगवान् ने अपने जनों की शक्ति प्रदर्शित करने के उद्देश्य से उन सबों को स्वयम् नहीं मारा।

तात्पर्य : कंस की मृत्यु के बाद जब मथुरा नगरी कालयवन, जरासन्ध तथा शाल्व के सैनिकों द्वारा घेर ली गई तो भगवान् इस नगरी से एक तरह से भाग निकले और इस तरह वे *रणछोड़* अर्थात् वह जो युद्ध से भाग जाये- कहलाते हैं। वस्तुत: तथ्य यह है कि भगवान् उन सबों को अपने-जनों से अर्थात् मुचुकुंद तथा भीम जैसे भक्तों से, मरवाना चाहते थे। कालयवन तथा मगधराज का वध क्रमश: मुचुकुंद

तथा भीम द्वारा किया गया जिन्होंने भगवान् के प्रतिनिधि (एजेन्ट) की भूमिका निभाई। ऐसे कार्यों द्वारा भगवान् अपने भक्तों के पराक्रम (तेज) को प्रदर्शित कराना चाहते थे मानो वे स्वयं उनसे युद्ध करने में असमर्थ हों, परन्तु उनके भक्त उन लोगों का वध कर सकते थे। भगवान् का अपने भक्तों के साथ जो सम्बन्ध है, वह अत्यन्त सुखद है। वस्तुतः भगवान् संसार के अवांछित तत्त्वों का वध करने के लिए ब्रह्मा के अनुरोध पर अवतरित हुए थे, किन्तु यश का श्रेय विभाजित करने के उद्देश्य से उन्होंने कभी-कभी यह श्रेय दिलाने के लिए अपने भक्तों को लगाया। कुरुक्षेत्र का युद्ध स्वयं भगवान् द्वारा नियोजित था, किन्तु अपने भक्त अर्जुन को श्रेय देने के लिए (*निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्*), उन्होंने सारथी की भूमिका निभाई और अर्जुन को योद्धा की भूमिका निभाने का अवसर प्रदान किया। इस तरह अर्जुन कुरुक्षेत्र युद्ध के नायक बने। कृष्ण अपनी दिव्य योजनाओं द्वारा जो कुछ स्वयं करना चाहते हैं उसे वे अपने विश्वस्त भक्तों के माध्यम से सम्पन्न कराते हैं। अपने शुद्ध अनन्य भक्तों के प्रति भगवान् की कृपा की यही रीति है।

शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च ।
अन्यांश्च दन्तवक्रादीनवधीत्कांश्च घातयत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

शम्बरम्—शम्बर; द्विविदम्—द्विविद; बाणम्—बाण; मुरम्—मुर; बल्वलम्—बल्वल; एव च—तथा; अन्यान्—अन्यों को; च—भी; दन्तवक्र-आदीन्—दन्तवक्र इत्यादि को; अवधीत्—मारा; कान् च—तथा अनेक अन्यों को; घातयत्—मरवाया।

शम्बर, द्विविद, बाण, मुर, बल्वल जैसे राजाओं तथा दन्तवक्र इत्यादि बहुत से असुरों में से कुछ को उन्होंने स्वयं मारा और कुछ को अन्यों (यथा बलदेव इत्यादि) द्वारा मरवाया।

अथ ते भ्रातृपुत्राणां पक्षयोः पतितान्नृपान् ।
चचाल भूः कुरुक्षेत्रं येषामापततां बलैः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; ते—तुम्हारे; भ्रातृ-पुत्राणाम्—भतीजों के; पक्षयोः—दोनों पक्षों के; पतितान्—मारे गये; नृपान्—राजाओं को; चचाल—हिला दिया; भूः—पृथ्वी; कुरुक्षेत्रम्—कुरुक्षेत्र युद्धस्थल; येषाम्—जिसके; आपतताम्—चलते समय; बलैः—बल द्वारा।

तत्पश्चात्, हे विदुर, भगवान् ने शत्रुओं को तथा लड़ रहे तुम्हारे भतीजों के पक्ष के समस्त राजाओं को कुरुक्षेत्र के युद्ध में मरवा डाला। वे सारे राजा इतने विराट तथा बलवान थे कि जब

वे युद्धभूमि में विचरण करते तो पृथ्वी हिलती प्रतीत होती।

स कर्णदु:शासनसौबलानां
कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषम् ।
सुयोधनं सानुचरं शयानं
भग्नोरुमूर्व्यां न ननन्द पश्यन् ॥ १३॥

शब्दार्थ

स:—वह (भगवान्); कर्ण—कर्ण; दु:शासन—दु:शासन; सौबलानाम्—सौबल; कुमन्त्र-पाकेन—कुमंत्रणा की जटिलता से; हत-श्रिय—सम्पत्ति से विहीन; आयुषम्—आयु से; सुयोधनम्—दुर्योधन; स-अनुचरम्—अनुयायियों सहित; शयानम्—लेटे हुए; भग्न—टूटी; ऊरुम्—जंघाएँ; ऊर्व्याम्—अत्यन्त शक्तिशाली; न—नहीं; ननन्द—आनन्द मिला; पश्यन्—इस तरह देखते हुए।

कर्ण, दु:शासन तथा सौबल की कुमंत्रणा के कपट-योग के कारण दुर्योधन अपनी सम्पत्ति तथा आयु से विहीन हो गया। यद्यपि वह शक्तिशाली था, किन्तु जब वह अपने अनुयायियों समेत भूमि पर लेटा हुआ था उसकी जाँघें टूटी थीं। भगवान् इस दृश्य को देखकर प्रसन्न नहीं थे।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र के अग्रणी पुत्र दुर्योधन का पतन भगवान् को अच्छा नहीं लगा, यद्यपि वे अर्जुन के पक्ष में थे और उन्होंने ही भीम को सलाह दी थी कि युद्ध में दुर्योधन की जाँघें किस तरह तोड़े। भगवान् को बाध्य होकर बुराई करने वाले को दण्ड देना पड़ता है, किन्तु ऐसा दण्ड देते हुए वे प्रसन्न नहीं होते, क्योंकि सारे जीव मूलत: उनके भिन्नांश होते हैं। वे बुराई करने वाले के प्रति वज्र से भी कठोर तथा श्रद्धावानों के प्रति गुलाब के फूल से भी कोमल रहते हैं। बुराई करने वाला कुसंगियों द्वारा तथा कुमंत्रणा द्वारा दिग्भ्रमित हो जाता है, जो भगवान् के आदेश के अन्तर्गत स्थापित सिद्धान्तों के प्रतिकूल है, और इस प्रकार वह दण्ड का भागी बनता है। सुख का सबसे निश्चित मार्ग भगवान् द्वारा बनाये गये सिद्धान्तों का पालन करना तथा उनके द्वारा स्थापित नियमों का उल्लंघन न करना है। ये नियम भुलक्कड़ जीवों के लिए वेदों तथा पुराणों में निरूपित हैं।

कियान्भुवोऽयं क्षपितोरुभारो
यद्द्रोणभीष्मार्जुनभीममूलै: ।
अष्टादशाक्षौहिणिको मदंशै-
रास्ते बलं दुर्विषहं यदूनाम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

कियान्—यह क्या है; **भुवः**—पृथ्वी पर; **अयम्**—यह; **क्षपित**—घटा हुआ; **उरु**—बहुत बड़ा; **भारः**—भार, बोझा; **यत्**—जो; **द्रोण**—द्रोण; **भीष्म**—भीष्म; **अर्जुन**—अर्जुन; **भीम**—भीम; **मूलैः**—सहायता से; **अष्टादश**—अठारह; **अक्षौहिणिकः**—सैन्यबल की व्यूह रचना (देखें भागवत १.१६.३४); **मत्-अंशैः**—मेरे वंशजों के साथ; **आस्ते**—अब भी हैं; **बलम्**—महान् शक्ति; **दुर्विषहम्**—असह्य; **यदूनाम्**—यदुवंश की।

[कुरुक्षेत्र युद्ध की समाप्ति पर भगवान् ने कहा] अब द्रोण, भीष्म, अर्जुन तथा भीम की सहायता से अठारह अक्षौहिणी सेना का पृथ्वी का भारी बोझ कम हुआ है। किन्तु यह क्या है? अब भी मुझी से उत्पन्न यदुवंश की विशाल शक्ति शेष है, जो और भी अधिक असह्य बोझ बन सकती है।

तात्पर्य : यह एक गलत सिद्धान्त है कि जनसंख्या वृद्धि से संसार अतिबोझिल हो उठता है और इसीलिए युद्ध तथा अन्य संहारक प्रक्रियाएँ होती हैं। पृथ्वी कभी भी अतिबोझिल नहीं होती। पृथ्वी पर स्थित गुरुतम पर्वतों तथा समुद्रों में मनुष्यों की अपेक्षा अधिक जीव रहते हैं, किन्तु वे कभी अतिबोझिल नहीं होते। यदि पृथ्वी की सतह पर रहने वाले समस्त जीवों की गणना की जाय तो यह निश्चित रूप से पाया जाएगा कि मनुष्यों की जनसंख्या समस्त जीवों की संख्या का पाँच प्रतिशत भी नहीं है। यदि मनुष्यों की जन्म दर बढ़ रही है, तो उसी अनुपात में अन्य जीवों की जन्म दर भी बढ़ रही है। निम्नतर पशुओं—थलचरों, जलचरों, पक्षियों—की जन्म दर मनुष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक है। भगवान् के आदेश से पृथ्वी के सारे जीवों के लिए भोजन की पर्याप्त व्यवस्था है और यदि जीवों में असमानुपातिक वृद्धि हो तो वे और अधिक की व्यवस्था कर सकते हैं।

इसलिए जनसंख्या में वृद्धि से भार बढ़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। पृथ्वी *धर्मग्लानि* अर्थात् भगवान् की इच्छा के अनियमित पालन से अतिबोझिल हो गई थी। भगवान् दुष्टों की वृद्धि रोकने के लिए पृथ्वी पर प्रकट हुए, न कि जनसंख्या में वृद्धि के कारण जैसाकि संसारी अर्थशास्त्रियों द्वारा मिथ्या कथन किया जाता है। जब भगवान् कृष्ण प्रकट हुए तो ऐसे दुष्टों की संख्या काफी बढ़ गई थी जो भगवान् की इच्छाओं का उल्लंघन कर रहे थे। यह भौतिक सृष्टि भगवान् की इच्छापूर्ति के लिए है और उनकी यह इच्छा है कि वे बद्धजीव जो भगवद्धाम में प्रवेश पाने के अयोग्य हैं उन्हें प्रवेश पाने के लिए अपनी स्थिति सुधारने का अवसर प्राप्त हो। विश्व व्यवस्था की समूची प्रक्रिया का मन्तव्य बद्धजीव को भगवद्धाम में प्रवेश करने का अवसर प्रदान करना है। और भगवान् ने उनके भरण-पोषण के लिए पर्याप्त व्यवस्था कर रखी है।

इसलिए भले ही पृथ्वी पर जनसंख्या की महती वृद्धि क्यों न हो, यदि लोग ईशभावनामृत का सही ढंग से पालन करते हैं और दुष्ट नहीं हैं, तो पृथ्वी का यह भार उसके लिए आनन्द का स्रोत है। भार दो प्रकार के होते हैं—पशु-भार तथा प्रेम-भार। पशु-भार असह्य होता है, किन्तु प्रेम-भार आनन्द का स्रोत होता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने प्रेम-भार का अत्यन्त व्यावहारिक वर्णन किया है। वे कहते हैं कि युवा पत्नी पर पति का भार, माता की गोद में शिशु का भार तथा व्यापारी पर सम्पत्ति का भार, ये यद्यपि गुरुता की दृष्टि से वास्तव में भार हैं, किन्तु ये आनन्द के स्रोत हैं और ऐसी बोझिल वस्तुओं के अभाव में वियोग का बोझ अनुभव हो सकता है, जो प्रेम के वास्तविक भार की अपेक्षा सहन किये जाने में अधिक भारी होता है। जब भगवान् कृष्ण ने पृथ्वी पर यदुवंश के भार की बात की, तो उन्होंने पशुभार से कुछ भिन्न वस्तु का प्रसंग छेड़ा। कृष्ण से उत्पन्न पारिवारिक सदस्यों की संख्या लाखों में थी और यह सचमुच ही पृथ्वी की जनसंख्या में महान् वृद्धि थी, किन्तु वे सब उनके दिव्य स्वांशों से उत्पन्न भगवान् के ही अंश थे, अतएव पृथ्वी के लिए वे महान् आनन्द के स्रोत थे। जब पृथ्वी के भार के सम्बन्ध में भगवान् ने उनका उल्लेख किया, तो उनके मन में पृथ्वी से उनके आसन्न लोप का भाव था। भगवान् कृष्ण के परिवार के सारे सदस्य विभिन्न देवताओं के अवतार थे और उन्हें भगवान् के साथ ही पृथ्वी से विलुप्त होना था। जब उन्होंने यदुवंश के सम्बन्ध में पृथ्वी के असह्य भार का उल्लेख किया, तो वे उनके विछोह भार का ही संकेत कर रहे थे। श्रील जीव गोस्वामी ने इस निष्कर्ष की पुष्टि की है।

मिथो यदैषां भविता विवादो
मध्वामदाताम्रविलोचनानाम् ।
नैषां वधोपाय इयानतोऽन्यो
मय्युद्यतेऽन्तर्दधते स्वयं स्म ॥ १५॥

शब्दार्थ

मिथः—परस्पर; यदा—जब; एषाम्—उनके; भविता—होगा; विवादः—झगड़ा; मधु-आमद—शराब पीने से उत्पन्न नशा; आताम्र-विलोचनानाम्—ताँबे जैसी लाल आँखों के; न—नहीं; एषाम्—उनके; वध-उपायः—लोप का साधन; इयान्—इस जैसा; अतः—इसके अतिरिक्त; अन्यः—वैकल्पिक; मयि—मुझ पर; उद्यते—लोप; अन्तः-दधते—विलुप्त होंगे; स्वयम्—अपने से; स्म—निश्चय है।

जब वे नशे में चूर होकर, मधु-पान के कारण ताँबें जैसी लाल-लाल आँखें किये, परस्पर लड़ेंगे-झगड़ेंगे तभी वे विलुप्त होंगे अन्यथा यह सम्भव नहीं है। मेरे अन्तर्धान होने पर यह घटना

घटेगी।

तात्पर्य : भगवान् तथा उनके संगी भगवान् की इच्छा से प्रकट तथा अप्रकट होते हैं। उन पर भौतिक प्रकृति के नियम लागू नहीं होते। भगवान् के परिवार का वध कर सकने में कोई भी समर्थ न था, न ही प्रकृति के नियमों द्वारा उनकी स्वाभाविक मृत्यु की सम्भावना थी। इसलिए उनके विलोप का एकमात्र साधन था कि वे परस्पर छद्म युद्ध करें मानो मदिरा पीकर वे उन्मत्त हो रहे हों। यह तथाकथित युद्ध भी भगवान् की इच्छा से हो सकता था अन्यथा उन सबके लड़ने का कोई कारण नहीं था। जिस तरह अर्जुन पारिवारिक स्नेह के कारण मोहित हो उठा था और तब उससे *भगवद्गीता* कही गई थी उसी तरह यदुवंश को भगवान् की इच्छा से ही मदोन्मत्त बनाया गया था। इससे अधिक कुछ नहीं था। भगवान् के भक्त तथा संगी पूर्णतया शरणागत आत्माएँ हैं। अतएव वे भगवान् के हाथों में दिव्य साधन हैं और भगवान् जैसा चाहें उनका उपयोग हो सकता है। शुद्ध भक्त भी भगवान् की ऐसी लीलाओं का आनन्द लेते हैं, क्योंकि वे भगवान् को प्रसन्न देखना चाहते हैं। भगवान् के भक्त कभी भी स्वतंत्र व्यक्तित्व पर बल नहीं देते, उल्टे वे अपनी वैयक्तिकता का उपयोग भगवान् की इच्छाओं को पूरा करने में करते हैं। भगवान् के साथ भक्तों का यह सहयोग भगवान् की लीलाओं को पूर्णता प्रदान करता है।

एवं सञ्चिन्त्य भगवान्स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम् ।
नन्दयामास सुहृदः साधूनां वर्त्म दर्शयन् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सञ्चिन्त्य—अपने मन में सोचकर; भगवान्—भगवान् ने; स्व-राज्ये—अपने राज्य में; स्थाप्य—स्थापित करके; धर्मजम्—महाराज युधिष्ठिर को; नन्दयाम् आस—हर्षित किया; सुहृदः—मित्र गणों; साधूनाम्—सन्तों के; वर्त्म—मार्ग; दर्शयन्—दिखलाते हुए।

इस तरह अपने आप सोचते हुए भगवान् कृष्ण ने पुण्य के मार्ग में प्रशासन का आदर्श प्रदर्शित करने के लिए संसार के परम नियन्ता के पद पर महाराज युधिष्ठिर को स्थापित किया।

उत्तरायां धृतः पूरोर्वंशः साध्वभिमन्युना ।
स वै द्रौण्यस्त्रसम्प्लुष्टः पुनर्भगवता धृतः ॥ १७॥

शब्दार्थ

उत्तरायाम्—उत्तरा के; धृतः—स्थापित; पूरोः—पूरु का; वंशः—उत्तराधिकारी; साधु-अभिमन्युना—वीर अभिमन्यु द्वारा; सः—वह; वै—निश्चय ही; द्रौणि-अस्त्र—द्रोण के पुत्र द्रौणि के हथियार द्वारा; सम्प्लुष्टः—जलाया जाकर; पुनः—दुबारा; भगवता—भगवान् द्वारा; धृतः—बचाया गया था।

महान् वीर अभिमन्यु द्वारा अपनी पत्नी उत्तरा के गर्भ में स्थापित पूरु के वंशज का भ्रूण द्रोण के पुत्र के अस्त्र द्वारा भस्म कर दिया गया था, किन्तु बाद में भगवान् ने उसकी पुनः रक्षा की।

तात्पर्य : महान् वीर अभिमन्यु से उत्तरा द्वारा गर्भधारण करने के बाद जब परीक्षित का शरीर भ्रूणावस्था में था, तो अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र द्वारा वह भस्म कर दिया गया था, किन्तु भगवान् ने गर्भ के भीतर दूसरा शरीर प्रदान किया। इस तरह पूरु का वंशज बचा लिया गया। यह घटना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि शरीर तथा जीव अर्थात् आध्यात्मिक स्फुलिंग भिन्न-भिन्न हैं। जब पुरुष के वीर्य के प्रवेश से स्त्री के गर्भ में जीव आश्रय पाता है, तो पुरुष तथा स्त्री के स्रावों का मिश्रण होता है, जिससे मटर के आकार का शरीर निर्मित होता है, जो धीरे-धीरे बढ़कर पूर्ण शरीर में विकसित हो जाता है। किन्तु यदि किसी तरह यह भ्रूण नष्ट कर दिया जाता है, तो जीव को दूसरे शरीर में या दूसरी स्त्री के गर्भ में आश्रय लेना पड़ता है। वह विशिष्ट जीव, जिसे महाराज पूरु या पाण्डवों का वंशज बनने के लिए चुना गया था, कोई सामान्य जीव न था और भगवान् की महती इच्छा से उसे महाराज युधिष्ठिर का उत्तराधिकारी होना था। अतएव जब अश्वत्थामा ने महाराज परीक्षित के भ्रूण को विनष्ट कर दिया तो भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा अपने स्वांश से उत्तरा के गर्भ में भावी एवं संकटग्रस्त महाराज परीक्षित को दर्शन देने के लिए प्रविष्ट हुए। गर्भ के भीतर अपने प्राकट्य से भगवान् ने शिशु को प्रोत्साहित किया और अपनी सर्वशक्तिमत्ता से नवीन शरीर में उसे पूर्ण सुरक्षा प्रदान की। वे अपनी सर्वव्यापकता की शक्ति से उत्तरा तथा पाण्डव परिवार के अन्य जनों के भीतर तथा बाहर उपस्थित थे।

अयाजयद्धर्मसुतमश्वमेधैस्त्रिभिर्विभुः ।
सोऽपि क्ष्मामनुजै रक्षन्रेमे कृष्णमनुव्रतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अयाजयत्—सम्पन्न कराया; धर्म-सुतम्—धर्म के पुत्र (महाराज युधिष्ठिर) द्वारा; अश्वमेधैः—यज्ञ द्वारा; त्रिभिः—तीन; विभुः—परमेश्वर; सः—महाराज युधिष्ठिर; अपि—भी; क्ष्माम्—पृथ्वी को; अनुजैः—अपने छोटे भाइयों सहित; रक्षन्—रक्षा करते हुए; रेमे—भोग किया; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण; अनुव्रतः—निरन्तर अनुगामी।

भगवान् ने धर्म के पुत्र महाराज युधिष्ठिर को तीन अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करने के लिए प्रेरित किया और उन्होंने भगवान् कृष्ण का निरन्तर अनुगमन करते हुए अपने छोटे भाइयों की सहायता

से पृथ्वी की रक्षा की और उसका भोग किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी पर आदर्श राजकीय प्रतिनिधि थे, क्योंकि वे भगवान् कृष्ण के निरन्तर अनुगामी थे। जैसाकि वेदों में (*ईशोपनिषद्*) में कहा गया है भगवान् इस दृश्य विराट सृष्टि के स्वामी हैं, जो बद्धजीवों को अपने साथ उनका सम्बन्ध पुनरुज्जीवित करने का और इस तरह भगवद्धाम वापस जाने का अवसर प्रदान करती है। भौतिक जगत की सम्पूर्ण प्रणाली उसी कार्यक्रम तथा योजना द्वारा व्यवस्थित है। जो भी इस योजना का उल्लंघन करता है, वह प्रकृति के नियम द्वारा दण्डित होता है, क्योंकि प्रकृति परमेश्वर के निर्देशानुसार कार्य करती है। महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी के सिंहासन पर भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठापित हुए थे। राजा से सदैव भगवान् का प्रतिनिधि होने की अपेक्षा की जाती है। पूर्ण एकाधिपत्य के लिए भगवान् की इच्छा का प्रतिनिधित्व आवश्यक होता है और महाराज युधिष्ठिर इस परम नियम के अनुसार एक आदर्श राजा थे। राजा तथा प्रजा दोनों ही अपने कर्तव्य-निर्वाह से सुखी थे और इस तरह भौतिक प्रकृति के पूर्ण सहयोग से प्रजा की सुरक्षा तथा स्वाभाविक जीवन का भोग महाराज युधिष्ठिर तथा महाराज परीक्षित जैसे योग्य वंशजों के शासन में अपने आप प्राप्त थे।

भगवानपि विश्वात्मा लोकवेदपथानुगः ।
कामान्सिषेवे द्वार्वत्यामसक्तः साङ्ख्यमास्थितः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; **अपि**—भी; **विश्व-आत्मा**—ब्रह्माण्ड के परमात्मा; **लोक**—लोक व्यवहार; **वेद**—वैदिक सिद्धान्त; **पथ-अनुगः**—मार्ग का अनुकरण करने वाला; **कामान्**—जीवन की आवश्यकताएँ; **सिषेवे**—भोग किया; **द्वार्वत्याम्**—द्वारकापुरी में; **असक्तः**—बिना आसक्त हुए; **साङ्ख्यम्**—सांख्य दर्शन के ज्ञान में; **आस्थितः**—स्थित होकर।

उसी के साथ-साथ भगवान् ने समाज के वैदिक रीति-रिवाजों का दृढ़ता से पालन करते हुए द्वारकापुरी में जीवन का भोग किया। वे सांख्य दर्शन प्रणाली के द्वारा प्रतिपादित वैराग्य तथा ज्ञान में स्थित थे।

तात्पर्य : जब महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी के सम्राट थे तो श्रीकृष्ण द्वारका के राजा थे और द्वारकाधीश कहलाते थे। अन्य अधीन राजाओं की तरह वे भी महाराज युधिष्ठिर के शासन के अधीन थे। यद्यपि भगवान् कृष्ण सम्पूर्ण सृष्टि के परम सम्राट हैं, किन्तु जब तक वे धराधाम में रहे उन्होंने कभी भी

वैदिक आदेशों का उल्लंघन नहीं किया, क्योंकि ये मानव जीवन के लिए मार्गदर्शक होते हैं। सांख्य दर्शन नामक ज्ञान-प्रणाली पर आधारित वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार नियमित मानव जीवन ही जीवन की आवश्यकताओं का भोग करने का असली मार्ग है। वैराग्य तथा लोक-व्यवहार के ऐसे ज्ञान के अभाव में तथाकथित मानव सभ्यता खाने, पीने तथा भोगविलास करने वाले पशु-समाज के तुल्य है। भगवान् अपनी इच्छानुसार स्वतंत्र रूप से कार्य कर रहे थे; फिर भी उन्होंने अपने व्यावहारिक दृष्टान्त द्वारा ऐसा जीवन बिताने की शिक्षा दी जो वैराग्य तथा ज्ञान के सिद्धान्तों के विरुद्ध न हो। ज्ञान तथा वैराग्य की प्राप्ति जीवन की वास्तविक पूर्णता है जैसाकि सांख्य दर्शन में विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया गया है। ज्ञान का अर्थ होता है यह जानना कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य संसार के सारे कष्टों को समाप्त करना है और शारीरिक आवश्यकताओं की नियमित रूप से पूर्ति करने के बावजूद मनुष्य का ऐसे पाशविक जीवन से विरक्त होना है। शरीर की माँगों की पूर्ति करना पाशविक जीवन है और आत्मा के उद्देश्य की पूर्ति करना मानव उद्देश्य है।

स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया ।
चरित्रेणानवद्येन श्रीनिकेतेन चात्मना ॥ २० ॥

शब्दार्थ

स्निग्ध—सौम्य; स्मित-अवलोकेन—मृदुहँसी से युक्त चितवन द्वारा; वाचा—शब्दों से; पीयूष-कल्पया—अमृत के तुल्य; चरित्रेण—चरित्र से; अनवद्येन—दोषरहित; श्री—लक्ष्मी; निकेतेन—धाम; च—तथा; आत्मना—अपने दिव्य शरीर से।

वे वहाँ पर लक्ष्मी देवी के निवास, अपने दिव्य शरीर, में सदा की तरह के अपने सौम्य तथा मधुर मुसकान युक्त मुख, अपने अमृतमय वचनों तथा अपने निष्कंलक चरित्र से युक्त रह रहे थे।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बतलाया गया है कि सांख्य दर्शन के सत्यों में स्थित भगवान् कृष्ण सभी प्रकार के विषयों से विरक्त हैं। प्रस्तुत श्लोक में यह बतलाया गया है कि वे लक्ष्मीदेवी के निवास हैं। ये दोनों बातें तनिक भी परस्पर विरोधी नहीं हैं। भगवान् कृष्ण बहिरंगा प्रकृति की विविधता से विरक्त हैं, किन्तु वे आध्यात्मिक प्रकृति या अपनी अन्तरंगा शक्ति का नित्य, आनन्दमय भोग करते हैं। जो अल्पज्ञ हैं, वे बहिरंगा तथा अन्तरंगा शक्तियों के इस अन्तर को नहीं समझ सकते। *भगवद्गीता* में अन्तरंगा शक्ति को *परा प्रकृति* कहा गया है। *विष्णु पुराण* में भी विष्णु की अन्तरंगा शक्ति को *परा शक्ति* कहा गया है। भगवान् कभी भी पराशक्ति की संगति से विलग नहीं होते। इस पराशक्ति का तथा इसकी

अभिव्यक्तियों का वर्णन *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) में *आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिः* के रूप में हुआ है। भगवान् नित्य आनन्दमय हैं और ऐसे दिव्य आनन्द से प्राप्त होने वाले आस्वाद से ज्ञात हैं। बहिरंगा शक्ति की विविधता के निषेध के लिए आवश्यक नहीं कि आध्यात्मिक जगत के सकारात्मक दिव्य आनन्द का निषेध किया जाय। अतएव भगवान् की सौम्यता, उनकी मुसकान, उनका चरित्र तथा उनसे सम्बद्ध सारी बातें दिव्य हैं। अन्तरंगा शक्ति की ऐसी अभिव्यक्तियाँ वास्तविक हैं जिनका भौतिक प्रतिबिम्ब (छाया) एकमात्र क्षणिक स्वरूप है, जिससे हर ज्ञानवान व्यक्ति को विरक्त रहना चाहिए।

इमं लोकममुं चैव रमयन्सुतरां यदून् ।
रेमे क्षणदया दत्तक्षणस्त्रीक्षणसौहृदः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

इमम्—यह; लोकम्—पृथ्वी; अमुम्—तथा अन्य लोक; च—भी; एव—निश्चय ही; रमयन्—मनोहर; सुतराम्—विशेष रूप से; यदून्—यदुओं को; रेमे—आनन्द लिया; क्षणदया—रात में; दत्त—प्रदत्त; क्षण—विश्राम; स्त्री—स्त्रियों के साथ; क्षण—दाम्पत्य प्रेम; सौहृदः—मैत्री।

भगवान् ने इस लोक में तथा अन्य लोकों में (उच्च लोकों में), विशेष रूप से यदुवंश की संगति में अपनी लीलाओं का आनन्द लिया। रात्रि में विश्राम के समय उन्होंने अपनी पत्नियों के साथ दाम्पत्य प्रेम की मैत्री का आनन्द लिया।

तात्पर्य : भगवान् ने अपने शुद्ध भक्तों के साथ इस जगत में आनन्द प्राप्त किया। यद्यपि वे भगवान् हैं और समस्त भौतिक आसक्ति से परे हैं, किन्तु फिर भी उन्होंने पृथ्वी पर अपने शुद्ध भक्तों के साथ तथा उन देवताओं के साथ जो समस्त भौतिक कार्यकलापों की व्यवस्था में शक्तिप्रदत्त निर्देशकों की भाँति स्वर्ग में उनकी सेवा में लगे रहते हैं, अत्यधिक अनुरक्ति प्रदर्शित की। उन्होंने अपने पारिवारिक जनों, यदुओं, के प्रति तथा उन सोलह हजार पत्नियों के प्रति जिन्हें रात्रि में विश्राम के समय भगवान् से मिलने का सुअवसर प्राप्त होता था विशेष आसक्ति प्रदर्शित की। भगवान् की ये सारी आसक्तियाँ उनकी अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं जिनकी बहिरंगा शक्ति केवल छायास्वरूप है। *स्कन्द-पुराण* के *प्रभास-खण्ड* में शिव तथा गौरी के मध्य हुई वार्ताओं से उनकी अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्तियों की पुष्टि होती है। भगवान् द्वारा सोलह हजार गोपियों से मिलने का उल्लेख हुआ है, यद्यपि भगवान् हंस (दिव्य) परमात्मा हैं और सारे जीवों के पालनकर्ता हैं। ये सोलह हजार गोपियाँ सोलह प्रकार की

अन्तरंगा शक्तियों का प्रदर्शन हैं। इसकी विशद व्याख्या दशम् स्कन्ध में की जाएगी। उसमें कहा गया है कि भगवान् कृष्ण चन्द्रमा के सदृश हैं और अन्तरंगा शक्ति रूपी गोपियाँ चन्द्रमा के चारों ओर के तारों के तुल्य हैं।

तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान्बहून् ।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; रममाणस्य—रमण करने वाले; संवत्सर—वर्षों; गणान्—अनेक; बहून्—कई; गृहमेधेषु—गृहस्थ जीवन में; योगेषु—यौन जीवन में; विरागः—विरक्ति; समजायत—जागृत हुई।

इस तरह भगवान् अनेकानेक वर्षों तक गृहस्थ जीवन में लगे रहे, किन्तु अन्त में नश्वर यौन जीवन से उनकी विरक्ति पूर्णतया प्रकट हुई।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कभी भी किसी प्रकार के भौतिक यौन जीवन में लिप्त नहीं होते, किन्तु जगद्‌गुरु के रूप में दूसरों को यह शिक्षा देने के लिए कि किस तरह गृहस्थ जीवन बिताना चाहिए वे स्वयं अनेकानेक वर्षों तक गृहस्थ बने रहे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि *समजायत* शब्द का अर्थ "पूर्णतया प्रकट किया" है। जब तक वे पृथ्वी पर उपस्थित रहे भगवान् ने अपने सारे कार्यों में विरक्ति प्रदर्शित की। इसका पूर्ण प्रदर्शन तब हुआ जब उन्होंने दृष्टान्त द्वारा यह शिक्षा देनी चाही कि मनुष्य को अपने सम्पूर्ण जीवनभर गृहस्थ जीवन में आसक्त नहीं रहना चाहिए। मनुष्य को स्वभावतः विरक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। भगवान् द्वारा गृहस्थ जीवन से विरक्ति यह नहीं सूचित करती कि उन्होंने अपने नित्य संगियों, दिव्य गोपियों से विरक्ति ले ली थी। किन्तु भगवान् प्रकृति के तीन गुणों के प्रति अपनी तथाकथित आसक्ति को समाप्त करना चाहते थे। वे अपने दिव्य संगियों यथा रुक्मिणी तथा लक्ष्मियों की सेवा से कभी भी विरक्त नहीं हो सकते जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.२९) में वर्णन हुआ है—*लक्ष्मीसहस्र शत सम्भ्रमसेव्यमानम्*।

दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान् ।
को विश्रम्भेत योगेन योगेश्वरमनुव्रतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

दैव—अलौकिक; अधीनेषु—नियंत्रित होकर; कामेषु—इन्द्रिय भोग विलास में; दैव-अधीनः—अलौकिक शक्ति द्वारा नियंत्रित; स्वयम्—अपने आप; पुमान्—जीव; कः—जो भी; विश्रम्भेत—श्रद्धा रख सकता हो; योगेन—भक्ति से; योगेश्वरम्—भगवान् में; अनुव्रतः—सेवा करते हुए।.

प्रत्येक जीव एक अलौकिक शक्ति द्वारा नियंत्रित होता है और इस तरह उसका इन्द्रिय भोग भी उसी अलौकिक शक्ति के नियंत्रण में रहता है। इसलिए कृष्ण के दिव्य इन्द्रिय-कार्यकलापों में वही अपनी श्रद्धा टिका सकता है, जो भक्ति-मय सेवा करके भगवान् का भक्त बन चुका हो।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् के दिव्य जन्म तथा कर्मों को कोई नहीं समझ सकता है। इसी तथ्य की यहाँ पर पुष्टि हुई है—भगवान् की भक्ति द्वारा प्रबुद्ध व्यक्ति ही भगवान् के कार्यों तथा अलौकिक शक्ति द्वारा नियंत्रित अन्य लोगों के कार्यों के अन्तर को समझ सकता है। इस भौतिक ब्रह्माण्ड में दृष्टिगत समस्त पशुओं, मनुष्यों तथा देवताओं का इन्द्रिय भोगविलास एक अलौकिक शक्ति द्वारा नियंत्रित होता है, जो *प्रकृति* या *दैवी माया* कहलाती है। कोई भी व्यक्ति इन्द्रिय भोग-विलास प्राप्त करने में स्वतंत्र नहीं है और इस जगत में हर व्यक्ति इन्द्रिय भोग-विलास के पीछे पड़ा रहता है। ऐसे लोग जो स्वयं ही अलौकिक शक्ति के नियंत्रण में होते हैं इस पर विश्वास नहीं कर सकते कि इन्द्रिय भोग विलास के मामले में भगवान् कृष्ण अपने से परे किसी अन्य नियंत्रण के अधीन नहीं होते। वे यह समझ ही नहीं पाते कि भगवान् की इन्द्रियाँ दिव्य हैं। *ब्रह्म-संहिता* में भगवान् की इन्द्रियों को सर्वशक्तिमान बतलाया गया है—अर्थात् वे किसी एक इन्द्रिय से अन्य इन्द्रिय के कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। जिसका इन्द्रियाँ सीमित हैं उसे विश्वास ही नहीं होता कि भगवान् अपनी श्रवण की दिव्य शक्ति से भोजन कर सकते हैं और मात्र देखने से संभोग कर सकते हैं। नियंत्रित जीव अपने बद्ध जीवन में ऐसे इन्द्रिय कार्यों के विषय में स्वप्न तक नहीं देख सकता। किन्तु भक्तियोग के कार्यों से वह यह समझ सकता है कि भगवान् तथा उनके कार्य सदैव दिव्य हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में भगवान् कहते हैं—*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*—यदि कोई व्यक्ति भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं है, तो वह भगवान् के कार्यों के एक अंश को भी नहीं जान सकता।

पुर्यां कदाचित्क्रीडद्भिर्यदुभोजकुमारकैः ।
कोपिता मुनयः शेपुर्भगवन्मतकोविदाः ॥ २४॥

शब्दार्थ

पुर्याम्—द्वारका पुरी में; कदाचित्—एक बार; क्रीडद्भिः—क्रीड़ाओं द्वारा; यदु—यदुवंशी; भोज—भोज के वंशज; कुमारकैः—राजकुमारों द्वारा; कोपिताः—क्रुद्ध हुए; मुनयः—मुनियों ने; शेपुः—शाप दिया; भगवत्—भगवान् की; मत—इच्छा; कोविदाः—जानकार।

एक बार यदुवंशी तथा भोजवंशी राजकुमारों की क्रीड़ाओं से महामुनिगण क्रुद्ध हो गये तो उन्होंने भगवान् की इच्छानुसार उन राजकुमारों को शाप दे दिया।

तात्पर्य : भगवान् के वे संगी जो कि यदु तथा भोज वंशों के राजकुमारों की भूमिका निभा रहे थे सामान्य जीव न थे। ऐसा सम्भव नहीं कि वे किसी सन्त पुरुष या मुनि का अपमान करते या मुनिगण जो कि भगवान् के शुद्ध भक्त थे पवित्र यदु या भोज वंशों में उत्पन्न राजकुमारों की किसी प्रकार की क्रीड़ा पर क्रुद्ध होते, क्योंकि स्वयं भगवान् इन्हीं के वंशज के रूप में अवतरित हुए थे। मुनियों द्वारा राजकुमारों का शापित होना क्रोध-प्रदर्शन के लिए भगवान् की एक दिव्य लीला थी। राजकुमारों को इसलिए शाप दिया गया था कि लोग जान सकें कि भगवान् के वे वंशज भी भगवान् के महान् भक्तों के कोपभाजन हो सकते हैं, जिन्हें प्रकृति के किसी भी कार्य द्वारा कभी भी विनष्ट नहीं किया जा सकता था। इसलिए मनुष्य को बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए कि वह भगवद्भक्त के चरणों पर कोई अपराध न करे।

ततः कतिपयैर्मासैर्वृष्णिभोजान्धकादयः ।
ययुः प्रभासं संहृष्टा रथैर्देवविमोहिताः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; कतिपयैः—कुछेक; मासैः—मास बिता कर; वृष्णि—वृष्णि के वंशज; भोज—भोज के वंशज; अन्धक-आदयः—अन्धक के पुत्र इत्यादि; ययुः—गये; प्रभासम्—प्रभास नामक तीर्थस्थान; संहृष्टाः—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; रथैः—अपने अपने रथों पर; देव—कृष्ण द्वारा; विमोहिताः—मोहग्रस्त।

कुछेक महीने बीत गये तब कृष्ण द्वारा विमोहित हुए समस्त वृष्णि, भोज तथा अन्धक वंशी, जो कि देवताओं के अवतार थे, प्रभास गये। किन्तु जो भगवान् के नित्य भक्त थे वे द्वारका में ही रहते रहे।

तत्र स्नात्वा पितृन्देवानृषींश्चैव तदम्भसा ।
तर्पयित्वाथ विप्रेभ्यो गावो बहुगुणा ददुः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ पर; स्नात्वा—स्नान करके; पितृन्—पितरों को; देवान्—देवताओं को; ऋषीन्—ऋषियों को; च—भी; एव—निश्चय ही; तत्—उसके; अम्भसा—जल से; तर्पयित्वा—प्रसन्न करके; अथ—तत्पश्चात्; विप्रेभ्यः—ब्राह्मणों को; गावः—गौवें; बहु-गुणाः—अत्यन्त उपयोगी; ददुः—दान में दीं।

वहाँ पहुँचकर उन सबों ने स्नान किया और उस तीर्थ स्थान के जल से पितरों, देवताओं तथा ऋषियों का तर्पण करके उन्हें तुष्ट किया। उन्होंने राजकीय दान में ब्राह्मणों को गौवें दीं।

तात्पर्य : भगवद्भक्तों में कई विभाग हैं जिनमें *नित्यसिद्ध* तथा *साधनसिद्ध* मुख्य हैं। *नित्यसिद्ध* भक्त कभी भी भौतिक वातावरण के क्षेत्र में नीचे नहीं गिरते भले ही कभी-कभी भगवान् का मिशन पूरा करने के लिए उन्हें भौतिक धरातल पर क्यों न आना पड़ता हो। *साधनसिद्ध* भक्त बद्धात्माओं में से चुने जाते हैं। *साधन* भक्तों में से कुछ मिश्रित तथा कुछ शुद्ध भक्त होते हैं। मिश्रित भक्त कभी-कभी सकाम कर्मों के प्रति उल्लास प्रदर्शित करते हैं और दार्शनिक चिन्तन में लगे रहते हैं। शुद्ध भक्त इन समस्त मिश्रणों से स्वतंत्र होते हैं और भगवान् की सेवा में पूर्णतया लीन रहते हैं, चाहे वे कहीं भी हों और किसी भी अवस्था में स्थित हों। भगवान् के शुद्ध भक्त पवित्र तीर्थस्थानों में जाने के लिए भगवान् की सेवा को ताक पर नहीं रखते। आधुनिक काल के महान् भगवद्भक्त श्रीनरोत्तम दास ठाकुर का गीत है, ''तीर्थस्थानों में जाना मन का दूसरा मोह है, क्योंकि किसी भी स्थान पर की गई भगवान् की सेवा आध्यात्मिक सिद्धि की चरम परिणति है।''

उन भक्तों के लिए जो भगवान् की प्रेमाभक्ति से पूरी तरह तुष्ट होते हैं, विभिन्न तीर्थस्थलों में जाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु जो लोग उतने बढ़े-चढ़े नहीं हैं उन्हें तीर्थस्थानों में जाने तथा अनुष्ठान सम्पन्न करने के नियत कार्य करने होते हैं। यदुवंश के जो राजुकमार प्रभास गये उन्होंने तीर्थस्थान में सम्पन्न किये जाने वाले सारे कर्तव्यों को पूरा किया और अपने-अपने पितरों तथा अन्यों को अपने पुण्यकर्मों की भेंट चढ़ाई।

नियमत: हर मनुष्य ईश्वर, देवताओं, महान् ऋषियों, अन्य जीवों, सामान्य-जनों, पूर्वजों इत्यादि का ऋणी होता है, क्योंकि वह उनसे विविध प्रकार का योगदान प्राप्त करता है। अत: हर व्यक्ति को कृतज्ञता का ऋण चुकाना होता है। जो यदुगण प्रभास तीर्थस्थल गये उन्होंने राजसी दान में भूमि, स्वर्ण तथा अच्छी तरह पाली-पोसी गौवें भेंट करके अपना कर्तव्य निभाया जैसाकि अगले श्लोक में बतलाया गया है।

हिरण्यं रजतं शय्यां वासांस्यजिनकम्बलान् ।
यानं रथानिभान्कन्या धरां वृत्तिकरीमपि ॥ २७॥

शब्दार्थ

हिरण्यम्—सोना; रजतम्—रजत; शय्याम्—बिस्तर; वासांसि—वस्त्र; अजिन—आसन के लिए पशुचर्म; कम्बलान्—कम्बल; यानम्—घोड़े; रथान्—रथ; इभान्—हाथी; कन्याः—लड़कियाँ; धराम्—भूमि; वृत्ति-करीम्—आजीविका प्रदान करने के लिए; अपि—भी।

ब्राह्मणों को दान में न केवल सुपोषित गौवें दी गईं, अपितु उन्हें सोना, चाँदी, बिस्तर, वस्त्र, पशुचर्म के आसन, कम्बल, घोड़े, हाथी, कन्याएँ तथा आजीविका के लिए पर्याप्त भूमि भी दी गई।

तात्पर्य : ये सारे दान उन ब्राह्मणों के लिए थे जिनके जीवन आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों दृष्टियों से समाज-कल्याण में पूरी तरह लगे होते थे। ब्राह्मण-गण अपनी सेवाएँ वेतनभोगी सेवकों की तरह नहीं प्रदान कर रहे थे, अपितु समाज उन्हें सारी आवश्यकताएँ प्रदान करता था। कुछ ब्राह्मण, जिनका विवाह नहीं हो पाता था, उन्हें कन्याएँ दी जाती थीं। अतएव ब्राह्मणों के समक्ष कोई आर्थिक समस्या नहीं थी। क्षत्रिय राजा तथा धनी व्यापारी लोग उनको सभी आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करते थे और ब्राह्मण-जन बदले में समाज के उत्थान के प्रति पूर्णतया समर्पित थे। विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक सहयोग का यही मार्ग था। जब ब्राह्मण वर्ग या जाति, जिसमें ब्राह्मण योग्यताएँ नहीं थीं, समाज द्वारा पोषित होकर धीरे-धीरे आरामतलब बन गई, तो वे पतित होकर ब्रह्मबन्धु अर्थात् अयोग्य ब्राह्मण बन गये। इसी तरह समाज के अन्य सदस्य प्रगतिशील जीवन के सामाजिक मानदण्ड से क्रमश: नीचे गिर गये। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जाति प्रथा भगवान् द्वारा निर्मित है और समाज के प्रति किये गये कार्य के गुण के अनुसार व्यवस्थित है, जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में नहीं जैसाकि वर्तमान पतित समाज में झूठे ही दावा किया जाता हैं।

अन्नं चोरुरसं तेभ्यो दत्त्वा भगवदर्पणम् ।
गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुर्भुवि मूर्धभिः ॥ २८॥

शब्दार्थ

अन्नम्—खाद्यवस्तुएँ; च—भी; उरु-रसम्—अत्यन्त स्वादिष्ट; तेभ्यः—ब्राह्मणों को; दत्त्वा—देकर; भगवत्-अर्पणम्—जिन्हें सर्वप्रथम भगवान् को अर्पित किया गया; गो—गौवें; विप्र—ब्राह्मण; अर्थ—प्रयोजन, उद्देश्य; असवः—जीवन का प्रयोजन; शूराः—सारे बहादुर क्षत्रिय; प्रणेमुः—प्रणाम किया; भुवि—भूमि छूकर; मूर्धभिः—अपने सिरों से।

तत्पश्चात् उन्होंने सर्वप्रथम भगवान् को अर्पित किया गया अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन उन ब्राह्मणों को भेंट किया और तब अपने सिरों से भूमि का स्पर्श करते हुए उन्हें सादर नमस्कार किया। वे गौवों तथा ब्राह्मणों की रक्षा करते हुए भलीभाँति रहने लगे।

तात्पर्य : प्रभास तीर्थस्थल में यदुवंशियों द्वारा प्रदर्शित आचरण सुसंस्कृत तथा मानवसिद्धि के सर्वथा अनुरूप था। मानव जीवन की सिद्धि सभ्यता के निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों द्वारा प्राप्त की जाती है। ये हैं; गौवों की रक्षा करना, ब्राह्मण संस्कृति को बनाये रखना तथा सर्वोपरि है भगवद्‌भक्त बनना। भगवद्‌भक्त बने बिना कोई मनुष्य अपने मानव जीवन को पूर्ण नहीं बना सकता। मानव जीवन की पूर्णता आध्यात्मिक जगत तक ऊपर उठना है जहाँ न जन्म है, न मृत्यु है, न रोग, न वृद्धावस्था। मानव जीवन का परम उद्देश्य यही सर्वोच्च सिद्धि है। इस उद्देश्य के बिना तथाकथित सुख सुविधाओं में कोई कितनी ही उन्नति क्यों न करे, उससे मनुष्य जीवन की पराजय ही होती है।

ब्राह्मण तथा वैष्णवजन ऐसी कोई खाद्य वस्तु स्वीकार नहीं करते जो पहले से भगवान् को अर्पित न की जा चुकी हो। भगवान् को अर्पित भोज्य वस्तु भक्तों द्वारा भगवत्कृपा के रूप में स्वीकार की जाती है। आखिर, भगवान् ही सब प्रकार का भोज्य पदार्थ मनुष्यों तथा पशुओं को प्रदान करते हैं। मनुष्य को इस तथ्य के प्रति सचेत रहना चाहिए कि समस्त खाद्य पदार्थ, यथा अन्न, शाक, दूध, जल इत्यादि, जो कि जीवन की मुख्य आवश्यकताएँ हैं, भगवान् द्वारा मनुष्य को प्रदान की जाती हैं। उन्हें न तो किसी विज्ञानी द्वारा या भौतिकतावादी द्वारा मानवप्रयास से स्थापित की गई प्रयोगशाला या फैक्टरी में तैयार किया जा सकता है। बुद्धिमान श्रेणी के लोग ब्राह्मण कहलाते हैं और जिन्होंने परब्रह्म के परम साकार रूप में उनका साक्षात्कार किया है वे वैष्णव कहलाते हैं। किन्तु दोनों ही यज्ञ के उच्छिष्ट को भोज्य पदार्थ के रूप में ग्रहण करते हैं। यज्ञ अन्ततः *यज्ञ पुरुष* विष्णु को तुष्ट करने के निमित्त हैं। *भगवद्‌गीता* (३.१३) में कहा गया है कि जो यज्ञ-उच्छिष्ट को भोज्य पदार्थ के रूप में ग्रहण करता है, वह समस्त पापों से छूट जाता है और जो अपने शरीर के पालन-पोषण के लिए भोजन बनाता है, वह सभी तरह के कष्टप्रद पाप ग्रहण करता है। प्रभास तीर्थस्थान में प्रामाणिक ब्राह्मणों को भेंट देने के लिए यदुओं ने जो भोज्य पदार्थ तैयार कराये थे वे सभी भगवान् विष्णु को अर्पित किये गये थे। यदुओं ने अपने सिरों से भूमि का स्पर्श करते हुए सादर नमस्कार किया। वैदिक संस्कृति में चाहे यदुगण हों या

अन्य कोई प्रबुद्ध परिवार, उन्हें विभिन्न वर्णों के मध्य सेवा के पूर्ण सहयोग द्वारा मानव-सिद्धि प्राप्ति के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है।

उरु-रसम् शब्द भी यहाँ पर महत्त्वपूर्ण है। अन्न, शाक तथा दूध को मिलाकर सैकड़ों प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन तैयार किये जा सकते हैं। ऐसे समस्त व्यञ्जन सात्विक होते हैं, अतएव इन्हें भगवान् को अर्पित किया जा सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.१३) में कहा गया है कि भगवान् केवल फल, फूल, पत्ती तथा तरल पदार्थों से तैयार भोज्य पदार्थों को ही स्वीकार करते हैं, बशर्ते कि वे पूर्ण भक्ति के साथ अर्पित किये जाँय। भक्ति ही भगवान् को प्रामाणिक भेंट की एकमात्र कसौटी है। भगवान् आश्वासन देते हैं कि भक्तों द्वारा अर्पित ऐसे भोज्य पदार्थ वे अवश्य खाते हैं। इस तरह सभी दृष्टियों से निर्णय करने पर यदुगण पूर्णरूपेण प्रशिक्षित सभ्य पुरुष थे और ब्राह्मण मुनियों द्वारा उनका शापित होना एकमात्र भगवान् की इच्छा के फलस्वरूप था। यह समूची घटना समस्त सम्बद्ध लोगों के लिए चेतावनी थी कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के साथ किसी को अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''वृन्दावन से बाहर भगवान् की लीलाएँ'' नामक तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

विदुर का मैत्रेय के पास जाना

उद्धव उवाच
अथ ते तदनुज्ञाता भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम् ।
तया विभ्रंशितज्ञाना दुरुक्तैर्मर्म पस्पृशुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

उद्धवः उवाच—उद्धव ने कहा; अथ—तत्पश्चात्; ते—वे (यादवगण); तत्—ब्राह्मणों द्वारा; अनुज्ञाताः—अनुमति दिये जाकर; भुक्त्वा—खाकर; पीत्वा—पीकर; च—तथा; वारुणीम्—मदिरा; तया—उससे; विभ्रंशित-ज्ञानाः—ज्ञानसे विहीन होकर; दुरुक्तैः—कर्कश शब्दों से; मर्म—हृदय के भीतर; पस्पृशुः—छू गया।

तत्पश्चात् उन सबों ने (वृष्णि तथा भोज वंशियों ने) ब्राह्मणों की अनुमति से प्रसाद का उच्छिष्ट खाया और चावल की बनी मदिरा भी पी। पीने से वे सभी संज्ञाशून्य हो गये और ज्ञान से रहित होकर एक दूसरे को वे मर्मभेदी कर्कश वचन कहने लगे।

तात्पर्य : उत्सवों में जब ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को भलीभाँति भोजन कराया जाता है, तो अतिथियों द्वारा अनुमति दिये जाने पर आतिथेय भोजन का उच्छिष्ट खाता है। अतएव वृष्णि तथा भोज वंशियों ने ब्राह्मणों से औपचारिक अनुमति ली और तब तैयार किया हुआ भोज्य पदार्थ खाया। क्षत्रियों को कतिपय अवसरों पर मदिरा पीने की छूट है, अतएव उन सबों ने चावल से बनी हल्की मदिरा का पान किया। ऐसे मदिरापान से वे इतने संज्ञाशून्य तथा मूर्छित हो उठे कि वे पारस्परिक सम्बन्धों को भूल गये और ऐसे कटु वचनों का प्रयोग करने लगे जो आपस में एक दूसरे के हृदय को आहत करने लगे थे। मदिरापान इतना हानिकारक है कि कोई अत्यन्त सुसंस्कृत परिवार भी नशे से प्रभावित हो जाता है और नशे की अवस्था में अपने आपको भूल सकता है। वृष्णि तथा भोज वंशियों से इस तरह अपने आपको भूल जाने की आशा नहीं की जाती थी। किन्तु परमेश्वर की इच्छा से ऐसा हुआ और वे एक दूसरे के प्रति कटु बन गये।

तेषां मैरेयदोषेण विषमीकृतचेतसाम् ।
निम्लोचति रवावासीद्वेणूनामिव मर्दनम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनके; मैरेय—नशे के; दोषेण—दोष से; विषमीकृत—असंतुलित; चेतसाम्—जिनके मन; निम्लोचति—अस्त होता है; रवौ—सूर्य; आसीत्—घटित होता है; वेणूनाम्—बाँसों का; इव—सदृश; मर्दनम्—विनाश।

जिस तरह बाँसों के आपसी घर्षण से विनाश होता है उसी तरह सूर्यास्त के समय नशे के दोषों की अन्त:क्रिया से उनके मन असंतुलित हो गये और उनका विनाश हो गया।

तात्पर्य : जब जगंल में आग की आवश्यकता होती है, तो परमेश्वर की इच्छा से बांसों के आपसी घर्षण से आग लग जाती है। इसी तरह यदुवंशियों का विनाश भगवान् की इच्छा से आत्मविनाश की विधि से हो गया। जिस तरह मानव प्रयास से जंगल के बीच अग्नि लगने की संभावना नहीं रहती उसी तरह ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई शक्ति नहीं थी जो भगवान् द्वारा रक्षित यदुवंशियों का विनाश कर सकती। भगवान् ने उनके इस तरह से विनष्ट होने की इच्छा की, अतएव उन्होंने उनके आदेश का पालन किया जैसाकि *तदनुज्ञात* शब्द से सूचित होता है।

भगवान्स्वात्ममायाया गतिं तामवलोक्य सः ।
सरस्वतीमुपस्पृश्य वृक्षमूलमुपाविशत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; **स्व-आत्म-मायाया:**—अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा; **गतिम्**—अन्त; **ताम्**—उसको; **अवलोक्य**—देखकर; **स:**—वे (कृष्ण); **सरस्वतीम्**—सरस्वती नदी का; **उपस्पृश्य**—जल का आचमन करके; **वृक्ष-मूलम्**—वृक्ष की जड़ के पास; **उपाविशत्**—बैठ गये।.

भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अन्तरंगा शक्ति से (अपने परिवार का) भावी अन्त देखकर सरस्वती नदी के तट पर गये, जल का आचमन किया और एक वृक्ष के नीचे बैठ गये।

तात्पर्य : यदुओं तथा भोजों के उपर्युक्त समस्त कार्य भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा सम्पन्न हुए, क्योंकि वे अपने अवतार के उद्देश्य को पूरा कर लेने के बाद उन सबों को अपने-अपने धामों को भेज देना चाहते थे। वे सभी उनके पुत्र-पौत्र थे और उन्हें भगवान् के पैतृक स्नेह द्वारा पूर्ण संरक्षण प्राप्त था। भगवान् के समक्ष उनका विनाश किस तरह हो सका, इसका उत्तर इस श्लोक में दिया गया है। प्रत्येक कार्य स्वयं भगवान् द्वारा सम्पन्न किया गया। (*स्वात्ममायाया:*) भगवान् के पारिवारिक जन या तो उनके स्वांश अवतार थे या स्वर्ग-लोकों के देवता थे; अतएव अपने प्रस्थान के पूर्व उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति से उन्हें पृथक् कर दिया। उन्हें अपने-अपने धामों में भेजे जाने के पूर्व, प्रभास नामक पवित्र स्थान पर भेजा गया जहाँ उन्होंने पुण्यकर्म किये और भोजन किया तथा जी भर कर मदपान किया। इसके बाद उन्हें अपने अपने धाम वापस भेजे जाने की व्यवस्था की गई, जिससे अन्य लोग यह देख

सकें कि शक्तिशाली यदुवंश अब इस जगत में नहीं रहा। पिछले श्लोक में *अनुज्ञात* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जो यह सूचित करता है कि सम्पूर्ण घटनाक्रम की व्यवस्था भगवान् द्वारा की गई थी। भगवान् की ये विशिष्ट लीलाएँ उनकी बहिरंगा शक्ति अथवा भौतिक प्रकृति की अभिव्यक्ति नहीं हैं। उनकी अन्तरंगा शक्ति का ऐसा प्रदर्शन शाश्वत है, अतएव यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि यदु तथा भोज वंशी सामान्य भ्रातृघाती युद्ध में उन्मत्तावस्था में मरे। श्रील जीव गोस्वामी ने इन घटनाओं की टीका जादूगरी की कला के रूप में की है।

अहं चोक्तो भगवता प्रपन्नार्तिहरेण ह ।
बदरीं त्वं प्रयाहीति स्वकुलं सञ्जिहीर्षुणा ॥ ४॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—तथा; उक्तः—कहा गया; भगवता—भगवान् द्वारा; प्रपन्न—शरणागत का; आर्ति-हरेण—कष्टों को हरण करने वाले के द्वारा; ह—निस्सन्देह; बदरीम्—बदरी; त्वम्—तुम; प्रयाहि—जाओ; इति—इस प्रकार; स्व-कुलम्—अपने ही परिवार को; सञ्जिहीर्षुणा—विनष्ट करना चाहा।

भगवान् उनके कष्टों का विनाश करते हैं, जो उनके शरणागत हैं। अतएव जब उन्होंने अपने परिवार का विनाश करने की इच्छा की तो उन्होंने पहले ही बदरिकाश्रम जाने के लिए मुझसे कह दिया था।

तात्पर्य : उद्धव जब द्वारका में थे तो उन्हें उन कष्टों से बचने के लिए सचेत किया गया था, जो भगवान् के तिरोधान तथा यदुवंश के विनाश के बाद आने वाले थे । उन्हें बदरिकाश्रम जाने की सलाह दी गई थी, क्योंकि वहाँ वे नर-नारायण के भक्तों का सान्निध्य प्राप्त कर सकते थे और उनकी भक्ति की संगति में वे कीर्तन, श्रवण, ज्ञान तथा वैराग्य की अपनी उत्सुकता में वृद्धि कर सकते थे।

तथापि तदभिप्रेतं जानन्नहमरिन्दम ।
पृष्ठतोऽन्वगमं भर्तुः पादविश्लेषणाक्षमः ॥ ५॥

शब्दार्थ

तथा अपि—तिस पर भी; तत्-अभिप्रेतम्—उनकी इच्छा; जानन्—जानते हुए; अहम्—मैं; अरिम्-दम—हे शत्रुओं के दमनकर्ता (विदुर); पृष्ठतः—पीछे; अन्वगमम्—अनुसरण किया; भर्तुः—स्वामी का; पाद-विश्लेषण—उनके चरणकमलों से बिलगाव; अक्षमः—समर्थ न होकर।

हे अरिन्दम (विदुर), (वंश का विनाश करने की) उनकी इच्छा जानते हुए भी मैं उनका अनुसरण करता रहा, क्योंकि अपने स्वामी के चरणकमलों के बिछोह को सह पाना मेरे लिए

सम्भव न था।

अद्राक्षमेकमासीनं विचिन्वन्दयितं पतिम् ।
श्रीनिकेतं सरस्वत्यां कृतकेतमकेतनम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अद्राक्षम्—मैंने देखा; एकम्—अकेले; आसीनम्—बैठे हुए; विचिन्वन्—गम्भीर चिन्तन करते हुए; दयितम्—संरक्षक; पतिम्—स्वामी को; श्री-निकेतम्—लक्ष्मीजी के आश्रय को; सरस्वत्याम्—सरस्वती के तट पर; कृत-केतम्—आश्रय लिए हुए; अकेतनम्—बिना आश्रय के स्थित।

इस तरह उनका पीछा करते हुए मैंने अपने संरक्षक तथा स्वामी (भगवान् श्रीकृष्ण) को सरस्वती नदी के तट पर आश्रय लेकर अकेले बैठे और गहन चिन्तन करते देखा, यद्यपि वे देवी लक्ष्मी के आश्रय हैं।

तात्पर्य : जो लोग संन्यासी हो जाते हैं, वे प्राय: किसी वृक्ष के नीचे आश्रय लेते हैं। उद्धव ने भगवान् को उस स्थिति में आश्रय लिए हुए देखा जैसा आश्रयहीन व्यक्ति करते हैं। क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं, अत: उनका आश्रय हर स्थान पर है और हर स्थान उनके आश्रय में है। सम्पूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक विराट जगत उन्हीं के द्वारा धारण किया हुआ है, अतएव वे हर वस्तु के आश्रय हैं। अतएव संन्यासियों की तरह आश्रयहीन होकर उनका आश्रय लेना तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं था।

श्यामावदातं विरजं प्रशान्तारुणलोचनम् ।
दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितं पीतकौशाम्बरेण च ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्याम-अवदातम्—श्याम वर्ण से सुन्दर; विरजम्—शुद्ध सतोगुण से निर्मित; प्रशान्त—शान्त; अरुण—लाल लाल; लोचनम्—नेत्र; दोर्भि:—भुजाओं द्वारा; चतुर्भि:—चार; विदितम्—पहचाने जाकर; पीत—पीला; कौश—रेशमी; अम्बरेण—वस्त्र से; च—तथा।

भगवान् का शरीर श्यामल है, किन्तु वह सच्चिदानन्दमय है और अतीव सुन्दर है। उनके नेत्र सदैव शान्त रहते हैं और वे प्रात:कालीन उदय होते हुए सूर्य के समान लाल हैं। मैं उनके चार हाथों, विभिन्न प्रतीकों तथा पीले रेशमी वस्त्रों से तुरन्त पहचान गया कि वे भगवान् हैं।

वाम ऊरावधिश्रित्य दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुहम् ।

अपाश्रितार्भकाश्वत्थमकृशं त्यक्तपिप्पलम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

वामे—बाईं; ऊरौ—जाँघ पर; अधिश्रित्य—रख कर; दक्षिण-अङ्घ्रि-सरोरुहम्—दाहिने चरणकमल को; अपाश्रित—टिका कर; अर्भक—छोटा; अश्वत्थम्—बरगद का वृक्ष; अकृशम्—प्रसन्न; त्यक्त—छोड़े हुए; पिप्पलम्—घरेलू आराम।

भगवान् अपना दाहिना चरण-कमल अपनी बाईं जांघ पर रखे एक छोटे से बरगद वृक्ष का सहारा लिए हुए बैठे थे। यद्यपि उन्होंने सारे घरेलू सुपास त्याग दिये थे, तथापि वे उस मुद्रा में पूर्ण रुपेण प्रसन्न दीख रहे थे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् की बैठने की मुद्रा—नये बरगद के पेड़ पर पीठ टिकाये—भी अर्थपूर्ण है। बरगद का पेड़ अश्वत्थ इसलिए कहलाता है, क्योंकि यह तुरन्त नहीं नष्ट होता; यह अनेकानेक वर्षों तक जीवित रहता है। इस पेड़ के पाँव तथा उनकी शक्तियाँ भौतिक अवयव हैं जिनकी संख्या पाँच है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। बरगद के पेड़ द्वारा प्रदर्शित भौतिक शक्तियाँ भगवान् की बहिरंगा शक्तियों की प्रतिफल हैं, अतएव वे उनकी पीठ के पीछे रखी गई हैं। चूँकि यह ब्रह्माण्ड सबसे छोटा है इसलिए बरगद के वृक्ष को छोटा या शिशु कहा गया है। त्यक्त-पिप्पलम् सूचित करता है कि अब वे इस छोटे से ब्रह्माण्ड में अपनी लीलाएँ समाप्त कर चुके थे, किन्तु भगवान् नित्य तथा सदैव आनन्दमय रहते हैं, इसलिए उनके द्वारा किसी वस्तु को त्यागने या स्वीकार करने में कोई अन्तर नहीं है। अब भगवान् इस ब्रह्माण्ड को त्यागने तथा किसी अन्य ब्रह्माण्ड में जाने के लिए तैयार थे, जिस तरह सूर्य किसी एक लोक में उदय होता है और उसी समय दूसरे में अस्त होता है, किन्तु इससे उसकी अपनी स्थिति परिवर्तित नहीं होती।

तस्मिन्महाभागवतो द्वैपायनसुहृत्सखा ।
लोकाननुचरन्सिद्ध आससाद यदृच्छया ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—तब; महा-भागवतः—भगवान् का महान् भक्त; द्वैपायन—कृष्ण द्वैपायन व्यास का; सुहृत्—हितैषी; सखा—मित्र; लोकान्—तीनों लोकों में; अनुचरन्—विचरण करते हुए; सिद्धे—उस आश्रम में; आससाद—पहुँचा; यदृच्छया—अपनी पूर्ण इच्छा से।

उसी समय संसार के अनेक भागों की यात्रा करके महान् भगवद्भक्त तथा महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास के मित्र एवं हितैषी मैत्रेय अपनी इच्छा से उस स्थान पर आ पहुँचे।

तात्पर्य : मैत्रेय व्यासदेव के पिता महर्षि पराशर के शिष्यों में से थे। इस तरह व्यासदेव तथा मैत्रेय

परस्पर मित्र तथा हितैषी थे। सौभाग्यवश मैत्रेय उस स्थान पर पहुँचे जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण विश्राम कर रहे थे। भगवान् से भेंट होना कोई सामान्य घटना नहीं है। मैत्रेय एक महर्षि तथा विद्वान् दार्शनिक थे, किन्तु शुद्ध भगवद्भक्त नहीं थे, अतएव उस समय भगवान् से उनकी भेंट किसी *अज्ञात सुकृति* अर्थात् अज्ञात भक्ति के कारण हुई होगी। शुद्ध भक्त सदैव शुद्ध भक्तिमय सेवा में लगे रहते हैं, अतएव भगवान् से उनकी भेंट स्वाभाविक है। किन्तु जब भगवान् से ऐसे लोग मिलते हैं, जो उस उचित स्तर पर नहीं होते, तो यह भेंट आकस्मिक भक्ति के अदृश्य भाग्य के कारण होती है।

तस्यानुरक्तस्य मुनेर्मुकुन्दः
प्रमोदभावानतकन्धरस्य ।
आशृण्वतो मामनुरागहास-
समीक्षया विश्रमयन्नुवाच ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अनुरक्तस्य—अनुरक्त का; मुनेः—मुनि (मैत्रेय) का; मुकुन्दः—मोक्ष प्रदान करने वाले भगवान्; प्रमोद-भाव—प्रसन्न मुद्रा में; आनत—नीचे किये; कन्धरस्य—कन्धों का; आशृण्वतः—इस तरह सुनते हुए; माम्—मुझको; अनुराग-हास—दयालु हँसी से; समीक्षया—मुझे विशेष रूप से देखकर; विश्र-मयन्—मुझे विश्राम पूरा करने देकर; उवाच—कहा।

मैत्रेय मुनि उनमें (भगवान् में) अत्यधिक अनुरक्त थे और वे अपना कंधा नीचे किये प्रसन्न मुद्रा में सुन रहे थे। मुझे विश्राम करने का समय देकर, भगवान् मुसकुराते हुए तथा विशेष चितवन से मुझसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यद्यपि उद्धव तथा मैत्रेय दोनों ही महात्मा थे, किन्तु भगवान् का ध्यान उद्धव पर अधिक था क्योंकि वे निष्कलंक शुद्ध भक्त थे। *ज्ञान-भक्त* अर्थात् वह जिसकी भक्ति एकत्ववाद के दृष्टिकोण से मिश्रित होती है, शुद्ध भक्त नहीं होता। यद्यपि मैत्रेय भक्त थे, किन्तु उनकी भक्ति मिश्रित थी। भगवान् दिव्य प्रेम के आधार पर अपने भक्तों से प्रतिदान करते हैं, ज्ञान या सकाम कर्मों के आधार पर नहीं। भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में एकत्ववाद ज्ञान अथवा सकाम कर्मों के लिए कोई स्थान नहीं होता। वृन्दावन की गोपियाँ न तो परम विद्वान् थीं, न योगी थीं। उनमें भगवान् के लिए रागानुग प्रेम था। अत: वे उनके प्राणाधार बन गए और गोपियाँ भी उनकी प्राणाधार हो गईं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् के साथ गोपियों के सम्बन्ध को सर्वोत्कृष्ट माना है। यहाँ पर उद्धव के प्रति भगवान् का दृष्टिकोण मैत्रेय मुनि की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ था।

श्रीभगवानुवाच
वेदाहमन्तर्मनसीप्सितं ते
ददामि यत्तदुरवापमन्यैः ।
सत्रे पुरा विश्वसृजां वसूनां
मत्सिद्धिकामेन वसो त्वयेष्टः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वेद—जानता हूँ; अहम्—मैं; अन्तः—भीतर; मनसि—मन में; ईप्सितम्—इच्छित; ते—तुम्हें; ददामि—देता हूँ; यत्—जो है; तत्—वह; दुरवापम्—प्राप्त कर पाना अतीव कठिन; अन्यैः—अन्यों द्वारा; सत्रे—यज्ञ में; पुरा—प्राचीन काल में; विश्व-सृजाम्—इस सृष्टि का सृजन करने वालों के; वसूनाम्—वसुओं का; मत्-सिद्धि-कामेन—मेरी संगति प्राप्त करने की इच्छा से; वसो—हे वसु; त्वया—तुम्हारे द्वारा; इष्टः—जीवन का चरम लक्ष्य।

हे वसु, मैं तुम्हारे मन के भीतर से वह जानता हूँ, जिसे पाने की तुमने प्राचीन काल में इच्छा की थी जब विश्व के कार्यकलापों का विस्तार करने वाले वसुओं तथा देवताओं ने यज्ञ किये थे। तुमने विशेषरूप से मेरी संगति प्राप्त करने की इच्छा की थी। अन्य लोगों के लिए इसे प्राप्त कर पाना दुर्लभ है, किन्तु मैं तुम्हें यह प्रदान कर रहा हूँ।

तात्पर्य : उद्धव भगवान् के नित्यसंगियों में से एक हैं और उद्धव का स्वांश प्राचीन काल में आठ वसुओं में से एक था। आठ वसु तथा स्वर्गलोक के देवताओं ने, जो विश्व के कर्मों की व्यवस्था के लिए उत्तरदायी हैं, प्राचीन काल में अपने-अपने जीवन के चरम लक्ष्यों की पूर्ति की इच्छा से एक यज्ञ किया। उस समय उद्धव के एक अंश ने, एक वसु के रूप में, भगवान् का संगी बनने की इच्छा प्रकट की थी। भगवान् इसे जानते थे, क्योंकि वे हर जीव के हृदय में परमात्मा या पराचेतना के रूप में उपस्थित रहते हैं। हर एक के हृदय में पराचेतना का प्रतिनिधित्व होता है, जो हर जीव की आंशिक चेतना को स्मृति प्रदान करता है। आंशिक चेतना के रूप में जीव अपने विगत जीवन की घटनाएँ भूल जाता है, किन्तु पराचेतना उसे स्मरण कराती है कि ज्ञान के विगत अनुशीलन के अनुसार किस तरह कर्म किया जाय। *भगवद्गीता* में इस तथ्य की पुष्टि अनेक प्रकार से हुई है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्* (*भगवद्गीता* ४.११) तथा *सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* (*भगवद्गीता* १५.१५)

हर जीव को अपनी पसंद के अनुसार इच्छा करने की छूट है, किन्तु इस इच्छा की पूर्ति भगवान् द्वारा की जाती है। हर व्यक्ति सोचने या इच्छा करने के लिए स्वतंत्र हैं, किन्तु उसकी पूर्ति परम इच्छा

पर निर्भर करती है। इस नियम को "मोरें मन कछु और है कर्ता के मन और" द्वारा व्यक्त किया जाता है। प्राचीन-काल में जब देवताओं तथा वसुओं ने यज्ञ किया, तो एक वसु के रूप में उद्धव ने भगवान् की संगति करने की इच्छा प्रकट की थी जो ज्ञानियों या सकाम कर्मियों के लिए अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे लोगों को भगवान् का संगी बनने के विषय में कोई व्यावहारिक बातें ज्ञात नहीं होतीं। केवल शुद्ध भक्त भगवत्कृपा से ही जान सकते हैं कि भगवान् की निजी संगति जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है। भगवान् ने उद्धव को आश्वासन दिया कि वे उनकी इच्छा पूरी करेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि जब भगवान् ने संकेत द्वारा उद्धव को इसकी जानकारी दी तो महर्षि मैत्रेय भगवान् की संगति प्राप्त करने की महत्ता से अन्त में अवगत हो गए।

स एष साधो चरमो भवानाम्
आसादितस्ते मदनुग्रहो यत् ।
यन्मां नृलोकान्रह उत्सृजन्तं
दिष्ट्या ददृश्वान्विशदानुवृत्त्या ॥ १२॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—उनका; साधो—हे साधु; चरमः—चरम; भवानाम्—तुम्हारे सारे अवतारों (वसु रूप में) में से; आसादितः—अब प्राप्त; ते—तुम पर; मत्—मेरी; अनुग्रहः—कृपा; यत्—जिस रूप में; यत्—क्योंकि; माम्—मुझको; नृ-लोकान्—बद्धजीवों के लोक; रहः—एकान्त में; उत्सृजन्तम्—त्यागते हुए; दिष्ट्या—देखने से; ददृश्वान्—जो तुम देख चुके हो; विशद-अनुवृत्त्या—अविचल भक्ति से।

हे साधु, तुम्हारा वर्तमान जीवन अन्तिम तथा सर्वोपरि है, क्योंकि तुम्हें इस जीवन में मेरी चरम कृपा प्राप्त हुई है। अब तुम बद्धजीवों के इस ब्रह्माण्ड को त्याग कर मेरे दिव्य धाम वैकुण्ठ जा सकते हो। तुम्हारी शुद्ध तथा अविचल भक्ति के कारण इस एकान्त स्थान में मेरे पास तुम्हारा आना तुम्हारे लिए महान् वरदान है।

तात्पर्य : मुक्तावस्था को प्राप्त एक परिपूर्ण जीवात्मा द्वारा जितना भगवत्ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है उससे जब वह पूर्णतया अवगत हो लेता है, तो उसे आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश करने दिया जाता है जहाँ वैकुण्ठलोक विद्यमान हैं। भगवान् एकान्त में इस ब्रह्माण्ड के निवासियों की दृष्टि से अन्तर्धान होने के लिए बैठे हुए थे और ऐसे समय में भी उनका दर्शन करने और इस तरह वैकुण्ठ में प्रवेश करने के लिए उनकी अनुमति पाने के लिए उद्धव भाग्यशाली थे। भगवान् सदैव सर्वत्र रहते हैं और उनका प्राकट्य तथा अन्तर्धान होना किसी विशेष ब्रह्माण्ड के निवासियों का अनुभव मात्र है। वे

सूर्यवत् हैं। सूर्य आकाश में प्रकट या अन्तर्धान नहीं होता। यह तो लोगों का अनुभव है कि सूर्य प्रात:काल उदय होता है और सांयकाल अस्त हो जाता है। भगवान् एक ही समय वैकुण्ठ में तथा वैकुण्ठ के भीतर तथा बाहर सर्वत्र रहते हैं।

पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये
पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे ।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं
यत्सूरयो भागवतं वदन्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पुरा—प्राचीन काल में; मया—मेरे द्वारा; प्रोक्तम्—कहा गया था; अजाय—ब्रह्मा से; नाभ्ये—नाभि से बाहर; पद्मे—कमल पर; निषण्णाय—स्थित; मम—मेरा; आदि-सर्गे—सृष्टि के प्रारम्भ में; ज्ञानम्—ज्ञान; परम्—परम; मत्-महिमा—मेरी दिव्य कीर्ति; अवभासम्—जो निर्मल बनाती है; यत्—जिसे; सूरय:—महान् विद्वान् मुनि; भागवतम्—श्रीमद्भागवत; वदन्ति—कहते हैं।

हे उद्धव, प्राचीन काल में कमल कल्प में, सृष्टि के प्रारम्भ में मैंने अपनी नाभि से उगे हुए कमल पर स्थित ब्रह्मा से अपनी उस दिव्य महिमाओं के विषय में बतलाया था, जिसे बड़े-बड़े मुनि श्रीमद्भागवत कहते हैं।

तात्पर्य : परमात्मा विषयक जो व्याख्या ब्रह्मा से कही गई तथा जो इस ग्रंन्थ के द्वितीय स्कन्ध में पहले ही बताई गई है, उसका और अधिक स्पष्टीकरण यहाँ पर हुआ है। भगवान् ने कहा कि ब्रह्मा को बतलाया गया *श्रीमद्भागवत* का संक्षिप्त रूप मेरे व्यष्टित्व स्वरूप की व्याख्या के लिए था। द्वितीय स्कन्ध के उन चार श्लोकों की निर्विशेष व्याख्या यहीं निरस्त हो जाती हैं। इस सन्दर्भ में श्रीधर स्वामी ने भी व्याख्या की है कि *भागवत* का वही संक्षिप्त रूप भगवान् कृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित था और वह निर्विशेष तोषण के लिए कदापि नहीं था।

इत्यादृतोक्त: परमस्य पुंस:
प्रतिक्षणानुग्रहभाजनोऽहम् ।
स्नेहोत्थरोमा स्खलिताक्षरस्तं
मुञ्चञ्छुच: प्राञ्जलिराबभाषे ॥ १४॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आदृत—अनुग्रह किये गये; उक्त:—सम्बोधित; परमस्य—परम का; पुंस:—भगवान्; प्रतिक्षण—हर क्षण; अनुग्रह-भाजन:—कृपापात्र; अहम्—मैं; स्नेह—स्नेह; उत्थ—विस्फोट; रोमा—शरीर के रोएँ; स्खलित—शिथिल; अक्षर:—आँखों के; तम्—उसको; मुञ्चन्—पोंछकर; शुच:—आँसू; प्राञ्जलि:—हाथ जोड़े; आबभाषे—कहा।

उद्धव ने कहा : हे विदुर, जब मैं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा इस प्रकार से प्रतिक्षण कृपाभाजन बना हुआ था और उनके द्वारा अतीव स्नेहपूर्वक सम्बोधित किया जा रहा था, तो मेरी वाणी रुक कर आँसुओं के रूप में बह निकली और मेरे शरीर के रोम खड़े हो गये। अपने आँसू पोंछ कर और दोनों हाथ जोड़ कर मैं इस प्रकार बोला।

को न्वीश ते पादसरोजभाजां
सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन्
भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

कः नु ईश—हे प्रभु; ते—तुम्हारे; पाद-सरोज-भाजाम्—आपके चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे भक्तों के; सु-दुर्लभः—प्राप्त कर पाना अतीव कठिन; अर्थेषु—विषय में; चतुर्षु—चार पुरुषार्थों के; अपि—बावजूद; इह—इस जगत में; तथा अपि—फिर भी; न—नहीं; अहम्—मैं; प्रवृणोमि—वरीयता प्रदान करता हूँ; भूमन्—हे महात्मन्; भवत्—आपके; पद-अम्भोज—चरणकमल; निषेवण-उत्सुकः—सेवा करने के लिए उत्सुक।

हे प्रभु, जो भक्तगण आपके चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे हुए हैं उन्हें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों के क्षेत्र में कुछ भी प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु हे भूमन्, जहाँ तक मेरा सम्बन्ध हैं मैंने आपके चरणकमलों की प्रेमाभक्ति में ही अपने को लगाना श्रेयस्कर माना है।

तात्पर्य : जो लोग वैकुण्ठलोक में भगवान् के सान्निध्य में हैं, वे भगवान् के सारे शारीरिक गुण प्राप्त कर लेते हैं और भगवान् विष्णु जैसे ही प्रतीत होते हैं। ऐसी मुक्ति *सारूप्य-मुक्ति* कहलाती है, जो पाँच प्रकार की मुक्तियों में से एक है। भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे भक्तगण *सायुज्य-मुक्ति* को कभी भी स्वीकार नहीं करते जो ब्रह्मज्योति में तादात्मय है। भक्तगण न केवल मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, अपितु धर्म, अर्थ, अथवा काम के क्षेत्र में स्वर्ग में स्थित देवताओं के स्तर की कोई भी सफलता प्राप्त कर सकते हैं किन्तु उद्धव जैसे भक्त को ऐसी समस्त सुविधाएँ स्वीकार्य नहीं हैं। शुद्ध भक्त एकमात्र भगवान् की सेवा में लगा रहना चाहता है; वह अपने निजी लाभ पर विचार नहीं करता।

कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम् ।

कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रमः
स्वात्मन्रतेः खिद्यति धीर्विदामिह ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—कर्म; अनीहस्य—न चाहने वाले का; भवः—जन्म; अभवस्य—कभी भी न जन्मे का; ते—तुम्हारा; दुर्ग-आश्रयः—किले की शरण लेकर; अथ—तत्पश्चात्; अरि-भयात्—शत्रु के डर से; पलायनम्—पलायन, भागना; काल-आत्मनः—नित्यकाल के नियन्ता का; यत्—जो; प्रमदा-आयुत—स्त्रियों की संगति में; आश्रमः—गृहस्थ जीवन; स्व-आत्मन्—अपनी आत्मा में; रतेः—रमण करने वाली; खिद्यति—विचलित होती है; धीः—बुद्धि; विदाम्—विद्वान की; इह—इस जगत में।

हे प्रभु, विद्वान मुनियों की बुद्धि भी विचलित हो उठती है जब वे देखते हैं कि आप समस्त इच्छाओं से मुक्त होते हुए भी सकाम कर्म में लगे रहते हैं; अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं; अजेय काल के नियन्ता होते हुए भी शत्रुभय से पलायन करके दुर्ग में शरण लेते हैं तथा अपनी आत्मा में रमण करते हुए भी आप अनेक स्त्रियों से घिरे रहकर गृहस्थ जीवन का आनन्द लेते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् के दिव्य ज्ञान विषयक दार्शनिक चिन्तन से बहुत अधिक वास्ता नहीं रखते। न ही भगवान् का पूर्णज्ञान प्राप्त कर पाना सम्भव है। उन्हें भगवान् के विषय में जो भी अल्पज्ञान रहता है, वह उनके लिए पर्याप्त होता है, क्योंकि भक्तगण भगवान् की दिव्य लीलाओं के श्रवण तथा कीर्तन से ही तुष्ट रहते हैं। इससे उन्हें समस्त दिव्य आनन्द मिलता है। किन्तु भगवान् की कुछ लीलाएँ इन शुद्ध भक्तों तक को परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं। अतः उद्धव ने भगवान् से उनकी लीलाओं की कुछ परस्पर विरोधी घटनाओं के विषय में पूछा। ऐसा वर्णन किया जाता है कि भगवान् को स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता और वस्तुतः ऐसा ही है, क्योंकि भौतिक जगत की सृष्टि तथा उसके पालन तक में भगवान् को कुछ नहीं करना होता। तब यह सुनना विरोधी प्रतीत होता है कि भगवान् अपने शुद्ध भक्तों की रक्षा हेतु गोवर्धन पर्वत को स्वयं उठाते हैं। भगवान् तो परब्रह्म, परम सत्य हैं, जो मनुष्य की तरह प्रकट होते हैं, किन्तु उद्धव को संदेह था कि क्या वे अनेक दिव्य कार्य कर सकते हैं।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा निर्विशेष ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। तो फिर भगवान् को इतने सारे कार्य कैसे करने होते हैं, जबकि निर्विशेष ब्रह्म के लिए यह कहा गया है कि उन्हें भौतिक या आध्यात्मिक रूप से कुछ भी नहीं करना पड़ता? यदि भगवान् सदा अजन्मा हैं, तो फिर वे वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में कैसे जन्म लेते हैं? वे काल के लिए भी भयावने हैं, फिर भी वे जरासन्ध से लड़ने से भयभीत रहते हैं और दुर्ग में शरण लेते हैं। जो अपने में पूर्ण हों वे किस तरह अनेक स्त्रियों की संगति में रस लेते हैं? वे किस तरह पत्नियाँ स्वीकार करते हैं और गृहस्थ की तरह पारिवारिक-

जनों, सन्तानों, सम्बन्धियों, तथा माता-पिता में आनन्द पाते हैं? ये सारी परस्पर विरोधी दिखने वाली घटनाएँ बड़े से बड़े विद्वान को विमोहित करती हैं, जो इस तरह मोहित होने के कारण यह नहीं समझ पाते कि अकर्मण्यता तथ्य है या उनके कार्यकलाप मात्र अनुकृत्य नकल हैं।

इसका हल यह है कि भगवान् को किसी भी संसारी वस्तु से कोई सरोकार नहीं होता। उनके सारे कार्यकलाप दिव्य हैं। इसे संसारी चिन्तक नहीं समझ पाते। संसारी चिन्तकों के लिए निश्चय ही एक प्रकार का मोह होता है, किन्तु दिव्य भक्तों के लिए इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं होता। परम सत्य की ब्रह्म धारणा निश्चय ही समस्त संसारी कार्यों से नकारती है किन्तु परब्रह्म अवधारणा दिव्य कार्यों से ओतप्रोत है। जो व्यक्ति ब्रह्म तथा परब्रह्म अवधारणाओं के अन्तर को जानता है, वही असली योगी अर्थात् अध्यात्मवादी है। ऐसे योगियों के लिए कोई विभ्रम नहीं होता। *भगवद्गीता* (१०.२) में भगवान् स्वयं भी घोषित करते हैं "बड़े बड़े मुनि तथा देवता तक मेरे कार्यों तथा मेरी दिव्य शक्तियों के बारे में कुछ नहीं जान सकते।" भगवान् के कार्यों की सही व्याख्या भीष्म पितामह ने (*भागवत* १.९.१६) इस प्रकार की है—

न ह्यस्य कर्हिचिद् राजन् पुमान् वेद विधित्सितम्।

यद् विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोपि हि॥

मन्त्रेषु मां वा उपहूय यत्त्व-
मकुण्ठिताखण्डसदात्मबोधः ।
पृच्छेः प्रभो मुग्ध इवाप्रमत्तस्
तन्नो मनो मोहयतीव देव ॥ १७॥

शब्दार्थ

मन्त्रेषु—मन्त्रणाओं या परामर्शों में; माम्—मुझको; वै—अथवा; उपहूय—बुलाकर; यत्—जितना; त्वम्—आप; अकुण्ठित—बिना हिचक के; अखण्ड—विना अलग हुए; सदा—सदैव; आत्म—आत्मा; बोधः—बुद्धिमान; पृच्छेः—पूछा; प्रभो—हे प्रभु; मुग्धः—मोहग्रस्त; इव—मानो; अप्रमत्तः—यद्यपि कभी मोहित नहीं होता; तत्—वह; नः—हमारा; मनः—मन; मोहयति—मोहित करता है; इव—मानो; देव—हे प्रभु।

हे प्रभु, आपकी नित्य आत्मा कभी भी काल के प्रभाव से विभाजित नहीं होती और आपके पूर्णज्ञान की कोई सीमा नहीं है। इस तरह आप अपने आप से परामर्श लेने में पर्याप्त सक्षम थे, किन्तु फिर भी आपने परामर्श के लिए मुझे बुलाया मानो आप मोहग्रस्त हो गए हैं, यद्यपि आप कभी भी मोहग्रस्त नहीं होते। आपका यह कार्य मुझे मोहग्रस्त कर रहा है।

तात्पर्य : उद्धव वास्तव में कभी भी मोहग्रस्त नहीं थे, किन्तु वे कहते हैं कि ये सभी विरोधी बातें मोहग्रस्त बनाने वाली प्रतीत होती हैं। कृष्ण तथा उद्धव के बीच का सारा विचार-विमर्श मैत्रेय के लाभार्थ था, जो पास ही बैठे थे। भगवान् उद्धव को परामर्श के लिए बुलाते रहते थे जब नगर पर जरासन्ध तथा अन्यों ने आक्रमण किया था और जब उन्होंने द्वारकाधीश के रूप में अपनी नैत्यिक राजसी कार्य के अंग स्वरूप महान् यज्ञ किये थे। भगवान् के लिए कोई भूत, वर्तमान तथा भविष्य नहीं होता, क्योंकि शाश्वत काल का उन पर कोई प्रभाव नहीं होता और उनसे कुछ भी छुपा नहीं है। वे शाश्वत आत्म-प्रबुद्ध हैं। अतएव परामर्श-रूपी प्रकाश पाने के लिए उनका उद्धव को बुलाना निश्चित रूप से आश्चर्यप्रद है। भगवान् के ये सारे कार्य परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, यद्यपि भगवान् के नैत्यिक कार्यों में कोई विरोध नहीं है। इसलिए उन्हें उसी रूप में देखना अच्छा होगा और उनकी व्याख्या करने का कोई प्रयास नहीं किया जाना चाहिए।

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं
प्रोवाच कस्मै भगवान्समग्रम् ।
अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्त-
र्वदाञ्जसा यद्वृजिनं तरेम ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; परम्—परम; स्व-आत्म—निजी आत्मा; रहः—रहस्य; प्रकाशम्—प्रकाश; प्रोवाच—कहा; कस्मै—क (ब्रह्माजी) से; भगवान्—भगवान्; समग्रम्—पूर्ण रूपेण; अपि—यदि ऐसा; क्षमम्—समर्थ; नः—मुझको; ग्रहणाय—स्वीकार्य; भर्तः—हे प्रभु; वद—कहें; अञ्जसा—विस्तार से; यत्—जिससे; वृजिनम्—कष्टों को; तरेम—पार कर सकूँ।

हे प्रभु, यदि आप हमें समझ सकने के लिए सक्षम समझते हों तो आप हमें वह दिव्य ज्ञान बतलाएँ जो आपके विषय में प्रकाश डालता हो और जिसे आपने इसके पूर्व ब्रह्माजी को बतलाया है।

तात्पर्य : उद्धव जैसे शुद्ध भक्त को भौतिक क्लेश नहीं होते, क्योंकि वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगा रहता है। एक भक्त भगवान् के सान्निध्य के बिना दुखी रहता है। भगवान् के कार्यों का सतत स्मरण भक्त को जीवित रखता है, अतएव उद्धव ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे उन्हें भी ब्रह्माजी को पहले उपदेशित किए गये *श्रीमद्भागवत* के ज्ञान से प्रबुद्ध करें।

इत्यावेदितहार्दाय मह्यं स भगवान्परः ।
आदिदेशारविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

इति आवेदित—मेरे द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये जाने पर; हार्दाय—मेरे हृदय के भीतर से; मह्यम्—मुझको; सः—उन; भगवान्—भगवान् ने; परः—परम; आदिदेश—आदेश दिया; अरविन्द-अक्षः—कमल जैसे नेत्रों वाला; आत्मनः—अपनी ही; परमाम्—दिव्य; स्थितिम्—स्थिति।

जब मैंने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अपनी यह हार्दिक इच्छा व्यक्त की तो कमलनेत्र भगवान् ने मुझे अपनी दिव्य स्थिति के विषय में उपदेश दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *परमाम् स्थितिम्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् की दिव्य स्थिति के विषय में तब भी ब्रह्माजी से कुछ नहीं कहा गया था जब *श्रीमद्भागवत* के चार श्लोकों (२.९.३३-३६) की व्याख्या की गई थी। यह दिव्य स्थिति द्वारका तथा वृन्दावन में प्रदर्शित उन भक्तों के प्रति भगवान् के बर्तावों से युक्त है, जो उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे हुए थे। जब भगवान् ने अपनी विशिष्ट दिव्य स्थिति की व्याख्या की तो वह उद्धव के ही लिए थी, इसलिए उद्धव ने विशेष रूप से *मह्यम्* (मुझको) कहा, यद्यपि महर्षि मैत्रेय भी वहीं बैठे थे। ऐसी दिव्य स्थिति उन लोगों की समझ में नहीं आती जिनकी भक्ति ज्ञान या सकाम कर्मों से मिश्रित होती है। भगवान् के गुह्य प्रेम के कार्यकलाप उन सामान्य भक्तों को विरले ही प्रकट किये जाते हैं, जो ज्ञान तथा योग से मिश्रित भक्ति द्वारा आकृष्ट रहते हैं। ऐसे कार्यकलाप भगवान् की अचिन्त्य लीलाएँ होते हैं।

स एवमाराधितपादतीर्थाद्
अधीततत्त्वात्मविबोधमार्गः ।
प्रणम्य पादौ परिवृत्य देव-
मिहागतोऽहं विरहातुरात्मा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—अतएव मैं; एवम्—इस प्रकार; आराधित—पूजित; पाद-तीर्थात्—भगवान् से; अधीत—अध्ययन किया हुआ; तत्त्व-आत्म—आत्मज्ञान; विबोध—ज्ञान, जानकारी; मार्गः—पथ; प्रणम्य—प्रणाम करके; पादौ—उनके चरणकमलों पर; परिवृत्य—प्रदक्षिणा करके; देवम्—भगवान्; इह—इस स्थान पर; आगतः—पहुँचा; अहम्—मैं; विरह—वियोग; आतुर-आत्मा—आत्मा में दुखी, दुखित आत्मा से।

मैंने अपने आध्यात्मिक गुरु भगवान् से आत्मज्ञान के मार्ग का अध्ययन किया है, अतएव उनकी प्रदक्षिणा करके मैं उनके विरह-शोक से पीड़ित होकर इस स्थान पर आया हूँ।

तात्पर्य : श्री उद्धव का वास्तविक जीवन *चतुः श्लोकी भागवत* का प्रत्यक्ष प्रतीक है, जिसे

भगवान् ने सर्वप्रथम ब्रह्माजी से कहा था। *श्रीमद्भागवत* के इन अत्यन्त महान् तथा महत्त्वपूर्ण श्लोकों को मायावादी चिन्तक, विशेष रूप से अलग करके, अपने अद्वैतवादी निर्विशेष मत का अनुमोदन करने के लिए इनका भिन्न तात्पर्य निकालते हैं। यहाँ पर ऐसे अनधिकृत चिन्तकों के लिए सही उत्तर दिया गया है। *श्रीमद्भागवत* के श्लोक शुद्ध आस्तिक विज्ञान हैं, जिन्हें *भगवद्गीता* के परास्नातक अध्येता समझ सकते हैं। अनधिकृत शुष्क चिन्तक तो भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों पर अपराधी हैं, क्योंकि वे लोग जनता को गुमराह करने के लिए *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के तात्पर्यों को तोड़ते मरोड़ते हैं और इस तरह अन्धतामिस्र नामक नरक में जाने का सीधा मार्ग प्रशस्त करते हैं। *भगवद्गीता* (१६.२०) में पुष्टि की गई है कि ऐसे ईर्ष्यालु चिन्तक ज्ञानरहित होते हैं और जन्म-जन्मांतर निन्दा के पात्र बनते हैं। वे व्यर्थ ही श्रीपाद शंकराचार्य का आश्रय लेते हैं, जो स्वयं इतने उग्र न थे कि भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर अपराध करते। श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुसार श्रीपाद शंकराचार्य ने किसी विशेष उद्देश्य से मायावाद दर्शन का प्रचार किया। ऐसा दर्शन आत्मा के अनस्तित्व वाले बौद्ध दर्शन को परास्त करने के लिए आवश्यक था। किन्तु इसका उद्देश्य शाश्वत स्वीकृति के लिए कभी नहीं था। यह एक आकस्मिता थी। इसीलिए शंकराचार्य ने *भगवद्गीता* पर लिखे अपने भाष्य में कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् स्वीकार किया। चूँकि वे कृष्ण के महान् भक्त थे, अतएव उन्होंने *श्रीमद्भागवत* पर कोई टीका लिखने का दुस्साहस नहीं किया, क्योंकि यह भगवान् के चरणकमलों पर सीधा अपराध होता। किन्तु मायावाद दर्शन के नाम पर परवर्ती-चिन्तक बिना किसी प्रामाणिक उद्देश्य के चतु:श्लोकी *भागवत* पर अपनी टीका करते हैं।

अद्वैतवादी शुष्क चिन्तकों का *श्रीमद्भागवत* से कोई सरोकार नहीं है, क्योंकि इस विशेष वैदिक ग्रंथ के महान् प्रणेता ने स्वयं इसका निषेध उनके लिए किया है। श्रील व्यासदेव ने धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में लगे हुए व्यक्तियों को *श्रीमद्भागवत* के समझने का प्रयास करने के लिए निश्चित रूप से मना किया है, क्योंकि यह ग्रन्थ उनके लिए नहीं है। (*भागवत१.१.२*) *श्रीमद्भागवत* के महान् टीकाकार श्रीपाद श्रीधर स्वामी ने मोक्षवादियों या अद्वैतवादियों को *श्रीमद्भागवत* के विषय में कुछ भी सरोकार रखने से मना किया है। यह उनके लिए नहीं है। फिर भी ऐसे अनधिकृत व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* को समझने का हठपूर्वक प्रयास करते हैं, जो दुस्साहस श्रीपाद शंकराचार्य तक नहीं कर सके। इस तरह

वे भगवान् के चरणकमलों पर अपराध करते रहते हैं और अपना दुखी जीवन बनाये रखते हैं। यहाँ पर यह विशेष ध्यान देने की बात है कि उद्धव ने *चतु:श्लोकी भागवत* सीधे भगवान् से पढ़ी जिन्होंने इसे सर्वप्रथम ब्रह्माजी से कहा और इस बार *परमां स्थितिं* के रूप में आत्मज्ञान की अधिक गुह्य रूप से व्याख्या की। प्रेम के ऐसे आत्मज्ञान को सीख कर उद्धव भगवान् के विरह भावों से अत्यधिक दुखी हुए। जब तक उद्धव की अवस्था तक जागृत न हो लिया जाय तब तक *श्रीमद्भागवत* के इन चार अनिवार्य श्लोकों का असली अर्थ नहीं समझा जा सकता। उद्धव जैसी अविरत वियोग की यह अवस्था श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी प्रकट की थी। किसी को *श्रीमद्भागवत* के अर्थ को तोड़ने मरोड़ने के अनधिकृत कार्य में प्रवृत्त होकर अपराध के घातक मार्ग पर अपने को नहीं डालना चाहिए।

सोऽहं तद्दर्शनाह्लादवियोगार्तियुतः प्रभो ।
गमिष्ये दयितं तस्य बदर्याश्रममण्डलम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—इस तरह स्वयं मैं; तत्—उसका; दर्शन—दर्शन; आह्लाद—आनन्द के; वियोग—विरह; आर्ति-युतः—दुख से पीड़ित; प्रभो—हे प्रभु; गमिष्ये—जाऊँगा; दयितम्—इस तरह उपदेश दिया गया; तस्य—उसका; बदर्याश्रम—हिमालय स्थित बदरिकाश्रम; मण्डलम्—संगति।.

हे विदुर, अब मैं उनके दर्शन से मिलने वाले आनन्द के अभाव में पागल हो रहा हूँ और इसे कम करने के लिए ही अब मैं संगति के लिए हिमालय स्थित बदरिकाश्रम जा रहा हूँ जैसा कि उन्होंने मुझे आदेश दिया है।

तात्पर्य : उद्धव के स्तर का शुद्ध भगवद्भक्त एकसाथ विरह तथा मिलन की दुहरी अनुभूति में निरन्तर भगवान् की संगति करता है। शुद्ध भक्त क्षण भर भी भगवान् की दिव्य सेवा से विरत नहीं होता। भगवान् की सेवा करना ही शुद्ध भक्त का मुख्य कार्य है। उद्धव को भगवान् का वियोग असह्य था, अतएव भगवान् के आदेश का पालन करने के लिए ही वे बदरिकाश्रम के लिए चल पड़े, क्योंकि भगवान् का आदेश तथा भगवान् अभिन्न हैं। जब तक मनुष्य भगवान् के आदेश का पालन करने में सचेष्ट रहता है तब तक उनसे वास्तविक वियोग नहीं सताता।

यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवानृषिः ।
मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; नारायणः—भगवान्; देवः—अवतार से; नरः—मनुष्य; च—भी; भगवान्—स्वामी; ऋषिः—ऋषि; मृदु—मिलनसार; तीव्रम्—कठिन; तपः—तपस्या; दीर्घम्—दीर्घकाल; तेपाते—करते हुए; लोक-भावनौ—सारे जीवों का मंगल।

वहाँ बदरिकाश्रम में नर तथा नारायण ऋषियों के रूप में अपने अवतार में भगवान् अनादिकाल से समस्त मिलनसार जीवों के कल्याण हेतु महान् तपस्या कर रहे हैं।

तात्पर्य : हिमालय स्थित बदरिकाश्रम नर-नारायण ऋषियों का धाम है और हिन्दुओं का एक महान् तीर्थस्थल है। अभी भी लाखों पवित्र हिन्दू लोग भगवान् के अवतार नर नारायण के प्रति श्रद्धा अर्पित करने जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी उद्धव जैसे पवित्र व्यक्ति इस भारी स्थल में जाते थे और उस समय भी यह अत्यन्त प्राचीन स्थान के नाम से विख्यात था। सामान्य लोगों के लिए इस विशेष तीर्थस्थल तक पहुँच पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि हिमालय में यह विकट जगह पर स्थित है, जो प्राय: वर्ष भर बर्फ से ढकी रहती है। ग्रीष्म-ऋतु के कुछ महीनों में ही महान् व्यक्तिगत असुविधा सहन करके लोग इस स्थान को जा सकते हैं। इस पृथ्वी पर चार धाम अर्थात् ईश्वर के राज्य हैं, जो आध्यात्मिक आकाश के लोकों के प्रतीक हैं जिनमें *ब्रह्मज्योति* तथा वैकुण्ठलोक आते हैं। ये चार धाम हैं—बदरिकाश्रम, रामेश्वर, जगन्नाथ पुरी तथा द्वारका। श्रद्धालु हिन्दू आध्यात्मिक साक्षात्कार की सिद्धि हेतु उद्धव जैसे भक्तों के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए अब भी इन सभी पवित्र स्थानों में जाते हैं।

श्रीशुक उवाच
इत्युद्धवादुपाकर्ण्य सुहृदां दुःसहं वधम् ।
ज्ञानेनाशमयत्क्षत्ता शोकमुत्पतितं बुधः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकगोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उद्धवात्—उद्धव से; उपाकर्ण्य—सुनकर; सुहृदाम्—मित्रों तथा सम्बन्धियों का; दुःसहम्—असह्य; वधम्—संहार; ज्ञानेन—दिव्य ज्ञान से; अशमयत्—स्वयं को सान्त्वना दी; क्षत्ता—विदुर ने; शोकम्—वियोग; उत्पतितम्—उत्पन्न हुआ; बुधः—विद्वान्।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : उद्धव से अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के संहार के विषय में सुनकर विद्वान् विदुर ने स्वयं के दिव्य ज्ञान के बल पर अपने असह्य शोक को प्रशमित किया।

तात्पर्य : विदुर को बताया गया कि कुरुक्षेत्र के युद्ध के परिणाम-स्वरूप उनके मित्रों तथा सम्बन्धियों के संहार के साथ-साथ यदुवंश का विनाश तथा भगवान् का प्रयाण हो चुका है। इन सबसे

कुछ समय तक वे शोकाकुल हो उठे, किन्तु दिव्य ज्ञान में अत्यधिक बढ़े-चढ़े होने से वे अपने को उस ज्ञान द्वारा शान्त करने में पर्याप्त समर्थ थे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, शारीरिक सम्बन्धों के साथ दीर्घकालीन संगति के फलस्वरूप मित्रों तथा सम्बन्धियों के संहार के कारण शोक का होना तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है, किन्तु मनुष्य को उच्चतर दिव्य ज्ञान के द्वारा ऐसे शोक को दमित करने की कला सीखनी चाहिए। उद्धव तथा विदुर के बीच कृष्ण विषयक वार्ता की शुरुआत संध्या समय हुई और अब उद्धव की संगति से विदुर का ज्ञान और भी बढ़ गया।

स तं महाभागवतं व्रजन्तं कौरवर्षभः ।
विश्रम्भादभ्यधत्तेदं मुख्यं कृष्णपरिग्रहे ॥ २४॥

शब्दार्थ

सः—विदुर ने; तम्—उद्धव से; महा-भागवतम्—भगवान् का महान् भक्त; व्रजन्तम्—जाते हुए; कौरव-ऋषभः—कौरवों में सर्वश्रेष्ठ; विश्रम्भात्—विश्वास वश; अभ्यधत्त—निवेदन किया; इदम्—यह; मुख्यम्—प्रधान; कृष्ण—भगवान् कृष्ण की; परिग्रहे—भगवद्भक्ति में।.

भगवान् के प्रमुख तथा अत्यन्त विश्वस्त भक्त उद्धव जब जाने लगे तो विदुर ने स्नेह तथा विश्वास के साथ उनसे प्रश्न किया।

तात्पर्य : विदुर उद्धव से काफी बड़े थे। पारिवारिक सम्बन्ध में उद्धव कृष्ण के समकालीन भाई थे जबकि विदुर कृष्ण के पिता वसुदेव की उम्र के थे। किन्तु उद्धव उम्र में कम होते हुए भी भगवद्भक्ति में अत्यधिक बढ़े-चढ़े थे, इसीलिए उन्हें यहाँ पर भगवान् के भक्तों में प्रमुख कहा गया है। विदुर को इसका विश्वास था, अतः उन्होंने उद्धव को उसी उच्चतर श्रेणी का मान कर सम्बोधित किया। दो भक्तों के बीच शिष्ट बर्ताव की यही रीति है।

विदुर उवाच
ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं
यदाह योगेश्वर ईश्वरस्ते ।
वक्तुं भवान्नोऽर्हति यद्धि विष्णो
र्भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; ज्ञानम्—ज्ञान; परम्—दिव्य; स्व-आत्म—आत्मा विषयक; रहः—रहस्य; प्रकाशम्—प्रबुद्धता; यत्—जो; आह—कहा; योग-ईश्वरः—समस्त योगों के स्वामी; ईश्वरः—भगवान् ने; ते—तुमसे; वक्तुम्—कहने के लिए;

भवान्—आप; नः—मुझसे; अर्हति—योग्य हैं; यत्—क्योंकि; हि—कारण से; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; भृत्याः—सेवक; स्व-भृत्य-अर्थ-कृतः—अपने सेवकों के हित के लिए; चरन्ति—विचरण करते हैं।

विदुर ने कहा : हे उद्धव, चूँकि भगवान् विष्णु के सेवक अन्यों की सेवा के लिए विचरण करते हैं, अतः यह उचित ही है कि आप उस आत्मज्ञान का वर्णन करें जिससे स्वयं भगवान् ने आपको प्रबुद्ध किया है।

तात्पर्य : भगवान् के सेवक वास्तव में समाज के सेवक होते हैं। मानव समाज को दिव्य ज्ञान में प्रबुद्ध बनाने के अतिरिक्त उनकी कोई रुचि नहीं होती। वे परमेश्वर से जीव के सम्बन्ध, उस दिव्य सम्बन्ध में कार्यकलाप तथा मानव जीवन के चरम उद्देश्य विषयक ज्ञान को प्रदान करने में रुचि लेते हैं। यही असली ज्ञान है, जो मानव कल्याण के असली लक्ष्य को प्राप्त करने में समाज की सहायता कर सकता है। खाने, सोने, संभोग करने तथा भयभीत रहने की शारीरिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित ज्ञान उन्नति की विविध शाखाओं में रूपान्तरित होकर भी नश्वर होता है। जीव भौतिक शरीर नहीं, अपितु परम पुरुष का नित्य अंश है, अतः उसके आत्मज्ञान को पुनर्जागरित करना आवश्यक है। इस ज्ञान के बिना मानव-जीवन उलझन में पड़ जाता है। भगवान् विष्णु के सेवकों को यह उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंपा गया है, अतः वे पृथ्वी पर तथा ब्रह्माण्ड के अन्य लोकों में विचरण करते हैं। इसप्रकार उद्धव को सीधे भगवान् से जो ज्ञान प्राप्त हुआ था वह मानव समाज में वितरण करने के योग्य है, विशेष रूप से विदुर जैसे पुरुषों में जो भगवद्भक्ति में अत्यधिक बढ़े-चढ़े हैं।

असली दिव्य ज्ञान भगवान् से उद्धव, उद्धव से विदुर और ऐसे ही आगे शिष्य-परम्परा द्वारा आगे-आगे उतरता जाता है। ऐसे परम दिव्य ज्ञान को उस अधूरी चिन्तन विधि से प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं जैसाकि लौकिक झगड़ालू तथाकथित विद्वान् करते हैं। विदुर उद्धव से उस गुह्य ज्ञान को जानने के लिए उत्सुक थे, जो *परमां स्थितिम्* कहलाता है, जिसमें भगवान् अपनी दिव्य लीलाओं द्वारा जाने जाते हैं। यद्यपि विदुर उद्धव से बड़े थे, किन्तु आध्यात्मिक सम्बन्ध में वे उद्धव का सेवक बनने को उत्सुक थे। दिव्य शिष्य-परम्परा का यह सूत्र चैतन्य महाप्रभु ने भी सिखाया है। श्री चैतन्य महाप्रभु सलाह देते हैं कि मनुष्य को किसी से भी, चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, गृहस्थ हो या संन्यासी, दिव्य ज्ञान ग्रहण करना चाहिए बशर्ते कि वह व्यक्ति कृष्ण-विज्ञान में यथार्थ रूप में पटु हो। वस्तुतः, जो व्यक्ति कृष्ण-विज्ञान जानता है, वही प्रामाणिक गुरु है।

उद्धव उवाच
ननु ते तत्त्वसंराध्य ऋषिः कौषारवोऽन्तिके ।
साक्षाद्भगवतादिष्टो मर्त्यलोकं जिहासता ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

उद्धवः उवाच—उद्धव ने कहा; ननु—लेकिन; ते—तुम्हारा; तत्त्व-संराध्यः—दिव्य ज्ञान को ग्रहण करने के लिए पूजनीय; ऋषिः—विद्वान्; कौषारवः—कौषारु पुत्र (मैत्रेय) को; अन्तिके—निकट; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवता—भगवान् द्वारा; आदिष्टः—आदेश दिया गया; मर्त्य-लोकम्—मर्त्यलोक को; जिहासता—छोड़ते हुए।

श्री उद्धव ने कहा : आप महान् विद्वान ऋषि मैत्रेय से शिक्षा ले सकते हैं, जो पास ही में हैं और जो दिव्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए पूजनीय हैं। जब भगवान् इस मर्त्यलोक को छोड़ने वाले थे तब उन्होंने मैत्रेय को प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा दी थी।

तात्पर्य : कोई भले ही दिव्य विज्ञान में पारंगत क्यों न हो, उसे *मर्यादा-व्यतिक्रम* अर्थात् अपने से उच्च पुरुष की धृष्टता-पूर्वक अवमानना के अपराध के विषय में सतर्क रहना चाहिए। शास्त्रों के आदेशानुसार मनुष्य को *मर्यादा-व्यतिक्रम* नियम का उल्लंघन करने के प्रति अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से उसकी आयु, उसका ऐश्वर्य, यश तथा पुण्य और सारे जगत के शुभाशीषों का विनाश होता है। दिव्य ज्ञान में पारंगत होने के लिए आध्यात्मिक विज्ञान की तकनीकों के प्रति जानकारी होना आवश्यक है। दिव्य ज्ञान की इन सारी बारीकियों से भलीभाँति परिचित होने के कारण उद्धव ने विदुर को सलाह दी कि दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए वे मैत्रेय ऋषि के पास जाँए।

विदुर उद्धव को अपना गुरु मानना चाहते थे, किन्तु उद्धव ने यह पद स्वीकार नहीं किया, क्योंकि विदुर उद्धव के पिता जितनी उम्र के थे, अतएव उद्धव उन्हें शिष्य रूप में स्वीकार नहीं कर सकते थे, विशेष रूप से जब मैत्रेय पास में ही उपस्थित थे। नियम यह है कि अपने से बड़े पुरुष की उपस्थिति में उपदेश देने के लिए किसी को उत्सुक नहीं होना चाहिए चाहे कोई कितना ही दक्ष तथा निष्णात क्यों न हो। इसलिए उद्धव ने विदुर-जैसे वयोवृद्ध व्यक्ति को एक अन्य वयोवृद्ध व्यक्ति मैत्रेय के पास भेजने का निर्णय लिया। वे भी निष्णात थे, क्योंकि भगवान् ने मर्त्यलोक से प्रयाण करते समय उन्हें भी स्वयं उपदेश दिया था। चूँकि उद्धव तथा मैत्रेय दोनों ही को सीधे भगवान् ने उपदेश दिया था, अतएव दोनों को विदुर का या अन्य किसी का गुरु बनने का अधिकार था। किन्तु वयोवृद्ध होने के कारण मैत्रेय को विदुर का गुरु बनने का पहला अधिकार था, क्योंकि विदुर आयु में उद्धव से काफी बड़े थे। किसी

मनुष्य को लाभ तथा यश के लिए सस्ता आध्यात्मिक गुरु बनने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए, अपितु केवल भगवान् की सेवा के निमित्त ही गुरु बनना चाहिए। भगवान् कभी भी *मर्यादा-व्यतिक्रम* की धृष्टता को सहन नहीं करते। मनुष्य को चाहिए कि अपने निजी लाभ तथा यश के लिए वयोवृद्ध गुरुओं को प्राप्य सम्मान में ऊपर-चढ़ी न करे। छद्म गुरु के लिए ढिठाई करना आध्यात्मिक साक्षात्कार में प्रगति के लिए अत्यन्त घातक है।

श्रीशुक उवाच
इति सह विदुरेण विश्वमूर्ते-
र्गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः ।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्तां
समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात् ॥ २७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; सह—साथ; विदुरेण—विदुर के; विश्व-मूर्तेः—विराट पुरुष का; गुण-कथया—दिव्य गुणों की बातचीत के दौरान; सुधया—अमृत के तुल्य; प्लावित-उरु-तापः—अत्यधिक कष्ट से अभिभूत; क्षणम्—क्षण; इव—सदृश; पुलिने—तट पर; यमस्वसुः ताम्—उस यमुना नदी के; समुषितः—बिताया; औपगविः—औपगव का पुत्र (उद्धव); निशाम्—रात्रि; ततः—तत्पश्चात्; अगात्—चला गया।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, इस तरह यमुना नदी के तट पर विदुर से (भगवान् के) दिव्य नाम, यश, गुण इत्यादि की चर्चा करने के बाद उद्धव अत्यधिक शोक से अभिभूत हो गये। उन्होंने सारी रात एक क्षण की तरह बिताई। तत्पश्चात् वे वहाँ से चले गये।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्ण के लिए *विश्वमूर्ति* शब्द का प्रयोग हुआ है। उद्धव तथा विदुर दोनों ही भगवान् कृष्ण के प्रयाण से अत्यधिक दुखी थे। वे भगवान् के दिव्य नाम, यश तथा गुणों के बारे में जितनी अधिक चर्चा करते गये उतना ही उन्हें भगवान् का चित्र सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगा। भगवान् के दिव्य स्वरूप का ऐसा मानस-दर्शन न तो मिथ्या है न काल्पनिक, अपितु वास्तविक परम सत्य है। जब भगवान् को विश्वमूर्ति के रूप में देखा जाता है, तो वे न तो अपना व्यक्तित्व खोते हैं न ही अपना दिव्य नित्य स्वरूप, अपितु वे सर्वत्र उसी रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

राजोवाच
निधनमुपगतेषु वृष्णिभोजे-
ष्वधिरथयूथपयूथपेषु मुख्यः ।

स तु कथमवशिष्ट उद्धवो यद्
धरिरपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने पूछा; निधनम्—विनाश; उपगतेषु—हो जाने पर; वृष्णि—वृष्णिवंश; भोजेषु—भोजवंश का; अधिरथ—महान् सेनानायक; यूथ-प—मुख्य सेनानायक; यूथ-पेषु—उनके बीच; मुख्यः—प्रमुख; सः—वह; तु—केवल; कथम्—कैसे; अवशिष्टः—बचा रहा; उद्धवः—उद्धव; यत्—जबकि; हरिः—भगवान् ने; अपि—भी; तत्यजे—समाप्त किया; आकृतिम्—सम्पूर्ण लीलाएँ; त्रि-अधीशः—तीनों लोकों के स्वामी।

राजा ने पूछा : तीनों लोकों के स्वामी श्रीकृष्ण की लीलाओं के अन्त में तथा उन वृष्णि एवं भोज वंशों के सदस्यों के अन्तर्धान होने पर, जो महान् सेनानायकों में सर्वश्रेष्ठ थे, अकेले उद्धव क्यों बचे रहे?

तात्पर्य : श्री जीव गोस्वामी के अनुसार *निधनम्* का अर्थ है भगवान् का दिव्य धाम। *नि* का अर्थ है सर्वोच्च तथा *धनम्* का अर्थ हैं ऐश्वर्य। चूँकि भगवान् का धाम दिव्य ऐश्वर्य की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है, अतएव उनके धाम को *निधनम्* कहा जा सकता है। व्याकरणिक स्पष्टीकरण के अतिरिक्त *निधनम्* शब्द का असली उद्देश्य यह सूचित करना है कि वृष्णि तथा भोज कुलों के सारे सदस्य भगवान् के प्रत्यक्ष संगी थे और भगवान् की लीलाओं की समाप्ति पर उन संगियों को दिव्यधाम में उनके अपने-अपने पदों पर भेज दिया गया था।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *आकृतिम्* शब्द का अर्थ लीलाओं के रूप में किया है। *आ* का अर्थ है पूर्ण और *कृतिम्* का अर्थ दिव्य लीलाएँ है। चूँकि भगवान् अपने दिव्य शरीर से अभिन्न हैं, अतएव उनके शरीर के बदलने या त्यागने का प्रश्न ही नहीं है। भौतिक जगत के रीति-रिवाजों और नियमों के अनुसार कर्म करने के लिए भगवान् जन्म धारण करते या शरीर-त्याग करते हैं, किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त वास्तविकता से सुपरिचित होते हैं। इसलिए *श्रीमद्भागवत* के गम्भीर अध्येताओं के लिए आवश्यक है कि वे जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती जैसे महान् आचार्यों की टीका-टिप्पणियों का अनुसरण करें। अन्य लोग, जो कि भगवद्भक्त नहीं हैं, उनके लिए ऐसे आचार्यों की टीकाएँ एवं व्याख्याएँ व्याकरणिक वाग्जाल प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु शिष्य-परम्परा का अनुसरण करने वाले छात्रों के लिए महान् आचार्यों की व्याख्याएँ अत्यन्त उपयुक्त हैं।

उपगतेषु शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। वृष्णि तथा भोज कुलों के सारे सदस्य सीधे भगवान् के धाम पहुँच गये। अन्य भक्तगण भगवद्धाम सीधे नहीं पहुँचते, किन्तु भगवान् के शुद्ध संगियों को भौतिक

जगत के किसी भी लोक के ऐश्वर्य के प्रति कोई आकर्षण नहीं होता। कभी-कभी जिज्ञासा-वश भगवद्धाम पहुँचने वाले कुछ भक्तों का पृथ्वी के ऊपर के उच्चतर लोकों के ऐश्वर्य के प्रति कुछ आकर्षण होता है, अतएव सिद्धि प्राप्त करते समय वे उन्हें देखने की इच्छा करते हैं। किन्तु वृष्णियों तथा भोजों को सीधे ही वहाँ भेज दिया गया, क्योंकि उन्हें भौतिक लोकों के प्रति कोई आकर्षण नहीं था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भी सुझाव देते है कि *अमरकोश* के अनुसार *आकृति* का अर्थ 'संकेत'' भी है। भगवान् कृष्ण ने अपने प्रयाण के पश्चात् संकेत द्वारा उद्धव को बदरिकाश्रम जाने का आदेश दिया और शुद्ध भक्त होने से उद्धव ने भगवद्धाम वापस जाने की अपेक्षा अधिक श्रद्धापूर्वक उस आदेश का पालन किया। पृथ्वी के धरातल से भगवान् के प्रयाण के बाद भी उनके अकेले रहते जाने का यही कारण था।

श्रीशुक उवाच
ब्रह्मशापापदेशेन कालेनामोघवाञ्छितः ।
संहृत्य स्वकुलं स्फीतं त्यक्ष्यन्देहमचिन्तयत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; ब्रह्म-शाप—ब्रह्मणों द्वारा शाप दिया जाना; अपदेशेन—बहाने से; कालेन—नित्य काल द्वारा; अमोघ—अचूक; वाञ्छितः—ऐसा चाहने वाला; संहृत्य—बन्द करके; स्व-कुलम्—अपने परिवार को; स्फीतम्—असंख्य; त्यक्ष्यन्—त्यागने के बाद; देहम्—विश्व रूप को; अचिन्तयत्—अपने आप में सोचा।

शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया : हे प्रिय राजन्, ब्राह्मण का शाप तो केवल एक बहाना था, किन्तु वास्तविक तथ्य तो भगवान् की परम इच्छा थी। वे अपने असंख्य पारिवारिक सदस्यों को भेज देने के बाद पृथ्वी के धरातल से अन्तर्धान हो जाना चाहते थे। उन्होंने अपने आप इस तरह सोचा।

तात्पर्य : इस श्लोक में श्रीकृष्ण द्वारा अपना शरीर परित्याग करने के सम्बन्ध में *त्यक्ष्यन्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चूँकि वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं, अतः उनका शरीर तथा उनकी आत्मा अभिन्न हैं। अतएव यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वे अपना शरीर त्यागें और तब इस जगत की दृष्टि से ओझल हों? भगवान् के रहस्यमय तिरोधान के विषय में अभक्तों या मायावादियों के बीच अत्यधिक विवाद है और अल्पज्ञों की शंकाओं को श्रील जीव गोस्वामी ने अपने *कृष्ण सन्दर्भ* में विस्तार से स्पष्ट किया है।

ब्रह्म-संहिता के अनुसार भगवान् के अनेक स्वरूप हैं। उसमें कहा गया है कि भगवान् के असंख्य

रूप हैं और जब वे जीवों की दृष्टि के अन्तर्गत प्रकट होते हैं जैसाकि भगवान् कृष्ण वास्तव में प्रकट हुए, तो ये सारे स्वरूप उनमें मिल जाते हैं। इन अच्युत रूपों के अतिरिक्त उनका विश्वरूप है, जिसे उन्होंने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन के समक्ष प्रकट किया। इस श्लोक में *स्फीतम्* शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, जो यह संकेत करता है कि उन्होंने अपने *विराट् रूप* का परित्याग किया, अपने आदि नित्य रूप का नहीं, क्योंकि उनके सच्चिदानन्द स्वरूप के बदलने की कोई सम्भावना नहीं है। भगवान् के भक्तगण इस सरल ज्ञान से तुरन्त अवगत हो जाते हैं, किन्तु जो अभक्त हैं और भगवान् की कोई भक्ति भक्तिमय सेवा नहीं करते, वे या तो इस सरल तथ्य को समझते नहीं या जान बूझकर भगवान् के दिव्य शरीर की नित्यता को झुठलाने के लिए विवाद खड़ा करते हैं। यह उस दोष के कारण है, जिसे अपूर्ण जीवों को ठगने की प्रवृति कहते हैं।

व्यावहारिक अनुभव से भी आज तक यह देखा जाता है कि भगवान् के दिव्य स्वरूप की पूजा भक्तों द्वारा विभिन्न मन्दिरों में की जाती है और भगवान् के सारे भक्त यथार्थ के रूप में अनुभव करते हैं कि मन्दिर में अर्चाविग्रह का स्वरूप भगवान् के स्वरूप से अभिन्न है। भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के इस अचिन्त्य कार्य का वर्णन *भगवद्गीता* (७.२५) में किया गया है—*नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावृत: ।* भगवान् को यह अधिकार है कि वे सबों के समक्ष प्रकट न हों। *पद्म पुराण* में कहा गया है—*अत: श्रीकृष्ण नामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियै: ।* भगवान् का नाम तथा रूप भौतिक इन्द्रियों द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। किन्तु जब वे संसारी लोगों को दृष्टिगोचर होते हैं, तो वे *विराट् रूप* धारण कर लेते हैं। यह स्वरूप का अतिरिक्त भौतिक प्रदर्शन है और विशेष्य तथा इसके विशेषणों के तर्क द्वारा मान्य है। व्याकरण में जब किसी विशेषण का विशेष्य अलग कर दिया जाता है, तो इसके द्वारा विशेषित विशेष्य बदलता नहीं। इसी तरह जब भगवान् अपना विराट् रूप त्यागते हैं, तो उनका नित्य रूप बदलता नहीं, यद्यपि उनमें तथा उनके असंख्य रूपों में से किसी एक में कोई अन्तर नहीं है। पंचम स्कन्ध में यह देखने को मिलेगा कि किस तरह विभिन्न लोकों में अब भी भगवान् की पूजा विभिन्न रूपों में की जाती है और इस पृथ्वी पर भी विभिन्न मन्दिरों में किस तरह उनकी पूजा की जाती है।

श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपनी टीकाओं में वैदिक साहित्य के

विभिन्न प्रामाणिक संस्करणों से उद्धरण देते हुए भगवान् के तिरोधान की इस घटना की विस्तृत व्याख्या दी है। इस ग्रन्थ की आकार-वृद्धि के भय से हम जानबूझकर उन सबों को यहाँ समाविष्ट नहीं कर रहे हैं। यह सारा प्रसंग *भगवद्गीता* में विवेचित है जैसाकि ऊपर उद्धरण दिया गया है; भगवान् को अधिकार है कि वे हर एक के समक्ष प्रकट न हों। वे उन अभक्तों की दृष्टि से, जो प्रेम तथा भक्ति से विहीन हैं, अपने को सदैव दूर रखते हैं और इस तरह उन्हें अपने से अधिकाधिक दूर करते जाते हैं। ब्रह्मा के अनुरोध पर भगवान् प्रकट हुए थे, क्योंकि उन्होंने क्षीरोदकशायी विष्णु के समक्ष प्रार्थना की थी, अतएव जब भगवान् प्रकट हुए तो विष्णु के सारे रूप उन्हीं में मिल गये और जब उद्देश्य पूरा हो गया तो वे यथासमय उनसे विलग हो गये।

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम् ।
अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अस्मात्—इस (ब्रह्माण्ड) से; लोकात्—पृथ्वी से; उपरते—ओझल होने पर; मयि—मेरे विषय के; ज्ञानम्—ज्ञान; मत्-आश्रयम्—मुझसे सम्बन्धित; अर्हति—योग्य होता है; उद्धवः—उद्धव; एव—निश्चय ही; अद्धा—प्रत्यक्षतः; सम्प्रति—इस समय; आत्मवताम्—भक्तों में; वरः—सर्वोपरि।

अब मैं इस लौकिक जगत की दृष्टि से ओझल हो जाऊँगा और मैं समझता हूँ कि मेरे भक्तों में अग्रणी उद्धव ही एकमात्र ऐसा है, जिसे मेरे विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से सौंपा जा सकता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *ज्ञानं मद्-आश्रयम्* महत्त्वपूर्ण है। दिव्य ज्ञान के तीन विभाग हैं—निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान, सर्वव्यापक परमात्मा का ज्ञान तथा भगवान् का ज्ञान। इन तीनों में से भगवान् के दिव्य ज्ञान का विशेष महत्त्व है और यह *भगवत्-तत्त्व-विज्ञान* कहलाता है। यह विशिष्ट ज्ञान शुद्ध भक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, अन्य किसी साधन द्वारा नहीं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८-५५) में हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*—एकमात्र भक्तिमय सेवा में लगे व्यक्ति ही भगवान् की दिव्य स्थिति को ठीक से जान सकते हैं। उद्धव उस काल के भक्तों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे, अतएव भगवत्कृपा से उन्हें सीधे उपेदश दिया गया जिससे इस जगत की दृष्टि से भगवान् के ओझल हो जाने के बाद लोग उद्धव के ज्ञान का लाभ उठा सकें। उद्धव को बदरिकाश्रम जाने के लिए, जहाँ

भगवान् नर-नारायण अर्चाविग्रह के रूप में स्थित हैं, सलाह दिये जाने के कारणों में से यह एक कारण है। जो मनुष्य आध्यात्मिक रूप से अग्रणी है, वह मन्दिर-अर्चाविग्रह से प्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। इस तरह भगवद्भक्त सदैव दिव्य ज्ञान में भगवत्कृपा से उल्लेखनीय प्रगति करने के लिए भगवान् के मान्यता प्राप्त मन्दिर की शरण ग्रहण करता है।

नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः ।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; उद्धवः—उद्धव; अणु—रंचभर; अपि—भी; मत्—मुझसे; न्यूनः—घटकर; यत्—क्योंकि; गुणैः—प्रकृति के गुणों के द्वारा; न—न तो; अर्दितः—प्रभावित; प्रभुः—स्वामी; अतः—इसलिए; मत्-वयुनम्—मेरा (भगवान् का) ज्ञान; लोकम्—संसार; ग्राहयन्—प्रसार करने के लिए; इह—इस संसार में; तिष्ठतु—रहता रहे।

उद्धव किसी भी तरह मुझसे घटकर नहीं है, क्योंकि वह प्रकृति के गुणों द्वारा कभी भी प्रभावित नहीं हुआ है। अतएव भगवान् के विशिष्ट ज्ञान का प्रसार करने के लिए वह इस जगत में रहता रहे।

तात्पर्य : भगवान् का प्रतिनिधि बनने के लिए जिस विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता होती है, वह है : प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहना। भौतिक जगत में मनुष्य की सर्वोच्च योग्यता ब्राह्मण बनना है। किन्तु, चूँकि ब्राह्मण सतोगुणी होता है, अतः ब्राह्मण होना ही भगवान् का प्रतिनिधि बनने के लिए पर्याप्त नहीं है। मनुष्य को सतोगुण को भी लाँघ कर शुद्ध सत्त्व में स्थित होना पड़ता है, जो प्रकृति के किसी भी गुण से प्रभावित नहीं होता है। दिव्य योग्यता की यह अवस्था *शुद्ध सत्त्व* या *वसुदेव* कहलाती है और इस अवस्था में ईश-विज्ञान की अनुभूति की जा सकती है। जिस तरह भगवान् प्रकृति के गुणों से प्रभावित नहीं होते उसी तरह भगवान् का शुद्ध भक्त भी प्रकृति के गुणों से प्रभावित नहीं होता। भगवान् से तादात्म्य होने की यह प्राथमिक योग्यता है। जो व्यक्ति इस दिव्य योग्यता को प्राप्त कर लेता है, वह *जीवन्मुक्त* कहलाता है, यद्यपि वह भौतिक अवस्था में रहता है। यह मुक्ति उसे प्राप्त होती है, जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगा रहता है। *भक्तिरसामृत-सिन्धु* (१.२.१८७) में कहा गया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्त: स उच्यते॥

''जो कोई भी अपने कार्यों, मन तथा वाणी से एकमात्र भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के लिए जीता है, वह निश्चय ही मुक्तात्मा है, भले ही वह इस जगत की भौतिक संसार की अवस्था में प्रतीत होता हो।'' उद्धव ऐसे ही दिव्य पद को प्राप्त थे, इसीलिए उन्हें इस जगत की दृष्टि से भगवान् की शारीरिक अनुपस्थिति में भगवान् का वास्तविक प्रतिनिधि चुना गया था। ऐसा भगवद्भक्त भौतिक शक्ति, बुद्धि या वैराग्य से भी कभी प्रभावित नहीं होता। भगवान् का ऐसा भक्त भौतिक प्रकृति के समस्त आघातों को सह सकता है और इसीलिए वह *गोस्वामी* कहलाता है। ऐसे गोस्वामी ही भगवान् के दिव्य प्रेममय सम्बन्धों के रहस्यों का भेदन कर सकते हैं।

एवं त्रिलोकगुरुणा सन्दिष्टः शब्दयोनिना ।
बदर्याश्रममासाद्य हरिमीजे समाधिना ॥ ३२॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; **त्रि-लोक**—तीनों जगत के; **गुरुणा**—गुरु द्वारा; **सन्दिष्टः**—ठीक से शिक्षा दी जाकर; **शब्द-योनिना**—जो समस्त वैदिक ज्ञान का स्रोत है उसके द्वारा; **बदर्याश्रमम्**—बदरिकाश्रम के तीर्थस्थान में; **आसाद्य**—पहुँचकर; **हरिम्**—भगवान् को; **ईजे**—तुष्ट किया; **समाधिना**—समाधि द्वारा।.

शुकदेव गोस्वामी ने राजा को सूचित किया कि इस तरह समस्त वैदिक ज्ञान के स्रोत और तीनों लोकों के गुरु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा उपदेश दिये जाने पर उद्धव बदरिकाश्रम तीर्थस्थल पहुँचे और भगवान् को तुष्ट करने के लिए उन्होंने अपने को समाधि में लगा दिया।

तात्पर्य : वस्तुत: भगवान् श्रीकृष्ण तीनों लोकों के गुरु हैं और वे समस्त वैदिक ज्ञान के आदि उद्गम हैं। किन्तु परम सत्य के साकार रूप को वेदों के द्वारा भी समझ पाना अत्यन्त कठिन है। परम सत्य के रूप में भगवान् को समझ पाने के लिए उनके निजी उपदेशों की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे दिव्य ज्ञान का प्रमाण सार रूप में *भगवद्गीता* है। परमेश्वर को कोई तब तक नहीं जान सकता जब तक भगवान् स्वयं कृपा न करें। भगवान् कृष्ण ने यह विशेष कृपा अर्जुन तथा उद्धव पर प्रकट की जब वे इस भौतिक जगत में थे।

निस्सन्देह, भगवान् द्वारा *भगवद्गीता* का प्रवचन कुरुक्षेत्र युद्धस्थल में अर्जुन को युद्ध के प्रति प्रोत्साहित करने के लिए हुआ था। फिर भी *भगवद्गीता* के दिव्य ज्ञान को पूर्ण बनाने के लिए भगवान्

ने उद्धव को उपदेश दिया। भगवान् की इच्छा थी कि उद्धव उनके मिशन को पूरा करें तथा जो ज्ञान *भगवद्गीता* में भी नहीं दिया गया उस ज्ञान का प्रसार करें। जो लोग वेदों के वचनों के प्रति आसक्त रहते हैं, वे भी इस श्लोक से यह जान सकते हैं कि भगवान् समस्त वैदिक ज्ञान के स्रोत हैं। जो व्यक्ति वेदों के पृष्ठों का अध्ययन करने के बाद भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ पाते वे भगवान् विषयक ज्ञान में आगे बढ़ने के उद्देश्य से उद्धव जैसे किसी भगवद्भक्त की शरण ग्रहण कर सकते हैं। *ब्रह्म-संहिता* का कथन है कि वेदों से भगवान् को समझ पाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु उद्धव जैसे शुद्ध भक्त से उन्हें आसानी से समझा जा सकता है। भगवान् ने बदरिकाश्रम में रहने वाले महर्षियों पर कृपा करके उद्धव को अपनी ओर से बोलने के लिए अधिकृत किया। ऐसा अधिकार प्राप्त किये बिना न तो कोई व्यक्ति भगवद्भक्ति को समझ सकता है न ही उसका उपदेश दे सकता है।

जब भगवान् इस धरा पर विद्यमान थे तो उन्होंने अन्तरिक्ष की भी यात्रा करके स्वर्ग से पारिजात लाने तथा अपने गुरु (सान्दीपनि मुनि) के पुत्र को यमलोक से वापस लाने जैसे बहुत से असामान्य कार्यकलाप सम्पन्न किये। उद्धव को निश्चित रूप से अन्य लोकों में जीवन की स्थितयों के विषय में बतलाया गया था और सारे ऋषि उन लोकों के बारे में जानने के लिए उसी तरह उत्सुक थे जिस तरह हम अन्तरिक्ष के ग्रहों के विषय में जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। उद्धव को यह संदेश बदरिकाश्रम को ले जाने के लिए, न केवल उस तीर्थस्थल के ऋषियों के लिए, अपितु नर-नारायण अर्चाविग्रहों के लिए भी विशेष रूप से नियुक्त किया गया था। ऐसा सन्देश वेदों के पृष्ठों में वर्णित ज्ञान की अपेक्षा अधिक गुह्य रहा होगा।

भगवान् निस्सन्देह समस्त ज्ञान के स्रोत हैं और उद्धव के माध्यम से नर-नारायण तथा अन्य ऋषियों के पास भेजे गये सन्देश भी वैदिक ज्ञान के अंश थे, किन्तु वे अधिक गुह्य थे और वे एकमात्र उद्धव जैसे शुद्ध भक्त के माध्यम से ही भेजे या समझे जा सकते थे। चूँकि ऐसा गुह्य ज्ञान केवल भगवान् तथा उद्धव को ही ज्ञात था, अतएव यह कहा जाता है कि उद्धव स्वयं भगवान् के सदृश थे। उद्धव की ही तरह हरेक जीव भी भगवान् के ही स्तर पर दिव्य सन्देशवाहक बन सकता है बशर्ते कि वह प्रेमाभक्ति के द्वारा स्वयं विश्वस्त हो ले। ऐसा गुह्य ज्ञान उद्धव तथा अर्जुन जैसे शुद्ध भक्तों को ही सौंपा जाता है, जैसी कि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है और मनुष्य को उन्हीं से यह रहस्य सीखना होता

है, अन्य उपाय से नहीं। *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* को भगवान् के ऐसे विश्वस्त भक्तों की सहायता के बिना नहीं समझा जा सकता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार वह गुह्य सन्देश अवश्य ही भगवान् के प्रयाण के रहस्य तथा इस लोक में उनके प्राकट्य के एक सौ वर्षों बाद उनके वंश के संहार के विषय में जानने से सम्बन्धित रहा होगा। हर व्यक्ति यदुवंश के संहार के रहस्य को जानने के लिए अतीव उत्सुक रहा होगा और वह संदेश भगवान् द्वारा उद्धव को बतलाया गया होगा तथा नर-नारायण एवं अन्य शुद्ध भगवद्भक्तों की जानकारी के लिए बदरिकाश्रम भेजा गया होगा।

विदुरोऽप्युद्धवाच्छ्रुत्वा कृष्णस्य परमात्मनः ।
क्रीडयोपात्तदेहस्य कर्माणि श्लाघितानि च ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

विदुरः—विदुर; **अपि**—भी; **उद्धवात्**—उद्धव के स्रोत से; **श्रुत्वा**—सुनकर; **कृष्णस्य**—भगवान् कृष्ण का; **परम-आत्मनः**—परमात्मा का; **क्रीडया**—मर्त्यलोक में लीलाओं के लिए; **उपात्त**—असाधारण रूप से स्वीकृत; **देहस्य**—शरीर के; **कर्माणि**—दिव्य कर्म; **श्लाघितानि**—अत्यन्त प्रशंसनीय; **च**—भी।

विदुर ने उद्धव से इस मर्त्यलोक में परमात्मा अर्थात् भगवान् कृष्ण के आविर्भाव तथा तिरोभाव के विषय में भी सुना जिसे महर्षिगण बड़ी ही लगन के साथ जानना चाहते हैं।

तात्पर्य : परमात्मा अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के आविर्भाव तथा तिरोभाव का विषय महर्षियों तक के लिए रहस्य बना हुआ है। इस श्लोक में *परमात्मनः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। सामान्य जीव प्रायः आत्मा कहलाता है, किन्तु भगवान् कृष्ण कभी भी सामान्य जीव नहीं हैं, क्योंकि वे *परमात्मा* हैं। फिर भी मनुष्य के रूप में उनका आविर्भाव तथा इस मर्त्यलोक से पुनः उनका तिरोभाव उन शोधार्थियों के लिए शोध का विषय है, जो बड़ी ही लगन के साथ शोधकार्य करते हैं। ऐसे विषय निश्चय ही अधिकाधिक रोचक हैं, क्योंकि शोधार्थियों को भगवान् का दिव्य धाम खोजना होता है, जिसमें भगवान् मर्त्यलोक की लीलाएँ समाप्त करने के बाद प्रवेश करते हैं। किन्तु महर्षियों तक को कोई जानकारी नहीं है कि इस भौतिक आकाश के परे आध्यात्मिक आकाश है जहाँ श्रीकृष्ण अपने संगियों समेत नित्य निवास करते हैं यद्यपि, उसी के साथ-साथ, वे सारे ब्रह्माण्डों में बारी-बारी से अपनी मर्त्यलोक की लीलाएँ प्रदर्शित करते रहते हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३७)में हुई है—*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः*—भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से अपने नित्य धाम गोलोक में रहते हैं फिर भी

साथ-साथ परमात्मा रूप में वे सर्वत्र—आध्यात्मिक तथा भौतिक आकाशों में—अपने विविध रूपों द्वारा विद्यमान रहते हैं। अतएव उनके आविर्भाव तथा तिरोभाव साथ-साथ चलते रहते हैं और कोई भी निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि उनमें से कौनसा अथ है और कौनसा इति है। उनकी नित्य लीलाओं का कोई आदि-अन्त नहीं है। उन्हें शुद्ध भक्त से ही जाना जा सकता है, अत: तथाकथित शोधकार्य में मूल्यवान समय नष्ट नहीं किया जाना चाहिए।

देहन्यासं च तस्यैवं धीराणां धैर्यवर्धनम् ।
अन्येषां दुष्करतरं पशूनां विक्लवात्मनाम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

देह-न्यासम्—शरीर में प्रवेश; च—भी; तस्य—उसका; एवम्—भी; धीराणाम्—महर्षियों का; धैर्य—धीरज; वर्धनम्—बढ़ाते हुए; अन्येषाम्—अन्यों के लिए; दुष्कर-तरम्—निश्चित कर पाना अत्यन्त कठिन; पशूनाम्—पशुओं के; विक्लव—बेचैन; आत्मनाम्—ऐसे मन का।

भगवान् के यशस्वी कर्मों तथा मर्त्यलोक में असाधारण लीलाओं को सम्पन्न करने के लिए उनके द्वारा धारण किये जाने वाले विविध दिव्य रूपों को समझ पाना उनके भक्तों के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए अत्यन्त कठिन है और पशुओं के लिए तो वे मानसिक विक्षोभ मात्र हैं।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य स्वरूपों तथा लीलाओं का *भगवद्गीता* में जिस रूप में वर्णन हुआ है अभक्तों के लिए उन्हें समझ पाना कठिन कार्य है। भगवान् कभी भी *ज्ञानियों* तथा *योगियों* जैसे व्यक्तियों के समक्ष अपने को उद्घाटित नहीं करते। कुछ अन्य लोग भी हैं जिनकी गणना हृदय की गहराई से भगवान् से ईर्ष्या करने के कारण पशुओं में की जाती है। ऐसे ईर्ष्यालु पशुओं के लिए भगवान् के आविर्भाव तथा तिरोधान का विषय केवल मानसिक विक्षोभ है। जैसी कि *भगवद्गीता* (७.१५) में पुष्टि की गई है, ऐसे दुर्जन जिन्हें मात्र भौतिक भोग की ही चिन्ता रहती है, जो भारवाही पशुओं की तरह कठिन श्रम करते हैं, *आसुरिक-भाव* के कारण किसी भी अवस्था में भगवान् को नहीं जान पाते।

मर्त्यलोक में अपनी लीलाओं के लिए भगवान् द्वारा प्रदर्शित दिव्य शारीरिक अंशों तथा ऐसे दिव्य अंशों का आविर्भाव तथा तिरोभाव कठिन विषय हैं और जो लोग भक्त नहीं हैं उन्हें सलाह दी जाती है कि वे भगवान् के आविर्भाव तथा तिरोधान भाव की चर्चा न करें अन्यथा वे भगवान् के चरणकमलों

पर और अधिक अपराध कर सकते हैं। वे आसुरी भाव से भगवान् के दिव्य आविर्भाव तथा तिरोभाव के विषय में जितनी ही अधिक चर्चा करेंगे उतना ही अधिक वे नरक के गहनतम भागों में प्रवेश करेंगे जैसाकि *भगवद्गीता* (१६.२०) में कहा गया है। जो भी व्यक्ति भगवान् की दिव्य प्रेम-युक्त सेवाभाव के विरुद्ध है, वह न्यूनाधिक पशु है, जिसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक में हुई है।

आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम् ।
ध्यायन्गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; च—भी; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; मनसा—मन से; ईक्षितम्—स्मरण किया गया; ध्यायन्—इस तरह सोचते हुए; गते—चले जाने पर; भागवते—भक्त के; रुरोद—जोर से चिल्लाया; प्रेम-विह्वलः—प्रेमभाव से अभिभूत हुआ।

यह सुनकर कि (इस जगत को छोड़ते समय) भगवान् कृष्ण ने उनका स्मरण किया था, विदुर प्रेमभाव से अभिभूत होकर जोर-जोर से रो पड़े।

तात्पर्य : जब विदुर जान पाये कि अन्तिम समय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण ने उनका स्मरण किया था, तो वे प्रेमभाव से अभिभूत हो उठे। यद्यपि वे अपने को नगण्य मानते थे, फिर भी भगवान् ने अपनी अहैतुकी कृपावश उनका स्मरण किया। विदुर ने इसे महान् कृपा के रूप में स्वीकार किया, इसीलिए वे रो पड़े। ऐसा रोना भक्ति-मार्ग में अग्रसर होने का अंतिम संकेत है। जो व्यक्ति प्रेमवश भगवान् के लिए चिल्ला सकता है, वह भक्तिमय सेवा के मार्ग में निश्चय ही सफल है।

कालिन्द्याः कतिभिः सिद्ध अहोभिर्भरतर्षभ ।
प्रापद्यत स्वःसरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कालिन्द्याः—यमुना के तट पर; कतिभिः—कुछ; सिद्धे—बीत जाने पर; अहोभिः—दिन; भरत-ऋषभ—हे भरत वंश में श्रेष्ठ; प्रापद्यत—पहुँचा; स्वः-सरितम्—स्वर्ग की गंगा नदी; यत्र—जहाँ; मित्रा-सुतः—मित्र का पुत्र; मुनिः—मुनि।

यमुना नदी के तट पर कुछ दिन बिताने के बाद स्वरूपसिद्ध आत्मा विदुर गंगा नदी के तट पर पहुँचे जहाँ मैत्रेय मुनि स्थित थे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत 'विदुर का मैत्रेय के पास जाना'' नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

मैत्रेय से विदुर की वार्ता

श्रीशुक उवाच
द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरूणां
मैत्रेयमासीनमगाधबोधम् ।
क्षत्तोपसृत्याच्युतभावसिद्धः
पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; द्वारि—उद्गम पर; द्यु-नद्याः—स्वर्गलोक की गंगा नदी; ऋषभः—श्रेष्ठ; कुरूणाम्—कुरुओं के; मैत्रेयम्—मैत्रेय से; आसीनम्—बैठे हुए; अगाध-बोधम्—अगाध ज्ञान का; क्षत्ता—विदुर ने; उपसृत्य—पास आकर; अच्युत—अच्युत भगवान्; भाव—चरित्र; सिद्धः—पूर्ण; पप्रच्छ—पूछा; सौशील्य—सुशीलता; गुण-अभितृप्तः—दिव्य गुणों से तृप्त।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह कुरुवंशियों में सर्वश्रेष्ठ विदुर, जो कि भगवद्भक्ति में परिपूर्ण थे, स्वर्ग लोक की नदी गंगा के उद्गम (हरद्वार) पहुँचे जहाँ विश्व के अगाध विद्वान महामुनि मैत्रेय आसीन थे। भद्रता से ओत-प्रोत में पूर्ण तथा अध्यात्म में तुष्ट विदुर ने उनसे पूछा।

तात्पर्य : विदुर पहले से अच्युत भगवान् की शुद्ध भक्ति करने के कारण परिपूर्ण थे। भगवान् तथा जीव स्वभावतः गुणात्मक दृष्टि से एक है, किन्तु मात्रा की दृष्टि से भगवान् किसी भी प्राणी से बहुत विशाल हैं। वे सदा अच्युत हैं, जबकि जीव माया के अधीन होने के कारण किसी समय भी डगमगा सकते हैं। विदुर पहले ही *अच्युत-भाव* होने के कारण बद्धजीव के पतनशील स्वभाव (च्युत) को लाँघ चुके थे। जीवन की यह अवस्था *अच्युत-भाव-सिद्ध* कहलाती है अर्थात् भक्ति द्वारा सिद्धि-प्राप्त अवस्था। इसलिए जो कोई भी भगवद्भक्ति में लीन रहता है, वह मुक्तात्मा है और उसमें सारे प्रशंसनीय गुण रहते है। विद्वान ऋषि मैत्रेय हरद्वार में गंगा के तट पर एकान्त स्थान में बैठे थे और विदुर जो भगवान् के पूर्ण भक्त थे तथा समस्त दिव्य सद्गुणों से युक्त थे, जिज्ञासावश उनके पास पहुँचे।

विदुर उवाच
सुखाय कर्माणि करोति लोको
न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा ।

विन्देत भूयस्तत एव दु:खं
यदत्र युक्तं भगवान्वदेन्न: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

विदुर: उवाच—विदुर ने कहा; सुखाय—सुख प्राप्त करने के लिए; कर्माणि—सकाम कर्म; करोति—हर कोई करता है; लोक:—इस जगत में; न—कभी नहीं; तै:—उन कर्मों के द्वारा; सुखम्—कोई सुख; वा—अथवा; अन्यत्—भिन्न रीति से; उपारमम्—तृप्ति; वा—अथवा; विन्देत—प्राप्त करता है; भूय:—इसके विपरीत; तत:—ऐसे कार्यों के द्वारा; एव—निश्चय ही; दु:खम्—कष्ट; यत्—जो; अत्र—परिस्थितिवश; युक्तम्—सही मार्ग; भगवान्—हे महात्मन्; वदेत्—कृपया प्रकाशित करें; न:—हमको।

विदुर ने कहा : हे महर्षि, इस संसार का हर व्यक्ति सुख प्राप्त करने के लिए सकाम कर्मों में प्रवृत्त होता है, किन्तु उसे न तो तृप्ति मिलती है न ही उसके दुख में कोई कमी आती है। विपरीत इसके ऐसे कार्यों से उसके दुख में वृद्धि होती है। इसलिए कृपा करके हमें इसके विषय में हमारा मार्गदर्शन करें कि असली सुख के लिए कोई कैसे रहे?

तात्पर्य : विदुर ने मैत्रेय से कुछ सामान्य प्रश्न पूछे, किन्तु उनका मूल अभिप्राय यह नहीं था। उद्धव ने विदुर से मैत्रेय मुनि के पास जाकर भगवान् के नाम, यश, गुण, रूप, लीलाओं, पार्षद इत्यादि के सारे सत्यों के विषय में जिज्ञासा करने के लिए कहा था, अतएव जब विदुर मैत्रेय के पास पहुँचे तो उन्हें केवल भगवान् के विषय में पूछना चाहिए था। किन्तु स्वाभाविक विनयशीलतावश उन्होंने एक दम भगवान् के विषय में नहीं पूछा, प्रत्युत ऐसे विषय पर प्रश्न पूछा जो जनसामान्य के लिए अत्यधिक महत्त्व का हो सकता था। कोई सामान्य मनुष्य भगवान् को नहीं समझ सकता। सर्वप्रथम, उसे माया के वशीभूत अपने जीवन की असली स्थिति जाननी चाहिए। मोह में आकर मनुष्य सोचता है कि वह मात्र सकाम कर्मों के द्वारा सुखी हो सकता है, किन्तु होता यह है कि मनुष्य कर्म तथा कर्म-फल के जंजाल में और अधिक उलझता जाता है और जीवन की समस्या का कोई समाधान नहीं खोज पाता। इस सन्दर्भ में एक सुन्दर गीत है ''जीवन का सारा सुख प्राप्त करने की महती इच्छा के कारण, मैने यह घर बनाया किन्तु दुर्भाग्यवश सारी योजना ध्वस्त हो गई, क्योंकि घर में अप्रत्याशित रूप से आग लगा दी गई।'' प्रकृति का नियम ऐसा ही है। हर व्यक्ति भौतिक जगत में योजना बनाकर रहने से सुखी बनना चाहता है, किन्तु प्रकृति का नियम इतना क्रूर है कि यह उस योजना में आग लगा देता है। सकामकर्मी अपनी योजनाओं से सुखी नहीं रहता, न ही सुख के लिए उसकी निरन्तर दौड़धूप से उसे कोई तृप्ति मिलती है।

जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवा-
दधर्मशीलस्य सुदु:खितस्य ।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं
भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य ॥ ३॥

शब्दार्थ

जनस्य—सामान्य व्यक्ति की; कृष्णात्—भगवान् कृष्ण से; विमुखस्य—विमुख, मुँह फेरने वाले का; दैवात्—माया के प्रभाव से; अधर्म-शीलस्य—अधर्म में लगे हुए का; सु-दु:खितस्य—सदैव दुखी रहने वाले का; अनुग्रहाय—उनके प्रति दयालु होने के कारण; इह—इस जगत में; चरन्ति—विचरण करते हैं; नूनम्—निश्चय ही; भूतानि—लोग; भव्यानि—अत्यन्त परोपकारी आत्माएँ; जनार्दनस्य—भगवान् की।

हे प्रभु, महान् परोपकारी आत्माएँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की ओर से पृथ्वी पर उन पतित आत्माओं पर अनुकंपा दिखाने के लिए विचरण करती है, जो भगवान् की अधीनता के विचार मात्र से ही विमुख रहते हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर की इच्छाओं के प्रति आज्ञाकारी होना हर जीव की स्वाभाविक स्थिति है। किन्तु विगत दुष्कर्मों के कारण ही जीव भगवान् की अधीनता के विचार से मुख मोड़ता है और भौतिक संसार के सारे कष्टों को भोगता है। किसी को भगवान श्रीकृष्ण की भक्तिमय सेवा के अलावा कुछ भी नहीं करना होता है। अतएव भगवान की दिव्य प्रेमाभक्ति के अतिरिक्त कोई भी कार्य न्यूनाधिक परम इच्छा के विरुद्ध कार्य है। समस्त सकाम कर्म, अनुभवगम्य दर्शन तथा योग भगवान् की अधीनता-भावना के न्यूनाधिक विरुद्ध है और जो जीव ऐसे विद्रोहपूर्ण कार्यों में लगा हुआ है, वह प्रकृति के उन नियमों द्वारा प्राय: तिरस्कृत किया जाता है, जो भगवान् के अधीन है। भगवान् के महान् शुद्ध भक्त पतितों के प्रति दयालु होते हैं, इसलिए वे आत्माओं को भगवद्धाम वापस लाने के उद्देश्य से संसार भर में विचरण करते रहते हैं। ऐसे शुद्ध भगवद्‍भक्त पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए उन के पास ईश्वर का सन्देश लेकर जाते हैं, अतएव सामान्य व्यक्ति को, जो भगवान् की बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से मोहग्रस्त हुआ रहता है, उनकी संगति का लाभ उठाना चाहिए।

तत्साधुवर्यादिश वर्त्म शं न:
संराधितो भगवान्येन पुंसाम् ।
हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते
ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; साधु-वर्य—हे सन्तों में सर्वश्रेष्ठ; आदिश—आदेश दें; वर्त्म—मार्ग; शम्—शुभ; नः—हमारे लिए; संराधितः—पूरी तरह सेवित; भगवान्—भगवान्; येन—जिससे; पुंसाम्—जीव का; हृदि स्थितः—हृदय में स्थित; यच्छति—प्रदान करता है; भक्ति-पूते—शुद्ध भक्त को; ज्ञानम्—ज्ञान; स—वह; तत्त्व—सत्य; अधिगमम्—जिससे कोई सीखता है; पुराणम्—प्रामाणिक, प्राचीन।

इसलिए, हे महर्षि, आप मुझे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की दिव्य भक्ति के विषय में उपदेश दें जिससे हर एक के हृदय में स्थित भगवान् भीतर से परम सत्य विषयक वह ज्ञान प्रदान करने के लिए प्रसन्न हों जो कि प्राचीन वैदिक सिद्धान्तों के रूप में उन लोगों को ही प्रदान किया जाता है, जो भक्तियोग द्वारा शुद्ध हो चुके है।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध में पहले ही बतलाया जा चुका है, ज्ञाता की बोध–क्षमता के अनुसार परम सत्य की अनुभूति तीन विभिन्न अवस्थाओं में की जाती है यद्यपि वे एक ही हैं। सबसे समर्थ योगी (अध्यात्मवादी) भगवान् का शुद्ध भक्त है, जो सकाम कर्मों या दार्शनिक चिन्तन से रंचमात्र भी कलुषित नहीं होता। एकमात्र भक्ति द्वारा ही मनुष्य का हृदय कर्म, ज्ञान तथा योग जैसे भौतिक आवरणों से पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। केवल ऐसी ही शुद्ध अवस्था में हर जीव के हृदय में व्यष्टि आत्मा के साथ विराजमान भगवान् उपदेश देते हैं जिससे भक्त अन्तिम गन्तव्य अर्थात् भगवद्धाम पहुँच सकता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.१०) में हुई है—*तेषां सततयुक्तानां भजताम्*। जब भगवान् भक्त की भक्ति से तुष्ट होते हैं तभी वे ज्ञान प्रदान करते हैं जिस तरह उन्होंने अर्जुन तथा उद्धव के साथ किया।

ज्ञानी, योगी तथा *कर्मीजन* भगवान् के ऐसे प्रत्यक्ष सहयोग की अपेक्षा नहीं कर सकते। वे न तो भगवान् को दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा तुष्ट करने में समर्थ होते हैं, न ही वे भगवान् की इस प्रकार की सेवा में विश्वास रखते हैं। *वैधी भक्ति* के नियमों के अन्तर्गत सम्पन्न की गई *भक्ति–विधि* की परिभाषा शास्त्रों द्वारा दी गई है और महान् आचार्यों द्वारा इनकी संपुष्टि हुई है। ऐसा अभ्यास नवदीक्षित भक्त को *राग भक्ति* के पद तक पहुँचने में सहायक बन सकता है, जिसमें भगवान् *चैत्यगुरु* अर्थात् अतिचेतना स्वरूप गुरु के रूप में भीतर से उत्तर देते हैं। भक्तों के अतिरिक्त सारे अध्यात्मवादी व्यष्टि आत्मा तथा परमात्मा में कोई अन्तर नहीं करते, क्योंकि वे अतिचेतना तथा व्यष्टि चेतना को एक ही समझने की गलती करते हैं। अभक्तों द्वारा की गई ऐसी गलती उन्हें भीतर से कोई निर्देशन पाने के अयोग्य बनाती है, अत: वे

भगवान् के प्रत्यक्ष सहयोग से वंचित रह जाते हैं। जब अनेकानेक जन्मों बाद ऐसे अद्वैतवादी होश में आते हैं कि भगवान् आराध्य हैं और भक्त भगवान् से एक होते हुए भी भिन्न हैं तभी वे भगवान् वासुदेव की शरण ग्रहण कर सकते हैं। शुद्ध भक्तियोग इस बिन्दु से प्रारम्भ होता है। दिग्भ्रांत अद्वैतवादी द्वारा परम सत्य को समझने के लिए अपनाई गई विधि अत्यन्त कठिन होती है, जबकि परम सत्य को समझने के लिए भक्ति की विधि प्रत्यक्ष रूप से भगवान् से आती है, क्योंकि वे भक्तिमय सेवा से प्रसन्न होते हैं। विदुर ने पहुँचते ही अनेक नवदीक्षित भक्तों की ओर से मैत्रेय से उस भक्तिमय सेवा मार्ग के विषय में पूछताछ की जिससे हृदय के भीतर आसीन भगवान् को प्रसन्न किया जा सके।

करोति कर्माणि कृतावतारो
यान्यात्मतन्त्रो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यथा ससर्जाग्र इदं निरीहः
संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

करोति—करता है; कर्माणि—दिव्य कर्म; कृत—स्वीकार करके; अवतारः—अवतार; यानि—वे सब; आत्म-तन्त्रः—स्वतंत्र; भगवान्—भगवान्; त्रि-अधीशः—तीनों लोकों के स्वामी; यथा—जिस तरह; ससर्ज—उत्पन्न किया; अग्रे—सर्वप्रथम; इदम्—इस विराट जगत को; निरीहः—यद्यपि इच्छारहित; संस्थाप्य—स्थापित करके; वृत्तिम्—जीविकोपार्जन का साधन; जगतः—ब्रह्माण्डों का; विधत्ते—जिस तरह वह नियमन करता है।.

हे महर्षि, कृपा करके बतलाएँ कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् जो तीनों लोकों के इच्छारहित स्वतंत्र स्वामी तथा समस्त शक्तियों के नियन्ता हैं, किस तरह अवतारों को स्वीकार करते हैं और किस तरह विराट जगत को उत्पन्न करते हैं, जिसके परिपालन के लिए नियामक सिद्धान्त पूर्ण रुप से व्यवस्थित हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण आदि भगवान् हैं जिनसे कारणार्णवशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु—ये तीनों *पुरुष-अवतार* विस्तार पाते हैं। सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि भगवान् की बहिरंगा शक्ति के अन्तर्गत तीन पुरुषों द्वारा क्रमशः तीन अवस्थाओं में संचालित होती है और इस तरह भौतिक प्रकृति उन्हीं के द्वारा नियंत्रित होती है। भौतिक प्रकृति को स्वतंत्र मानना वैसा ही है जैसे कि बकरी के गलस्तनों में दूध की खोज करना। भगवान् स्वतंत्र हैं और इच्छारहित हैं। वे भौतिक जगत की सृष्टि अपनी तुष्टि के लिए नहीं करते जिस तरह हम अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए घरेलू कामकाज की सृष्टि करते हैं। वस्तुतः, भौतिक जगत उन बद्धजीवों के मोहमय भोग के लिए उत्पन्न

किया जाता है, जो अनादि काल से भगवान् की दिव्य सेवा के विरुद्ध रहते आये हैं। किन्तु भौतिक ब्रह्माण्ड अपने में परिपूर्ण है। भौतिक जगत में भरण-पोषण का कोई अभाव नहीं है। अल्पज्ञान के कारण भौतिकतावादी जन पृथ्वी पर जनसंख्या की दिखावटी वृद्धि होने पर विचलित हो उठते हैं। किन्तु जब भी पृथ्वी पर कोई जीव आता है भगवान् तुरन्त ही उसके जीवन-निर्वाह की व्यवस्था करते हैं। अन्य योनियाँ, जिनकी संख्या मानव समाज से कहीं अधिक है, भरणपोषण के लिए कभी चिन्तित नहीं होतीं। वे कभी भी भूख से मरती नहीं देखी जातीं। यह तो एकमात्र मानव समाज है, जो खाद्य स्थिति के विषय में चिन्तित रहता है और प्रशासनिक कुव्यवस्था को छिपाने के लिए यह दलील दी जाती है कि जनसंख्या अत्यधिक गति से बढ़ रही है। यदि संसार में कोई अभाव है, तो वह ईश-चेतना का अभाव है अन्यथा भगवत्कृपा से अभाव किसी वस्तु का नहीं है।

यथा पुनः स्वे ख इदं निवेश्य
शेते गुहायां स निवृत्तवृत्तिः ।
योगेश्वराधीश्वर एक एत-
दनुप्रविष्टो बहुधा यथासीत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; पुनः—फिर; स्वे—अपने में; खे—आकाश के रूप (विराट रूप) में; इदम्—यह; निवेश्य—प्रविष्ट होकर; शेते—शयन करता है; गुहायाम्—ब्रह्माण्ड के भीतर; सः—वह (भगवान्); निवृत्त—बिना प्रयास के; वृत्तिः—आजीविका का साधन; योग-ईश्वर—समस्त योगशक्तियों के स्वामी; अधीश्वरः—सभी वस्तुओं के स्वामी; एकः—अद्वितीय; एतत्—यह; अनुप्रविष्टः—बाद में प्रविष्ट होकर; बहुधा—असंख्य प्रकारों से; यथा—जिस तरह; आसीत्—विद्यमान रहता है।

वे आकाश के रूप में फैले अपने ही हृदय में लेट जाते हैं और उस आकाश में सम्पूर्ण सृष्टि को रखकर वे अपना विस्तार अनेक जीवों में करते हैं, जो विभिन्न योनियों के रूप में प्रकट होते हैं। उन्हें अपने निर्वाह के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता क्योंकि वे समस्त यौगिक शक्तियों के स्वामी और प्रत्येक वस्तु के मालिक है। इस प्रकार वे जीवों से भिन्न है।

तात्पर्य : सृष्टि, पालन तथा संहार विषयक प्रश्न, जिनका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* के अनेक भागों में हुआ है, विभिन्न कल्पों से सम्बन्ध रखते हैं; अतएव विभिन्न जिज्ञासुओं द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर विभिन्न अधिकारियों द्वारा उनका वर्णन भिन्न-भिन्न रूपों में हुआ है। सृजन के सिद्धान्तों तथा उन पर भगवान् के नियंत्रण के विषय में कोई मतभेद नहीं है, किन्तु विभिन्न कल्पों में होने से उनकी बारीकियों में यत्किंचित अन्तर रहता है। विराट आकाश भगवान् का भौतिक शरीर है, जो विराट रूप कहलाता है

और समस्त भौतिक सृष्टियाँ आकाश में अर्थात् भगवान् के हृदय में टिकी हुई है। अतएव आकाश से लेकर जो स्थूल दृष्टि के लिए सर्वप्रथम भौतिक अभिव्यक्ति है, पृथ्वी तक हर वस्तु ब्रह्म कहलाती है। *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—भगवान् के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है और वे अद्वय है—जीव परा शक्ति है, जबकि पदार्थ अपरा शक्ति है और इन दोनों शक्तियों के मेल से इस भौतिक जगत की अभिव्यक्ति होती है, जो भगवान् के हृदय में स्थित है।

क्रीडन्विधत्ते द्विजगोसुराणां
क्षेमाय कर्माण्यवतारभेदैः ।
मनो न तृप्यत्यपि शृण्वतां नः
सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानि ॥ ७॥

शब्दार्थ

क्रीडन्—लीलाएँ करते हुए; विधत्ते—सम्पन्न करता है; द्विज—द्विजन्मा; गो—गौवें; सुराणाम्—देवताओं के; क्षेमाय—कल्याण के लिए; कर्माणि—दिव्य कर्म; अवतार—अवतार; भेदैः—पृथक्-पृथक्; मनः—मन; न—कभी नहीं; तृप्यति—तुष्ट होता है; अपि—के बावजूद; शृण्वताम्—निरन्तर सुनते हुए; नः—हमारा; सु-श्लोक—शुभ, मंगलमय; मौलेः—भगवान् की; चरित—विशेषताएँ; अमृतानि—अमर।

आप द्विजों, गौवों तथा देवताओं के कल्याण हेतु भगवान् के विभिन्न अवतारों के शुभ लक्षणों के विषय में भी वर्णन करें। यद्यपि हम निरन्तर उनके दिव्य कार्यकलापों के विषय में सुनते हैं, किन्तु हमारे मन कभी भी पूर्णतया तुष्ट नहीं हो पाते।

तात्पर्य : भगवान् इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न अवतारों के रूप में, यथा मत्स्य, कूर्म, वराह तथा नृसिंह रूपों में प्रकट होते हैं और द्विजों, गौवों तथा देवताओं के कल्याण हेतु विविध दिव्य कार्यों को प्रदर्शित करते हैं। भगवान् द्विजों अर्थात् सभ्य पुरुषों की प्रत्यक्ष रूप से चिन्ता करते हैं। सभ्य व्यक्ति वह है, जिसने दो बार जन्म लिया हो। जीव इस संसार में नर तथा मादा के संसर्ग से जन्म लेता है। मनुष्य माता-पिता की संयुक्ति से उत्पन्न होता है, किन्तु सभ्य मनुष्य का दूसरा जन्म गुरु के सम्पर्क से होता है, जो वास्तविक पिता बनता है। भौतिक देह प्रदान करने वाले माता-पिता केवल एक जन्म के लिए ही माता-पिता हैं, किन्तु अगले जन्म में, माता-पिता अन्य जोड़ा हो सकता है। किन्तु प्रामाणिक गुरु तो भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में नित्य पिता होता है, क्योंकि उस पर शिष्य को आध्यात्मिक मोक्ष या जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने का उत्तरदायित्व रहता है। इसलिए सभ्य व्यक्ति को द्विजन्मा होना ही चाहिए, अन्यथा वह निचले दर्जे के पशुओं जैसा ही है।

मनुष्य शरीर को पूर्णता प्रदान करने के लिए गाय सबसे महत्त्वपूर्ण पशु है। शरीर का पालनपोषण किसी भी तरह के भोज्यपदार्थ से किया जा सकता है, किन्तु मनुष्य के मस्तिष्क के सूक्ष्मतर कोशिकाओं के विकास के लिए गाय का दूध विशेषरूप से आवश्यक होता है, जिससे मनुष्य दिव्य ज्ञान की पेचीदगियों को समझ सके। किसी सभ्य मनुष्य से अपेक्षा की जाती है कि वह फल, शाक, अन्न, चीनी तथा दूध से युक्त भोज्य पदार्थों पर जीवन-निर्वाह करे। बैल अन्न इत्यादि उत्पन्न करने की कृषि प्रक्रिया में सहायता करता है। एक तरह से बैल मानव जाति का पिता है, जबकि गाय माता है क्योंकि वह मानव समाज को दुग्ध प्रदान करती है। अतएव किसी सभ्य मनुष्य से अपेक्षा की जाती है कि वह बैलों तथा गौवों को सभी प्रकार का संरक्षण प्रदान करे।

उच्चतर लोकों में रहने वाले देवतागण अथवा जीवात्माएँ मनुष्यों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि उनके जीवन-की स्थितियाँ बेहतर ढंग से व्यवस्थित होती है, अत: वे मनुष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक विलासिता में रहते हैं। इतना होते हुए भी वे सब भगवद्भक्त होते हैं। भगवान् सभ्य मनुष्यों, गौओं तथा देवताओं को, जो आत्म-साक्षात्कार के निमित्त नियमित जीवन के लिए सीधे उत्तरदायी होते हैं, सुरक्षा प्रदान करने हेतु विविध रूपों में अवतरित होते हैं, जैसे मत्स्य, कूर्म, वराह तथा नृसिंह रूप। भौतिक सृष्टि की संपूर्ण प्रणाली योजना-बद्ध है ताकि बद्धजीवों को आत्म-साक्षात्कार के लिए अवसर मिल सके। जो कोई इस व्यवस्था का लाभ उठाता है, देवता अथवा सभ्य पुरुष कहलाता है। गौधन जीवन के ऐसे उच्चस्तर को बनाए रखने में सहायता के निमित्त है।

द्विजन्मा सभ्य मनुष्यों, गौवों तथा देवताओं की रक्षा के लिए भगवान् की लीलाएँ दिव्य होती है। मनुष्य में अच्छी कथा-कहानियाँ सुनने की प्रवृत्ति होती है, अतएव विकसित आत्मा की रुचियों की तुष्टि हेतु बाजार में अनेकानेक पुस्तकें, पत्रिकाएँ तथा समाचारपत्र हैं। किन्तु एक बार पढ़ लेने के बाद ऐसे साहित्य का आनन्द बासी पड़ जाता है और ऐसे साहित्य को बारम्बार पढ़ने में लोगों की रुचि नहीं रह जाती। वस्तुत: समाचारपत्र एक घण्टे से भी कम समय तक पढ़े जाते हैं और उसके बाद कूड़ादान में फेंक दिये जाते हैं। अन्य समस्त लौकिक साहित्य का भी यही हाल है। परन्तु *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे दिव्य ग्रन्थों का सौन्दर्य यह है कि वे कभी पुराने नहीं पड़ते। इस संसार में उन्हें सभ्य मनुष्य द्वारा विगत पाँच हजार वर्षों से पढ़ा जाता रहा है; फिर भी वे कभी पुराने नहीं पड़े।

विद्वानों तथा भक्तों के लिए वे चिरनवीन है और *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के श्लोकों के नित्य पाठ से विदुर जैसे भक्तों की भी तृप्ति नहीं होती। विदुर ने मैत्रेय से भेंट करने के पूर्व भगवान् की लीलाओं का न जाने कितनी बार श्रवण किया होगा, किन्तु वे फिर भी उन्हीं कथाओं की पुनरावृत्ति चाह रहे थे, क्योंकि उन्हें सुनने से वे तृप्त नहीं हो पाये थे। भगवान् की महिमामंडित लीलाओं की दिव्य प्रकृति ऐसी ही होती है।

यैस्तत्त्वभेदैरधिलोकनाथो
लोकानलोकान्सह लोकपालान् ।
अचीक्लृपद्यत्र हि सर्वसत्त्व-
निकायभेदोऽधिकृतः प्रतीतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यैः—जिसके द्वारा; तत्त्व—सत्य; भेदैः—अन्तर द्वारा; अधिलोक-नाथः—राजाओं के राजा; लोकान्—लोकों को; अलोकान्—अधोभागों के लोकों; सह—के सहित; लोक-पालान्—उनके राजाओं को; अचीक्लृपत्—आयोजना की; यत्र—जिसमें; हि—निश्चय ही; सर्व—समस्त; सत्त्व—अस्तित्व; निकाय—जीव; भेदः—अन्तर; अधिकृतः—अधिकार जमाये; प्रतीतः—ऐसा लगता है।

समस्त राजाओं के परम राजा ने विभिन्न लोकों की तथा आवास स्थलों की सृष्टि की जहाँ प्रकृति के गुणों और कर्म के अनुसार सारे जीव स्थित है और उन्होंने उनके विभिन्न राजाओं तथा शासकों का भी सृजन किया।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण समस्त राजाओं के प्रधान राजा हैं। उन्होंने सभी प्रकार के जीवों के लिए भिन्न-भिन्न लोकों की रचना की है। इस लोक तक में विभिन्न प्रकार के लोगों के आवास हेतु भिन्न-भिन्न स्थान हैं। इसमें मरुस्थल, हिमप्रदेश, तथा पर्वतीय क्षेत्रों में घाटियाँ जैसे स्थान हैं और उनमें से हर एक में विभिन्न गुणों वाले नाना प्रकार के लोग अपने पूर्वकर्मों के अनुसार उत्पन्न होते हैं। लोग अरब के मरुस्थल में हैं और हिमालय पर्वत की घाटियों में हैं और इन दोनों स्थानों के निवासी परस्पर भिन्न होते हैं जिस तरह हिमप्रदेशों के लोग भी उनसे भिन्न है। इसी तरह भिन्न-भिन्न लोक भी हैं। पृथ्वी से नीचे पाताल लोक तक के लोक विभिन्न प्रकार के जीवों से पूर्ण हैं। कोई लोक रिक्त नहीं है, जैसाकि आधुनिक तथाकथित विज्ञानी भ्रमवश कल्पना करते हैं। *भगवद्गीता* में हम भगवान् को यह कहते पाते हैं कि जीव *सर्वगत* है, अर्थात् जीवन के हर क्षेत्र में उपस्थित हैं। अतएव इसमें कोई संदेह नहीं कि अन्य लोकों में भी हमारी ही तरह के निवासी हैं, कभी-कभी हमसे अधिक बुद्धि तथा अधिक ऐश्वर्य

वाले। उन अधिक बुद्धिमानों के रहने के लिए जो स्थितियाँ हैं, वे इस पृथ्वी की अपेक्षा अधिक विलासपूर्ण हैं। ऐसे भी लोक हैं जहाँ सूर्यप्रकाश नहीं पहुँचता और ऐसे भी जीव हैं, जिन्हें अपने विगत कर्मों के कारण वहाँ रहना पड़ रहा है। रहने की स्थितियों की ऐसी सारी योजनाएँ भगवान् द्वारा बनाई गई है। इस पर और अधिक प्रकाश डालने के उद्देश्य से विदुर ने मैत्रेय से इसका वर्णन करने के लिए अनुरोध किया।

येन प्रजानामुत आत्मकर्म-
रूपाभिधानां च भिदां व्यधत्त ।
नारायणो विश्वसृगात्मयोनि-
रेतच्च नो वर्णय विप्रवर्य ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

येन—जिससे; प्रजानाम्—उत्पन्न लोगों के; उत—जैसा भी; आत्म-कर्म—नियत व्यस्तता; रूप—स्वरूप तथा गुण; अभिधानाम्—प्रयास; च—भी; भिदाम्—अन्तर; व्यधत्त—बिखरे हुए; नारायणः—नारायण; विश्वसृक्—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा; आत्म-योनिः—आत्मनिर्भर; एतत्—ये सभी; च—भी; नः—हमसे; वर्णय—वर्णन कीजिये; विप्र-वर्य—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, आप यह भी बतलाएँ कि ब्रह्माण्ड के स्रष्टा तथा आत्मनिर्भर प्रभु नारायण ने किस तरह विभिन्न जीवों के स्वभावों, कार्यों, रूपों, लक्षणों तथा नामों की पृथक्-पृथक् रचना की है।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव प्रकृति के गुणों के अनुसार अपनी सहज प्रवृत्तियों की योजना के अन्तर्गत है। उसके कार्य प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार अभिव्यक्त होते हैं और उसका स्वरूप तथा शारीरिक लक्षण उसके कर्म के अनुसार गढ़े जाते हैं और उसका नाम उसके शारीरिक स्वरूप के अनुसार प्रदान किया जाता है। उदाहरणार्थ, उच्च जाति के लोग श्वेत (*शुक्ल*) होते हैं और निम्न जाति के लोग काले होते हैं। यह गोरे-काले का विभाजन मनुष्य के जीवन के श्याम तथा शुक्ल कार्यों के अनुसार होता है। पवित्र कार्यों से मनुष्य का जन्म अच्छे तथा उच्च परिवार में होता है, वह धनी बनता है, विद्वान बनता है और सुन्दर शारीरिक स्वरूप प्राप्त करता है। अपवित्र कार्यों से मनुष्य वंश की स्थिति के फलस्वरूप निर्धन बनता है, सदैव अभावग्रस्त रहता है, मूर्ख या अशिक्षित रहता है और कुरूप शरीर पाता है। विदुर ने मैत्रेय से अनुरोध किया कि वे भगवान् नारायण द्वारा निर्मित समस्त जीवों के इन अन्तरों का वर्णन् करें।

परावरेषां भगवन्व्रतानि
श्रुतानि मे व्यासमुखादभीक्ष्णम् ।
अतृप्नुम क्षुल्लसुखावहानां
तेषामृते कृष्णकथामृतौघात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पर—उच्चतर; अवरेषाम्—इन निम्नतरों का; भगवन्—हे प्रभु, हे महात्मन्; व्रतानि—वृत्तियाँ, पेशे; श्रुतानि—सुना हुआ; मे—मेरे द्वारा; व्यास—व्यास के; मुखात्—मुँह से; अभीक्ष्णम्—बारम्बार; अतृप्नुम—मैं तुष्ट हूँ; क्षुल्ल—अल्प; सुख-आवहानाम्—सुख लाने वाला; तेषाम्—उनमें से; ऋते—बिना; कृष्ण-कथा—भगवान् कृष्ण विषयक बातें; अमृत-ओघात्—अमृत से।.

हे प्रभु, मैं व्यासदेव के मुख से मानव समाज के इन उच्चतर तथा निम्नतर पदों के विषय में बारम्बार सुन चुका हूँ और मैं इन कम महत्व वाले विषयों तथा उनके सुखों से पूर्णतया तृप्त हूँ। पर वे विषय बिना कृष्ण विषयक कथाओं के अमृत से मुझे तुष्ट नहीं कर सके।

तात्पर्य : चूँकि लोग सामाजिक तथा ऐतिहासिक प्रस्तुतियों को सुनने में अत्यधिक रुचि लेते हैं, अतएव श्रील व्यासदेव ने *पुराण* तथा *महाभारत* जैसे अनेक ग्रन्थों की रचना की है। ये ग्रन्थ सामान्यजनों के लिए पठनीय सामग्री हैं और इनकी रचना उनमें उस ईशचेतना को जागृत करने के लिए की गई थी जिसे लोग भौतिक जगत के बद्धजीवन में अब भूल चुके हैं। ऐसे ग्रन्थों का असली प्रयोजन उतना ऐतिहासिक सन्दर्भों की कथाएँ प्रस्तुत करना नहीं है जितना कि लोगों में ईशभावनामृत को जागृत करना है। उदाहरणार्थ, *महाभारत* कुरुक्षेत्र के युद्ध का इतिहास है और सामान्यजन इसे पढ़ते हैं, क्योंकि यह मानव समाज विषयक सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं की कथाओं से भरापड़ा है। किन्तु वास्तव में *महाभारत* का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग *भगवद्गीता* है, जिसे कुरुक्षेत्र के युद्ध के ऐतिहासिक वर्णनों के साथ-साथ पाठकों को स्वत: पढ़ा दिया जाता है।

विदुर ने मैत्रेय को बताया कि वे लौकिक, सामाजिक तथा राजनीतिक कथाओं के ज्ञान से पूर्णतया तृप्त हो चुके हैं, अतएव अब उनमें उनके लिए रुचि नहीं है। वे भगवान् कृष्ण विषयक दिव्य कथाएँ सुनने के लिए लालायित थे। चूँकि पुराणों, *महाभारत* इत्यादि में कृष्ण से सीधा सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ अपर्याप्त थीं, अतएव वे तुष्ट न हो सके और कृष्ण के बारे में और अधिक जानना चाह रहे थे। कृष्णकथाएँ दिव्य हैं और ऐसी कथाओं के सुनने से तृप्ति नहीं होती। कृष्णकथा, अथवा कृष्ण के प्रवचन होने के कारण *भगवद्गीता* महत्त्वपूर्ण है। कुरुक्षेत्र के युद्ध की कहानी आम जनता के लिए

रोचक हो सकती है, किन्तु भगवद्भक्ति में अत्यधिक आगे बढ़ चुके विदुर जैसे व्यक्ति के लिए कृष्णकथा तथा कृष्णकथा से जुड़ी कथा ही रोचक है। विदुर मैत्रेय के मुख से सारी बातें सुनना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने उनसे पूछा, किन्तु उन्होंने इच्छा प्रकट की कि ये सारी कथाएँ कृष्ण के सम्बन्ध में हों। जिस तरह अग्नि कितना भी ईंधन जला डाले कभी तुष्ट नहीं होती उसी तरह शुद्ध भगवद्भक्त कृष्ण के विषय में जितना सुनता है, वह कम ही होता है। ऐतिहासिक घटनाएँ तथा अन्य सामाजिक एवं राजनीतिक बातें कृष्ण से सम्बन्धित होते ही दिव्य बन जाती हैं। लेकिन सांसारिक बातों को आध्यात्मिक रूप में बदलने का यही तरीका है। यह सारा जगत वैकुण्ठ में परिणत हो जाय यदि सारे सांसारिक कार्य कृष्णकथा से जुड़ जायें।

संसार में दो महत्त्वपूर्ण कृष्ण कथाएँ प्रचलित हैं—*भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत*। *भगवद्गीता* कृष्णकथा है, क्योंकि इसे कृष्ण ने कहा है, जबकि *श्रीमद्भागवत* इसलिए कृष्णकथा है, क्योंकि इसमें कृष्ण के विषय में कहा गया है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने सारे शिष्यों से संसार भर में बिना भेदभाव के कृष्णकथा का प्रचार करने के लिए कहा, क्योंकि कृष्णकथा की दिव्य शक्ति हर एक को भौतिक कल्मष से शुद्ध बना सकती है।

कस्तृप्नुयात्तीर्थपदोऽभिधानात्
सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात् ।
यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो
भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कः—वह कौन मनुष्य है; तृप्नुयात्—जो तुष्ट किया जा सके; तीर्थ-पदः—जिसके चरणकमल तीर्थस्थल हैं; अभिधानात्—की बातों से; सत्रेषु—मानव समाज में; वः—जो है; सूरिभिः—महान् भक्तों द्वारा; ईड्यमानात्—इस तरह पूजित होने वाला; यः—जो; कर्ण-नाडीम्—कानों के छेदों में; पुरुषस्य—मनुष्य के; यातः—प्रवेश करते हुए; भव-प्रदाम्—जन्म-मृत्यु प्रदान करने वाला; गेह-रतिम्—पारिवारिक स्नेह; छिनत्ति—काट देता है।

जिनके चरणकमल समस्त तीर्थों के सार रूप हैं तथा जिनकी आराधना महर्षियों तथा भक्तों द्वारा की जाती है, ऐसे भगवान् के विषय में पर्याप्त श्रवण किये बिना मानव समाज में ऐसा कौन होगा जो तुष्ट होता हो? मनुष्य के कानों के छेदों में ऐसी कथाएँ प्रविष्ट होकर उसके पारिवारिक मोह के बन्धन को काट देती हैं।

तात्पर्य : कृष्णकथा इतनी शक्तिशाली होती है कि मनुष्य के कान में प्रवेश करने मात्र से

पारिवारिक स्नेह के बन्धन से उसका उद्धार तुरन्त कर सकती है। पारिवारिक स्नेह बहिरंगा शक्ति की भ्रामक अभिव्यक्ति है और समस्त लौकिक कार्यकलापों की यही एकमात्र प्रेरक है। जब तक लौकिक क्रियाशीलता रहती है और मन ऐसे कार्य में लीन रहता है तब तक चालू भौतिक अज्ञानता में बारम्बार जन्म–मृत्यु को भोगना पड़ता है। लोग भौतिक प्रकृति के तमोगुण से सर्वाधिक प्रभावित होते हैं और कुछ लोग रजोगुण से प्रभावित होते हैं और इन दो गुणों के बन्धन में जीव देहात्मबुद्धि द्वारा गतिशील होता है। लौकिक गुण जीव को अपनी सही स्थिति को समझने नहीं देते। तमो तथा रजो दोनों ही गुण मनुष्य को मोहमयी देहात्मबुद्धि से जकड़ देते हैं। इस तरह से भ्रमित हुए लोगों में से सबसे बड़े मूर्ख वे होते हैं, जो रजोगुण के प्रभाव में आकर परोपकारी कार्यों में संलग्न होते हैं। *भगवद्गीता* जो प्रत्यक्ष कृष्णकथा है, मानवता को यह मूलभूत पाठ पढ़ाती है कि शरीर नाशवान है और सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त चेतना अनश्वर है। चेतन जीव अर्थात् अविनश्वर आत्मा, शाश्वत विद्यमान रहता है और शरीर के विघटन के बाद भी किसी भी तरह मारा नहीं जा सकता। जो कोई भी इस नश्वर शरीर को आत्मा समझता है और समाज शास्त्र, राजनीति, परोपकार, परार्थवाद, राष्ट्रीयता या अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर देहात्मबुद्धि की दुहाई देकर काम करता है, वह निश्चय ही मूर्ख है और वास्तविकता (सत्) तथा अवास्तविकता (असत्) की जटिलताओं को नहीं जानता। इनमें से कुछ तमो तथा रजो गुणों से ऊपर होते हैं और सतोगुण में स्थित होते हैं, किन्तु लौकिक सत्त्व सदैव तमो तथा रजो गुणों से कलुषित रहता है। लौकिक सत्त्व मनुष्य को यह समझा सकता है कि शरीर तथा आत्मा भिन्न हैं और जो सतोगुणी है, वह आत्मा की परवाह करता है, शरीर की नहीं। किन्तु कलुषित होने से लौकिक सतोगुणी लोग व्यक्ति के रूप में आत्मा के असली स्वभाव को नहीं समझ सकते। उनकी शरीर से पृथक् आत्मा विषयक निर्विशेष धारणा उन्हें भौतिक प्रकृति के अन्तर्गत सतोगुण में रखती है और जब तक वे कृष्णकथा के प्रति आकृष्ट नहीं होते तब तक वे भवबन्धन से कभी भी मोक्ष नहीं पा सकते। कृष्णकथा संसार के सभी लोगों के लिए एकमात्र ओषधि है, क्योंकि यह मनुष्य को आत्मा की शुद्ध चेतना में स्थित कर सकती है और उसे भवबन्धन से मुक्त कर सकती है। श्री चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति के अनुसार विश्वभर में कृष्णकथा का प्रचार करना सबसे बड़ा धर्मोपदेश कार्य है और संसार के समस्त विवेकवान नर–नारी श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा चलाये गये इस महान् आन्दोलन में सम्मिलित हो सकते हैं।

मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां
सखापि ते भारतमाह कृष्णः ।
यस्मिन्नृणां ग्राम्यसुखानुवादै-
र्मतिर्गृहीता नु हरेः कथायाम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

मुनिः—मुनि ने; विवक्षुः—वर्णन किया; भगवत्—भगवान् के; गुणानाम्—दिव्य गुणों का; सखा—मित्र; अपि—भी; ते—तुम्हारा; भारतम्—महाभारत; आह—वर्णन किया है; कृष्णः—कृष्ण-द्वैपायन व्यास; यस्मिन्—जिसमें; नृणाम्—मनुष्यों के; ग्राम्य—सांसारिक; सुख-अनुवादैः—लौकिक कथाओं से प्राप्य आनन्द; मतिः—ध्यान; गृहीता नु—अपनी ओर खींचने के लिए; हरेः—भगवान् की; कथायाम्—भाषणों का (भगवद्गीता)।

आपके मित्र महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास पहले ही अपने महान् ग्रन्थ महाभारत में भगवान् के दिव्य गुणों का वर्णन कर चुके हैं। किन्तु इसका सारा उद्देश्य सामान्य जन का ध्यान लौकिक कथाओं को सुनने के प्रति उनके प्रबल आकर्षण के माध्यम से कृष्णकथा (भगवद्गीता) की ओर आकृष्ट करना है।

तात्पर्य : महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास समस्त वैदिक वाङ्मय के रचयिता हैं जिसमें से *वेदान्त सूत्र, श्रीमद्भागवत* तथा *महाभारत* नामक कृतियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हैं। जैसाकि *भागवत* (१.४.२५) में कहा गया है श्रील व्यासदेव ने *महाभारत* की रचना उन अल्प बुद्धिवाले मनुष्यों के लिए की जो जीवन के दर्शन की अपेक्षा लौकिक कथाओं में अधिक रुचि लेते हैं। *वेदान्त सूत्र* की रचना ऐसे व्यक्तियों के लिए की गई थी जो पहले से लौकिक कथाओं से ऊपर हों और जिन्होंने लौकिक कार्यकलापों के तथाकथित सुख की कटुता का पहले से आस्वादन किया हो। *वेदान्त सूत्र* का पहला सूत्र है *अथातो ब्रह्मजिज्ञासा* अर्थात् जब किसी ने इन्द्रियतृप्ति के बाजार में लौकिक जिज्ञासाओं का सौदा पूरा कर लिया हो तभी वह ब्रह्म के विषय में प्रासंगिक जिज्ञासाएँ कर सकता है। जो लोग ऐसी लौकिक जिज्ञासाओं में व्यस्त रहते हैं जिनसे समाचारपत्र तथा अन्य ऐसे ग्रंथ भरे रहते हैं, वे *स्त्रीशूद्रद्विजबन्धु* अर्थात् स्त्रियों, श्रमिकों तथा उच्च जाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) के अयोग्य पुत्रों की श्रेणी में आते हैं। ऐसे अल्पज्ञ लोग *वेदान्त सूत्र* के प्रयोजन को नहीं समझ सकते यद्यपि वे विकृत रूप में सूत्रों का अध्ययन करने का स्वांग कर सकते हैं। *वेदान्त सूत्र* के असली प्रयोजन की व्याख्या प्रणेता ने स्वयं *श्रीमद्भागवत* में की है और *श्रीमद्भागवत* के सन्दर्भ के बिना *वेदान्त सूत्र* को समझने का प्रयास करने वाला कोई भी व्यक्ति निश्चय ही दिग्भ्रमित हो जाता है। ऐसे दिग्भ्रमित लोगों को जो शरीर को आत्मा

समझने की गलत धारणा के अधीन, लौकिक परोपकारी कार्यों में रुचि दिखाते हैं, *महाभारत* से लाभ उठाना चाहिए जिसे श्रीव्यासदेव ने विशेष रूप से उन्हीं के लाभार्थ लिखा है। इस महान् प्रणेता ने *महाभारत* की रचना इस प्रकार की है कि ऐसे अल्पज्ञ लोग, जिन्हें लौकिक कथाओं में अधिक रूचि है, बड़े चाव से *महाभारत* को पढ़ सकते हैं और ऐसे लौकिक सुख के दौरान वे *भगवद्गीता* का भी लाभ उठा सकते हैं, जो कि *श्रीमद्भागवत* या *वेदान्त सूत्र* का प्रारम्भिक अध्ययन है। श्रील व्यासदेव द्वारा लौकिक कार्यकलापों का इतिहास लिखने में, अल्पज्ञों के लिए *भगवद्गीता* के माध्यम से दिव्य साक्षात्कार का अवसर प्रदान करने के अतिरिक्त, कोई अन्य प्रयोजन न था। विदुर द्वारा *महाभारत* का संदर्भ सूचित करता है कि उन्होंने अपने असली पिता व्यासदेव से *महाभारत* सुनी जब वे घर से दूर रहकर तीर्थ स्थलों का भ्रमण कर रहे थे।

सा श्रद्दधानस्य विवर्धमाना
विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः ।
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य
समस्तदुःखाप्ययमाशु धत्ते ॥ १३॥

शब्दार्थ

सा—कृष्णकथा; श्रद्दधानस्य—श्रद्धापूर्वक सुनने के इच्छुक लोगों के; विवर्धमाना—क्रमशः बढ़ती हुई; विरक्तिम्—अन्यमनस्कता; अन्यत्र—अन्य बातों (ऐसी कथाओं के अतिरिक्त) में; करोति—करता है; पुंसः—ऐसे व्यस्त व्यक्ति का; हरेः—भगवान् का; पद-अनुस्मृति—भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण; निर्वृतस्य—ऐसा दिव्य आनन्द प्राप्त करने वाले का; समस्त-दुःख—सारे कष्ट; अप्ययम्—दूर हुए; आशु—तुरन्त; धत्ते—सम्पन्न करता है।

जो व्यक्ति ऐसी कथाओं का निरन्तर श्रवण करते रहने के लिए आतुर रहता है, उसके लिए कृष्णकथा क्रमशः अन्य सभी बातों के प्रति उसकी उदासीनता को बढ़ा देती है। वह भक्त जिसने दिव्य आनन्द प्राप्त कर लिया हो उसके द्वारा भगवान् के चरणकमलों का ऐसा निरन्तर स्मरण तुरन्त ही उसके सारे कष्टों को दूर कर देता है।

तात्पर्य : हमें निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि परम स्तर पर कृष्णकथा तथा कृष्ण एक हैं। भगवान् परम सत्य हैं, अतएव उनका नाम, रूप, गुण, इत्यादि, जिन्हें कृष्णकथा समझा जाता है, उनसे अभिन्न होते हैं। भगवान् द्वारा कही गई *भगवद्गीता* स्वयं कृष्ण के ही समान है, जब कोई शुद्ध भक्त *भगवद्गीता* पढ़ता है, तो यह भगवान् को अपने सामने देखने जैसा होता है, किन्तु लौकिक बखेड़ा करने वाले के लिए यह ऐसा नहीं है। जब कोई *भगवद्गीता* पढ़ता है, बशर्ते कि वह उस रीति से पढ़ी

जाय जिस रूप में स्वयं भगवान् ने *गीता* में संस्तुति की है, तो भगवान् की सारी शक्तियाँ वहाँ होती हैं। ऐसा नहीं है कि कोई *भगवद्गीता* की मूर्खतापूर्ण व्याख्या करके दिव्य लाभ पा सके। जो व्यक्ति किसी प्रच्छन्न उद्देश्य के लिए *भगवद्गीता* का कोई कृत्रिम अर्थ या व्याख्या करना चाहता है, वह *श्रद्दधान पुंसः* अर्थात् कृष्ण कथा के प्रामाणिक श्रवण में उत्सुकतापूर्वक लगा रहने वाला नहीं है। ऐसा व्यक्ति *भगवद्गीता* के पठन से कोई लाभ नहीं प्राप्त कर सकता चाहे वह सामान्य जन की दृष्टि में कितना बड़ा विद्वान क्यों न हो। *श्रद्दधान* अथवा श्रद्धावान भक्त *भगवद्गीता* के सारे लाभ प्राप्त कर सकता है, क्योंकि वह भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता के द्वारा दिव्य आनन्द प्राप्त करता है, जो आसक्ति को दूर करता है और समस्त भौतिक कष्टों को निरस्त करता है। अपने वास्तविक अनुभव से एकमात्र भक्त ही विदुर द्वारा कहे गये इस श्लोक का आशय समझ सकता है। शुद्ध भक्त कृष्णकथा सुनकर भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण करते रहने से जीवन का आनन्द लेता है। ऐसे भक्त के लिए भौतिक जगत जैसी कोई वस्तु नहीं होती और अत्यधिक विज्ञापित *ब्रह्मानन्द* का सुख उस भक्त के लिए नगण्य होता है, जो आनन्द के दिव्य सागर में डुबकी लगा रहा हो।

ताञ्छोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे
हरेः कथायां विमुखानघेन ।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषा-
मायुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तान्—उन सब; शोच्य—दयनीय; शोच्यान्—दयनीयों का; अविदः—अज्ञ; अनुशोचे—मुझे तरस आती है; हरेः—भगवान् की; कथायाम्—कथाओं के; विमुखान्—विमुखों पर; अघेन—पापपूर्ण कार्यों के कारण; क्षिणोति—क्षीण पड़ते; देवः—भगवान्; अनिमिषः—नित्यकाल; तु—लेकिन; येषाम्—जिसकी; आयुः—आयु; वृथा—व्यर्थ; वाद—दार्शनिक चिन्तन; गति—चरमलक्ष्य; स्मृतीनाम्—विभिन्न अनुष्ठानों का पालन करने वालों के।

हे मुनि, जो व्यक्ति अपने पाप कर्मों के कारण दिव्य कथा-प्रसंगों से विमुख रहते हैं और फलस्वरूप महाभारत (भगवद्गीता) के उद्देश्य से वंचित रह जाते हैं, वे दयनीय द्वारा भी दया के पात्र होते हैं। मुझे भी उन पर तरस आती है, क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि किस तरह नित्यकाल द्वारा उनकी आयु नष्ट की जा रही है। वे दार्शनिक चिन्तन, जीवन के सैद्धान्तिक चरम लक्ष्यों तथा विभिन्न कर्मकाण्डों की विधियों को प्रस्तुत करने में स्वयं को लगाये रहते हैं।

तात्पर्य : प्रकृति के गुणों के अनुसार मनुष्यों तथा भगवान् के बीच तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं।

जो लोग तमोगुणी तथा रजोगुणी हैं, वे ईश्वर के अस्तित्व के विमुख रहते हैं या वे ईश्वर के अस्तित्व को औपचारिक आपूर्तिकर्ता के पद पर मानते हैं। उनके ऊपर वे हैं, जो सतोगुणी होते हैं। ये दूसरी श्रेणी के लोग परब्रह्म को निर्विशेष मानते हैं। वे भक्ति सम्प्रदाय को स्वीकार करते हैं जिसमें कृष्णकथा सुनना सर्वप्रथम साधन के रूप में होता है, साध्य रूप में नहीं। उनसे भी ऊपर वे हैं, जो शुद्ध भक्त हैं। वे भौतिक सतोगुण के ऊपर दिव्य अवस्था में स्थित होते हैं। ऐसे लोग निश्चित रूप से आश्वस्त रहते हैं कि भगवान् के नाम, रूप, यश, गुण इत्यादि परम स्तर पर एक दूसरे से अभिन्न होते हैं। उनके लिए कृष्णकथा का सुनना कृष्ण के आमने-सामने मिलने के तुल्य होता है। इस श्रेणी के लोगों के अनुसार जो भगवान् की शुद्ध भक्ति को प्राप्त होते हैं, मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य *पुरुषार्थ* है अर्थात् भगवान् की भक्ति है, जो जीवन का असली मिशन है। चूँकि निर्विशेषवादी लोग मानसिक चिन्तन में लगे रहते हैं और भगवान् में श्रद्धा नहीं रखते, अतएव उनका कृष्णकथा सुनने से कोई सरोकार नहीं होता। ऐसे लोग उच्चकोटि के शुद्ध भक्तों की दया के पात्र हैं। दयनीय निर्विशेषवादी उन पर तरस खाते हैं, जो तमो तथा रजो गुणों द्वारा प्रभावित होते हैं, किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त इन दोनों पर तरस खाते हैं, क्योंकि ये दोनों ही मानव जीवन का अपना अमूल्य समय झूठे कार्यों, इन्द्रियभोगों तथा विभिन्न वादों एवं जीवन लक्ष्यों के मानसिक चिन्तन के प्रदर्शन में नष्ट करते हैं।

तदस्य कौषारव शर्मदातु-
हरेः कथामेव कथासु सारम् ।
उद्धृत्य पुष्पेभ्य इवार्तबन्धो
शिवाय नः कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; अस्य—उसका; कौषारव—हे मैत्रेय; शर्म-दातुः—सौभाग्य प्रदान करने वाले; हरेः—भगवान् की; कथाम्—कथाएँ; एव—एकमात्र; कथासु—सभी कथाओं में; सारम्—सार; उद्धृत्य—उद्धरण देकर; पुष्पेभ्यः—फूलों से; इव—सदृश; आर्त-बन्धो—हे दुखियों के बन्धु; शिवाय—कल्याण के लिए; नः—हमारे; कीर्तय—कृपया वर्णन कीजिये; तीर्थ—तीर्थयात्रा; कीर्तेः—कीर्तिवान को।

हे मैत्रेय, हे दुखियारों के मित्र, एकमात्र भगवान् की महिमा सारे जगत के लोगों का कल्याण करने वाली है। अतएव जिस तरह मधुमक्खियाँ फूलों से मधु एकत्र करती हैं, उसी तरह कृपया समस्त कथाओं के सार—कृष्णकथा—का वर्णन कीजिये।

तात्पर्य : विभिन्न भौतिक गुणों वाले भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए अनेक प्रकार की कथाएँ होती

हैं, किन्तु सबसे आवश्यक कथाएँ वे हैं, जो भगवान् से सम्बन्धित होती हैं। दुर्भाग्यवश, भौतिक रूप से प्रभावित बद्धजीव भगवान् की कथाओं के प्रति न्यूनाधिक विमुख रहते हैं, क्योंकि इनमें से कुछ लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते और कुछ ईश्वर के केवल निर्विशेष रूप में ही विश्वास करते हैं। दोनों ही दशाओं में उनके लिए ईश्वर के विषय में कुछ भी नहीं कहना होता। विश्वास न करने वाले तथा निर्विशेषवादी दोनों ही समस्त कथाओं के सार से इनकार करते हैं, अतएव वे या तो इन्द्रियतृप्ति विषयक कथाओं में या मानसिक चिन्तन में अपने को लगाते हैं। विदुर जैसे शुद्ध भक्तों के लिए संसारी लोगों तथा मानसिक चिन्तकों, दोनों ही की कथाएँ सभी तरह से व्यर्थ हैं। अत: विदुर ने मैत्रेय से केवल सार, अर्थात् कृष्णकथा के विषय में बातें करने की प्रार्थना की, अन्य किसी विषय पर नहीं।

स विश्वजन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतारः प्रगृहीतशक्तिः ।
चकार कर्माण्यतिपूरुषाणि
यानीश्वरः कीर्तय तानि मह्यम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—भगवान्; विश्व—ब्रह्माण्ड; जन्म—सृष्टि; स्थिति—भरण-पोषण; संयम-अर्थे—पूर्ण नियंत्रण की दृष्टि से; कृत—स्वीकृत; अवतारः—अवतार; प्रगृहीत—सम्पन्न किया हुआ; शक्तिः—शक्ति; चकार—किया; कर्माणि—दिव्यकर्म; अति-पूरुषाणि—अतिमानवीय; यानि—वे सभी; ईश्वरः—भगवान्; कीर्तय—कृपया कीर्तन करें; तानि—उन सबों का; मह्यम्—मुझसे।

कृपया उन परम नियन्ता भगवान् के समस्त अतिमानवीय दिव्य कर्मों का कीर्तन करें जिन्होंने विराट सृष्टि के प्राकट्य तथा पालन के लिए समस्त शक्ति से समन्वित होकर अवतार लेना स्वीकार किया।

तात्पर्य : निस्सन्देह, विदुर कृष्ण के विषय में विशेष रूप से सुनने के अत्यन्त उत्सुक थे, किन्तु वे भावाभिभूत थे, क्योंकि कृष्ण ने इस दृश्य जगत से हाल ही में प्रयाण किया था। अतएव विदुर ने उनके उन पुरुष अवतारों के विषय में सुनना चाहा, जिन्हें वे विराट जगत की सृष्टि तथा भरण-पोषण के लिए पूर्ण शक्तियों समेत प्रकट करते हैं। पुरुष अवतारों के कार्यकलाप भगवान् के कार्यों के विस्तार मात्र होते हैं। विदुर ने मैत्रेय को यह संकेत दिया, क्योंकि मैत्रेय यह तय नहीं कर पा रहे थे कि कृष्ण के कार्यों के किस अंश का कीर्तन किया जाय।

श्रीशुक उवाच

स एवं भगवान्पृष्टः क्षत्त्रा कौषारवो मुनिः ।
पुंसां निःश्रेयसार्थेन तमाह बहुमानयन् ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह; एवम्—इस प्रकार; भगवान्—महर्षि; पृष्टः—पूछे जाने पर; क्षत्त्रा—विदुर द्वारा; कौषारवः—मैत्रेय; मुनिः—महर्षि; पुंसाम्—सारे लोगों के लिए; निःश्रेयस—महानतम कल्याण; अर्थेन—के लिए; तम्—उसको; आह—वर्णन किया; बहु—अत्यधिक; मानयन्—सम्मान करते हुए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : विदुर का अत्यधिक सम्मान करने के बाद विदुर के अनुरोध पर समस्त लोगों के महानतम कल्याण हेतु महर्षि मैत्रेय मुनि बोले।

तात्पर्य : महर्षि मैत्रेय मुनि को यहाँ पर *भगवान्* कहा गया है, क्योंकि विद्या तथा अनुभव में वे सामान्य मनुष्यों से आगे बढ़ चुके थे। अतः विश्व के लिए महानतम सेवा का उनका चुनाव प्रामाणिक माना गया है। सम्पूर्ण मानव समाज की समग्र कल्याण सेवा तो भगवान् की भक्तिमय सेवा है और विदुर के अनुरोध पर मुनि ने उसका बहुत ही उपयुक्त रुप से वर्णन किया।

मैत्रेय उवाच

साधु पृष्टं त्वया साधो लोकान्साध्वनुगृह्णता ।
कीर्तिं वितन्वता लोके आत्मनोऽधोक्षजात्मनः ॥ १८॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्री मैत्रेय ने कहा; साधु—सर्वमंगलमय; पृष्टम्—पूछा गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; साधो—हे भद्रे; लोकान्—सारे लोग; साधु अनुगृह्णता—अच्छाई में दया का प्रदर्शन; कीर्तिम्—कीर्ति; वितन्वता—प्रसार करते हुए; लोके—संसार में; आत्मनः—आत्मा का; अधोक्षज—ब्रह्म; आत्मनः—मन।

श्रीमैत्रेय ने कहा : हे विदुर, तुम्हारी जय हो। तुमने मुझसे सबसे अच्छी बात पूछी है। इस तरह तुमने संसार पर तथा मुझ पर अपनी कृपा प्रदर्शित की है, क्योंकि तुम्हारा मन सदैव ब्रह्म के विचारों में लीन रहता है।

तात्पर्य : ब्रह्म विज्ञान में अनुभवी मैत्रेय मुनि समझ गये कि विदुर का मन पूर्णतया ब्रह्म में लीन है। *अधोक्षज* का अर्थ है, जो इन्द्रिय अनुभूति या इन्द्रिय अनुभव की सीमाओं को लाँघ जाता है। भगवान् हमारे इन्द्रिय अनुभव के परे हैं, किन्तु वे निष्ठावान भक्त के समक्ष अपने को प्रकट करते हैं। चूँकि विदुर भगवान् के विचार में सदैव लीन रहते थे, अतएव मैत्रेय विदुर के दिव्य महत्त्व का अनुमान लगा सके। उन्होंने विदुर के मूल्यवान प्रश्नों को सराहा और अत्यन्त आदर के साथ उन्हें धन्यवाद दिया।

नैतच्चित्रं त्वयि क्षत्तर्बादरायणवीर्यजे ।
गृहीतोऽनन्यभावेन यत्त्वया हरिरीश्वरः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एतत्—ऐसे प्रश्न; चित्रम्—अत्यन्त आश्चर्यजनक; त्वयि—तुममें; क्षत्तः—हे विदुर; बादरायण—व्यासदेव के; वीर्य-जे—वीर्य से उत्पन्न; गृहीतः—स्वीकृत; अनन्य-भावेन—विचार से हटे बिना; यत्—क्योंकि; त्वया—तुम्हारे द्वारा; हरिः—भगवान्; ईश्वरः—भगवान्।

हे विदुर, यह तनिक भी आश्चर्यप्रद नहीं है कि तुमने अनन्य भाव से भगवान् को इस तरह स्वीकार कर लिया है, क्योंकि तुम व्यासदेव के वीर्य से उत्पन्न हो।

तात्पर्य : यहाँ पर विदुर के जन्म को लेकर महान् वंश तथा कुलीन जन्म का मूल्यांकन किया गया है। मनुष्य का अनुशीलन तभी शुरू हो जाता है जब पिता अपना वीर्य माता के गर्भ में स्थापित करता है। जीव अपने *कर्म* के स्तर के अनुसार विशिष्ट पिता के वीर्य में अवस्थित कर दिया जाता है और चूँकि विदुर सामान्य जीव न थे, अतएव उन्हें व्यास के वीर्य से जन्म लेने का अवसर प्रदान किया गया। मनुष्य का जन्म महान् विज्ञान है, अतएव वैदिक अनुष्ठान के अनुसार वीर्यस्थापन का संस्कार जो *गर्भाधान* संस्कार कहलाता है, उत्तम जनसंख्या को उत्पन्न करने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मूल समस्या जनता की वृद्धि को रोकने की नहीं, अपितु विदुर, व्यास तथा मैत्रेय जैसी अच्छी संतति उत्पन्न करने की है। यदि जन्म सम्बन्धी समस्त सावधानियों के साथ बच्चे मनुष्य के रूप में उत्पन्न हों तो जनसंख्या-वृद्धि रोकने की कोई आवश्यकता नहीं है। तथाकथित जन्म-नियंत्रण (संतति-निरोध) न केवल दूषित है, अपितु निरर्थक भी है।

माण्डव्यशापाद्भगवान्प्रजासंयमनो यमः ।
भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतात् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

माण्डव्य—माण्डव्य नामक महर्षि; शापात्—उसके शाप से; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; प्रजा—जन्म लेने वाला; संयमनः—मृत्यु का नियंत्रक; यमः—यमराज नाम से विख्यात; भ्रातुः—भाई की; क्षेत्रे—पत्नी में; भुजिष्यायाम्—रखैल; जातः—उत्पन्न; सत्यवती—सत्यवती (विचित्रवीर्य तथा व्यासदेव की माता); सुतात्—पुत्र (व्यासदेव) से।

मैं जानता हूँ कि तुम माण्डव्य मुनि के शाप के कारण विदुर बने हो और इसके पूर्व तुम जीवों की मृत्यु के पश्चात उनके महान् नियंत्रक राजा यमराज थे। तुम सत्यवती के पुत्र व्यासदेव द्वारा उसके भाई की रखैल पत्नी से उत्पन्न हुए थे।

तात्पर्य : माण्डव्य मुनि एक महान ऋषि थे (देखें *भागवत* १.१३.१) और विदुर अपने पूर्वजन्म में नियंत्रक यमराज थे, जो जीवों की मृत्यु के बाद उनका कार्यभार सँभालता है। इस भौतिक जगत में रहने वाले जीवों की तीन दशाएँ हैं—जन्म, भरण-पोषण तथा मृत्यु। एक बार मृत्यु के पश्चात् नियुक्त नियंत्रक के रूप में यमराज ने माण्डव्य मुनि को उनके बचपन के दुराचार के लिए दण्ड दिया और उन्हें भाले से छेदे जाने का आदेश दे दिया। इस अनुचित दण्ड के लिए यमराज पर क्रुद्ध होकर माण्डव्य ने उसे शूद्र बनने का शाप दे दिया। इस तरह यमराज ने विचित्रवीर्य की रखैल पत्नी के गर्भ से विचित्रवीर्य के भाई व्यासदेव के वीर्य से जन्म लिया। व्यासदेव सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न भीष्मदेव के पिता शान्तनु के पुत्र थे। विदुर का यह रहस्यमय इतिहास मैत्रेय मुनि को ज्ञात था, क्योंकि वे व्यासदेव के समकालीन मित्र थे। रखैल पत्नी के गर्भ से जन्म होने के बावजूद विदुर ने महान् भगवद्भक्त होने की सर्वोच्च प्रतिभा का उत्तराधिकार प्राप्त किया, क्योंकि उनके माता-पिता महान् थे और उनका सम्बन्ध महान् था। ऐसे महान् वंश में जन्म लेना भक्तिमय जीवन प्राप्त करने के लिए लाभप्रद है। विदुर को यह अवसर अपनी पूर्वजन्म की महानता के कारण प्राप्त हो सका।

भवान्भगवतो नित्यं सम्मतः सानुगस्य ह ।
यस्य ज्ञानोपदेशाय मादिशद्भगवान्व्रजन् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप ही; भगवतः—भगवान् के; नित्यम्—नित्य; सम्मतः—मान्य; स-अनुगस्य—संगियों में से एक; ह—रहे हैं; यस्य—जिसका; ज्ञान—ज्ञान; उपदेशाय—उपदेश के लिए; मा—मुझको; आदिशत्—इस तरह आदिष्ट; भगवान्—भगवान् ने; व्रजन्—अपने धाम जाते हुए।

आप भगवान् के नित्यसंगियों में से एक हैं जिनके लिए भगवान् अपने धाम वापस जाते समय मेरे पास उपदेश छोड़ गये हैं।

तात्पर्य : मृत्यु के पश्चात् जीवन के महान् नियंत्रक यमराज जीवों के अगले जीवन के भाग्य का निर्णय करते हैं। वे निश्चय ही भगवान् के प्रतिनिधियों में सर्वाधिक विश्वसनीय हैं। ऐसे विश्वसनीय पद उन महान् भगवद्भक्तों को दिये जाते हैं, जो वैकुण्ठ में भगवान् के नित्य संगियों के समान होते हैं। चूंकि विदुर उनमें से एक थे, अतएव वैकुण्ठ वापस जाते समय भगवान् मैत्रेय के पास विदुर के लिए उपदेश छोड़ते गये। सामान्यतया भगवान् के वैकुण्ठ के संगी भौतिक जगत में नहीं आते। किन्तु कभी-

कभी भगवान् के आदेश से वे, किसी प्रशासनिक पद का भार सँभालने नहीं, अपितु भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने अथवा मानव समाज में भगवान् के सन्देश का प्रसार करने के लिए आते हैं। ऐसे शक्तिप्रदत्त प्रतिनिधि *शक्त्यावेश अवतार* कहलाते हैं।

अथ ते भगवल्लीला योगमायोरुबृंहिताः ।
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथ—इसलिए; ते—आपसे; भगवत्—भगवान् विषयक; लीलाः—लीलाएँ; योग-माया—भगवान् की शक्ति; उरु—अत्यधिक; बृंहिताः—विस्तारित; विश्व—विराट जगत के; स्थिति—पालन; उद्भव—सृजन; अन्त—संहार; अर्थाः—प्रयोजन; वर्णयामि—वर्णन करूँगा; अनुपूर्वशः—क्रमबद्ध रीति से।

अतएव मैं आपसे उन लीलाओं का वर्णन करूँगा जिनके द्वारा भगवान् विराट जगत के क्रमबद्ध सृजन, भरण-पोषण तथा संहार के लिए अपनी दिव्य शक्ति का विस्तार करते हैं।

तात्पर्य : सर्वशक्तिमान भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा अपनी इच्छानुसार कुछ भी कर सकते हैं। विराट जगत की सृष्टि उनकी *योगमाया* शक्ति द्वारा की जाती है।

भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः ।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; एकः—अद्वय; आस—था; इदम्—यह सृष्टि; अग्रे—सृष्टि के पूर्व; आत्मा—अपने स्वरूप में; आत्मनाम्—जीवों के; विभुः—स्वामी; आत्मा—आत्मा; इच्छा—इच्छा; अनुगतौ—लीन होकर; आत्मा—आत्मा; नाना-मति—विभिन्न दृष्टियाँ; उपलक्षणः—लक्षण।

समस्त जीवों के स्वामी, भगवान् सृष्टि के पूर्व अद्वय रूप में विद्यमान थे। केवल उनकी इच्छा से ही यह सृष्टि सम्भव होती है और सारी वस्तुएँ पुनः उनमें लीन हो जाती हैं। इस परम पुरुष को विभिन्न नामों से उपलक्षित किया जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर महर्षि *श्रीमद्भागवत* के चार आदि श्लोकों के अभिप्राय की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। यद्यपि मायावाद (निर्विशेषवाद) के अनुयायियों की *श्रीमद्भागवत* तक पैठ नहीं है, किन्तु कभी-कभी वे उसके चार आदि श्लोकों की खींचतान कर काल्पनिक व्याख्या करते हैं। किन्तु हमें मैत्रेय मुनि द्वारा यहाँ पर दी गई असली व्याख्या को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उन्होंने इसे उद्धव के साथ प्रत्यक्ष भगवान् के मुख से सुना था। इन चार आदि श्लोकों की प्रथम पंक्ति है *अहम् एवासम्*

एवाग्रे। मायावादी इस *अहम्* शब्द की ऐसी गलत व्याख्या करते हैं जिसे व्याख्याकार के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं समझ सकता। यहाँ पर *अहम्* की व्याख्या परम पुरुषोत्तम भगवान् के अर्थ में की गई है, व्यष्टि जीवों के अर्थ में नहीं। सृष्टि के पूर्व केवल भगवान् थे। तब कोई भी *पुरुष-अवतार* नहीं थे और जीव तो थे ही नहीं, न ही भौतिक शक्ति थी जिससे व्यक्त सृष्टि प्रभावित होती है। तब सारे पुरुष-अवतार तथा भगवान् की सारी विभिन्न शक्तियाँ एकमात्र भगवान् में समाहित थीं।

यहाँ पर भगवान् को अन्य समस्त जीवों का स्वामी कहा गया है। वे सूर्यगोलक के तुल्य हैं और सारे जीव सूर्य की किरणों के अणु के तुल्य हैं। सृष्टि के पूर्व भगवान् के अस्तित्व की पुष्टि श्रुतियों द्वारा हुई है—*वासुदेवो वा इदं अग्र आसीत् न ब्रह्मा न च शङ्करः। एको वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानाः*। चूँकि प्रत्येक वस्तु भगवान् से उद्‌भूत है, वे सदैव अकेले अद्वय रूप में विद्यमान रहते हैं। वे इस तरह विद्यमान रह सकते हैं, क्योंकि वे सर्व-सम्पूर्ण तथा सर्वशक्तिमान हैं। उनके अतिरिक्त हर वस्तु, यहाँ तक कि उनके स्वांश विष्णुतत्त्व भी, उनके अंश हैं। सृष्टि के पूर्व न तो कारणार्णवशायी विष्णु थे, न गर्भोदकशायी विष्णु या क्षीरोदकशायी विष्णु या ब्रह्मा अथवा शंकर ही थे। विष्णुतत्त्व तथा ब्रह्मा इत्यादि सारे जीव भिन्नांश हैं। यद्यपि आध्यात्मिक जगत भगवान् के साथ था, किन्तु भौतिक जगत उनमें सुसुप्त था। केवल उनकी इच्छा से भौतिक जगत बनता तथा बिगड़ता है। वैकुण्ठलोक की विविधता भगवान् से एकाकार है, जिस तरह सैनिकों की विविधता राजा से तदाकार होती है। जैसाकि *भगवद्‌गीता* (९.७) में बतलाया गया है भौतिक सृष्टि भगवान् की इच्छा से होती है और सृष्टि तथा प्रलय के कुछ अन्तराल के बीच की अवधियों में जीव तथा भौतिक शक्ति उनमें सुसुप्त रहते हैं।

स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट् ।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥ २४॥

शब्दार्थ

सः—भगवान्; वा—अथवा; एषः—ये सभी; तदा—उस समय; द्रष्टा—देखने वाला; न—नहीं; अपश्यत्—देखा; दृश्यम्—विराट सृष्टि; एक-राट्—निर्विवाद स्वामी; मेने—इस तरह सोचा; असन्तम्—अविद्यमान; इव—सदृश; आत्मानम्—स्वांश रूप; सुप्त—अव्यक्त; शक्तिः—भौतिक शक्ति; असुप्त—व्यक्त; दृक्—अन्तरंगा शक्ति।

हर वस्तु के निर्विवाद स्वामी भगवान् ही एकमात्र द्रष्टा थे। उस समय विराट जगत का अस्तित्व न था, अतः अपने स्वांशों तथा भिन्नांशों के बिना वे अपने को अपूर्ण अनुभव कर रहे

थे। तब भौतिक शक्ति सुसुप्त थी जबकि अन्तरंगा शक्ति व्यक्त थी।

तात्पर्य : भगवान् परम द्रष्टा हैं, क्योंकि उनकी चितवन मात्र से भौतिक शक्ति विराट सृष्टि के लिए गतिशील हुई। उस समय द्रष्टा तो था, किन्तु बहिरंगा शक्ति, जिस पर भगवान् अपनी चितवन फेरते हैं, उपस्थित नहीं थी। उन्हें कुछ अधूरा सा लग रहा था जिस तरह पति को पत्नी की अनुपस्थिति में अकेलापन अनुभव होता है। यह कथात्मक उपमा है। भगवान् ने उन बद्ध आत्माओं को जो विस्मृति में सुप्त थीं, दूसरा अवसर प्रदान करने के लिए विराट सृष्टि का सृजन करना चाहा। विराट सृष्टि बद्धजीवों को भगवद्धाम वापस जाने का अवसर प्रदान करती है और यही इसका मुख्य उद्देश्य है। भगवान् इतने कृपालु हैं कि ऐसी सृष्टि की अनुपस्थिति में ऐसा अनुभव करते हैं कि जैसे किसी वस्तु की कमी हो और इस तरह सृष्टि की रचना होती है। यद्यपि अन्तरंगा शक्ति की सृष्टि व्यक्त थी, किन्तु दूसरी शक्ति सुप्त प्रतीत हो रही थी। भगवान् उसे जगाकर गतिशील बनाना चाहते थे जिस तरह पति अपनी सोई हुई पत्नी को रमण के लिए जगाना चाहता है। यह तो सुप्त शक्ति पर भगवान् का अनुग्रह है कि वे उसे रमण के लिए जागृत देखना चाहते हैं जिस तरह अन्य पत्नियाँ जागृत हैं। सारी प्रक्रिया सुप्त बद्धजीवों को आध्यात्मिक चेतना के असली जीवन में लाने की है, जिससे वे उसी तरह पूर्ण बन सकें जिस तरह कि वैकुण्ठलोक की नित्यमुक्त आत्माएँ। चूँकि भगवान् सच्चिदानन्द विग्रह हैं, अतएव वे आनन्दमय रस में अपनी विभिन्न शक्तियों के हर भिन्नांश को भागीदार बनाना चाहते हैं, क्योंकि भगवान् की नित्य रासलीला में भगवान् के साथ सम्मिलित होना सर्वोच्च जागृत अवस्था है, जो आध्यात्मिक आनन्द तथा नित्य ज्ञान से परिपूर्ण है।

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सा—वह बहिरंगा शक्ति; वा—अथवा है; एतस्य—भगवान् की; संद्रष्टुः—पूर्ण द्रष्टा की; शक्तिः—शक्ति; सत्-असत्-आत्मिका—कार्य तथा कारण दोनों रूप में; माया नाम—माया नामक; महा-भाग—हे भाग्यवान; यया—जिससे; इदम्—यह भौतिक जगत; निर्ममे—निर्मित किया; विभुः—सर्वशक्तिमान ने।

भगवान् द्रष्टा हैं और बहिरंगा शक्ति, जो दृष्टिगोचर है, विराट जगत में कार्य तथा कारण दोनों रूप में कार्य करती है। हे महाभाग विदुर, यह बहिरंगा शक्ति माया कहलाती है और केवल

इसी के माध्यम से सम्पूर्ण भौतिक जगत सम्भव होता है।

तात्पर्य : माया कहलाने वाली भौतिक प्रकृति ब्रह्माण्डों का भौतिक तथा सक्षम कारण है, किन्तु पृष्ठभूमि में इन सभी कार्यों के लिए भगवान् चेतनास्वरूप हैं। जिस तरह व्यष्टि शरीर में चेतना ही शरीर की समस्त शक्तियों का स्रोत होती है, उसी तरह भगवान् की परम चेतना भौतिक प्रकृति में समस्त शक्तियों की स्रोत है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.१०) में इस प्रकार हुई है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"भौतिक प्रकृति की समस्त शक्तियों में अन्तिम अधीक्षक के रूप में भगवान् का हाथ रहता है। इस परम कारण के फलस्वरूप ही भौतिक प्रकृति के सारे कार्य सुनियोजित एवं व्यवस्थित प्रतीत होते हैं और सारी वस्तुएँ नियमित रूप से विकसित होते जाती हैं।"

कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः ।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

काल—शाश्वत काल के; वृत्त्या—प्रभाव से; तु—लेकिन; मायायाम्—बहिरंगा शक्ति में; गुण-मय्याम्—प्रकृति के गुणात्मक रूप में; अधोक्षजः—ब्रह्म; पुरुषेण—पुरुष के अवतार द्वारा; आत्म-भूतेन—जो भगवान् का स्वांश है; वीर्यम्—जीवों का बीज; आधत्त—संस्थापित किया; वीर्यवान्—परम पुरुष ने।

अपने स्वांश दिव्य पुरुष अवतार के रूप में परम पुरुष प्रकृति के तीन गुणों में बीज संस्थापित करता है और इस तरह नित्य काल के प्रभाव से सारे जीव प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : किसी भी जीव की सन्तान पिता द्वारा माता के गर्भ में वीर्य संस्थापित किये जाने पर उत्पन्न होती है और पिता के वीर्य में तैरता जीव माता का स्वरूप धारण करता है। इसी तरह मातारूपी भौतिक प्रकृति अपने भौतिक तत्त्वों से तब तक किसी जीव को उत्पन्न नहीं कर सकती जब तक स्वयं भगवान् उसे जीवों से गर्भित नहीं बनाते। जीवों की उत्पत्ति का यही रहस्य है। यह गर्भाधान की क्रिया प्रथम पुरुष अवतार कारणार्णवशायी विष्णु द्वारा सम्पन्न की जाती है। केवल उनके दृष्टिपात से यह सारा काम पूरा हो जाता है।

हमें भगवान् द्वारा गर्भाधान की विधि को अपनी यौन-धारणा के रूप में नहीं समझना चाहिए।

सर्वशक्तिमान भगवान् केवल अपनी आँखों से भी गर्भाधान कर सकते हैं, इसलिए वे सर्वशक्तिमान कहलाते हैं। उनके दिव्य शरीर का प्रत्येक अंग अन्य अंगों का कार्य कर सकता है। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३२) में हुई है—*अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति*। *भगवद्गीता* (१४.३) में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि हुई है—*मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्*। जब विराट जगत व्यक्त होता है, तो जीवों की आपूर्ति सीधे भगवान् से होती है, वे भौतिक प्रकृति की उपज नहीं होते। इस तरह भौतिक विज्ञान की कोई भी वैज्ञानिक प्रगति कभी कोई जीव उत्पन्न नहीं कर सकती। भौतिक सृष्टि का यही सम्पूर्ण रहस्य है। जीवात्माएँ पदार्थ से विजातीय होते हैं, अतएव जब तक वे भगवान् जैसे आध्यात्मिक जीवन में स्थित नहीं हो जाते, वे सुखी नहीं हो सकते। दिग्भ्रमित जीव अपने जीवन की इस आदि स्थिति की विस्मृति के कारण इस भौतिक जगत में सुखी बनने के लिए व्यर्थ समय गँवाता है। सम्पूर्ण वैदिक प्रक्रिया जीव को जीवन के इसी अनिवार्य स्वरूप का स्मरण दिलाने के लिए है। भगवान् बद्धात्मा को उसके तथाकथित भोग के लिए भौतिक शरीर प्रदान करते हैं और यदि वह चेतता नहीं और आध्यात्मिक चेतना में प्रविष्ट नहीं होता तो भगवान् उसे पुन: उसी अव्यक्त अवस्था में डाल देते हैं जिसमें वह सृष्टि के प्रारम्भ में था। यहाँ पर भगवान् को *वीर्यवान्* कहा गया है, क्योंकि वे भौतिक प्रकृति में उन असंख्य जीवों का गर्भाधान करते हैं, जो अनादि काल से बद्ध हैं।

ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात्कालचोदितात् ।
विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुद: ॥ २७॥

शब्दार्थ

तत:—तत्पश्चात्; अभवत्—जन्म हुआ; महत्—परम; तत्त्वम्—सार; अव्यक्तात्—अव्यक्त से; काल-चोदितात्—काल की अन्त:क्रिया से; विज्ञान-आत्मा—शुद्ध सत्त्व; आत्म-देह-स्थम्—शारीरिक आत्मा में स्थित; विश्वम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; व्यञ्जन्—प्रकट करते हुए; तम:-नुद:—परम प्रकाश।

तत्पश्चात् नित्यकाल की अन्त:क्रियाओं से प्रभावित पदार्थ का परम सार, जो कि महत् तत्त्व कहलाता है, प्रकट हुआ और इस महत् तत्त्व में शुद्ध सत्त्व अर्थात् भगवान् ने अपने शरीर से ब्रह्माण्ड अभिव्यक्ति के बीज बोये।

तात्पर्य : कालक्रम से गर्भित भौतिक शक्ति सर्वप्रथम सम्पूर्ण भौतिक अवयवों के रूप में प्रकट हुई। फलित होने में हर वस्तु अपना समय लेती है, अतएव *कालचोदितात* (काल द्वारा प्रभावित) शब्द

का यहाँ पर प्रयोग हुआ है। महत् तत्त्व सम्पूर्ण चेतना है, क्योंकि इसका एक अंश हर एक में बुद्धि के रूप में प्रदर्शित होता है। महत् तत्त्व परम पुरुष की परम चेतना से सीधे जुड़ा है, फिर भी यह पदार्थ के रूप में प्रतीत होता है। महत् तत्त्व अथवा शुद्ध चेतना का प्रतिबिम्ब समस्त सृष्टि की अंकुरणस्थली है। यह रजोगुण से थोड़ा सामिश्रित शुद्ध सत्त्व है, अतएव यहीं से गतिशीलता उत्पन्न होती है।

सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः ।
आत्मानं व्यकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सः—महत् तत्त्व; अपि—भी; अंश—पुरुष स्वांश; गुण—मुख्यतया तमोगुण; काल—काल की अवधि; आत्मा—पूर्णचेतना; भगवत्—भगवान् की; दृष्टि-गोचरः—दृष्टि की सीमा; आत्मानम्—अनेक भिन्न-भिन्न रूपों को; व्यकरोत्—विभेदित; आत्मा—आगार; विश्वस्य—होने वाले जीवों का; अस्य—इस; सिसृक्षया—मिथ्या अहंकार को उत्पन्न करता है।.

तत्पश्चात् महत् तत्त्व अनेक भिन्न-भिन्न भावी जीवों के आगार रूपों में विभेदित हो गया। यह महत् तत्त्व मुख्यतया तमोगुणी होता है और यह मिथ्या अहंकार को जन्म देता है। यह भगवान् का स्वांश है, जो सर्जनात्मक सिद्धान्तों की पूर्ण चेतना तथा फलनकाल से युक्त होता है।

तात्पर्य : महत् तत्त्व शुद्ध आत्मा एवं भौतिक जगत के बीच का माध्यम है। यह पदार्थ तथा आत्मा का सन्धिस्थल है जहाँ से जीव का मिथ्या अहंकार उत्पन्न होता है। सारे जीव भगवान् के भिन्नांश हैं। मिथ्या अहंकार के दबाव में आकर बद्धात्माएँ पूर्ण पुरुषोतत्तम भगवान् के भिन्नांश होते हुए भी भौतिक प्रकृति की भोक्ता होने का दावा करती हैं। यह मिथ्या अहंकार भौतिक जगत की बन्धक शक्ति है। भगवान् मोहग्रस्त बद्धात्माओं को इस मिथ्या अहंकार से मुक्त होने के लिए बारम्बार अवसर प्रदान करते हैं, इसी के कारण भौतिक सृष्टि कालान्तरों पर होती है। वे बद्धात्माओं को अपने मिथ्या अहंकार के कार्यों को सुधारने की सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं, किन्तु वे भगवान् के भिन्नांश होने की उनकी यत्किंचित स्वतंत्रता में व्यवधान नहीं डालते।

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहंतत्त्वं व्यजायत ।
कार्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

महत्—महान्; तत्त्वात्—कारणस्वरूप सत्य से; विकुर्वाणात्—रूपान्तरित होने से; अहम्—मिथ्या अहंकार; तत्त्वम्—भौतिक सत्य; व्यजायत—प्रकट हुआ; कार्य—प्रभाव; कारण—कारण; कर्तृ—कर्ता; आत्मा—आत्मा या स्रोत; भूत—भौतिक अवयव; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः-मयः—मानसिक धरातल पर मँडराता; वैकारिकः—सतोगुण; तैजसः—रजोगुण; च—तथा; तामसः—तमोगुण; च—तथा; इति—इस प्रकार; अहम्—मिथ्या अहंकार; त्रिधा—तीन प्रकार।

महत् तत्त्व या महान् कारण रूप सत्य मिथ्या अहंकार में परिणत होता है, जो तीन अवस्थाओं में—कारण, कार्य तथा कर्ता के रूप में—प्रकट होता है। ऐसे सारे कार्य मानसिक धरातल पर होते हैं और वे भौतिक तत्त्वों, स्थूल इन्द्रियों तथा मानसिक चिन्तन पर आधारित होते हैं। मिथ्या अहंकार तीन विभिन्न गुणों—सतो, रजो तथा तमो—में प्रदर्शित होता है।

तात्पर्य : शुद्ध जीवात्मा अपने आदि आध्यात्मिक अस्तित्व में भगवान् के नित्यदास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति से पूर्णतया सचेत रहता है। सारी आत्माएँ जो ऐसी शुद्ध चेतनाओं में स्थित होती हैं मुक्त होती हैं, अतएव वे आध्यात्मिक आकाश में विभिन्न वैकुण्ठलोकों में आनन्द तथा ज्ञान में नित्य निवास करती हैं। जब भौतिक सृष्टि प्रकट होती है, तो यह उनके निमित्त नहीं होती। नित्य मुक्त आत्माएँ *नित्यमुक्त* कहलाती हैं जिनका भौतिक सृष्टि से कोई वास्ता नहीं रहता। भौतिक सृष्टि उन विद्रोही आत्माओं के निमित्त है, जो भगवान् की अधीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं होतीं। मिथ्या स्वामित्व की यह भावना मिथ्या अहंकार कहलाती है। यह प्रकृति के तीन गुणों में व्यक्त होती है और यह केवल मानसिक चिन्तन में विद्यमान रहती है। जो लोग सतोगुणी होते हैं, वे प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर समझते हैं और इस तरह वे उन शुद्ध भक्तों का परिहास करते हैं, जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहने का प्रयास करते हैं। जो लोग रजोगुण के कारण गर्वित रहते हैं, वे प्रकृति पर अनेक प्रकार से प्रभुत्व जताने का प्रयास करते हैं। इनमें से कुछ लोग उपकारी कार्यों में लगे रहते हैं मानो वे अपनी मानसिक चिन्तनशील योजनाओं के द्वारा अन्यों का कल्याण करने के लिए नियुक्त एजेण्ट हों। ऐसे लोग लौकिक उपकार के आदर्श नियमों को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनकी योजनाएँ मिथ्या अहंकार के आधार पर बनती हैं। यह मिथ्या अहंकार भगवान् से एकाकार होने की सीमा तक विस्तार करता है। अहंकारी बद्धात्माओं की अन्तिम श्रेणी—जो तमोगुणी होती है—स्थूल शरीर के साथ आत्मा की पहचान करने के कारण दिग्भ्रमित रहती है। इस तरह उनके सारे कार्यकलाप केवल शरीर के चारों ओर केन्द्रित रहते हैं। इन सारे व्यक्तियों को मिथ्या अहंकारवादी विचारों से खिलवाड़ करने का अवसर

प्रदान किया जाता है, किन्तु साथ ही भगवान् इतने दयालु हैं कि वे उन्हें *भगवद्‌गीता* तथा *श्रीमद्‌भागवत* जैसे शास्त्रों की सहायता लेने का अवसर प्रदान करते हैं जिससे वे कृष्णविज्ञान को समझ सकें और अपने जीवन सफल बना सकें। इसलिए सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि उन मिथ्या अंहकारवादी जीवों के लिए होती है, जो प्रकृति के गुणों के अधीन विभिन्न मोहों के अन्तर्गत मानसिक धरातल पर मँडराते रहते हैं।

अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत् ।
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अहम्-तत्त्वात्—मिथ्या अहंकार के तत्त्व से; विकुर्वाणात्—रूपान्तर द्वारा; मनः—मन; वैकारिकात्—सतोगुण के साथ अन्तःक्रिया द्वारा; अभूत्—उत्पन्न हुआ; वैकारिकाः—अच्छाई से अन्तःक्रिया द्वारा; च—भी; ये—ये सारे; देवाः—देवता; अर्थ—घटना सम्बन्धी; अभिव्यञ्जनम्—भौतिक ज्ञान; यतः—स्रोत।

मिथ्या अहंकार सतोगुण से अन्तःक्रिया करके मन में रूपान्तरित हो जाता है। सारे देवता भी जो घटनाप्रधान जगत को नियंत्रित करते हैं, उसी सिद्धान्त (तत्त्व), अर्थात् मिथ्या अहंकार तथा सतोगुण की अन्तःक्रिया के परिणाम हैं।

तात्पर्य : मिथ्या अहंकार प्रकृति के विभिन्न गुणों से अन्तःक्रिया करके घटनाप्रधान जगत में समस्त वस्तुओं का स्रोत है।

तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तैजसानि—रजोगुण; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; एव—निश्चय ही; ज्ञान—ज्ञान, दार्शनिक चिन्तन; कर्म—सकाम कर्म; मयानि—प्रधान रूप से; च—भी।

इन्द्रियाँ निश्चय ही मिथ्या अहंकारजन्य रजोगुण की परिणाम हैं, अतएव दार्शनिक चिन्तनपरक ज्ञान तथा सकाम कर्म रजोगुण के प्रधान उत्पाद हैं।

तात्पर्य : मिथ्या अहंकार का प्रधान कार्य ईश्वरविहीनता है। जब कोई व्यक्ति भगवान् के नित्य अधीन अंश के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूल जाता है और स्वतंत्र रूप से सुखी बनना चाहता है, तो वह मुख्यतः दो तरह से कार्य करता है। सर्वप्रथम वह अपने निजी लाभ या इन्द्रियतृप्ति के लिए सकाम कर्म करने का प्रयास करता है और दीर्घकाल तक ऐसे सकाम कर्म करते रहने के बाद जब वह हताश हो जाता है, तो वह दार्शनिक चिन्तक बन जाता है और अपने को ईश्वर-जैसे स्तर पर

समझने लगता है। भगवान् से तदाकार होने का यह मिथ्या विचार माया का अन्तिम पाश होता है, जो जीव को मिथ्या अहंकार के अधीन विस्मृति के बन्धन में फँसा लेती है।

मिथ्या अहंकार के पाश से मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है परब्रह्म के विषय में दार्शनिक चिन्तन की आदत का परित्याग। मनुष्य को निश्चित रूप से यह जान लेना चाहिए कि परब्रह्म का साक्षात्कार अपूर्ण अहंकारी व्यक्ति के दार्शनिक चिन्तन द्वारा कभी नहीं हो सकता। परब्रह्म या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात्कार ऐसे प्रामाणिक अधिकारी से उनके विषय में विनय तथा प्रेमपूर्वक श्रवण द्वारा किया जा सकता है, जो बारह महाजनों में से एक हो, जिसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में हुआ है। ऐसे प्रयास के द्वारा ही मनुष्य भगवान् की मोहमयी शक्ति को जीत सकता है, यद्यपि अन्यों के लिए यह दुर्लंघ्य है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१४) में हुई है।

तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तामसः—तमोगुण से; भूत-सूक्ष्म-आदिः—सूक्ष्म इन्द्रिय विषय; यतः—जिससे; खम्—आकाश; लिङ्गम्—प्रतीकात्मक स्वरूप; आत्मनः—परमात्मा का।

आकाश ध्वनि का परिणाम है और ध्वनि अहंकारात्मक काम का रूपान्तर (विकार) है। दूसरे शब्दों में आकाश परमात्मा का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व है।

तात्पर्य : वैदिक स्तुतियों में कहा गया है—*एतस्माद् आत्मन: आकाश: सम्भूत:*। आकाश परमात्मा की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। जो लोग रजो तथा तमो गुणों में अहंकारी है वे भगवान् की अनुभूति नहीं कर सकते। उनके लिए आकाश परमात्मा की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।

कालमायांशयोगेन भगवद्वीक्षितं नभः ।
नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

काल—काल; माया—बहिरंगा शक्ति; अंश-योगेन—अंशत:मिश्रित; भगवत्—भगवान्; वीक्षितम्—दृष्टिपात किया हुआ; नभः—आकाश; नभसः—आकाश से; अनुसृतम्—इस तरह स्पर्शित होकर; स्पर्शम्—स्पर्श; विकुर्वत्—रूपान्तरित होकर; निर्ममे—निर्मित हुआ; अनिलम्—वायु।

तत्पश्चात् भगवान् ने आकाश पर नित्यकाल तथा बहिरंगा शक्ति से अंशतः मिश्रित दृष्टिपात किया और इस तरह स्पर्श की अनुभूति विकसित हुई जिससे आकाश में वायु उत्पन्न हुई।

तात्पर्य : सारी भौतिक सृष्टियाँ सूक्ष्म से स्थूल बनती है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इसी तरह से विकसित हुआ है। आकाश से स्पर्श अनुभूति विकसित हुई जो नित्यकाल, बहिरंगा शक्ति तथा भगवान् के दृष्टिपात का मिश्रण है। यह स्पर्श अनुभूति आकाश में वायु के रूप में विकसित हो गई। इसी तरह अन्य सारा स्थूल पदार्थ भी सूक्ष्म से स्थूल में विकसित हुआ—ध्वनि आकाश में, स्पर्श वायु में, रूप अग्नि में, स्वाद जल में तथा गन्ध पृथ्वी में विकसित हुई।

अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः ।
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अनिलः—वायु; अपि—भी; विकुर्वाणः—रूपान्तरित होकर; नभसा—आकाश; उरु-बल-अन्वितः—अत्यन्त शक्तिशाली; ससर्ज—उत्पन्न किया; रूप—रूप; तत्-मात्रम्—इन्द्रिय अनुभूति, तन्मात्रा; ज्योतिः—बिजली; लोकस्य—संसार के; लोचनम्—देखने के लिए प्रकाश।

तत्पश्चात् अतीव शक्तिशाली वायु ने आकाश से अन्तःक्रिया करके इन्द्रिय अनुभूति (तन्मात्रा) का रूप उत्पन्न किया और रूप की अनुभूति बिजली में रूपान्तरित हो गई जो संसार को देखने के लिए प्रकाश है।

अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत्परवीक्षितम् ।
आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

अनिलेन—वायु द्वारा; अन्वितम्—अन्तःक्रिया करते हुए; ज्योतिः—बिजली; विकुर्वत्—रूपान्तरित होकर; परवीक्षितम्—ब्रह्म द्वारा दृष्टिपात किया जाकर; आधत्त—उत्पन्न किया; अम्भः रस-मयम्—स्वाद से युक्त जल; काल—नित्य काल का; माया-अंश—तथा बहिरंगा शक्ति; योगतः—मिश्रण द्वारा।

जब वायु में बिजली की क्रिया हुई और उस पर ब्रह्म ने दृष्टिपात किया उस समय नित्यकाल तथा बहिरंगा शक्ति के मिश्रण से जल तथा स्वाद की उत्पत्ति हुई।

ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम् ।
महीं गन्धगुणामाधात्कालमायांशयोगतः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

ज्योतिषा—बिजली; अम्भः—जल; अनुसंसृष्टम्—इस प्रकार उत्पन्न हुआ; विकुर्वत्—रूपान्तर के कारण; ब्रह्म—ब्रह्म द्वारा; वीक्षितम्—दृष्टिपात किया गया; महीम्—पृथ्वी; गन्ध—गन्ध; गुणाम्—गुण; आधात्—उत्पन्न किया गया; काल—नित्य काल; माया—बहिरंगा शक्ति; अंश—अंशतः; योगतः—अन्तःमिश्रण से।

तत्पश्चात् बिजली से उत्पन्न जल पर भगवान् ने दृष्टिपात किया और फिर उसमें नित्यकाल तथा बहिरंगा शक्ति का मिश्रण हुआ। इस तरह वह पृथ्वी में रूपान्तरित हुआ जो मुख्यतः गन्ध के गुण से युक्त है।

तात्पर्य : उपर्युक्त श्लोकों में भौतिक तत्त्वों के वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी अवस्थाओं में अन्य संयोगों तथा परिवर्तनों के साथ भगवान् के दृष्टिपात की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक रूपान्तर में भगवान् का दृष्टिपात ही अन्तिम पूर्णता प्रदान करता है। वे एक चित्रकार की भाँति कार्य करते हैं, जो विभिन्न रंगों को मिलाकर उन्हें विशेष रंग में रूपान्तरित कर देता है। जब एक तत्त्व दूसरे तत्त्व से मिलता है, तो इसके गुणों में वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ, आकाश वायु का कारण है। आकाश में ध्वनि नामक केवल एक गुण होता है, किन्तु आकाश तथा भगवान् के दृष्टिपात की अन्त:क्रिया से नित्यकाल तथा बहिरंगा प्रकृति के मिलने से वायु उत्पन्न होती है, जिसमें दो गुण पाये जाते हैं—ध्वनि तथा स्पर्श। इसी तरह वायु उत्पन्न हो जाने पर आकाश तथा वायु की अन्त:क्रिया काल तथा भगवान् की बहिरंगा शक्ति के स्पर्श के कारण बिजली उत्पन्न करती है। और वायु तथा आकाश के साथ बिजली की अन्त:क्रिया काल, बहिरंगा शक्ति तथा उन पर भगवान् के दृष्टिपात के मिश्रण से जल उत्पन्न करती है। आकाश की अन्तिम अवस्था में केवल एक गुण रहता है—वह है ध्वनि; वायु में दो गुण रहते हैं—ध्वनि तथा स्पर्श; बिजली में तीन गुण होते हैं—ध्वनि, स्पर्श तथा रूप और जल में चार गुण होते हैं—ध्वनि, स्पर्श, रूप तथा स्वाद। भौतिक विकास की अन्तिम अवस्था में पृथ्वी फलित होती है, जो समस्त पाँचों गुणों अर्थात् ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गन्ध से युक्त होती है। यद्यपि वे विभिन्न पदार्थों के भिन्न-भिन्न मिश्रण हैं, किन्तु ऐसे मिश्रण स्वत: नहीं बन जाते जिस तरह कि जीवित चित्रकार के स्पर्श के बिना रंगों का मिश्रण स्वत: नहीं हो पाता। यह स्वत: प्रणाली वास्तव में भगवान् के दृष्टिपात रूपी स्पर्श द्वारा क्रियाशील होती है। समस्त भौतिक परिवर्तनों में सजीव चेतना ही निर्णायक होती है। इस तथ्य का उल्लेख भगवद्गीता (९.१०) में निम्नवत् हुआ है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

निष्कर्ष यह है कि भले ही भौतिक तत्त्व सामान्य-जनों की दृष्टि में आश्चर्यजनक रीति से कार्य करें,

किन्तु उनका क्रिया-व्यापार वस्तुत: भगवान् के निरीक्षण में होता है। जो लोग भौतिक तत्त्वों के परिवर्तनों को ही देख सकते हैं और उनके पीछे भगवान् के अदृश्य हाथों का अनुभव नहीं कर सकते हैं, वे निश्चय ही कम बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं भले ही वे महान् भौतिक विज्ञानियों के रूप में विज्ञापित किये जा रहे हों।

भूतानां नभआदीनां यद्यद्भव्यावरावरम् ।
तेषां परानुसंसर्गाद्यथा सङ्ख्यं गुणान्विदु: ॥ ३७॥

शब्दार्थ

भूतानाम्—सारे भौतिक तत्त्वों का; नभ:—आकाश; आदीनाम्—इत्यादि; यत्—जिस तरह; यत्—तथा जिस तरह; भव्य—हे सौम्य; अवर—निकृष्ट; वरम्—श्रेष्ठ; तेषाम्—उन सबों का; पर—परम, ब्रह्म; अनुसंसर्गात्—अन्तिम स्पर्श; यथा—जितने; सङ्ख्यम्—गिनती; गुणान्—गुण; विदु:—आप समझ सकें।

हे भद्र पुरुष, आकाश से लेकर पृथ्वी तक के सारे भौतिक तत्त्वों में जितने सारे निम्न तथा श्रेष्ठ गुण पाये जाते हैं, वे भगवान् के दृष्टिपात के अन्तिम स्पर्श के कारण होते हैं।

एते देवा: कला विष्णो: कालमायांशलिङ्गिन: ।
नानात्वात्स्वक्रियानीशा: प्रोचु: प्राञ्जलयो विभुम् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

एते—इन सारे भौतिक तत्त्वों में; देवा:—नियंत्रक देवता; कला:—अंश; विष्णो:—भगवान् के; काल—काल; माया—बहिरंगा शक्ति; अंश—अंश; लिङ्गिन:—इस तरह देहधारी; नानात्वात्—विभिन्नता के कारण; स्व-क्रिया—निजी कार्य; अनीशा:—न कर पाने के कारण; प्रोचु:—कहा; प्राञ्जलय:—मनोहारी; विभुम्—भगवान् को।

उपर्युक्त समस्त भौतिक तत्त्वों के नियंत्रक देव भगवान् विष्णु के शक्त्याविष्ट अंश हैं। वे बहिरंगा शक्ति के अन्तर्गत नित्यकाल द्वारा देह धारण करते हैं और वे भगवान् के अंश हैं। चूँकि उन्हें ब्रह्माण्डीय दायित्वों के विभिन्न कार्य सौंपे गये थे और चूँकि वे उन्हें सम्पन्न करने में असमर्थ थे, अतएव उन्होंने भगवान् की मनोहारी स्तुतियाँ निम्नलिखित प्रकार से कीं।

तात्पर्य : ब्रह्माण्डीय कार्य व्यापार की व्यवस्था के लिए उच्चतर लोकों में निवास करने वाले विविध नियंत्रक देवताओं की अवधारणा काल्पनिक नहीं है जैसाकि अल्पज्ञ व्यक्ति प्रस्तावित करते हैं। ये देवतागण भगवान् विष्णु के विस्तारित अंश हैं और ये काल, बहिरंगा शक्ति तथा परमेश्वर की आंशिक चेतना द्वारा देह पाते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि भी भगवान् के अंश हैं और उनके भी विभिन्न भौतिक शरीर होते हैं, किन्तु वे भौतिक मामलों के नियंत्रक देवता नहीं है प्रत्युत वे ऐसे

देवताओं द्वारा नियंत्रित होते हैं। ऐसा नियंत्रण निरर्थक नहीं होता। यह उतना ही आवश्यक है जितना कि आधुनिक राज्य के मामलों के लिए नियंत्रक विभाग होते हैं। नियंत्रित जीवों द्वारा देवताओं का तिरस्कार नहीं होना चाहिए। वे सभी भगवान् के महान् भक्त होते हैं, जिन्हें विश्व के मामलों के कुछ कार्य सम्पन्न करने का भार सौंपा गया है। कोई व्यक्ति यमराज पर क्रुद्ध हो सकता है कि वह पापी आत्माओं को दण्ड देने का अप्रशंसित कार्य करता है, किन्तु यमराज भगवान् के अधिकृत भक्तों में से हैं। इसी तरह अन्य सारे देवता हैं। भगवद्भक्त कभी भी ऐसे नियुक्त देवताओं द्वारा नियंत्रित नहीं होता जो कि भगवान् के सहायक के रुप में कार्य करते हैं, किन्तु भक्त उनके उन उत्तरदायित्वपूर्ण पदों के कारण उनका सम्मान करता है जिन पर भगवान् ने उन्हें नियुक्त किया है। साथ ही, भगवद्भक्त उन्हें मूर्खतावश परमेश्वर नहीं मान बैठता। केवल मूर्ख लोग ही देवताओं को विष्णु के तुल्य मानते हैं। वस्तुत: वे सभी विष्णु के सेवकों के रूप में नियुक्त हैं ।

जो कोई भी भगवान् तथा देवताओं को समान स्तर पर रखता है, वह *पाषण्डी* या नास्तिक कहलाता है। देवताओं की पूजा उन्हीं व्यक्तियों द्वारा की जाती है, जो न्यूनाधिक *ज्ञान, योग* तथा *कर्म* की विधियों के पालक हैं—अर्थात् निर्विशेषवादी, ध्यानी तथा सकाम कर्मी हैं। किन्तु भक्तगण एकमात्र भगवान् विष्णु की पूजा करते हैं। यह पूजा किसी भौतिक लाभ के लिए नहीं होती जिसकी कामना सारे भौतिकतावादियों द्वारा, यहाँ तक कि मोक्षकामियों, योगियों तथा सकाम कर्मियों द्वारा भी, की जाती है। भक्तगण परमेश्वर की पूजा भगवान् की शुद्ध भक्ति प्राप्त करने के लिए करते हैं। किन्तु जिनके पास मानव जीवन के मुख्य उद्देश्य ईश प्रेम को प्राप्त करने के लिए कोई कार्यक्रम नहीं होता उनके द्वारा भगवान् नहीं पूजे जाते। ईश्वर के साथ प्रेमपूर्ण सम्बन्ध से विमुख व्यक्ति कुछ हद तक अपने ही कर्मों द्वारा तिरस्कृत होते हैं।

भगवान् प्रत्येक जीव के प्रति उसी तरह समभाव रखते हैं, जिस तरह बहती हुई गंगा। गंगा-जल हर व्यक्ति की शुद्धि के निमित्त है, तो भी गंगा के तट के वृक्षों का महत्त्व भिन्न होता है। गंगा के तट पर आम्रवृक्ष जल पीता है और निम्ब वृक्ष भी उसी जल को पीता है। किन्तु दोनों वृक्षों के फल भिन्न-भिन्न होते है। एक में स्वर्गिक मिठास होती है और दूसरें में नारकीय तिक्तता। निम्ब की तिरस्कृत तिक्तता उसके विगत कर्म के कारण है, जिस तरह कि आम की मधुरता भी उसके अपने कर्म के कारण

है। *भगवद्गीता* (१६.१९) में भगवान् ने कहा है—

तामहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु॥

"जो लोग ईर्ष्यालु तथा दुर्जन हैं और नराधम हैं उन्हें मैं भवसागर में विभिन्न आसुरी योनियों में डालता रहता हूँ।" यमराज जैसे देवता तथा अन्य नियंत्रक उन अवांछित बद्धात्माओं के लिए हैं, जो ईश्वर के साम्राज्य की शान्ति भंग करने में सदैव लगे रहते हैं। चूँकि ये सारे देवता भगवान् के विश्वस्त भक्त-सेवक हैं, अतएव इनका कभी भी तिरस्कार नहीं किया जाना चाहिए।

देवा ऊचुः
नमाम ते देव पदारविन्दं
प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु-
संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; नमाम—हम सादर नमस्कार करते हैं; ते—तुम्हें; देव—हे प्रभु; पद-अरविन्दम्—चरणकमल; प्रपन्न—शरणागत; ताप—कष्ट; उपशम—शमन करता है; आतपत्रम्—छाता; यत्-मूल-केताः—चरणकमलों की शरण; यतयः—महर्षिगण; अञ्जसा—पूर्णतया; उरु—महान्; संसार-दुःखम्—संसार के दुख; बहिः—बाहर; उत्क्षिपन्ति—बलपूर्वक फेंक देते हैं।

देवताओं ने कहा : हे प्रभु, आपके चरणकमल शरणागतों के लिए छाते के समान हैं, जो संसार के समस्त कष्टों से उनकी रक्षा करते हैं। सारे मुनिगण उस आश्रय के अन्तर्गत समस्त भौतिक कष्टों को निकाल फेंकते हैं। अतएव हम आपके चरणकमलों को सादर नमस्कार करते है।

तात्पर्य : ऐसे अनेक साधु-संत हैं, जो पुनर्जन्म तथा अन्य समस्त भौतिक कष्टों पर विजय पाने के प्रयास में लगे रहते हैं। किन्तु इनमें से जो लोग भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, वे बिना कठिनाई के ऐसे सारे कष्टों को पूरी तरह उतार फेंक सकते हैं। अन्य लोग जो विविध प्रकार के दिव्य कार्यों में लगे रहते है ऐसा नहीं कर सकते। उनके लिए ऐसा कर पाना बहुत कठिन है। वे भगवान् के चरणकमलों की शरण में गये बिना मुक्त होने के लिए कृत्रिम विधि का चिन्तन कर सकते है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं हैं। ऐसी मिथ्या मुक्ति से मनुष्य पुनः इस भौतिक जगत में आ गिरता है

चाहे वह कितनी भी कठिन तपस्या क्यों न किये हो। यह उन देवताओं का मत है, जो न केवल वैदिक ज्ञान में पटु हैं, अपितु भूत, वर्तमान तथा भविष्य के भी द्रष्टा हैं। देवताओं के मत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि देवता ही विश्व व्यवस्था सम्बन्धी कार्यव्यापार का पद भार सँभालने के लिए प्रधिकृत होते हैं। वे भगवान् द्वारा उनके विश्वसनीय सेवकों के रूप में नियुक्त रहते हैं।

धातर्यदस्मिन्भव ईश जीवा-
स्तापत्रयेणाभिहता न शर्म ।
आत्मन्लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रि
च्छायां सविद्यामत आश्रयेम ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

धातः—हे पिता; यत्—क्योंकि; अस्मिन्—इस; भवे—संसार में; ईश—हे ईश्वर; जीवाः—जीव; ताप—कष्ट; त्रयेण—तीन; अभिहताः—सदैव; न—कभी नहीं; शर्म—सुख में; आत्मन्—आत्मा; लभन्ते—प्राप्त करते हैं; भगवन्—हे भगवान्; तव—तुम्हारे; अङ्घ्रि-छायाम्—चरणों की छाया; स-विद्याम्—ज्ञान से पूर्ण; अतः—प्राप्त करते हैं; आश्रयेम—शरण।

हे पिता, हे प्रभु, हे भगवान्, इस भौतिक संसार में जीवों को कभी कोई सुख प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वे तीन प्रकार के कष्टों से अभिभूत रहते हैं। अतएव वे आपके उन चरणकमलों की छाया की शरण ग्रहण करते हैं, जो ज्ञान से पूर्ण है और इस लिए हम भी उन्हीं की शरण लेते हैं।

तात्पर्य : भक्ति-मय सेवा की विधि न तो भावनात्मक है न लौकिक। यह सत्य का मार्ग है, जिससे जीव तीन प्रकार के—दैहिक, दैविक तथा भौतिक—दुखों से छुटकारा पाने का दिव्य सुख प्राप्त कर सकता है। भौतिक जगत द्वारा बद्ध कोई भी जीव, चाहे वह मनुष्य हो, पशु हो, देवता हो या पक्षी, उसे *आध्यात्मिक* (शारीरिक या मानसिक), *आधिभौतिक* (जीवों द्वारा प्रदत्त) तथा *आधिदैविक* (दैवी उत्पातों के फलस्वरूप) कष्ट भोगने पड़ते है। उसका सुख बद्धजीवन के कष्टों से मुक्त होने के लिए कठिन संघर्ष के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। किन्तु उसकी रक्षा का एक ही उपाय है और वह है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना।

यह तर्क कि उचित ज्ञान प्राप्त किये बिना मनुष्य भौतिक कष्टों से मुक्त नहीं हो सकता, असंदिग्ध रूप से सत्य है। किन्तु भगवान् के चरणकमल दिव्य ज्ञान से पूर्ण होते है, अतएव उनके चरणकमलों को स्वीकार करने से उस आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। इसकी व्याख्या हम प्रथम स्कन्ध

(१.२.७) में कर चुके हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित: ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

भगवान् वासुदेव की भक्ति में ज्ञान का अभाव नहीं है। वे भक्त के हृदय में से अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने का भार अपने ऊपर ले लेते हैं। इसकी पुष्टि उन्होंने *भगवद्गीता* (१०.१०) में की है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

अनुभवजन्य दार्शनिक चिन्तन मनुष्य को भौतिक संसार के तीन कष्टों से छुटकारा नहीं दिला सकता। भगवान् की भक्ति में समर्पित हुए लगे बिना ज्ञान के लिए प्रयत्न करना मूल्यवान समय का अपव्यय है।

मार्गन्ति यत्ते मुखपद्मनीडै-
श्छन्द:सुपर्णैरृषयो विविक्ते ।
यस्याघमर्षोदसरिद्वराया:
पदं पदं तीर्थपद: प्रपन्ना: ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मार्गन्ति—खोज करते हैं; यत्—जिस तरह; ते—तुम्हारा; मुख-पद्म—कमल जैसा मुख; नीडै:—ऐसे कमलपुष्प की शरण में आये हुओं के द्वारा; छन्द:—वैदिक-स्तोत्र; सुपर्णै:—पंखों से; ऋषय:—ऋषिगण; विविक्ते—निर्मल मन में; यस्य—जिसका; अघ-मर्ष-उद—जो पाप के सारे फलों से मुक्ति दिलाता है; सरित्—नदियाँ; वराया:—सर्वोत्तम; पदम् पदम्—प्रत्येक कदम पर; तीर्थ-पद:—जिसके चरणकमल तीर्थस्थान के तुल्य हैं; प्रपन्ना:—शरण में आये हुए।

भगवान् के चरणकमल स्वयं ही समस्त तीर्थस्थलों के आश्रय हैं। निर्मल मनवाले महर्षिगण वेदों रूपी पंखों के सहारे उड़कर सदैव आपके कमल सदृश मुख रूपी घोंसले की खोज करते हैं। उनमें से कुछ सर्वश्रेष्ठ नदी (गंगा) में शरण लेकर पद-पद पर आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, जो सारे पापफलों से मनुष्य का उद्धार कर सकते हैं।

तात्पर्य : *परमहंसों* की तुलना उन राजहंसों से की जाती है, जो कमल की पंखुडियों में अपने घोंसले बनाते हैं। भगवान् के दिव्य शारीरिक अंगों की उपमा सदैव कमल के फूल से दी जाती है, क्योंकि भौतिक जगत में कमल का फूल सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। संसार की सबसे सुन्दर वस्तु वेद या *भगवद्गीता* है, क्योंकि उनमें स्वयं भगवान् ज्ञान प्रदान करते हैं। परमहंस अपना घोंसला भगवान् के

कमल सदृश मुख पर बनाता है और वह सदा उनके चरणकमलों की शरण खोजता है जिन तक वैदिक ज्ञान के पंखों द्वारा पहुँचा जाता है। चूँकि भगवान् समस्त उद्‌भासों के आदि स्रोत हैं, अत: वैदिक ज्ञान से प्रकाशित बुद्धिमान जन भगवान् की शरण उसी तरह खोजते हैं जिस तरह अपने घोंसले से दूर गये पक्षी विश्राम करने के लिए पुन: अपना घोंसला खोज लेते है। समस्त वैदिक ज्ञान भगवान् को समझने के लिए है जैसाकि भगवान् ने *भगवद्‌गीता* (१५.१५) में कहा है *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*। बुद्धिमान जन, जो हंस सदृश हैं, सभी तरह से भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं और वे विभिन्न दर्शनों के विषय में व्यर्थ का चिन्तन करते हुए मानसिक धरातल पर नहीं मँडराते।

भगवान् इतने दयालु हैं कि उन्होंने ब्रह्माण्ड भर में गंगा नदी को विस्तारित कर दिया है, जिससे हर व्यक्ति उस पवित्र नदी में स्नान करके पग-पग पर होने वाले पापों के फलों से छुटकारा पा सके। संसार में ऐसी अनेक नदियाँ हैं जिनमें स्नान करने से ही ईश-चेतना का भाव जागृत हो उठता है और ऐसी नदियों में गंगा नदी प्रमुख है। भारत में पाँच पवित्र नदियाँ हैं, किन्तु गंगा सर्वाधिक पवित्र है। गंगा नदी तथा *भगवद्‌गीता* मानव हेतु दिव्य सुख की प्रमुख स्रोत है और बुद्धिमान लोग भगवद्धाम वापस जाने के लिए इनकी शरण ग्रहण कर सकते हैं, यहाँ तक कि श्रीपाद शंकराचार्य ने भी यह संस्तुति की है कि *भगवद्‌गीता* का थोड़ा सा ज्ञान तथा गंगाजल का थोड़ा सा जलपान मनुष्य को यमराज के दण्ड से बचा सकता है।

यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या
सम्मृज्यमाने हृदयेऽवधाय ।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा
व्रजेम तत्तेऽङ्‌घ्रिसरोजपीठम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यत्—वह जो; श्रद्धया—उत्सुकता से; श्रुतवत्या—केवल सुनने से; च—भी; भक्त्या—भक्ति से; सम्मृज्यमाने—धुलकर; हृदये—हृदय में; अवधाय—ध्यान; ज्ञानेन—ज्ञान से; वैराग्य—विरक्ति के; बलेन—बल से; धीरा:—शान्त; व्रजेम—जाना चाहिए; तत्—उस; ते—तुम्हारे; अङ्‌घ्रि—पाँव; सरोज-पीठम्—कमल पुण्यालय।

आपके चरणकमलों के विषय में केवल उत्सुकता तथा भक्ति पूर्वक श्रवण करने से तथा उनके विषय में हृदय में ध्यान करने से मनुष्य तुरन्त ही ज्ञान से प्रकाशित और वैराग्य के बल पर शान्त हो जाता है। अतएव हमें आपके चरणकमल रूपी पुण्यालय की शरण ग्रहण करनी

चाहिए।

तात्पर्य : उत्सुकता तथा भक्ति पूर्वक भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करने के चमत्कार इतने महान् होते हैं कि कोई अन्य विधि इनकी बराबरी नहीं कर सकती। भौतिकतावादी जनों के मन इतने व्यग्र रहते हैं कि उनके लिए निजी नियमित प्रयासों द्वार परम सत्य की खोज कर सकना प्राय: असम्भव होता है। किन्तु ऐसे भौतिकतावादी जन भी, दिव्य नाम, यश, गुण इत्यादि के विषय में श्रवण के प्रति थोड़ी सी भी उत्सुकता से, ज्ञान तथा वैराग्य प्राप्त करने की अन्य सभी विधियों को मात कर सकते हैं। बद्धजीव देहात्मबुद्धि के प्रति लिप्त रहता है, अतएव वह अज्ञान में पड़ा रहता है। आत्म-ज्ञान का संवर्धन भौतिक अनुराग से वैराग्य उत्पन्न करा सकता है और ऐसे वैराग्य के बिना ज्ञान का कोई अर्थ नहीं होता। भौतिक भोग के लिए सबसे भयावह आसक्ति है यौन जीवन। यौन जीवन के प्रति आसक्त व्यक्ति को ज्ञान से विहीन समझना चाहिए। ज्ञान के पश्चात् वैराग्य होना ही चाहिए। आत्म-साक्षात्कार की यही विधि है। आत्म-साक्षात्कार के लिए ज्ञान तथा वैराग्य अनिवार्य हैं। और यदि कोई व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों की भक्ति करता है, तो ये दोनों अनिवार्य तत्त्व तुरन्त प्रकट होते है। इस सन्दर्भ में *धीर* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति व्यग्रता का कारण उपस्थित होने पर भी विक्षुब्ध नहीं होता वह *धीर* कहलाता है। श्री यामुनाचार्य कहते हैं, ''क्योंकि मेरा हृदय भगवान् कृष्ण की भक्ति से अभिभूत हो चुका है मैं यौन जीवन के विषय में सोच भी नहीं सकता और यदि यौन का विचार मेरे मन में आता भी है, तो मुझे तुरन्त घृणा होने लगती है।'' भगवद्‌भक्त भगवान् के चरणकमलों का उत्सुकतापूर्वक ध्यान करने मात्र से उच्चस्थ *धीर* बन जाता है।

भक्ति में प्रामाणिक गुरु द्वारा दीक्षा का दिया जाना तथा भगवान् के विषय में सुनने के उसके उपदेशों का पालन करना निहित होता है। ऐसे प्रामाणिक गुरु को उससे नियमित रूप से भगवान् के विषय में सुनने के बाद स्वीकार किया जाता है। ज्ञान तथा वैराग्य में उन्नति को भक्तगण वास्तविक अनुभव के रूप में देखते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने प्रामाणिक भक्त से सुनने की इस विधि की जोरदार संस्तुति की और इस विधि का पालन करते हुए मनुष्य अन्य सारी विधियों पर विजय प्राप्त करते हुए सर्वोच्च परिणाम तक पहुँच सकता है।

विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते ।
व्रजेम सर्वे शरणं यदीश
स्मृतं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

विश्वस्य—विराट ब्रह्माण्ड के; **जन्म**—सृजन; **स्थिति**—पालन; **संयम-अर्थे**—प्रलय के लिए भी; **कृत**—धारण किया हुआ या स्वीकृत; **अवतारस्य**—अवतार का; **पद-अम्बुजम्**—चरणकमल; **ते**—आपके; **व्रजेम**—शरण में जाते है; **सर्वे**—हम सभी; **शरणम्**—शरण; **यत्**—जो; **ईश**—हे भगवान्; **स्मृतम्**—स्मृति; **प्रयच्छति**—प्रदान करके; **अभयम्**—साहस; **स्व-पुंसाम्**—भक्तों का।

हे प्रभु, आप विराट जगत के सृजन, पालन तथा संहार के लिए अवतरित होते हैं इसलिए हम सभी आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, क्योंकि ये चरण आपके भक्तों को सदैव स्मृति तथा साहस प्रदान करने वाले हैं।

तात्पर्य : विराट जगत की सृष्टि, पालन तथा प्रलय के लिए ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर (शिव) तीन अवतार हैं। ये भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के नियंत्रक अथवा स्वामी हैं, जो दृश्य जगत के कारण है। विष्णु सतोगुण के स्वामी हैं, ब्रह्मा रजोगुण के तथा महेश्वर तमोगुण के। प्रकृति के गुणों के अनुसार भक्तों के विभिन्न प्रकार हैं। सतोगुणी लोग भगवान् विष्णु की पूजा करते हैं, रजोगुणी लोग ब्रह्मा की पूजा करते हैं तथा तमोगुणी लोग शिव की पूजा करते हैं। ये तीनों देव भगवान् कृष्ण के अवतार हैं, क्योंकि कृष्ण आदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। देवतागण सीधे भगवान् के चरणकमलों का निर्देश ग्रहण करते हैं, विभिन्न अवतारों का नहीं। किन्तु भौतिक जगत में विष्णु अवतार की पूजा देवताओं द्वारा सीधे की जाती है। विभिन्न शास्त्रों से पता चलता है कि देवतागण विष्णु के पास क्षीर सागर में जाते हैं और जब कभी विश्व के काम-काज के प्रशासन में कोई कठिनाई आती है, तो वे अपनी समस्याओं के लिए निवेदन करते हैं। यद्यपि ब्रह्मा तथा शिव भगवान् के अवतार हैं, किन्तु वे विष्णु की पूजा करते हैं, और इस प्रकार उनकी गणना भी देवताओं में होती है, भगवान् के रूप में नहीं। विष्णु की पूजा करने वाले व्यक्ति देवता कहलाते हैं और जो ऐसा नहीं करते वे असुर कहलाते हैं। विष्णु सदैव देवताओं का पक्ष लेते हैं, किन्तु ब्रह्मा तथा शिव कभी-कभी असुरों का पक्ष भी लेते हैं। ऐसा नहीं है कि उनमें रुचि लेने से वे उनके समान बन जाते हैं, अपितु कभी-कभी असुरों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए वे ऐसा कुछ करते हैं।

यत्सानुबन्धेऽसति देहगेहे
ममाहमित्यूढदुराग्रहाणाम् ।
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां
भजेम तत्ते भगवन्पदाब्जम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; स-अनुबन्धे—पाश में बँधने से; असति—इस तरह होकर; देह—स्थूल शरीर; गेहे—घर में; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; ऊढ—महान्, गम्भीर; दुराग्रहाणाम्—अवांछित उत्सुकता; पुंसाम्—मनुष्यों की; सु-दूरम्—काफी दूर; वसतः—रहते हुए; अपि—यद्यपि; पुर्याम्—शरीर में; भजेम—पूजा करें; तत्—इसलिए; ते—तुम्हारे; भगवन्—हे भगवान्; पद-अब्जम्—चरणकमल।

हे प्रभु, जो लोग नश्वर शरीर तथा बन्धु-बाँधवों के प्रति अवांछित उत्सुकता के द्वारा पाशबद्ध हैं और जो लोग ''मेरा'' तथा ''मैं'' के विचारों से बँधे हुए हैं, वे आपके चरणकमलों का दर्शन नहीं कर पाते यद्यपि आपके चरणकमल उनके अपने ही शरीरों में स्थित होते हैं। किन्तु हम आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करें।

तात्पर्य : जीवन का सम्पूर्ण वैदिक दर्शन यही है कि स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के भौतिक बन्धन से छुटकारा पाया जाय जिसके कारण मनुष्य कष्टमय गर्हित जीवन बिताता रहता है। यह भौतिक शरीर तब तक चलता जाता है जब तक मनुष्य भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की मिथ्या धारणा से विरत नहीं हो जाता। भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की यह प्रेरणा ''मेरा'' तथा ''मैं'' का बोध है। ''मैं सारे विश्व का सर्वेसर्वा हूँ। मेरे पास बहुत सी वस्तुएँ हैं और मैं अधिकाधिक वस्तुओं का स्वामी बनूँगा। सम्पत्ति तथा शिक्षा के मामले में मुझसे बढ़कर कौन हो सकता है? मैं स्वामी हूँ और मैं ईश्वर हूँ। मेरे अतिरिक्त और है ही कौन?'' ये सारे विचार *अहं मम* दर्शन अर्थात् ''मैं ही सब कुछ हूँ'' को प्रतिबिम्बित करते हैं। ऐसी जीवनधारणा से संचालित व्यक्ति भव-बन्धन से कभी मुक्ति नहीं पा सकते। किन्तु यदि कोई केवल कृष्णकथा सुनने के लिए राजी हो सके तो संसार के कष्टों से निरन्तर तिरस्कृत व्यक्ति भी बन्धन से छुटकारा पा सकता है। इस कलियुग में कृष्णकथा सुनने की प्रक्रिया अवांछित पारिवारिक स्नेह से छुटकारा पाने और इस तरह जीवन में स्थायी स्वतंत्रता प्राप्त करने का सबसे प्रभावशाली साधन है। कलियुग पापपूर्ण कर्मफलों से ओत-प्रोत है और लोग इस युग के गुणों में अधिकाधिक लिप्त है, किन्तु कृष्णकथा के श्रवण तथा कीर्तन मात्र से मनुष्य का भगवद्धाम वापस जाना सुनिश्चित है। अतएव मनुष्यों को सभी तरह से एकमात्र कृष्णकथा सुनने के लिए प्रशिक्षित किया जाना चाहिए जिससे उन्हें सारे कष्टों से छुटकारा मिल सके।

तान्वै ह्यसद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये
पराहृतान्तर्मनसः परेश ।
अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं
ये ते पदन्यासविलासलक्ष्याः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तान्—भगवान् के चरणकमल; वै—निश्चय ही; हि—क्योंकि; असत्—भौतिकतावादी; वृत्तिभिः—बहिरंगा शक्ति से प्रभावित होने वालों के द्वारा; अक्षिभिः—इन्द्रियों द्वारा; ये—जो; पराहृत—दूरी पर खोये हुए; अन्तः-मनसः—आन्तरिक मन को; परेश—हे परम; अथो—इसलिए; न—कभी नहीं; पश्यन्ति—देख सकते है; उरुगाय—हे महान्; नूनम्—लेकिन; ये—जो; ते—तुम्हारे; पदन्यास—कार्यकलाप; विलास—दिव्य भोग; लक्ष्याः—देखने वाले।

हे महान् परमेश्वर, वे अपराधी व्यक्ति, जिनकी अन्तःदृष्टि बाह्य भौतिकतावादी कार्यकलापों से अत्यधिक प्रभावित हो चुकी होती है वे आपके चरणकमलों का दर्शन नहीं कर सकते, किन्तु आपके शुद्ध भक्त दर्शन कर पाते हैं, क्योंकि उनका एकमात्र उद्देश्य आपके कार्यकलापों का दिव्य भाव से आस्वादन करना है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है, भगवान् हर एक के हृदय में स्थित हैं। यह स्वाभाविक है कि मनुष्य कम से कम अपने भीतर भगवान् का दर्शन कर सके। किन्तु जिन लोगों की अन्तःदृष्टि बाह्य कार्यकलापों से आच्छादित हो चुकी होती है उनके लिए यह सम्भव नहीं है। शुद्ध आत्मा, जिसका लक्षण चेतना है, एक सामान्य व्यक्ति द्वारा भी आसानी से अनुभव की जा सकती है, क्योंकि चेतना सारे शरीर में फैली हुई है। जैसाकि *भगवद्गीता* में संस्तुति की गई है, योग पद्धति मानसिक कार्यकलापों को भीतर में ही केन्द्रित करना है और इस तरह अपने अन्दर भगवान् के चरणकमलों का दर्शन करना है। किन्तु ऐसे अनेक तथाकथित योगी हैं जिनको भगवान् से कोई वास्ता नहीं रहता, अपितु वे केवल चेतना से ही मतलब रखते हैं, जिसे वे अन्तिम साक्षात्कार मान लेते हैं। चेतना का ऐसा साक्षात्कार *भगवद्गीता* द्वारा चुटकी बजाते सीखाया जा सकता है, जबकि तथाकथित योगियों को भगवान् के चरणकमलों पर अपने अपराध के कारण इसे पाने में वर्षों लग जाते हैं। सबसे बड़ा अपराध तो व्यष्टि आत्माओं से भगवान् के पृथक् अस्तित्व को नकारना है या भगवान् तथा व्यष्टि आत्मा को एक तथा अभिन्न मानना है। निर्विशेषवादी प्रतिबिम्ब के सिद्धान्त की गलत व्याख्या करते हैं और त्रुटिवश वे व्यष्टि चेतना को परम चतेना मान लेते हैं।

परम के प्रतिबिम्बवाद को कोई भी निष्ठावान सामान्यजन बिना किसी कठिनाई के स्पष्टतः समझ

सकता है। जब जल में आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो जल के भीतर आकाश तथा तारे दोनों दिखते हैं, किन्तु आकाश तथा तारों को समान स्तर पर नहीं माना जाता। तारे तो आकाश के अंश है, अतएव उन्हें पूर्ण के समान नहीं माना जा सकता। आकाश पूर्ण है और तारे अंश हैं। वे एक हो ही नहीं सकते। जो अध्यात्मवादी (योगी) परम चेतना को व्यष्टि चेतना से पृथक् नहीं मानते वे उतने ही अपराधी हैं जितने कि भगवान् के अस्तित्व तक को ही नकारने वाले भौतिकतावादी।

वस्तुत: ऐसे अपराधीजन न तो अपने अन्त:करण में भगवान् के चरणकमलों को देख सकते हैं न ही वे भगवद्भक्तों को देख सकते हैं। भगवद्भक्त इतने दयालु होते हैं कि वे लोगों को ईशचेतना से अलोकित करने के लिए सभी स्थानों में घूमते रहते हैं, किन्तु अपराधीजन भगवद्भक्तों का स्वागत करने का अवसर खो बैठते हैं, यद्यपि अपराध-रहित सामान्य-जन भक्तों की उपस्थिति से तुरन्त ही प्रभावित हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में एक शिकारी तथा देवर्षि नारद की एक रोचक कहानी है। एक जंगल में एक शिकारी रहता था, जो यद्यपि महान् पापी था, किन्तु वह जान-बूझकर अपराध नहीं किया करता था। वह नारद की उपस्थिति से तत्काल प्रभावित हुआ और अपना घर-बार छोड़कर भक्तिमार्ग स्वीकार करने को राजी हो गया। किन्तु नलकूवर तथा मणिग्रीव अपराधियों को देवताओं के बीच में रहते हुए भी अगले जन्म में वृक्ष बनने का दण्ड भोगना पड़ा, यद्यपि एक भक्त की कृपा से बाद में भगवान् ने उनका उद्धार कर दिया। अपराधियों को तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब तक उन्हें भक्तों की कृपा प्राप्त न हो ले। तब वे अपने अन्त:करण में भगवान् के चरणकमलों का दर्शन करने के पात्र बन जाते हैं। किन्तु अपने अपराधों तथा अपनी नितान्त भौतिकवादिकता के कारण वे भगवद्भक्तों तक का दर्शन नहीं कर पाते। बाह्य कार्यों में व्यस्त रहने से वे अपनी अन्त:दृष्टि का हनन कर डालते हैं। फिर भी भगवद्भक्त उन मूर्खों के अपराधों पर ध्यान नहीं देते जो अनेक स्थूल तथा सूक्ष्म शारीरिक प्रयासों में लगे रहने के कारण होते रहते हैं। भगवद्भक्त ऐसे समस्त अपराधियों को बिना हिचक के भक्ति का आशीर्वाद देते रहते हैं। भक्तों का यही स्वभाव है।

पानेन ते देव कथासुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं

यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

पानेन—पीने से; ते—आपके; देव—हे प्रभु; कथा—कथाएँ; सुधायाः—अमृत की; प्रवृद्ध—अत्यन्त प्रबुद्ध; भक्त्या—भक्ति द्वारा; विशद-आशयाः—अत्यधिक गम्भीर विचार से युक्त; ये—जो; वैराग्य-सारम्—वैराग्य का सारा तात्पर्य; प्रतिलभ्य—प्राप्त करके; बोधम्—बुद्धि; यथा—जिस तरह; अञ्जसा—तुरन्त; अन्वीयुः—प्राप्त करते हैं; अकुण्ठ-धिष्ण्यम्—आध्यात्मिक आकाश में वैकुण्ठलोक।

हे प्रभु, जो लोग अपनी गम्भीर मनोवृत्ति के कारण प्रबुद्ध भक्ति-मय सेवा की अवस्था प्राप्त करते हैं, वे वैराग्य तथा ज्ञान के संपूर्ण अर्थ को समझ लेते हैं और आपकी कथाओं के अमृत को पीकर ही आध्यात्मिक आकाश में वैकुण्ठलोक को प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी मानसिक चिन्तकों तथा भगवान् के शुद्ध भक्तों में जो अन्तर होता है, वह यही है कि निर्विशेषवादी प्रत्येक अवस्था पर परब्रह्म के कष्टसाध्य ज्ञान से होकर गुजरते हैं जबकि भक्तगण अपने प्रयास के आरम्भ से ही समस्त आनन्द के धाम में प्रवेश करते हैं। भक्त को भक्ति-मय कार्यकलापों के विषय में केवल श्रवण करना होता है, जो कि सामान्य जीवन के किसी भी कार्य की तरह सरल होता है। वह बहुत ही सरल ढंग से कार्य करता है, जबकि मानसिक चिन्तक को वाग्जाल से होकर गुजरना पड़ता है, जिसमें कुछ तथ्य रहते हैं और कुछ तो निर्विशेष अवस्था बनाये रखने के लिए दिखावा मात्र होते हैं। पूर्णज्ञान प्राप्त करने के लिए घोर प्रयासों के बावजूद, निर्विशेषवादी भगवान् की ब्रह्मज्योति के निर्विशेष तादात्म्य में लीन हो पाता है। इसे तो भगवान् के शत्रु भी उनके द्वारा मारे जाने पर सहज ही प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु भक्तगण ज्ञान तथा वैराग्य की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करते हैं और वैकुण्ठ लोकों को जाते है, जो आध्यात्मिक आकाश के लोक हैं। निर्विशेषवादी को तो केवल आकाश प्राप्त होता है; उसे कोई वास्तविक दिव्य आनन्द नहीं प्राप्त होता जबकि भक्त उन लोकों को प्राप्त होता है जहाँ असली आध्यात्मिक जीवन होता है। गम्भीर मनोवृत्ति से युक्त भक्त सारी उपलब्धियों को धूल की तरह झाड़ देता है और एकमात्र भक्ति को स्वीकार करता है, जो दिव्य परिणति है।

तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् ।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥ ४७॥

शब्दार्थ

तथा—जहाँ तक; अपरे—अन्य; च—भी; आत्म-समाधि—दिव्य आत्म-साक्षात्कार; योग—साधन; बलेन—के बल पर; जित्वा—जीतकर; प्रकृतिम्—अर्जित स्वभाव या गुण; बलिष्ठाम्—अत्यन्त बलवान; त्वाम्—तुमको; एव—एकमात्र; धीराः—शान्त; पुरुषम्—व्यक्ति को; विशन्ति—प्रवेश करते हैं; तेषाम्—उनके लिए; श्रमः—अत्यधिक परिश्रम; स्यात्—करना होता है; न—कभी नहीं; तु—लेकिन; सेवया—सेवा द्वारा; ते—तुम्हारी।

अन्य लोग भी जो कि दिव्य आत्म-साक्षात्कार द्वारा शान्त हो जाते हैं तथा जिन्होंने प्रबल शक्ति एवं ज्ञान के द्वारा प्रकृति के गुणों पर विजय पा ली है, आप में प्रवेश करते हैं, किन्तु उन्हें काफी कष्ट उठाना पड़ता है, जबकि भक्त केवल भक्ति-मय सेवा सम्पन्न करता है और उसे ऐसा कोई कष्ट नहीं होता।

तात्पर्य : प्रेम के श्रम तथा उससे मिलने वाले लाभों की दृष्टि से भक्तगण सदैव उन लोगों से आगे रहते हैं, जो ज्ञानियों या निर्विशेषवादियों तथा योगियों की संगति के पीछे बावले रहते हैं। *अपरे* (अन्यों) शब्द इस सन्दर्भ में अत्यन्त सार्थक है। यह शब्द उन ज्ञानियों तथा योगियों का द्योतक है जिनकी एकमात्र आशा निर्विशेष ब्रह्मज्योति में तदाकार होने की रहती है। यद्यपि उनका गन्तव्य *भक्तों* के गन्तव्य की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता, किन्तु अभक्तों को भक्तों की अपेक्षा अत्यधिक श्रम करना पड़ता है। कोई यह सुझाव रख सकता है कि भक्ति-मय सेवा सम्पन्न करने में भक्तों को भी पर्याप्त श्रम करना होता है। किन्तु इस श्रम की क्षति-पूर्ति दिव्य आनन्द की वृद्धि से हो जाती है। भक्तों को भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहने से व्यस्त न रहने की अपेक्षा अधिक आनन्द मिलता है। पुरुष तथा स्त्री के पारिवारिक संयोग में दोनों ही के लिए अधिक श्रम तथा उत्तरदायित्व रहता है; फिर भी जब वे अकेले होते हैं, तो संयुक्त कार्यकलापों के अभाव में उन्हें अधिक झंझट प्रतीत होता है।

निर्विशेषवादियों का मिलन तथा भक्तों का मिलन समान स्तर का नहीं होता। निर्विशेषवादी *सायुज्य-मुक्ति* प्राप्त करके अपनी वैयक्तिकता पूरी तरह समाप्त करने का प्रयास करते हैं जबकि भक्तगण परम पुरुष भगवान् के साथ अपनी भावनाओं का आदान-प्रदान बनाये रखने के लिए अपनी वैयक्तिकता बनाये रखते हैं। इस तरह भावों का आदान-प्रदान दिव्य वैकुण्ठलोकों में होता है, अतएव जिस मुक्ति की तलाश निर्विशेषवादी करते हैं वह भक्ति में पहले ही प्राप्त हो चुकी होती है। भक्तगण अपनी वैयक्तिकता बनाये रख कर दिव्य आनन्द प्राप्त करते हुए स्वयमेव मुक्ति पाते हैं। जैसाकि पिछले श्लोक में बताया जा चुका है, भक्तों का गन्तव्य वैकुण्ठ या *अकुण्ठ-धिष्ण्य* होता है—वह स्थान जहाँ

चिन्ताएँ समूल नष्ट हो जाती हैं। किसी को भक्तों के गन्तव्य तथा निर्विशेषवादियों के गन्तव्य को एक समान मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। दोनों के गन्तव्य स्पष्टत: पृथक्-पृथक् है और भक्त द्वारा प्राप्त होने वाला दिव्य आनन्द भी *चिन्मात्रा* या केवल आध्यात्मिक भावनाओं से भिन्न होता है।

तत्ते वयं लोकसिसृक्षयाद्य
त्वयानुसृष्टास्त्रिभिरात्मभि: स्म ।
सर्वे वियुक्ता: स्वविहारतन्त्रं
न शक्नुमस्तत्प्रतिहर्तवे ते ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; ते—तुम्हारा; वयम्—हम सभी; लोक—संसार; सिसृक्षया—सृष्टि के लिए; आद्य—हे आदि पुरुष; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अनुसृष्टा:—एक के बाद एक उत्पन्न किया जाकर; त्रिभि:—तीन गुणों द्वारा; आत्मभि:—अपने आपसे; स्म—भूतकाल में; सर्वे—सभी; वियुक्ता:—पृथक् किये हुए; स्व-विहार-तन्त्रम्—अपने आनन्द के लिए कार्यों का जाल; न—नहीं; शक्नुम:—कर सके; तत्—वह; प्रतिहर्तवे—प्रदान करने के लिए; ते—तुम्हें।

हे आदि पुरुष, इसलिए हम एकमात्र आपके हैं। यद्यपि हम आपके द्वारा उत्पन्न प्राणी हैं, किन्तु हम प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत एक के बाद एक जन्म लेते हैं, इसीलिए हम अपने कर्म में पृथक्-पृथक् होते हैं। अतएव सृष्टि के बाद हम आपके दिव्य आनन्द के हेतु सम्मिलित रूप में कार्य नहीं कर सके।

तात्पर्य : यह विराट सृष्टि भगवान् की बहिरंगा शक्ति के तीन गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत कार्यशील है। विभिन्न प्राणी भी उसी प्रभाव के अधीन हैं, अतएव वे भगवान् को तुष्ट करने के लिए एकजुट होकर कर्म नहीं कर सकते। कार्यों की इस विविधता के कारण भौतिक जगत में कोई ऐक्य या सामंजस्य नहीं हो सकता। इसलिए सर्वोत्तम नीति यही है कि परमात्मा के लिए कर्म किया जाय। इससे वांछित ऐक्य स्थापित हो सकेगा।

यावद्बलिं तेऽज हराम काले
यथा वयं चान्नमदाम यत्र ।
यथोभयेषां त इमे हि लोका
बलिं हरन्तोऽन्नमदन्त्यनूहा: ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जैसा सम्भव हो; बलिम्—भेंट; ते—तुम्हारी; अज—हे अजन्मा; हराम—अर्पित करेंगे; काले—उचित समय पर; यथा—जिस तरह; वयम्—हम; च—भी; अन्नम्—अन्न, अनाज; अदाम—खाएँगे; यत्र—जहाँ; यथा—जिस तरह;

उभयेषाम्—तुम्हारे तथा अपने दोनों के लिए; ते—सारे; इमे—ये; हि—निश्चय ही; लोकाः—जीव; बलिम्—भेंट; हरन्तः—अर्पित करते हुए; अन्नम्—अन्न; अदन्ति—खाते हैं; अनूहाः—बिना किसी प्रकार के उत्पात के।

हे अजन्मा, आप हमें वे मार्ग तथा साधन बतायें जिनके द्वारा हम आपको समस्त भोग्य अन्न तथा वस्तुएँ अर्पित कर सकें जिससे हम तथा इस जगत के अन्य समस्त जीव बिना किसी उत्पात के अपना पालन-पोषण कर सकें तथा आपके लिए और अपने लिए आवश्यक वस्तुओं का संग्रह कर सकें।

तात्पर्य : विकसित चेतना मनुष्य जीवन से प्रारम्भ होती है, जो उच्चतर लोकों में निवास करने वाले देवताओं में और भी बढ़ जाती है। यह पृथ्वी ब्रह्माण्ड के लगभग बीचोंबींच स्थित है और मनुष्य जीवन देवताओं तथा असुरों के जीवन के बीच का माध्यम है। पृथ्वी के ऊपर के लोक विशेष रूप से उच्चतर बौद्धिकों अर्थात् देवताओं के निमित्त हैं। वे देवता इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि अपने जीवन-स्तर में संस्कृति, भोग, विलास, सौन्दर्य, शिक्षा तथा आयु के दृष्टिकोण से अत्यधिक बढ़े-चढ़े होते हुए भी, वे पूर्णतया ईशभावनाभावित होते हैं। ऐसे देवता सदैव भगवान् की सेवा करने के लिए तत्पर रहते हैं, क्योंकि वे भलीभाँति इस तथ्य को जानते हैं कि हर जीव स्वाभाविक तौर पर भगवान् का नित्य अधीनस्थ सेवक है। वे यह भी जानते हैं कि एकमात्र भगवान् ही सारे जीवों की जीवन-आवश्यकताएँ पूरी करके उनका पालन करते हैं। इस सत्य की पुष्टि इस वैदिक सूत्र से होती है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्, ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामे* इत्यादि। *भगवद्गीता* में भी भगवान् को *भूत-भृत* अर्थात् सारे जीवों का पालन करने वाला कहा गया है।

यह आधुनिक सिद्धान्त है कि भुखमरी का कारण जनसंख्या में वृद्धि है, जो देवताओं या भगवद्भक्तों को स्वीकार्य नहीं है। भक्त या देवतागण इस बात से पूर्णतया अवगत हैं कि भगवान् कितने भी जीवों का पालन कर सकते हैं बशर्ते कि वे इसका ध्यान रखें कि किस तरह भोजन किया जाय। यदि वे सामान्य पशुओं की तरह भोजन करना चाहते हैं जिनमें ईश-चेतना नहीं होती तो उन्हें जंगल में रहनेवाले पशुओं की तरह भुखमरी, दरिद्रता तथा अभाव में जीवन बिताना होगा। जंगल के पशुओं का भी पालन भगवान् उनकी रुचियों का भोजन प्रदान करके करते हैं, किन्तु वे ईश-चेतना में बढ़े-चढ़े नहीं होते। इसी तरह भगवान् की कृपा से मनुष्यों को अन्न, शाक, फल तथा दूध उपलब्ध है, अतः मनुष्य का यह धर्म है कि वह भगवत्कृपा को स्वीकार करे। कृतज्ञता के रूप में भोज्य वस्तुओं

की पूर्ति के लिए उन्हें भगवान् के प्रति आभारी होना चाहिए। उन्हें चाहिए कि यज्ञ में सर्वप्रथम वे भगवान् को भोजन अर्पित करके जो उच्छिष्ट बचे, उसे ही खाएँ।

भगवद्गीता (३.१३) में इसकी पुष्टि की गई है कि जो व्यक्ति यज्ञ सम्पन्न करने के बाद भोजन ग्रहण करता है, वह शरीर तथा आत्मा के समुचित पालन-पोषण हेतु असली भोजन करता है। किन्तु जो व्यक्ति अपने लिए भोजन बनाता है और कोई यज्ञ नहीं करता, वह भोजन के रूप में पाप के ग्रास ही खाता है। ऐसा पापमय भोजन किसी को सुखी या अभाव से मुक्त नहीं बना सकता। अकाल या दुर्भिक्ष जनसंख्या वृद्धि के फलस्वरूप नहीं होता, जैसाकि अल्पज्ञ अर्थशास्त्री सोचते हैं। जब मानव समाज जीवों के पालन हेतु भगवान् द्वारा दिए गए उपहारों के प्रति कृतज्ञ रहता है तब समाज में किसी तरह का अभाव नहीं रह पाता। किन्तु जब लोग भगवान् के ऐसे उपहारों का आन्तरिक मूल्य नहीं समझते तो उन्हें निश्चय ही अभाव रहता है। जो व्यक्ति ईशभावनाभावित नहीं हैं, भले ही वह अपने विगत पुण्यकर्मों के फलस्वरूप सम्प्रति ऐश्वर्यमय जीवन बिता ले, किन्तु यदि वह ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भुला देता है, तो उसे शक्तिशाली भौतिक प्रकृति के नियमों द्वारा, निश्चय ही, भुखमरी का सामना करना पड़ेगा। ईशभावनाभावित हुए बिना अथवा भक्तिमय जीवन के बिना मनुष्य शक्तिशाली भौतिक प्रकृति की दृष्टि से बचकर निकल नहीं सकता।

त्वं नः सुराणामसि सान्वयानां
कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः ।
त्वं देव शक्त्यां गुणकर्मयोनौ
रेतस्त्वजायां कविमादधेऽजः ॥५०॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; नः—हम; सुराणाम्—देवताओं के; असि—हो; स-अन्वयानाम्—विभिन्न कोटियों समेत; कूट-स्थः—अपरिवर्तित; आद्यः—बिना किसी श्रेष्ठ के अद्वितीय; पुरुषः—संस्थापक व्यक्ति; पुराणः—सबसे प्राचीन, जिस का कोई और संस्थापक न हो; त्वम्—आप; देव—हे भगवान्; शक्त्याम्—शक्ति के प्रति; गुण-कर्म-योनौ—भौतिक गुणों तथा कर्मों के कारण के प्रति; रेतः—जन्म का वीर्य; तु—निस्सन्देह; अजायाम्—उत्पन्न करने के लिए; कविम्—सारे जीव; आदधे—आरम्भ किया; अजः—अजन्मा।

आप समस्त देवताओं तथा उनकी विभिन्न कोटियों के आदि साकार संस्थापक हैं फिर भी आप सबसे प्राचीन हैं और अपरिवर्तित रहते हैं। हे प्रभु, आपका न तो कोई उद्गम है, न ही कोई आपसे श्रेष्ठ है। आपने समस्त जीव रूपी वीर्य द्वारा बहिरंगा शक्ति को गर्भित किया है, फिर भी

आप स्वयं अजन्मा हैं।

तात्पर्य : आदि पुरुष भगवान्, ब्रह्मा से ले कर अन्य सारे जीवों के पिता हैं। ब्रह्मा से ही विभिन्न योनियों में अन्य सभी जीव उत्पन्न हुए हैं। फिर भी परम पिता का कोई पिता नहीं है। सभी श्रेणियों का प्रत्येक जीव, यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड के आदि जीव ब्रह्मा तक, किसी पिता से उत्पन्न हैं, किन्तु भगवान् का कोई पिता नहीं है। जब वे अपनी अहैतुकी कृपा से इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं, तो वे भौतिक जगत के नियमों के अनुसार अपने किसी महान् भक्त को अपना पिता स्वीकारते हैं। चूँकि वे ही स्वामी हैं इस कारण अपने पिता का चुनाव करने के लिए वे सदैव स्वतंत्र होते हैं। उदाहरणार्थ, नृसिंह देव के अवतार में वे एक ख भे से प्रकट हो गये और भगवान् श्रीराम के अपने अवतार में उनके चरणकमलों के स्पर्श से पत्थर से अहल्या प्रकट हो गई। वे परमात्मा रूप में प्रत्येक व्यक्ति के संगी भी हैं, किन्तु वे अपरिवर्तित रहते हैं। भौतिक जगत में जीव अपना शरीर बदलता रहता है, किन्तु भगवान् इस जगत में होते हैं, तो भी सदा अपरिवर्तित ही रहते हैं। यही उनका विशेषाधिकार है।

जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.३) में पुष्टि हुई है, भगवान् बहिरंगा या भौतिक शक्ति को गर्भित करते हैं और इस तरह बाद में विभिन्न कोटियों के रूप में, प्रथमदेव ब्रह्मा से लेकर तुच्छ चींटी तक, सारे जीव उत्पन्न होते हैं। जीवों की समस्त कोटियाँ ब्रह्मा तथा बहिरंगा शक्ति द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, किन्तु भगवान् हर एक के आदि पिता हैं। भगवान् के साथ प्रत्येक जीव का सम्बन्ध पुत्र-पिता के रूप में होता है, सम-स्तर का नहीं। कभी-कभी प्रेम में पुत्र पिता से बढ़कर होता है, किन्तु पिता तथा पुत्र का सम्बन्ध श्रेष्ठ तथा अधीनस्थ का होता है। प्रत्येक जीव, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा इन्द्र जैसे देवता क्यों न हों, परम पिता का नित्य अधीनस्थ सेवक होता है। महत् तत्त्व सिद्धान्त प्रकृति के सारे गुणों का जनक-स्त्रोत है। सारे जीव भौतिक प्रकृति माता द्वारा प्रदत्त शरीरों के साथ भौतिक जगत में अपने पूर्व कर्म के अनुसार जन्म लेते हैं। यह शरीर भौतिक प्रकृति का उपहार है, किन्तु आत्मा मूलतः परमेश्वर का अंश होता है।

ततो वयं मत्प्रमुखा यदर्थे
बभूविमात्मन्करवाम किं ते ।
त्वं नः स्वचक्षुः परिदेहि शक्त्या

देव क्रियार्थे यदनुग्रहाणाम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

ततः—अतः; वयम्—हम सभी; मत्-प्रमुखाः—महतत्त्व से उत्पन्न; यत्-अर्थे—जिस कार्य के लिए; बभूविम—उत्पन्न किया; आत्मन्—हे परम आत्मा; करवाम—करेंगे; किम्—क्या; ते—आपकी सेवा; त्वम्—आप स्वयं; नः—हम को; स्व-चक्षुः—निजी योजना; परिदेहि—विशेष रूप से प्रदान करें; शक्त्या—कार्य करने की शक्ति से; देव—हे प्रभु; क्रिया-अर्थे—कार्य करने के लिए; यत्—जिससे; अनुग्रहाणाम्—विशेष रूप से कृपा प्राप्त लोगों का।

हे परम प्रभु, महत्-तत्त्व से प्रारम्भ में उत्पन्न हुए हम सबों को अपना कृपापूर्ण निर्देश दें कि हम किस तरह से कर्म करें। कृपया हमें अपना पूर्ण ज्ञान तथा शक्ति प्रदान करें जिससे हम परवर्ती सृष्टि के विभिन्न विभागों में आपकी सेवा कर सकें।

तात्पर्य : भगवान् इस भौतिक जगत की सृष्टि करते हैं और भौतिक शक्ति (प्रकृति) को जीवों से गर्भित करते हैं, जिन्हें भौतिक जगत में कर्म करना है। इन सारे कर्मों के पीछे एक दैवी योजना रहती है। यह योजना है उन बद्धजीवों को इन्द्रियतृप्ति का भोग करने का अवसर प्रदान करना जो उसका भोग करना चाहते हैं। किन्तु सृष्टि के पीछे एक दूसरी योजना होती है। यह है जीवों को यह अनुभव करने में सहायता प्रदान करना कि वे भगवान् की दिव्य इन्द्रियतृप्ति के लिए उत्पन्न किये गये हैं। जीवों की यही स्वाभाविक स्थिति है। भगवान् अद्वय हैं और वे अपने दिव्य आनन्द के लिए अनेक रूपों में विस्तार करते हैं। *विष्णु तत्त्व, जीव तत्त्व* तथा *शक्ति तत्त्व* (भगवान के पुरुषोत्तम-रुप, जीवात्माएँ तथा विभिन्न शक्ति रुपी तत्त्व)—ये सारे विस्तार या अंश एक ही परमेश्वर की विभिन्न प्रशाखाएँ हैं। जीव तत्त्व विष्णुतत्त्व के विच्छिन्न विभिन्नांश है जिनमें सशक्त अन्तर होते हैं फिर भी वे सब परमेश्वर की दिव्य इन्द्रियतृप्ति के निमित्त हैं। किन्तु कुछ जीव भगवान् के प्रभुत्व की नकल में भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहते हैं। शुद्ध जीवों पर ऐसी मनोवृत्तियों ने किस तरह और कब अपना प्रभुत्व जमाया इसकी विवेचना इस तथ्य से की जा सकती है कि जीव तत्त्वों को अत्यल्प स्वतंत्रता प्राप्त है और इस स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके कुछ जीव विराट जगत में फँस गये हैं, अतः वे *नित्यबद्ध* कहलाते हैं।

वैदिक ज्ञान का विस्तार भी *नित्यबद्धों* को सुधरने का अवसर प्रदान करता है और जो लोग ऐसे दिव्य ज्ञान का लाभ उठाते हैं, वे भगवान् की दिव्य सेवा करने की लुप्त चेतना को धीरे-धीरे पुनः प्राप्त कर लेते हैं। देवतागण बद्धात्माएँ ही हैं, जिन्होंने भगवान् के प्रति इस शुद्ध चेतना की सेवा को विकसित कर रखा है, किन्तु साथ ही साथ वे भौतिक शक्ति पर अपना प्रभुत्व जताना चाहते रहते हैं।

ऐसी मिश्रित चेतना बद्धजीव को इस सृष्टि के मामलों को व्यवस्थित करने की स्थिति तक पहुँचाती है। देवतागण बद्धजीवों के विश्वस्त नेता है। जिस तरह सरकारी कारागारों के कुछ पुराने बन्दियों को कारागार के प्रबन्ध का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंप दिया जाता है उसी तरह देवतागण सुधरे हुए बद्धजीव हैं, जो भौतिक सृष्टि में भगवान् के प्रतिनिधियों के रूप में कार्य करते हैं। ऐसे देवता-गण भौतिक जगत में भगवान् के भक्त होते हैं और जब वे संसार पर प्रभुत्व जताने की सम्पूर्ण भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह मुक्त हो जाते हैं, तो वे शुद्ध भक्त बन जाते हैं और उनमें भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त कोई अन्य इच्छा नहीं रह जाती। इसलिए जो भी जीव भौतिक जगत में कोई पद चाहता है, वह भगवान् की सेवा में ऐसी इच्छा प्रकट कर सकता है और ईश्वर से शक्ति तथा बुद्धि माँग सकता है जैसाकि इस विशिष्ट श्लोक में देवताओं के उदाहरण से स्पष्ट है। भगवान् से आलोक तथा शक्ति प्राप्त किये बिना कोई कुछ भी नहीं कर सकता। *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते है *मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*। सारी स्मृति, सारा ज्ञान तथा सारी विस्मृति उन भगवान् द्वारा अभियंत्रित होती है, जो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आसीन हैं। बुद्धिमान मनुष्य भगवान् से सहायता माँगता है और भगवान् अपनी नानाविध सेवाओं में लगे निष्ठावान् भक्तों की सहायता करते हैं।

भगवान् ने देवताओं को जीवों के विगत कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में उत्पन्न करने का कार्यभार सौंप रखा है। वे यहाँ पर भगवान् से अपने-अपने कार्यों को पूरा करने के लिए बुद्धि तथा शक्ति की याचना कर रहे हैं। इसी तरह कोई भी बद्धात्मा दक्ष गुरु के निर्देशन में भगवान् की सेवा में प्रवृत्त हो सकता है और क्रमशः भवबन्धन से मुक्त हो सकता है। गुरु भगवान् का प्रकट प्रतिनिधि होता है और जो कोई भी अपने को गुरु के निर्देशन में रहकर तदनुसार कार्य करता है, वह *बुद्धियोग* के अनुसार कार्य करता हुआ माना जाता है जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४१) में बतलाया गया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंन्ध के अन्तर्गत ''मैत्रेय से विदुर की वार्ता'' नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

विश्व रूप की सृष्टि

ऋषिरुवाच
इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः ।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; इति—इस प्रकार; तासाम्—उनका; स्व-शक्तीनाम्—अपनी शक्ति; सतीनाम्—इस प्रकार स्थित; असमेत्य—किसी संयोग के बिना; सः—वह (भगवान्); प्रसुप्त—निलम्बित; लोक-तन्त्राणाम्—विश्व सृष्टियों में; निशाम्य—सुनकर; गतिम्—प्रगति; ईश्वरः—भगवान्।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : इस तरह भगवान् ने महत्-तत्त्व जैसी अपनी शक्तियों के संयोग न होने के कारण विश्व के प्रगतिशील सृजनात्मक कार्यकलापों के निलम्बन के विषय में सुना।

तात्पर्य : भगवान् की सृष्टियों में किसी तरह का अभाव नहीं है। सारी शक्तियाँ वहाँ ही प्रसुप्तावस्था में रहती हैं। किन्तु जब तक भगवान् की इच्छा से उनका संयोग नहीं हो जाता तब तक कोई प्रगति नहीं हो सकती। सृष्टि के निलम्बित प्रगतिशील कार्य को भगवान् के निर्देशन द्वारा ही पुनरुज्जीवित किया जा सकता है।

कालसञ्ज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः ।
त्रयोविंशति तत्त्वानां गणं युगपदाविशत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

काल-सञ्ज्ञाम्—काली के नाम से विख्यात; तदा—उस समय; देवीम्—देवी को; बिभ्रत्—विनाशकारी; शक्तिम्—शक्ति; उरुक्रमः—परम शक्तिशाली; त्रयः-विंशति—तेईस; तत्त्वानाम्—तत्त्वों के; गणम्—उन सभी; युगपत्—एक ही साथ; आविशत्—प्रवेश किया।

तब परम शक्तिशाली भगवान् ने अपनी बहिरंगा शक्ति, देवी काली सहित तेईस तत्त्वों के भीतर प्रवेश किया, क्योंकि वे ही विभिन्न प्रकार के तत्त्वों को संमेलित करती हैं।

तात्पर्य : पदार्थ के अवयवों की संख्या तेईस है—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति, मिथ्या अहंकार, ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद, गंध, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा, हाथ, पाँव, गुदा (वायु), लिंग (उपस्थ), वाणी तथा मन। ये सभी काल के प्रभाव से परस्पर संयुक्त रहते हैं

और कालक्रम में विघटित हो जाते हैं। इसीलिए काल भगवान् की शक्ति है और यह शक्ति भगवान् के निर्देशानुसार अपने ही ढंग से कार्य करती है। यह शक्ति काली कहलाती है और काली विध्वंसक देवी के द्वारा इसका प्रतिनिधित्व होता है, जो भौतिक संसार में सामान्यतया तमोगुण से प्रभावित लोगों द्वारा पूजित होती है। वैदिक स्तोत्र में यह विधि इस प्रकार वर्णित है—*मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाघ्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः*। जो शक्ति तेईस अवयवों के संयोग से भौतिक प्रकृति के रूप में कार्य करती है, वह सृष्टि का अन्तिम स्रोत नहीं है। भगवान् तत्त्वों में प्रवेश करते हैं और अपनी शक्ति काली को व्यवहृत करते हैं। अन्य समस्त वैदिक शास्त्रों में यही सिद्धान्त स्वीकार हुआ है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में कहा गया है—

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं
यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः।
अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो आदि भगवान् हैं। अपने स्वांश (महाविष्णु) के द्वारा वे भौतिक प्रकृति में और तब प्रत्येक ब्रह्माण्ड में (गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में) प्रवेश करते हैं। तत्पश्चात् वे (क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में) पदार्थ के परमाणुओं समेत सभी तत्त्वों में प्रवेश कर जाते हैं। विराट सृष्टि के ऐसे स्वरूप ब्रह्माण्डों में तथा व्यष्टि परमाणुओं दोनों ही में असंख्य होते हैं।"

इसी तरह इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.४२) में हुई है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

"हे अर्जुन! मेरी उन असंख्य शक्तियों के विषय में तुम्हारे लिए जानने की कोई आवश्यकता नहीं है, जो विविध प्रकारों से कार्य करती हैं। मैं समस्त ब्रह्माण्डों तथा उनके सारे तत्त्वों में अपने स्वांश (परमात्मा) के रूप में भौतिक सृष्टि में प्रवेश करता हूँ। इस तरह सृष्टि का कार्य चलता रहता है।" भौतिक प्रकृति के आश्चर्यजनक कार्य भगवान् कृष्ण के कारण होते हैं, इसीलिए वे अन्तिम कारण या समस्त कारणों के परम कारण हैं।

सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम् ।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन् ॥ ३॥

शब्दार्थ

सः—वह; अनुप्रविष्टः—इस तरह बाद में प्रवेश करते हुए; भगवान्—भगवान्; चेष्टा-रूपेण—अपने प्रयास काली के रूप में; तम्—उनको; गणम्—सारे जीव जिनमें देवता सम्मिलित हैं; भिन्नम्—पृथक्-पृथक्; संयोजयाम् आस—कार्य करने में लगाया; सुप्तम्—सोई हुई; कर्म—कर्म; प्रबोधयन्—प्रबुद्ध करते हुए।

इस तरह जब भगवान् अपनी शक्ति से तत्त्वों के भीतर प्रविष्ट हो गये तो सारे जीव प्रबुद्ध होकर विभिन्न कार्यों में उसी तरह लग गये जिस तरह कोई व्यक्ति निद्रा से जगकर अपने कार्य में लग जाता है।

तात्पर्य : हर जीव सृष्टि के लय के पश्चात् अचेत रहता है और भगवान् की भौतिक शक्ति के साथ उनमें ही प्रवेश करता है। ये व्यष्टि जीव पहले से चली आ रही बद्ध आत्माएँ हैं, किन्तु प्रत्येक भौतिक सृष्टि में उन्हें अपने आपको मुक्त करने तथा स्वतंत्र आत्माएँ बनने का अवसर प्रदान किया जाता है। उन्हें वैदिक ज्ञान का लाभ उठाने का तथा यह पता लगाने का कि भगवान् के साथ उनका क्या सम्बन्ध है, वे किस तरह मुक्त बन सकते हैं, और ऐसी मुक्ति में परम लाभ क्या है, अवसर प्रदान किया जाता है। वेदों का समुचित अध्ययन करके मनुष्य अपने पद से अवगत होता है और इस तरह भगवान् की दिव्य भक्ति करता हुआ क्रमशः वैकुण्ठलोक को प्राप्त होता है। भौतिक जगत में व्यष्टि आत्माएँ अपनी विगत अपूर्ण इच्छाओं के अनुसार विभिन्न कार्यों में लगी रहती हैं। किसी विशेष शरीर के विघटन के बाद व्यष्टि आत्मा हर वस्तु को भूल जाती है, किन्तु सर्वकरुणामय भगवान्, जो कि साक्षी परमात्मा के रूप में हर व्यक्ति के हृदय में स्थित हैं, उसे जागृत करते हैं और उसे उसकी विगत इच्छाओं की याद दिलाते रहते हैं। इस तरह वह अपने अगले जीवन में उसी के अनुसार कर्म करने लगता है। इस अदृष्ट मार्गदर्शन को भाग्य कहा जाता है और कोई भी विवेकशील व्यक्ति समझ सकता है कि इससे प्रकृति के तीन गुणों में उसका भौतिकबन्धन बना रहता है।

सृष्टि के आंशिक या पूर्ण लय के तुरन्त बाद जीव की अचेत सुप्तावस्था को कुछ अल्पज्ञ दार्शनिक भूल से जीवन की चरम अवस्था मान बैठते हैं। आंशिक भौतिक शरीर के विलय के बाद जीव केवल कुछ महीनों तक अचेत रहता है और भौतिक सृष्टि के पूर्ण विलय के बाद वह लाखों वर्षों तक अचेत

रहता है। किन्तु जब सृष्टि पुनः जागृत होती है, तो भगवान् उसे जगा कर पुनः कर्म में लगाते हैं। जीव शाश्वत है और उसके कार्यों द्वारा प्रकट उसकी जाग्रत चेतना-अवस्था उसके जीवन की स्वाभाविक अवस्था है। जागृत रहते हुए वह कर्म करना बन्द नहीं करता और इस तरह वह अपनी विविध इच्छाओं के अनुसार कर्म करता है। जब उसकी इच्छाएँ भगवान् की दिव्य सेवा करने के लिए प्रशिक्षित की जाती हैं, तो उसका जीवन पूर्ण हो जाता है और नित्य जाग्रत जीवन का आनन्द पाने के लिए वह वैकुण्ठ भेज दिया जाता है।

प्रबुद्धकर्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः ।
प्रेरितोऽजनयत्स्वाभिर्मात्राभिरधिपूरुषम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

प्रबुद्ध—जाग्रत; **कर्मा**—कार्यकलाप; **दैवेन**—ब्रह्म की इच्छा से; **त्रयः-विंशतिकः**—तेईस प्रमुख अवयवों द्वारा; **गणः**—संमेल; **प्रेरितः**—द्वारा प्रेरित; **अजनयत्**—प्रकट किया; **स्वाभिः**—अपने; **मात्राभिः**—स्वांश से; **अधिपूरुषम्**—विराट रूप (विश्वरूप) को।.

जब परम पुरुष की इच्छा से तेईस प्रमुख तत्त्वों को सक्रिय बना दिया गया तो भगवान् का विराट विश्वरूप शरीर प्रकट हुआ।

तात्पर्य : विराट् रूप या विश्व रूप जिसकी निर्विशेषवादी बहुत बड़ाई करते हैं, वह भगवान् का नित्य रुप नहीं है। यह भगवान् की परम इच्छा द्वारा भौतिक सृष्टि के अवयवों के बाद प्रकट किया जाता है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को यह विराट या विश्वरूप निर्विशेषवादियों को यह विश्वास दिलाने के लिए दिखलाया कि वे ही आदि भगवान् हैं। कृष्ण ने विराट् रूप प्रकट किया था। ऐसा नहीं है कि विराट रूप द्वारा कृष्ण प्रकट हुए, इसलिए विराट रूप भगवान् द्वारा वैकुण्ठ में प्रकट किया गया नित्य रूप नहीं है। यह भगवान् का भौतिक प्राकट्य है। नवजिज्ञासुओं के लिए मन्दिर का अर्चाविग्रह भगवान् का ऐसा ही प्राकट्य है। किन्तु भगवान् के विराट तथा अर्चा रूप भौतिक होने पर भी उनके नित्य रूप से अभिन्न हैं।

परेण विशता स्वस्मिन्मात्रया विश्वसृग्गणः ।
चुक्षोभान्योन्यमासाद्य यस्मिन्लोकाश्चराचराः ॥ ५॥

शब्दार्थ

परेण—भगवान् द्वारा; विशता—इस तरह प्रवेश करके; स्वस्मिन्—स्वतः; मात्रया—स्वांश द्वारा; विश्व-सृक्—विश्व सृष्टि के तत्त्व; गणः—सारे; चुक्षोभ—रूपान्तरित हो गये; अन्योन्यम्—परस्पर; आसाद्य—प्राप्त करके; यस्मिन्—जिसमें; लोकाः—लोक; चर-अचराः—जड़ तथा चेतन।

ज्योंही भगवान् ने अपने स्वांश रूप में विश्व के सारे तत्त्वों में प्रवेश किया, त्योंही वे विराट रूप में रूपान्तरित हो गये जिसमें सारे लोक और समस्त जड़ तथा चेतन सृष्टियाँ टिकी हुई हैं।

तात्पर्य : विराट सृष्टि के सारे तत्त्व पदार्थ हैं और जब तक भगवान् अपने स्वांश रूप में उनमें प्रवेश नहीं करते तब तक आकार में वृद्धि करने की उनमें कोई सामर्थ्य नहीं होती। इसका अर्थ हुआ कि जब तक आध्यात्मिक स्पर्श नहीं होता तब तक पदार्थ घट या बढ़ नहीं सकता। पदार्थ आत्मा का प्रतिफल है और आत्मा के स्पर्श से ही बढ़ता है। इस सम्पूर्ण विराट जगत ने अपने आप यह विराट रूप धारण नहीं किया है जैसाकि अल्पज्ञों की ग़लत धारणा है। जब तक पदार्थ के भीतर आत्मा रहता है तब तक पदार्थ आवश्यकतानुसार बढ़ सकता है, किन्तु आत्मा के बिना पदार्थ बढ़ना बन्द कर देता है। उदाहरणार्थ, जब तक जीव के शरीर के भीतर आध्यात्मिक चेतना रहती है तब तक शरीर अपेक्षित आकार तक बढ़ता रहता है, किन्तु मृत भौतिक शरीर जिसमें आध्यात्मिक चेतना नहीं रहती, बढ़ना बन्द कर देता है। *भगवद्गीता* में (द्वितीय अध्याय) शरीर को नहीं बल्कि आध्यात्मिक चेतना को महत्त्व प्रदान किया गया है। सम्पूर्ण विराट शरीर उसी विधि से बढ़ा जिसे हम अपने लघु शरीरों में अनुभव करते हैं। किन्तु मनुष्य को मूर्खतावश यह नहीं सोचना चाहिए कि व्यष्टि सूक्ष्म आत्मा विश्वरूप की विराट अभिव्यक्ति का कारण है। विश्वरूप को विराट रूप इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि भगवान् अपने स्वांश रूप में इसके भीतर होते हैं।

हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान् ।
आण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

हिरण्मयः—विराट रूप धारण करने वाले गर्भोदकशायी विष्णु; सः—वह; पुरुषः—ईश्वर का अवतार; सहस्र—एक हजार; परिवत्सरान्—दैवी वर्षों तक; आण्ड-कोशे—अंडाकार ब्रह्माण्ड के भीतर; उवास—निवास करता रहा; अप्सु—जल में; सर्व-सत्त्व—उनके साथ शयन कर रहे सारे जीव; उपबृंहितः—इस तरह फैले हुए।

विराट पुरुष जो हिरण्मय कहलाता है, ब्रह्माण्ड के जल में एक हजार दैवी वर्षों तक रहता रहा और सारे जीव उसके साथ शयन करते रहे।

तात्पर्य : जब भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हो गये तो आधा

ब्रह्माण्ड जल से भर गया। लोकों, बाह्य आकाश इत्यादि की विराट अभिव्यक्ति, जो हमें दृष्टिगोचर होते हैं, पूर्ण ब्रह्माण्ड की केवल आधी है। अभिव्यक्ति के पूर्व तथा ब्रह्माण्ड के भीतर विष्णु के प्रवेश करने के बाद एक हजार दैवी वर्षों की अवधि होती है। महत् तत्त्व के गर्भ में प्रविष्ट किये गये सारे जीव सभी ब्रह्माण्डों में गर्भोदकशायी विष्णु के अवतार के साथ विभाजित हो जाते हैं और वे भगवान् के साथ तब तक शयन करते रहते हैं जब तक ब्रह्मा का जन्म नहीं हो जाता। ब्रह्माण्ड के भीतर ब्रह्मा ही प्रथम जीव होता है और अन्य सारे देवता तथा जीव उन्हीं से जन्मते हैं। मनुष्य जाति के आदि पिता मनु हैं, अतएव संस्कृत में मानव जाति मनुष्य कहलाती है। विभिन्न शारीरिक गुणों वाला मानव विभिन्न लोकों में विभाजित किया जाता है।

स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्मात्मशक्तिमान् ।
विबभाजात्मनात्मानमेकधा दशधा त्रिधा ॥ ७॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; विश्व-सृजाम्—विराट रूप की; गर्भः—सम्पूर्ण शक्ति; देव—सजीव शक्ति; कर्म—जीवन की क्रियाशीलता; आत्म—आत्मा; शक्तिमान्—शक्तियों से पूरित; विबभाज—विभाजित कर दिया; आत्मना—अपने आप से; आत्मानम्—अपने को; एकधा—एक में; दशधा—दस में; त्रिधा—तथा तीन में।.

विराट रूप में महत् तत्त्व की समग्र शक्ति ने स्वतः अपने को जीवों की चेतना, जीवन की क्रियाशीलता तथा आत्म-पहचान के रूप में विभाजित कर लिया जो एक, दस तथा तीन में क्रमशः उपविभाजित हो गए हैं।

तात्पर्य : चेतना जीव या आत्मा का चिह्न है। आत्मा का अस्तित्व चेतना के रूप में प्रकट है, जो ज्ञानशक्ति कहलाता है। समग्र चेतना विराट रूप की होती है और वही चेतना पृथक्-पृथक् व्यक्तियों में प्रकट होती है। चेतना का कार्य प्राणवायु के माध्यम से सम्पन्न किया जाता है, जो दस प्रकार की है। ये प्राणवायुएँ प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान कहलाती हैं और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त तथा धनञ्जय के रूप में अलग-अलग गुणों वाली भी हैं। आत्मा की चेतना भौतिक वातावरण द्वारा दूषित हो जाती है और इस प्रकार शारीरिक पहचान के मिथ्या अहंकार में विभिन्न कार्यकलाप प्रकट होते हैं। *भगवद्गीता* (२.४१) में इन विभिन्न कार्यकलापों का वर्णन *बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्* के रूप में हुआ है। बद्ध आत्मा शुद्धचेतना के अभाव में विविध कार्यों में मोहग्रस्त होता रहता है।

शुद्धचेतनावस्था में केवल एक कार्य होता है। व्यष्टि आत्मा की चेतना उस समय परम चेतना से एक हो जाती है जब इन दोनों के मध्य पूर्ण समन्वयन होता है।

अद्वैतवादी का विश्वास है कि चेतना केवल एक होती है, जबकि *सात्वतों* अर्थात् भक्तों का विश्वास है कि यद्यपि चेतना निस्सन्देह एक है, किन्तु उनमें तालमेल होने से ही वे एक हैं। व्यष्टि चेतना को परम चेतना के साथ जुड़ जाने की सलाह दी जाती है जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६६) में भगवान् ने उपदेश दिया है—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*। व्यष्टि चेतना (अर्जुन) को परम चेतना के साथ-साथ रहने की और इस तरह अपनी सचतेन शुद्धता बनाये रखने की सलाह दी जाती है। चेतना के कार्यकलापों को बन्द करने का प्रयास मूर्खता है, किन्तु भगवान् के साथ जोड़कर उन्हें शुद्ध किया जा सकता है। यह चेतना शुद्धि की मात्रा के अनुसार आत्म-पहचान के तीन गुणों में विभाजित हो जाती हैं—*आध्यात्मिक* अर्थात् शरीर तथा मन के साथ आत्म-पहचान, *आधिभौतिक* या भौतिक उत्पादों के साथ आत्म-पहचान, तथा *आधिदैविक* या भगवान् के सेवक के रूप में आत्म-पहचान। इन तीनों में *आधिदैविक* आत्म-पहचान भगवान् की इच्छा का पालन करते हुए चेतना की शुद्धि की शुरुआत है।

एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः ।
आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; हि—निस्सन्देह; अशेष—असीम; सत्त्वानाम्—जीवों के; आत्मा—आत्मा; अंशः—अंश; परम-आत्मनः—परमात्मा का; आद्यः—प्रथम; अवतारः—अवतार; यत्र—जिसमें; असौ—वे सब; भूत-ग्रामः—समुचित सृष्टियाँ; विभाव्यते—फलती फूलती हैं।

भगवान् का विश्वरूप प्रथम अवतार तथा परमात्मा का स्वांश होता है। वे असंख्य जीवों के आत्मा हैं और उनमें समुच्चित सृष्टि (भूतग्राम) टिकी रहती है, जो इस तरह फलती फूलती है।

तात्पर्य : भगवान् दो प्रकार से अपना विस्तार करते हैं—आत्म स्वांश द्वारा तथा विभक्त सूक्ष्म अंश द्वारा। आत्म स्वांश *विष्णुतत्त्व* है तथा विभक्त अंश जीव हैं। चूँकि जीव अत्यन्त लघु हैं, अतएव कभी-कभी उन्हें भगवान् की तटस्था शक्ति कहा जाता है। किन्तु योगीजन जीवों तथा परमात्मा को एक ही मानते हैं, पर यह विवाद का बहुत नगण्य बिन्दु है। कुल मिलाकर प्रत्येक वस्तु भगवान् के विराट् रूप

या विश्वरूप पर ही टिकी रहती है।

साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा ।
विराट्प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ॥ ९॥

शब्दार्थ

स-आध्यात्मः—शरीर तथा समस्त इन्द्रियों समेत मन; स-आधिदैवः—तथा इन्द्रियों के नियंत्रक देवता; च—तथा; स-आधिभूतः—वर्तमान विषय; इति—इस प्रकार; त्रिधा—तीन; विराट्—विराट; प्राणः—चालक शक्ति; दश-विधः—दस प्रकार; एकधा—केवल एक; हृदयेन—चेतना शक्ति; च—भी।

विश्वरूप तीन, दस तथा एक के द्वारा इस अर्थ में प्रस्तुत होता है कि वे (भगवान्) शरीर तथा मन और इन्द्रियाँ हैं। वे ही दस प्रकार की जीवन शक्ति द्वारा समस्त गतियों की गत्यात्मक शक्ति हैं और वे ही एक हृदय हैं जहाँ जीवन-शक्ति सृजित होती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.४-५) में कहा गया है कि आठ तत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार—भगवान् की कनिष्ठा शक्ति के उत्पाद हैं जबकि कनिष्ठा शक्ति का उपभोग करते दिखाई पड़ने वाले जीव मूलतः श्रेष्ठ शक्ति से अर्थात् भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से—सम्बन्धित हैं। आठों कनिष्ठा शक्तियाँ स्थूल तथा सूक्ष्म रीति से कार्य करती हैं जबकि श्रेष्ठ शक्ति मध्यवर्ती केन्द्रीय *जनक* शक्ति के रूप में कार्य करती है—ऐसा मानव शरीर में अनुभव किया जाता है। स्थूल तत्त्व—पृथ्वी आदि—बाह्य स्थूल शरीर का निर्माण करते हैं और ऊपरी वस्त्र (कुर्ते) के सदृश हैं जबकि सूक्ष्म मन तथा मिथ्या अहंकार शरीर के भीतरी वस्त्र (बनियान) की तरह कार्य करते हैं।

शरीर की गतियाँ सर्वप्रथम हृदय से उत्पन्न होती है और शरीर के सारे कार्यकलाप इन्द्रियों द्वारा सम्भव होते हैं, जो शरीर के भीतर दस प्रकार की वायु द्वारा शक्ति प्राप्त करती हैं। दस प्रकार की वायु का वर्णन इस प्रकार है—श्वास लेते समय नाक से प्रविष्ट होने वाली मुख्य वायु *प्राण* कहलाती है। जो वायु गुदा से बाहर निकलती है, वह *अपान* कहलाती है। जो वायु उदर के भीतर भोजन को ठीक करती है और जो कभी-कभी डकार के रूप में निकलती है, *समान* कहलाती है। जो वायु गले से होकर जाती है और जिसके रुकने से दम घुटता है, वह *उदान* वायु कहलाती है। जो सम्पूर्ण वायु पूरे शरीर में चक्कर लगाती है, वह *व्यान* वायु कहलाती है। इन पाँचों वायुओं से भी सूक्ष्म अन्य वायु हैं। जो वायु आँखों के और मुख के खुलने में सहायक बनती है, वह *नाग* वायु कहलाती है। जो वायु भूख

को बढ़ाती है, कृकर वायु कहलाती है। जो वायु संकुचन में सहायक होती है, वह *कूर्म* वायु कहलाती है। जो वायु अँगड़ाई लेते समय मुख को फैलाकर विश्राम दिलाती है, वह *देवदत्त* कहलाती है तथा जो वायु संपोषण में सहायक बनती है, वह *धनञ्जय* वायु कहलाती है।

ये सारी वायु हृदय के मध्य से उत्पन्न होती हैं और हृदय केवल एक है। यह मध्यवर्ती शक्ति भगवान् की श्रेष्ठ शक्ति है, जो हृदय के भीतर शरीर के आत्मा के साथ आसीन है, जो भगवान् के मार्गदर्शन में कार्य करता है। इसकी व्याख्या *भगवद्‌गीता* (१५.१५) में इस प्रकार हुई है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो

वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्॥

संपूर्ण मध्यवर्ती शक्ति भगवान् द्वारा हृदय से उत्पन्न की जाती है। जो वहीं पर स्थित होते हैं और स्मरण करने तथा विस्मरण करने में बद्धजीव की सहायता करते हैं। यह बद्ध अवस्था जीव द्वारा भगवान् की अधीनता की विस्मृति के कारण है। जो व्यक्ति भगवान् को भुलाए रखना चाहता है उसकी भगवान् जन्म-जन्मांतर भुलवाये रखने में सहायता करते हैं, किन्तु जो व्यक्ति भगवद्‌भक्त की संगति के बल पर उनका स्मरण करता है, स्मरण करने में भगवान् उसकी अधिकाधिक सहायता करते हैं। इस तरह बद्धात्मा अन्ततोगत्वा भगवद्धाम वापस जा सकता है।

भगवान् द्वारा दी जाने वाली इस दिव्य सहायता की विधि का वर्णन *भगवद्‌गीता* (१०.१०) में इस प्रकार हुआ है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

मन से परे बुद्धि अर्थात् भक्ति द्वारा आत्म-साक्षात्कार की *बुद्धियोग* विधि अकेले ही मनुष्य को विराट सृष्टि में भव-बन्धन की बद्ध अवस्था से ऊपर ले जा सकती है। जीव की बद्ध अवस्था उस व्यक्ति जैसी है, जो किसी विशाल यांत्रिक व्यवस्था की गहराई में हो। मानसिक चिन्तक अनेकानेक जन्मों के चिन्तन के बाद ही *बुद्धियोग* के बिन्दु तक पहुँच सकते हैं, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति, जो मन के

ऊपर बुद्धिस्तर से प्रारम्भ करता है, आत्म-साक्षात्कार में तीव्र प्रगति करता है। चूँकि *बुद्धियोग* में किसी समय भी ह्रास या पीछे जाने का किसी प्रकार से भय नहीं रहता, अतएव आत्म-साक्षात्कार के लिए यह विश्वसनीय मार्ग है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा (२.४०) होती है। मानसिक चिन्तक एक ही वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों को (*श्वेताश्वतर-उपनिषद्*) आत्मा तथा परमात्मा के रूप में नहीं समझ पाते। व्यष्टि आत्मा तो वृक्ष का फल खाता है, किन्तु दूसरा पक्षी फल न खाकर फल खा रहे पक्षी के कार्यकलापों का अवलोकन करता रहता है। यह साक्षी पक्षी, फल खा रहे पक्षी को सकाम *कर्म* करते रहने में पहुँचाता है। जो व्यक्ति आत्मा तथा परमात्मा या ईश्वर और जीव के इस अन्तर को नहीं समझ सकता वह अब भी विराट यंत्र के पाश में है, अतएव उसे उस समय की प्रतीक्षा करनी होगी जब वह इस बन्धन से छूट सकेगा।

स्मरन्विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः ।
विराजमतपत्स्वेन तेजसैषां विवृत्तये ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स्मरन्—स्मरण करते हुए; विश्व-सृजाम्—विश्व रचना का कार्यभार सँभालने वाले देवता-गण; ईशः—भगवान्; विज्ञापितम्—स्तुति किया गया; अधोक्षजः—ब्रह्म; विराजम्—विराट रूप; अतपत्—इस तरह विचार किया; स्वेन—अपनी; तेजसा—शक्ति से; एषाम्—उनके लिए; विवृत्तये—समझने के लिए।

परम प्रभु इस विराट जगत की रचना का कार्यभार सँभालने वाले समस्त देवताओं के परमात्मा हैं। इस तरह (देवताओं द्वारा) प्रार्थना किये जाने पर उन्होंने मन में विचार किया और तब उनको समझाने के लिए अपना विराट रूप प्रकट किया।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी लोग भगवान् के विराट रूप के प्रति विभ्रमित रहते हैं। वे सोचते हैं कि इस विराट अभिव्यक्ति के पीछे कल्पना का हाथ है, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति कारण के महत्त्व का अनुमान परिणामों के चमत्कारों को देखकर लगा सकते हैं। उदाहरणार्थ, माता के गर्भ में मनुष्य-शरीर का विकास स्वतंत्र रूप से नहीं होता, अपितु इसलिए होता है कि शरीर के भीतर जीव या आत्मा है। जीवात्मा के बिना कोई भी भौतिक शरीर स्वयमेव न तो आकार ग्रहण कर सकता है, न विकास कर सकता है। जब कोई भौतिक वस्तु विकास प्रदर्शित करती है, तो यह समझना चाहिए कि इस अभिव्यक्ति के भीतर आध्यात्मिक आत्मा विद्यमान है। यह विराट ब्रह्माण्ड धीरे-धीरे विकसित हुआ है,

जिस तरह किसी शिशु का शरीर विकास करता है। अतएव यह धारणा कि ब्रह्माण्ड के भीतर ब्रह्म प्रवेश करता है, तर्कसंगत है। जिस तरह भौतिकतावादी लोग हृदय के भीतर आत्मा तथा परमात्मा नहीं ढूँढ़ पाते उसी तरह पर्याप्त ज्ञान के अभाव में वे यह नहीं देख पाते कि परमात्मा ही ब्रह्माण्ड का कारण है। इसीलिए वैदिक भाषा में भगवान् को *अवाङ्मनसागोचरः* अर्थात् शब्दों तथा मनों की धारणा से परे कहा गया है।

अल्पज्ञान के कारण मानसिक चिन्तक ब्रह्म को शब्दों तथा मनों की सीमा में बाँधना चाहते हैं, किन्तु भगवान् इस तरह से नहीं जाने जा सकते। चिन्तक के पास भगवान् की अनन्तता की माप जानने के लिए पर्याप्त शब्द या मन नहीं होता। भगवान् *अधोक्षज* कहलाते हैं जिसका अर्थ है ऐसा पुरुष जो हमारी इन्द्रियों की कुन्द सीमित शक्ति की अनुभूति से परे है। कोई व्यक्ति मानसिक चिन्तन द्वारा भगवान् के दिव्य नाम या रूप को नहीं देख सकता। संसारी पीएच.डी. वाले अपनी सीमित इन्द्रियों से ब्रह्म के विषय में चिन्तन कर पाने में बिल्कुल असमर्थ हैं। ऐसे गर्वित पीएच.डी. लोगों द्वारा किये जानेवाले प्रयत्नों की तुलना कूपमण्डूक के दर्शन से की जा सकती हैं। जब एक कूपमण्डूक को विशाल प्रशान्त महासागर की जानकारी दी गई तो वह प्रशान्त महासागर की लम्बाई–चौड़ाई मापने या समझने के उद्देश्य से फूल कर कुप्पा हो गया। अन्त में इस मंडूक का शरीर फट गया और वह मर गया। पीएच.डी. उपाधि की विवेचना हल (कृषि) विभाग से की जा सकती है। यह उपाधि धान के खेतों को जोतने वालों के निमित्त है। धान के खेतों को जोतने वालों के द्वारा विराट जगत को तथा ऐसे अद्भुत कार्य के पीछे कारण को समझने के प्रयास की तुलना उस कूपमण्डूक से की जा सकती है, जो प्रशान्त महासागर की लंबाई चौड़ाई की माप करने का प्रयास कर रहा था।

भगवान् केवल उसी व्यक्ति के समक्ष प्रकट होते हैं, जो विनयशील होता है और उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहता है। विश्व के कार्यव्यापार के तत्त्वों तथा अवयवों का नियंत्रण करने वाले देवताओं ने पथप्रदर्शन के लिए भगवान् से प्रार्थना की, अत: उन्होंने अपना विराट रूप प्रकट किया जैसाकि उन्होंने अर्जुन के अनुरोध पर किया था।

अथ तस्याभितप्तस्य कतिधायतनानि ह ।

निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अथ—इसलिए; तस्य—उसका; अभितप्तस्य—उसके चिन्तन के अनुसार; कतिधा—कितने; आयतनानि—विग्रह; ह—थे; निरभिद्यन्त—विभिन्नांशों द्वारा; देवानाम्—देवताओं का; तानि—उन समस्त; मे गदतः—मेरे द्वारा वर्णित; शृणु—सुनो।

मैत्रेय ने कहा : अब तुम मुझसे यह सुनो कि परमेश्वर ने अपना विराट रूप प्रकट करने के बाद किस तरह से अपने को देवताओं के विविध रूपों में विलग किया।

तात्पर्य : देवता भी अन्य सारे जीवों की तरह परमेश्वर के वियुक्त हुए भिन्नांश हैं। देवताओं तथा सामान्य जीवों में केवल इतना ही अन्तर है कि सारे जीव जब भगवान् की भक्ति के पुण्य कर्मों से युक्त होते हैं और भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की उनकी इच्छा शमित हो जाती है, तो वे देवताओं के पद पर उन्नत कर दिये जाते हैं, जिन्हें भगवान् विश्व के कार्य-व्यापार की व्यवस्था करने का कार्य भार सौंपे हुए हैं।

तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत्पदम् ।
वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययासौ प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी; अग्निः—अग्नि; आस्यम्—मुँह; निर्भिन्नम्—इस तरह वियुक्त; लोक-पालः—भौतिक मामलों के निदेशक; अविशत्—प्रवेश किया; पदम्—अपने-अपने पदों को; वाचा—शब्दों से; स्व-अंशेन—अपने अंश से; वक्तव्यम्—वाणी; यया—जिससे; असौ—वे; प्रतिपद्यते—व्यक्त करते हैं।

उनके मुख से अग्नि अथवा उष्मा विलग हो गई और भौतिक कार्य सँभालने वाले सारे निदेशक अपने-अपने पदों के अनुसार इस में प्रविष्ट हो गये। जीव उसी शक्ति से शब्दों के द्वारा अपने को अभि-व्यक्त करता है।

तात्पर्य : भगवान् के विराट रूप का मुख वाचा शक्ति का उद्गम है। अग्नि तत्त्व का निदेशक इसका नियंत्रक अथवा *आधिदैव* है। अभि-व्यक्त वाणियां *आध्यात्म* या शारीरिक कार्य हैं और वाणियों की विषयवस्तु *आधिभूत* तत्त्व या भौतिक उत्पादन हैं।

निर्भिन्नं तालु वरुणो लोकपालोऽविशद्धरेः ।
जिह्वयांशेन च रसं ययासौ प्रतिपद्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

निर्भिन्नम्—वियुक्त; तालु—तालू; वरुण:—वायु का नियन्ता देव; लोक-पाल:—लोकों का निदेशक; अविशत्—प्रविष्ट हुआ; हरे:—भगवान् के; जिह्वया अंशेन—जीभ के अंश से; च—भी; रसम्—स्वाद; यया—जिससे; असौ—जीव; प्रतिपद्यते—अभि-व्यक्त करता है।

जब विराट रूप का तालू पृथक् प्रकट हुआ तो लोकों में वायु का निदेशक वरुण उसमें प्रविष्ट हुआ जिससे जीव को अपनी जीभ से हर वस्तु का स्वाद लेने की सुविधा प्राप्त है।

निर्भिन्ने अश्विनौ नासे विष्णोराविशतां पदम् ।
घ्राणेनांशेन गन्धस्य प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥ १४॥

शब्दार्थ

निर्भिन्ने—इस प्रकार से पृथक् हुए; अश्विनौ—दोनों अश्विनीकुमार; नासे—दोनों नथुनों के; विष्णो:—भगवान् के; आविशताम्—प्रविष्ट होकर; पदम्—पद; घ्राणेन अंशेन—आंशिक रूप से सूँघने से; गन्धस्य—गन्ध का; प्रतिपत्ति:—अनुभव; यत:—जिससे; भवेत्—होता है।

जब भगवान् के दो नथुने पृथक् प्रकट हुए तो दोनों अश्विनीकुमार उनके भीतर अपने-अपने पदों पर प्रवेश कर गये। इसके फलस्वरूप जीव हर वस्तु की गन्ध सूँघ सकते हैं।

निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद्विभो: ।
चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥ १५॥

शब्दार्थ

निर्भिन्ने—इस प्रकार से पृथक् होकर; अक्षिणी—आँखें; त्वष्टा—सूर्य ने; लोक-पाल:—प्रकाश का निदेशक; अविशत्—प्रवेश किया; विभो:—महान् का; चक्षुषा अंशेन—दृष्टि के अंश से; रूपाणाम्—रूपों के; प्रतिपत्ति:—अनुभव; यत:—जिससे; भवेत्—होता है।

तत्पश्चात् भगवान् के विराट रूप की दो आँखें पृथक् हो गईं। प्रकाश का निदेशक सूर्य दृष्टि के आंशिक प्रतिनिधित्व के साथ उनमें प्रविष्ट हुआ जिससे जीव रूपों को देख सकते हैं।

निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि लोकपालोऽनिलोऽविशत् ।
प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनासौ प्रतिपद्यते ॥ १६॥

शब्दार्थ

निर्भिन्नानि—पृथक् होकर; अस्य—विराट रूप की; चर्माणि—त्वचा; लोक-पाल:—निदेशक; अनिल:—वायु ने; अविशत्—प्रवेश किया; प्राणेन अंशेन—श्वास के अंश से; संस्पर्शम्—स्पर्श; येन—जिससे; असौ—जीव; प्रतिपद्यते—अनुभव कर सकता है।

जब विराट रूप से त्वचा पृथक् हुई तो वायु का निदेशक देव अनिल आंशिक स्पर्श से प्रविष्ट हुआ जिससे जीव स्पर्श का अनुभव कर सकते हैं।

कर्णावस्य विनिर्भिन्नौ धिष्ण्यं स्वं विविशुर्दिशः ।
श्रोत्रेणांशेन शब्दस्य सिद्धिं येन प्रपद्यते ॥ १७॥

शब्दार्थ

कर्णौ—दोनों कान; अस्य—विराट रूप के; विनिर्भिन्नौ—इस तरह पृथक् होकर; धिष्ण्यम्—नियंत्रक देव; स्वम्—अपने से; विविशुः—प्रवेश किया; दिशः—दिशाओं का; श्रोत्रेण अंशेन—श्रवण तत्त्व के साथ; शब्दस्य—ध्वनि का; सिद्धिम्—सिद्धि; येन—जिससे; प्रपद्यते—अनुभव की जाती है।

जब विराट रूप के कान प्रकट हुए तो सभी दिशाओं के नियंत्रक देव श्रवण तत्त्वों समेत उनमें प्रविष्ट हो गये जिससे सारे जीव सुनते हैं और ध्वनि का लाभ उठाते हैं।

तात्पर्य : कान जीव के शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण यंत्र है। ध्वनि दूरस्थ तथा अज्ञात वस्तुओं का सन्देश ले जाने का सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम है। समस्त ध्वनि या ज्ञान की सिद्धि कान से प्रवेश करती है और मनुष्य के जीवन को पूर्ण बनाती है। सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान एकमात्र श्रवण करके ही प्राप्त किया जाता है। इस तरह ज्ञान का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत ध्वनि है।

त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यमोषधीः ।
अंशेन रोमभिः कण्डूं यैरसौ प्रतिपद्यते ॥ १८॥

शब्दार्थ

त्वचम्—चमड़ी; अस्य—विराट रूप की; विनिर्भिन्नाम्—अलग से प्रकट होकर; विविशुः—प्रविष्ट हुआ; धिष्ण्यम्—नियंत्रक देव; ओषधीः—संस्पर्श; अंशेन—अंशों के साथ; रोमभिः—शरीर के रोओं से होकर; कण्डूम्—खुजली; यैः—जिससे; असौ—जीव; प्रतिपद्यते—अनुभव करता है।

जब चमड़ी की पृथक् अभिव्यक्ति हुई तो अपने विविध अंशों समेत संस्पर्श नियंत्रक देव उसमें प्रविष्ट हो गये। इस तरह जीवों को स्पर्श के कारण खुजलाहट तथा प्रसन्नता का अनुभव होता है।

तात्पर्य : इन्द्रिय बोध के दो मुख्य अंग हैं—स्पर्श तथा खुजली। ये दोनों ही चमड़ी तथा शरीर के रोओं द्वारा नियंत्रित होते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार स्पर्श का नियंत्रक देव शरीर के भीतर चलने वाला वायु है और शरीर के रोमों का नियंत्रक देव ओषध्य है। चमड़ी के लिए बोध का विषय स्पर्श है और शरीर के रोओं का बोध विषय खुजली है।

मेढ्रं तस्य विनिर्भिन्नं स्वधिष्ण्यं क उपाविशत् ।
रेतसांशेन येनासावानन्दं प्रतिपद्यते ॥ १९॥

शब्दार्थ

मेढ्रम्—जननांग; तस्य—उस विराट रूप का; विनिर्भिन्नम्—पृथक् होकर; स्व-धिष्ण्यम्—अपना पद; कः—ब्रह्मा, आदि प्राणी; उपाविशत्—प्रविष्ट हुआ; रेतसा अंशेन—वीर्य के अंश सहित; येन—जिससे; असौ—जीव; आनन्दम्—यौन आनन्द; प्रतिपद्यते—अनुभव करता है।

जब विराट रूप के जननांग पृथक् हो गये तो आदि प्राणी प्रजापति अपने आंशिक वीर्य समेत उनमें प्रविष्ट हो गये और इस तरह जीव यौन आनन्द का अनुभव कर सकते हैं।

गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशत् ।
पायुनांशेन येनासौ विसर्गं प्रतिपद्यते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

गुदम्—गुदा; पुंसः—विराट रूप का; विनिर्भिन्नम्—पृथक् होकर; मित्रः—सूर्यदेव; लोक-ईशः—मित्र नामक निदेशक; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; पायुना अंशेन—आंशिक वायु के साथ; येन—जिससे; असौ—जीव; विसर्गम्—मलमूत्र त्याग; प्रतिपद्यते—सम्पन्न करता है।

फिर विसर्जन मार्ग पृथक् हुआ और मित्र नामक निदेशक विसर्जन के आंशिक अंगों समेत उसमें प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार जीव अपना मल-मूत्र विसर्जित करने में सक्षम हैं।

हस्तावस्य विनिर्भिन्नाविन्द्रः स्वर्पतिराविशत् ।
वार्तयांशेन पुरुषो यया वृत्तिं प्रपद्यते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

हस्तौ—दो हाथ; अस्य—विराट रूप के; विनिर्भिन्नौ—पृथक् होकर; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; स्वः-पतिः—स्वर्ग लोकों का शासक; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; वार्तया अंशेन—अंशतः व्यवसायिक सिद्धान्तों के साथ; पुरुषः—जीव; यया—जिससे; वृत्तिम्—जीविका का व्यापार; प्रपद्यते—चलाता है।

तत्पश्चात् जब विराट रूप के हाथ पृथक् हुए तो स्वर्गलोक का शासक इन्द्र उनमें प्रविष्ट हुआ और इस तरह से जीव अपनी जीविका हेतु व्यापार चलाने में समर्थ हैं।

पादावस्य विनिर्भिन्नौ लोकेशो विष्णुराविशत् ।
गत्या स्वांशेन पुरुषो यया प्राप्यं प्रपद्यते ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

पादौ—दो पाँव; अस्य—विराट रूप के; विनिर्भिन्नौ—पृथक् प्रकट हुए; लोक-ईशः विष्णुः—विष्णु नामक देवता (भगवान् नहीं); आविशत्—प्रविष्ट हुआ; गत्या—चलने-फिरने की शक्ति द्वारा; स्व-अंशेन—अपने ही अंश सहित; पुरुषः—जीव; यया—जिससे; प्राप्यम्—गन्तव्य तक; प्रपद्यते—पहुँचता है।

तत्पश्चात् विराट रूप के पाँव पृथक् रुप से प्रकट हुए और विष्णु नामक देवता (भगवान् नहीं) ने उन में आंशिक गति के साथ प्रवेश किया। इससे जीव को अपने गन्तव्य तक जाने में सहायता मिलती है।

बुद्धिं चास्य विनिर्भिन्नां वागीशो धिष्ण्यमाविशत् ।
बोधेनांशेन बोद्धव्यम्प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥ २३॥

शब्दार्थ

बुद्धिम्—बुद्धि; च—भी; अस्य—विराट रूप की; विनिर्भिन्नाम्—पृथक् हुई; वाक्-ईशः—वेदों का स्वामी ब्रह्मा; धिष्ण्यम्—नियंत्रक शक्ति; आविशत्—प्रविष्ट हुए; बोधेन अंशेन—अपने बुद्धि अंश सहित; बोद्धव्यम्—ज्ञान का विषय; प्रतिपत्तिः—समझ गया; यतः—जिससे; भवेत्—इस तरह होती है।

जब विराट रूप की बुद्धि पृथक् रुप से प्रकट हुई तो वेदों के स्वामी ब्रह्मा बुद्धि की आंशिक शक्ति के साथ उसमें प्रविष्ट हुए और इस तरह जीवों द्वारा बुद्धि के ध्येय का अनुभव किया जाता है।

हृदयं चास्य निर्भिन्नं चन्द्रमा धिष्ण्यमाविशत् ।
मनसांशेन येनासौ विक्रियां प्रतिपद्यते ॥ २४॥

शब्दार्थ

हृदयम्—हृदय; च—भी; अस्य—विराट रूप का; निर्भिन्नम्—पृथक् से प्रकट होकर; चन्द्रमा—चन्द्र देवता; धिष्ण्यम्—नियंत्रक शक्ति समेत; आविशत्—प्रविष्ट हुआ; मनसा अंशेन—आंशिक मानसिक क्रिया सहित; येन—जिससे; असौ—जीव; विक्रियाम्—संकल्प; प्रतिपद्यते—करता है।

इसके बाद विराट रूप का हृदय पृथक् रूप से प्रकट हुआ और इसमें चन्द्रदेवता अपनी आंशिक मानसिक क्रिया समेत प्रवेश कर गया। इस तरह जीव मानसिक चिन्तन कर सकता है।

आत्मानं चास्य निर्भिन्नमभिमानोऽविशत्पदम् ।
कर्मणांशेन येनासौ कर्तव्यं प्रतिपद्यते ॥ २५॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—मिथ्या अहंकार; च—भी; अस्य—विराट रूप का; निर्भिन्नम्—पृथक् से प्रकट होकर; अभिमानः—मिथ्या पहचान; अविशत्—प्रविष्ट हुआ; पदम्—पद पर; कर्मणा—कर्म द्वारा; अंशेन—अंशतः; येन—जिससे; असौ—जीव; कर्तव्यम्—करणीय कार्यकलाप; प्रतिपद्यते—करता है।

तत्पश्चात् विराट रूप का भौतिकतावादी अहंकार पृथक् से प्रकट हुआ और इसमें मिथ्या अंहकार के नियंत्रक रुद्र ने अपनी निजी आंशिक क्रियाओं समेत प्रवेश किया जिससे जीव अपना लक्ष्यित कर्तव्य पूरा करता है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी स्वरूप का मिथ्या अहंकार शिवजी के अवतार रुद्र देवता द्वारा नियंत्रित होता है। रुद्र भगवान् के अवतार हैं, जो भौतिक प्रकृति के अन्तर्गत तमोगुण का नियंत्रण करते हैं।

मिथ्या अहंकार की क्रियाएँ शरीर तथा मन के लक्ष्य पर आधारित होती हैं। मिथ्या अहंकार द्वारा नियंत्रित अधिकांश व्यक्ति शिवजी द्वारा नियंत्रित होते हैं। जब मनुष्य अज्ञान के सूक्ष्म रूप तक पहुँच जाता है, तो वह भ्रमवश अपने को परमेश्वर मानने लगता है। बद्ध आत्मा की अहंकारमय धारणा उस भ्रामिक माया का अन्तिम पाश है, जो सम्पूर्ण भौतिक जगत को नियंत्रित करती है।

सत्त्वं चास्य विनिर्भिन्नं महान्धिष्ण्यमुपाविशत् ।
चित्तेनांशेन येनासौ विज्ञानं प्रतिपद्यते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—चेतना; च—भी; अस्य—विराट रूप की; विनिर्भिन्नम्—पृथक् से प्रकट होकर; महान्—समग्र शक्ति, महत् तत्त्व; धिष्ण्यम्—नियंत्रण समेत; उपाविशत्—प्रविष्ट हुई; चित्तेन अंशेन—अपनी अंश चेतना समेत; येन—जिससे; असौ—जीव; विज्ञानम्—विशिष्ट ज्ञान; प्रतिपद्यते—अनुशीलन करता है।

तत्पश्चात् जब विराट रूप से उसकी चेतना पृथक् होकर प्रकट हुई तो समग्र शक्ति अर्थात् महतत्त्व अपने चेतन अंश समेत प्रविष्ट हुआ। इस तरह जीव विशिष्ट ज्ञान को अवधारण करने में समर्थ होता है।

शीर्ष्णोऽस्य द्यौर्धरा पद्भ्यां खं नाभेरुदपद्यत ।
गुणानां वृत्तयो येषु प्रतीयन्ते सुरादयः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

शीर्ष्णः—सिर; अस्य—विराट रूप का; द्यौः—स्वर्गलोक; धरा—पृथ्वीलोक; पद्भ्याम्—उसके पैरों पर; खम्—आकाश; नाभेः—नाभि से; उदपद्यत—प्रकट हुआ; गुणानाम्—तीनों गुणों के; वृत्तयः—फल; येषु—जिनमें; प्रतीयन्ते—प्रकट होते हैं; सुर-आदयः—देवता इत्यादि।

तत्पश्चात् विराट रूप के सिर से स्वर्गलोक, उसके पैरों से पृथ्वीलोक तथा उसकी नाभि से आकाश पृथक्-पृथक् प्रकट हुए। इनके भीतर भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के रूप में देवता इत्यादि भी प्रकट हुए।

आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे ।
धरां रजःस्वभावेन पणयो ये च ताननु ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

आत्यन्तिकेन—अत्यधिक; सत्त्वेन—सतोगुण द्वारा; दिवम्—उच्चतर लोकों में; देवाः—देवता; प्रपेदिरे—स्थित है; धराम्—पृथ्वी पर; रजः—रजोगुण; स्वभावेन—स्वभाव से; पणयः—मानव; ये—वे सब; च—भी; तान्—उनके; अनु—अधीन।

देवतागण, अति उत्तम गुण, सतोगुण के द्वारा योग्य बनकर, स्वर्गलोक में अवस्थित रहते हैं,

जबकि मनुष्य अपने रजोगुणी स्वभाव के कारण अपने अधीनस्थों की संगति में पृथ्वी पर रहते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१४.१४-१५) में कहा गया है कि जो सतोगुण में अत्यधिक विकसित हैं, वे उच्चतर स्वर्गलोकों को जाते हैं और जो रजोगुण द्वारा अभिभूत हैं, वे मध्य लोकों में—पृथ्वी तथा ऐसे ही अन्य लोकों में—स्थित रहते हैं। किन्तु जो तमोगुण से पूरित हैं, वे निम्नलोकों में या पशु जगत में गिरा दिये जाते हैं। देवतागण सतोगुण में अतीव बढ़े-चढ़े होते हैं, अत: वे स्वर्गलोकों में स्थित रहते हैं। मनुष्यों से भी नीचे पशु हैं, यद्यपि उनमें से कुछ पशु मानव समाज से मिलते रहते हैं। गौवें, घोड़े, कुत्ते आदि मनुष्य के संरक्षण में रहने के आदी हैं।

इस श्लोक में *आत्यन्तिकेन* शब्द अत्यन्त सार्थक है। भौतिक प्रकृति के सतोगुण के विकास से मनुष्य स्वर्गलोक में स्थित हो सकता है। किन्तु रजो तथा तमो गुणों के अत्यधिक विकास से मनुष्य उन पशुओं की हत्या करने लगता है जिन्हें मनुष्य द्वारा संरक्षण दिया जाता है। जो व्यक्ति व्यर्थ की पशुहत्या में रत होते हैं उनमें रजो तथा तमोगुण अत्यधिक विकसित हो चुके होते हैं और सतोगुण की दिशा में उनके बढ़ने की कोई आशा नहीं रहती। उनके जीवन का निम्नतर स्थितियों में अध:पतन होता ही है। उच्चतर तथा निम्नलोकों की गणना उनमें रहने वाले जीवों की श्रेणियों के अनुसार होती है।

तार्तीयेन स्वभावेन भगवन्नाभिमाश्रिता: ।
उभयोरन्तरं व्योम ये रुद्रपार्षदां गणा: ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तार्तीयेन—तृतीय गुण अर्थात् तमोगुण के अत्यधिक विकास द्वारा; **स्वभावेन**—ऐसे स्वभाव से; **भगवत्-नाभिम्**—भगवान् के विराट रूप की नाभि में; **आश्रिता:**—स्थित; **उभयो:**—दोनों के; **अन्तरम्**—बीच में; **व्योम**—आकाश; **ये**—जो सब; **रुद्र-पार्षदाम्**—रुद्र के संगी; **गणा:**—लोग।

जो जीव रुद्र के संगी हैं, वे प्रकृति के तीसरे गुण अर्थात् तमोगुण में विकास करते हैं। वे पृथ्वीलोकों तथा स्वर्गलोकों के बीच आकाश में स्थित होते हैं।

तात्पर्य : आकाश का यह मध्य भाग भुवर्लोक कहलाता है, जिसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती तथा श्रील जीव गोस्वामी दोनों ने की है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जिनमें रजोगुण प्रधान होता है वे मध्य भाग में स्थित रहते हैं। जो लोग सतोगुण में स्थित हैं, वे देवताओं के क्षेत्रों में भेज दिए जाते

हैं; जो रजोगुण में स्थित होते हैं, वे मानव समाज में रखे जाते हैं तथा जो लोग तमोगुण में स्थित हैं, वे पशुओं या प्रेतों के समाज में स्थान पाते हैं। इस निष्कर्ष में कोई विरोधाभास नहीं है। असंख्य जीव ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों में फैले हुए हैं और इस तरह भौतिक प्रकृति-गुणों के अन्तर्गत अपनी अपनी गुणताओं के अनुसार स्थित रहते हैं।

मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह ।
यस्तून्मुखत्वाद्वर्णानां मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मुखतः—मुँह से; अवर्तत—उत्पन्न हुआ; ब्रह्म—वैदिक ज्ञान; पुरुषस्य—विराट पुरुष का; कुरु-उद्वह—हे कुरुवंश के प्रधान; यः—जो; तु—के कारण; उन्मुखत्वात्—उन्मुख; वर्णानाम्—समाज के वर्णों का; मुख्यः—मुख्य; अभूत्—ऐसा हो गया; ब्राह्मणः—ब्राह्मण कहलाया; गुरुः—मान्य शिक्षक या गुरु।

हे कुरुवंश के प्रधान, विराट अर्थात् विश्व रुप के मुख से वैदिक ज्ञान प्रकट हुआ। जो लोग इस वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख होते हैं, वे ब्राह्मण कहलाते हैं और वे समाज के सभी वर्णों के स्वाभाविक शिक्षक तथा गुरु हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (४.१३) में पुष्टि हुई है मानव समाज के चारों वर्ण विराट रूप के शरीर के क्रमानुसार विकसित हुए। ये शारीरिक विभाग हैं मुख, बाँह, कमर तथा पाँव। जो लोग मुख में स्थित हैं, वे ब्राह्मण कहलाते हैं, जो बाँहों में स्थित हैं, वे क्षत्रिय कहलाते हैं, जो कमर में स्थित हैं, वे वैश्य कहलाते हैं और जो पाँवों में स्थित हैं, वे शूद्र कहलाते हैं। हर व्यक्ति भगवान् के विश्वरूप में उनके शरीर में स्थित है। अतएव चार वर्णों के रूप में किसी जाति को इसलिए निम्न नहीं माना जाना चाहिए कि वह शरीर के किसी विशेष भाग में स्थित है। हम अपने शरीरों में अपने हाथों या पावों के प्रति अपने व्यवहारों में कोई वास्तविक भेदभाव नहीं बरतते। शरीर का अंग-प्रत्यंग महत्त्वपूर्ण है यद्यपि इनमें से मुख सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। यदि अन्य अंगों को शरीर से काटकर अलग कर दिया जाय तो मनुष्य जीवित रह सकता है, किन्तु यदि उसका मुख काट दिया जाय तो वह जीवित नहीं रह सकता। अतः भगवान् के शरीर का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग उन ब्राह्मणों का आश्रयस्थल कहलाता है, जो वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख होते हैं। जो वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख न होकर संसारी मामलों के प्रति उन्मुख होता है, वह ब्राह्मण नहीं कहला सकता, भले ही वह ब्राह्मण वंश में या ब्राह्मण

पिता से क्यों न उत्पन्न हुआ हो। ब्राह्मण पिता से उत्पन्न होने से ही कोई ब्राह्मण बनने का पात्र नहीं हो जाता। ब्राह्मण की मुख्य योग्यता वैदिक ज्ञान के प्रति उसका झुकाव है। वेद भगवान् के मुख में स्थित होते हैं और इसलिए जो कोई वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख होता है, वह निश्चय ही, ब्राह्मण होता है। वैदिक ज्ञान के प्रति यह उन्मुखता भी किसी विशेष जाति या सम्प्रदाय तक सीमित नहीं है। किसी भी परिवार का तथा विश्व के किसी भी भाग का कोई भी व्यक्ति वैदिक ज्ञान के प्रति उन्मुख हो सकता है और इससे वह असली ब्राह्मण होने के योग्य हो जाएगा।

असली ब्राह्मण स्वाभाविक तौर पर शिक्षक या गुरु होता है। जब तक किसी को वैदिक ज्ञान नहीं है, कोई व्यक्ति गुरु नहीं बन सकता। वेदों का सम्यक् ज्ञान है भगवान् को जानना और यही वैदिक ज्ञान का अन्त अर्थात् वेदान्त है। जो व्यक्ति निर्विशेष ब्रह्म को प्राप्त है और जिसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में कोई जानकारी नहीं होती वह भले ही ब्राह्मण बन जाय, किन्तु वह गुरु नहीं बन सकता। *पद्म पुराण* में कहा गया है—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः।

अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः॥

निर्विशेषवादी योग्य ब्राह्मण बन सकता है, किन्तु वह तब तक गुरु नहीं बन सकता जब तक वैष्णव के पद को अथवा भगवद्भक्त पद को प्राप्त नहीं होता। आधुनिक युग में वैदिक ज्ञान के परम अधिकारी श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केने नय।

येइ कृष्णतत्त्ववेत्ता, सेइ 'गुरु' हय॥

कोई व्यक्ति ब्राह्मण, शूद्र या संन्यासी हो सकता है, किन्तु यदि वह कृष्ण विज्ञान में निष्णात होता है, तो वह गुरु होने के योग्य है। (*चैतन्य-चरितामृत* मध्य ८.१२८) तब गुरु की योग्यता योग्य ब्राह्मण होना नहीं, अपितु कृष्ण विज्ञान में निष्णात होना है।

जो कोई भी वैदिक ज्ञान में निष्णात है, वह ब्राह्मण है। और केवल वही ब्राह्मण जो शुद्ध वैष्णव है तथा कृष्ण विज्ञान की सारी जटिलताओं को जानता है गुरु बन सकता है।

बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः ।
यो जातस्त्रायते वर्णान्पौरुषः कण्टकक्षतात् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

बाहुभ्यः—बाहुओं से; अवर्तत—उत्पन्न हुआ; क्षत्रम्—संरक्षण की शक्ति; क्षत्रियः—संरक्षण की शक्ति के सन्दर्भ में; तत्—वह; अनुव्रतः—अनुयायी; यः—जो; जातः—ऐसा होता है; त्रायते—उद्धार करता है; वर्णान्—अन्य वृत्तियाँ; पौरुषः—भगवान् का प्रतिनिधि; कण्टक—चोर उचक्के जैसे उपद्रवी तत्त्व; क्षतात्—दुष्टता से।

तत्पश्चात् विराट रूप की बाहुओं से संरक्षण शक्ति उत्पन्न हुई और ऐसी शक्ति के प्रसंग में समाज का चोर-उचक्कों के उत्पातों से रक्षा करने के सिद्धान्त का पालन करने से क्षत्रिय भी अस्तित्व में आये।

तात्पर्य : जिस तरह ब्राह्मण दिव्य वैदिक ज्ञान के प्रति विशेष उन्मुखता के फलस्वरूप जाने जाते हैं उसी तरह क्षत्रिय भी चोर-उचक्कों जैसे उपद्रवी तत्त्वों से समाज की रक्षा करने की शक्ति द्वारा पहचाने जाते हैं। *अनुव्रतः* शब्द सार्थक है। जो व्यक्ति चोर-उचक्कों से समाज की रक्षा करके क्षत्रिय सिद्धान्तों का पालन करता है, वह क्षत्रिय कहलाता है, केवल जन्म से कोई क्षत्रिय नहीं होता। जाति प्रथा की धारणा सदैव गुण पर आधारित होती है, जन्म की योग्यता पर नहीं। जन्म तो बाह्य अवधारणा है, यह वर्णों तथा विभागों का मुख्य लक्षण नहीं है। *भगवद्गीता* (१८.४१-४४) में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के गुणों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है और यह समझा जाता है कि किसी समूह विशेष से सम्बन्धित होने के पूर्व ऐसे समस्त गुणों की आवश्यकता होती है।

भगवान् विष्णु को समस्त वैदिक शास्त्रों में *पुरुष* कहा गया है। कभी-कभी जीवों को भी *पुरुष* कहा जाता है यद्यपि वे अनिवार्यतः *पुरुष*-शक्ति (पराशक्ति या परा प्रकृति) अर्थात् *पुरुष* की परा शक्ति हैं। *पुरुष* (भगवान्) की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित होकर जीव भ्रमवश अपने को *पुरुष* समझने लगते हैं, यद्यपि उनमें ऐसे कोई गुण नहीं होते। भगवान् में रक्षा करने की शक्ति होती है। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर, इन तीनों देवताओं में से पहले में सृजन की शक्ति होती है, दूसरे में रक्षा करने की तथा तीसरे में संहार करने की शक्ति होती है। इस श्लोक में *पुरुष* शब्द सार्थक है, क्योंकि क्षत्रियों से आशा की जाती है कि वे प्रजाओं को अर्थात् थल तथा जल में उत्पन्न हुए सबों को संरक्षण प्रदान करने में भगवान् *पुरुष* का प्रतिनिधित्व करेंगे। अतएव संरक्षण मनुष्य तथा पशु दोनों ही के निमित्त है। आधुनिक समाज में प्रजा को चोर-उचक्कों से सुरक्षित नहीं रखा जाता। आधुनिक प्रजातंत्र राज्य जिसमें क्षत्रिय हैं

ही नहीं वैश्यों तथा शूद्रों की सरकार है और पहले की तरह यह ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की सरकार नहीं है। महाराज युधिष्ठिर तथा उनके पौत्र महाराज परीक्षित विशिष्ट प्रकार के क्षत्रिय राजा थे क्योंकि उन्होंने सभी मनुष्यों तथा पशुओं सभी को संरक्षण प्रदान किया। जब साक्षात् कलि ने एक गाय का बध करना चाहा तो महाराज परीक्षित तुरन्त उस दुष्ट का बध करने के लिए सन्नद्ध हो गये और कलि को अपने राज्य से बाहर निकाल दिया। यह एक पुरुष का अथवा भगवान् विष्णु के प्रतिनिधि का लक्षण है। वैदिक सभ्यता के अनुसार, योग्य क्षत्रिय राजा को भगवान् जैसा सम्मान प्रदान किया जाता है, क्योंकि वह प्रजा को संरक्षण प्रदान करके भगवान् का प्रतिनिधित्व करता है। आधुनिक निर्वाचित राज्याध्यक्ष चोरी के मामलों में भी संरक्षण नहीं दे पाते, अतएव मनुष्य को बीमा कम्पनी का संरक्षण प्राप्त करना पड़ता है। आधुनिक मानव समाज की समस्याएँ योग्य ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के अभाव एवं तथाकथित सामान्य मताधिकार द्वारा वैश्यों तथा शूद्रों के अत्यधिक प्रभाव के कारण हैं।

विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः ।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

विशः—उत्पादन तथा वितरण द्वारा जीविका का साधन; अवर्तन्त—उत्पन्न किया; तस्य—उसका (विराट रूप का); ऊर्वोः—जाँघों से; लोक-वृत्तिकरीः—आजीविका के साधन; विभोः—भगवान् के; वैश्यः—वैश्य जाति; तत्—उनका; उद्भवः—समायोजन (जन्म); वार्ताम्—जीविका का साधन; नृणाम्—सारे मनुष्यों की; यः—जिसने; समवर्तयत्—सम्पन्न किया।

समस्त पुरुषों की जीविका का साधन, अर्थात् अन्न का उत्पादन तथा समस्त प्रजा में उसका वितरण भगवान् के विराट रूप की जाँघों से उत्पन्न किया गया। वे व्यापारी जन जो ऐसे कार्य को संभालते हैं वैश्य कहलाते हैं।

तात्पर्य : मानव समाज की जीविका के साधन को यहाँ पर स्पष्ट रूप से *विश* कह कर व्यक्त किया गया है, जिसका अर्थ है कृषि तथा कृषि-उत्पादों के वितरण का व्यापार जिसमें यातायात, बैकिंग इत्यादि सम्मिलित हैं। उद्योग तो जीविका का कृत्रिम साधन है और बड़े पैमाने वाले उद्योग तो विशेषकर समाज की सारी समस्याओं की जड़ हैं। *भगवद्गीता* में भी *विश* में लगे वैश्यों के कर्तव्य गोरक्षा, कृषि तथा व्यापार बतलाये गये हैं। हम पहले ही व्याख्या कर चुके हैं कि मानव अपनी जीविका के लिए सुरक्षापूर्वक गाय तथा कृषिय भूमि पर निर्भर रह सकते हैं।

बैंकिंग तथा यातायात द्वारा उपज का विनिमय इस प्रकार की जीविका की एक शाखा है। वैश्य कई उपविभागों में बँटे हैं—उनमें से कुछ *क्षेत्री* या भूमि के स्वामी हैं, कुछ *कृष्ण* या भूमि जोतने वाले कहलाते हैं, कुछ *तिल वणिक* अर्थात् अन्न उत्पन्न करने वाले कहलाते हैं कुछ *गन्ध* वणिक अर्थात् मसाले का व्यापार करने वाले कहलाते हैं और कुछ *स्वर्ण वणिक* अर्थात् सोने तथा बैंकिंग के व्यापारी कहलाते हैं। ब्राह्मण शिक्षक तथा गुरु होते हैं, क्षत्रिय नागरिकों की चोर-उचक्कों से रक्षा करते हैं और वैश्य उत्पादन तथा वितरण के लिए उत्तरदायी हैं। शूद्र, कम बुद्धिमान श्रेणी के ऐसे लोग हैं, जो स्वतंत्र रूप से उपर्युक्त कार्य नहीं कर सकते, अपनी जीविका के लिए इन तीन उच्चतर श्रेणियों की सेवा करने के लिए होते हैं।

पूर्वकाल में ब्राह्मणों के जीवन की सारी आवश्यकताएँ क्षत्रियों तथा वैश्यों द्वारा पूरी की जाती थीं, क्योंकि जीविका कमाने के लिए उनके पास समय नहीं रहता था। क्षत्रियगण वैश्यों तथा शूद्रों से कर वसूल करते थे, किन्तु ब्राह्मण आयकर या भूमि लगान देने से मुक्त रखे जाते थे। मानव समाज की यह प्रणाली इतनी उत्तम थी कि कोई भी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उथल-पुथल नहीं मचती थी। अत: विभिन्न जातियाँ अथवा वर्ण विभाजन शान्तिमय मानव समाज बनाये रखने के लिए अत्यावश्यक हैं।

पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये ।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पद्भ्याम्—पैरों से; **भगवतः**—भगवान् के; **जज्ञे**—प्रकट हुआ; **शुश्रूषा**—सेवा; **धर्म**—वृत्तिपरक कार्य; **सिद्धये**—के हेतु; **तस्याम्**—उसमें; **जातः**—उत्पन्न हुआ; **पुरा**—प्राचीन काल में; **शूद्रः**—सेवक; **यत्-वृत्त्या**—वृत्ति जिससे; **तुष्यते**—तुष्ट होता है; **हरिः**—भगवान्।

तत्पश्चात् धार्मिक कार्य पूरा करने के लिए भगवान् के पैरों से सेवा प्रकट हुई। पैरों पर शूद्र स्थित होते हैं, जो सेवा द्वारा भगवान् को तुष्ट करते हैं।

तात्पर्य : सेवा सभी जीवों की असली स्वाभाविक वृत्ति है। जीव भगवान् की सेवा करने के निमित्त हैं और वे इस सेवा भाव से धार्मिक सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। कोई भी व्यक्ति सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल चिन्तन द्वारा धार्मिक सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। अध्यात्मवादियों का ज्ञानी

वर्ग आत्मा तथा पदार्थ का अन्तर जानने के लिए ही चिन्तन करता रहता है, किन्तु ज्ञान द्वारा उसे मुक्त हुए आत्मा के कार्यों की कोई जानकारी नहीं रहती। यह कहा जाता है कि जो लोग वस्तुओं को यथारूप में जानने के लिए मानसिक चिन्तन ही करते रहते हैं और भगवान् की प्रेमाभक्ति में नहीं लगते वे केवल अपने समय की बरबादी करते हैं।

यहाँ पर यह स्पष्ट कहा गया है कि सेवा का सिद्धान्त धार्मिक विधि को पूरा करने के निमित्त भगवान् के पाँवों से उत्पन्न किया गया था, किन्तु यह दिव्य सेवा भौतिक जगत के सेवा भाव से भिन्न है। भौतिक जगत में कोई भी सेवक नहीं बनना चाहता, हर व्यक्ति स्वामी बनना चाहता है, क्योंकि मिथ्या स्वामित्व बद्धजीव का मूलभूत रोग है। भौतिक जगत में बद्धजीव अन्यों पर प्रभुत्व जताना चाहता है। भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहित होकर वह भौतिक जगत में सेवक बनने के लिए बाध्य किया जाता है। बद्धजीव की यही असली स्थिति है। भ्रामक बहिरंगा शक्ति का अन्तिम पाश भगवान् से एकाकार होने की अवधारणा है और इसी धारणा के कारण भ्रमित जीव अपने को भूल से मुक्तात्मा तथा ''नारायण के तुल्य'' मानते हुए भौतिक शक्ति के बन्धन में पड़ा रहता है।

वस्तुत: ब्राह्मण की अपेक्षा शूद्र होना और सेवाभाव का विकास करना श्रेयस्कर होता है, क्योंकि केवल इसी भाव से भगवान् तुष्ट होते हैं। प्रत्येक जीव को, भले ही योग्यता के अनुसार वह ब्राह्मण हो, भगवान् की दिव्य सेवा करनी चाहिए। *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* दोनों ही इसकी परिपुष्टि करते हैं कि यह सेवाभाव जीव की सिद्धि है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र एकमात्र भगवान् की सेवा करके ही अपने वृत्तिपरक कर्तव्य को पूरा कर सकता है। ब्राह्मण से अपेक्षा की जाती है कि वैदिक ज्ञान में अपनी पूर्णता के कारण वह इस तथ्य को जाने। अन्य वर्गों को ब्राह्मण वैष्णव (योग्यता के अनुसार ब्राह्मण तथा कर्मद्वारा वैष्णव) के निर्देश का अनुगमन करना चाहिए। इससे सम्पूर्ण समाज अपने सामाजिक ढाँचे की व्यवस्था के अनुसार पूर्ण बन सकेगा। अव्यवस्थित समाज न तो समाज के सदस्यों को, न ही भगवान् को तुष्ट कर सकता है। यदि कोई पूर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र न भी हो, किन्तु यदि वह अपने सामाजिक पद की सिद्धि की परवाह न करते हुए भगवान् की सेवा करता है, तो वह भगवान् के प्रति केवल सेवा भाव उत्पन्न करके पूर्ण मानव बन जाता है।

एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम् ।
श्रद्धयात्मविशुद्ध्यर्थं यज्जाताः सह वृत्तिभिः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

एते—ये सारे; वर्णाः—समाज की श्रेणियाँ; स्व-धर्मेण—अपने-अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों द्वारा; यजन्ति—पूजा करते हैं; स्व-गुरुम्—अपने गुरु; हरिम्—भगवान् को; श्रद्धया—श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक; आत्म—आत्मा; विशुद्धि-अर्थम्—शुद्ध करने के लिए; यत्—जिससे; जाताः—उत्पन्न; सह—के साथ; वृत्तिभिः—वृत्तिपरक कर्तव्य।

ये भिन्न-भिन्न समस्त सामाजिक विभाग, अपने-अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों तथा जीवन परिस्थितियों के साथ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से उत्पन्न होते हैं। इस तरह अबद्धजीवन तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए मनुष्य को गुरु के निर्देशानुसार परम प्रभु की पूजा करनी होती है।

तात्पर्य : चूँकि सारे जीव भगवान् के विराट रूप के शरीर के पृथक्-पृथक् भागों से उत्पन्न हुए हैं, अतएव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के समस्त भागों के जीवों को परम शरीर का नित्य सेवक माना जाता है। हमारे अपने शरीर का प्रत्येक भाग, यथा मुँह, हाथ, जाँघ तथा पाँव, सम्पूर्ण शरीर की सेवा करने के लिए होते हैं। यही उनकी स्वाभाविक स्थिति है। मानवेतर जीवन में जीवों को स्वाभाविक स्थिति की चेतना नहीं होती, किन्तु मनुष्य जीवन में उनसे आशा की जाती है कि वे *वर्ण* प्रणाली के माध्यम से इसे जानें। जैसाकि ऊपर उल्लेख हुआ है, समाज के समस्त वर्णों का गुरु ब्राह्मण होता है, अतः ब्राह्मण संस्कृति, जिसकी पराकाष्ठा भगवान् की दिव्य सेवा है, आत्मा की शुद्धि के लिए आधार भूत सिद्धान्त है।

बद्धजीवन में आत्मा को ऐसा प्रतीत होता है कि वह ब्रह्माण्ड का स्वामी बन सकता है और इस भ्रान्त धारणा का अन्तिम बिन्दु यह है कि वह अपने को ब्रह्म सोचने लगता है। मूर्ख बद्ध-जिवात्मा इस बात पर ध्यान नहीं देता कि ब्रह्म कभी माया द्वारा बद्ध नहीं हो सकता। यदि ब्रह्म माया द्वारा बद्ध हो जाय तो फिर उसकी सर्वोच्चता कहाँ रही? उस दशा में माया सर्वोच्च होगी। इसलिए जीव कभी सर्वोच्च नहीं हो सकते, क्योंकि वे बद्ध हैं। इस श्लोक में बद्ध आत्मा की वास्तविक स्थिति बतलाई गई है—तीन गुणों में भौतिक प्रकृति से सम्पर्क के कारण सारे बद्धजीव अशुद्ध होते हैं। इसलिए ऐसे प्रामाणिक गुरु के पथ प्रदर्शन के अन्तर्गत उन्हें अपने को शुद्ध बनाना आवश्यक होता है, जो अपनी योग्यता से न केवल ब्राह्मण हों, अपितु वैष्णव भी हों। यहाँ पर आत्मशुद्धि की जिस एकमात्र विधि का उल्लेख हुआ है, वह मान्य विधि के अन्तर्गत—प्रामाणिक गुरु के पथ प्रदर्शन में—भगवान् की पूजा करना है। यही शुद्धि की स्वाभाविक विधि है और अन्य किसी विधि की प्रामाणिक होने के रूप में

संस्तुति नहीं की गई है। शुद्धि की अन्य विधियाँ जीवन की इस अवस्था तक पहुँचने में सहायक बन सकती हैं, किन्तु वास्तविक सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व मनुष्य को इस अन्तिम बिन्दु तक आना होता है। *भगवद्गीता* (७.१९) में इस सत्यता की पुष्टि निम्नवत् हुई है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

एतत्क्षत्तर्भगवतो दैवकर्मात्मरूपिणः ।
कः श्रद्दध्यादुपाकर्तुं योगमायाबलोदयम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; क्षत्तः—हे विदुर; भगवतः—भगवान् का; दैव-कर्म-आत्म-रूपिणः—विराट रूप के दिव्य कर्म, काल तथा प्रकृति का; कः—और कौन; श्रद्दध्यात्—आकांक्षा कर सकता है; उपाकर्तुम्—समग्र रूप में मापने के लिए; योगमाया—अन्तरंगाशक्ति के; बल-उदयम्—बल द्वारा प्रकट।

हे विदुर, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा प्रकट किये गये विराट रूप के दिव्य काल, कर्म तथा शक्ति को भला कौन माप सकता है या उसका आकलन कर सकता है?

तात्पर्य : कूपमण्डूक दार्शनिक भगवान् की अन्तरंगा शक्ति *योगमाया* द्वारा प्रदर्शित विराट रूप के विषय में मानसिक चिन्तन करते रहें, किन्तु वस्तुतः कोई भी ऐसे विशाल प्रदर्शन को माप नहीं सकता। *भगवद्गीता* (११.१६) में भगवान् के मान्य भक्त अर्जुन ने कहा है—

अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥

"हे विश्वेश्वर, हे *विश्वरूप,* हे ब्रह्माण्ड के स्वामी! मैं सभी दिशाओं में असंख्य हाथ, शरीर, मुख तथा आँखें देख रहा हूँ और वे सभी अनन्त हैं। मैं इस रूप का न तो अन्त पा सकता हूँ, न मध्य, न ही आदि।"

भगवद्गीता विशेष रूप से अर्जुन से कही गई थी और उसके अनुरोध पर उसके समक्ष विश्वरूप दिखलाया गया था। उसे इस *विश्वरूप* को देखने के लिए विशेष आँखें प्रदान की गई थीं। इस तरह यद्यपि वह भगवान् के असंख्य हाथ तथा मुख देख सका, किन्तु वह पूर्णरूपेण उनका दर्शन नहीं कर सका। जब अर्जुन भगवान् की शक्ति के माप का अनुमान लगाने में असमर्थ रहा तो भला और कौन

ऐसा कर सकता है? हाँ, कोई कूपमण्डूक दार्शनिक की तरह भ्रान्त अनुमान करने में लगा रह सकता है। कूपमण्डूक दार्शनिक तीन वर्गफुट आकार वाले कुएँ के अपने अनुभव के आधार पर प्रशान्त महासागर की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान लगाना चाहता था, अतः वह प्रशान्त महासागर जितना विशाल होने के लिए गर्व से फूलने लगा, किन्तु अन्त में उसका शरीर फट गया और इस विधि से वह मर गया। यह वृत्तान्त उस मानसिक दार्शनिक पर भी लागू होता है, जो भगवान् की बहिरंगा शक्ति की माया के अधीन परमेश्वर की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान लगाने में उलझा रहता है। सर्वोत्तम मार्ग यही है कि भगवान् का शान्त एवं विनीत भक्त बना जाय, प्रामाणिक गुरु से भगवान् के विषय में सुनने का प्रयास किया जाय तथा जैसाकि पिछले श्लोक में सुझाव दिया गया है, दिव्य प्रेमाभक्ति में भगवान् की सेवा की जाय।

तथापि कीर्तयाम्यङ्ग यथामति यथाश्रुतम् ।
कीर्तिं हरेः स्वां सत्कर्तुं गिरमन्याभिधासतीम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तथा—इसलिए; अपि—यद्यपि ऐसा है; कीर्तयामि—मैं वर्णन करता हूँ; अङ्ग—हे विदुर; यथा—जिस तरह; मति—बुद्धि; यथा—जिस तरह; श्रुतम्—सुना हुआ; कीर्तिम्—यश; हरेः—भगवान् का; स्वाम्—निजी; सत्-कर्तुम्—शुद्ध करने हेतु; गिरम्—वाणी; अन्याभिधा—अन्यथा; असतीम्—अपवित्र।

अपनी असमर्थता के बावजूद मैं (अपने गुरु से) जो कुछ सुन सका हूँ तथा जितना आत्मसात् कर सका हूँ उसे अब शुद्ध वाणी द्वारा भगवान् की महिमा के वर्णन में लगा रहा हूँ, अन्यथा मेरी वाक्शक्ति अपवित्र बनी रहेगी।

तात्पर्य : बद्ध आत्मा की शुद्धि के लिए उसकी चेतना की शुद्धि आवश्यक है। चेतना की उपस्थिति से दिव्य आत्मा की उपस्थिति की पुष्टि होती है और ज्योंही चेतना शरीर को त्याग देती है त्योंही शरीर निष्क्रिय हो जाता है। अतः चेतना की अनुभूति कार्यों से होती है। प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला यह सिद्धान्त कि चेतना निष्क्रिय अवस्था में रह सकती है उनके अल्पज्ञान का प्रमाण है। शुद्ध चेतना के कार्यकलापों को रोककर किसी को भी अपवित्र नहीं बनना चाहिए। यदि शुद्ध चेतना के कार्यकलापों को रोका जाता है, तो निश्चय ही सचेत जीवनी शक्ति अन्य प्रकार से व्यस्त हो जाएगी, क्योंकि जब तक व्यस्त न हो, चेतना का कोई अर्थ नहीं होता। चेतना क्षणभर भी शान्त

नहीं रह सकती। जब शरीर कार्य नहीं करता होता है, तो चेतना स्वप्नों के रूप में कार्य करती है। अचेतनता कृत्रिम है। बाह्य प्रेरणा से यह सीमित अवधि तक रहती है, किन्तु जब दवा का नशा उतरता है या जब मनुष्य जग जाता है, तो चेतना फिर से सही ढंग से कार्य करने लगती है।

मैत्रेय का कथन है कि अपवित्र सचेतन कार्यकलापों से बचने के लिए वे भगवान् की अनन्त कीर्ति का वर्णन करने का प्रयास कर रहे थे यद्यपि उनको ठीक से वर्णित कर पाने की सामर्थ्य उनमें नहीं थी। भगवान् की कीर्ति का गायन किसी शोध का परिणाम नहीं है, अपितु गुरुमुख से विनीत भाव से सुनने का परिणाम है। अपने गुरु से जो कुछ सुना हुआ रहता है उसे पूर्ण रूप से दुहरा पाना भी सम्भव नहीं है, किन्तु भरसक प्रयास करके यथासम्भव कुछ न कुछ वर्णन किया जा सकता है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि भगवान् की महिमा का वर्णन पूरी तरह हुआ या नहीं। मनुष्य को *मनसा-वाचा-कर्मणा* भगवान् की दिव्य महिमा के गायन का प्रयास करना चाहिए अन्यथा ऐसे कार्यकलाप अपवित्र तथा अशुद्ध बने रहेंगे। बद्धजीव के जीवन मन तथा वाणी को भगवान् की सेवा में लगाने की विधि से ही शुद्ध बनाया जा सकता है। वैष्णवमत का *त्रिदण्डी संन्यासी* तीन दण्ड धारण करता है और ये दण्ड शरीर, मन, तथा वाणी से भगवान् की सेवा में लगने के व्रत के प्रतीक हैं जबकि एकदण्डी संन्यासी ब्रह्म से एकाकार होने का व्रत लेता है। चूँकि भगवान् परम हैं, अतएव उनमें तथा उनकी महिमा में कोई अन्तर नहीं है। वैष्णव संन्यासी द्वारा गाई जाने वाली भगवान् की महिमाएं भगवान् जैसी ही सारपूर्ण हैं। अत: भगवान् की महिमा का वर्णन करते हुए भक्त दिव्य रुचि में अभिभूत हो कर उनसे एकाकार हो जाता है, यद्यपि वह शाश्वत रूप से दिव्य सेवक बना रहता है। भक्त की यह एकसाथ *अचिन्त्य भेदाभेद* स्थिति उसे शाश्वत रूप से शुद्ध बनाती है और इस तरह उसका जीवन पूर्णरूपेण सफल बन जाता है।

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां
सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः ।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां
कथासुधायामुपसम्प्रयोगम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एक-अन्त—बेजोड़; लाभम्—लाभ; वचसः—विवेचना द्वारा; नु पुंसाम्—परम पुरुष के बाद; सुश्लोक—पवित्र; मौलेः—कार्यकलाप; गुण-वादम्—गुणगान; आहुः—ऐसा कहा जाता है; श्रुतेः—कान का; च—भी; विद्वद्भिः—विद्वान द्वारा; उपाकृतायाम्—इस तरह सम्पादित; कथा-सुधायाम्—ऐसे दिव्य सन्देश रूपी अमृत में; उपसम्प्रयोगम्—असली उद्देश्य को पूरा करता है, निकट होने से।

मानवता का सर्वोच्च सिद्धिप्रद लाभ पवित्रकर्ता के कार्यकलापों तथा महिमा की चर्चा में प्रवृत्त होना है। ऐसे कार्यकलाप महान् विद्वान ऋषियों द्वारा इतनी सुन्दरता से लिपिबद्ध हुए हैं कि कान का असली प्रयोजन उनके निकट रहने से ही पूरा हो जाता है।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी भगवान् के कार्यकलापों को सुनने से अतीव भयभीत रहते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि ब्रह्म के दिव्य पद से प्राप्त सुख ही जीवन का चरम लक्ष्य है। वे सोचते हैं कि हर एक का कार्य, चाहे वह भगवान् ही क्यों न हो, लौकिक होता है। किन्तु इस श्लोक में सुख का जो भाव व्यक्त है, वह भिन्न है, क्योंकि यह परम पुरुष के कार्यों को बतलाता है जिनके गुण दिव्य होते हैं। *गुणवादम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् के गुण तथा उनके कार्यकलाप एवं उनकी लीलाएँ भक्तों की चर्चा के विषय होते हैं। मैत्रेय जैसा ऋषि निश्चय ही लौकिक गुणों वाली किसी बात की चर्चा करने में रुचि नहीं रखता। फिर भी वे कहते हैं कि दिव्य साक्षात्कार की सर्वोच्च सिद्धिप्रद अवस्था भगवान् के कार्यकलापों की चर्चा करना है। इसीलिए श्रील जीव गोस्वामी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् के दिव्य कार्यकलापों से सम्बन्धित कथाएँ *कैवल्य* सुख की दिव्य अनुभूति से बहुत परे हैं। भगवान् के इन दिव्य कार्यकलापों को महर्षियों ने इस प्रकार लिपिबद्ध किया है कि उन कथाओं को सुनने से ही मनुष्य आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त होता है और कान तथा जीभ का भी सदुपयोग हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* ऐसा ही एक महान् ग्रन्थ है और इसकी विषयवस्तु को सुनने-सुनाने मात्र से जीवन की सर्वोच्च सिद्धावस्था प्राप्त हो जाती है।

आत्मनोऽवसितो वत्स महिमा कविनादिना ।
संवत्सरसहस्रान्ते धिया योगविपक्कया ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

आत्मनः—परमात्मा की; अवसितः—ज्ञात; वत्स—हे पुत्र; महिमा—महिमा; कविना—कवि ब्रह्मा द्वारा; आदिना—आदि; संवत्सर—दैवी वर्ष; सहस्र-अन्ते—एक हजार वर्षों के अन्त में; धिया—बुद्धि द्वारा; योग-विपक्कया—परिपक्व ध्यान द्वारा।

हे पुत्र, आदि कवि ब्रह्मा एक हजार दैवी वर्षों तक परिपक्व ध्यान के बाद केवल इतना जान पाये कि भगवान् की महिमा अचिन्त्य है।

तात्पर्य : कुछ ऐसे कूपमण्डूक दार्शनिक हैं, जो दर्शन तथा मानसिक चिन्तन द्वारा परमात्मा को जानना चाहते हैं। जब परमेश्वर को कुछ हद तक जानने वाले भक्तगण यह स्वीकार करते हैं कि भगवान् की महिमा अकल्पनीय अथवा अचिन्त्य है, तो कूपमण्डूक दार्शनिक उनकी निन्दा पूर्वक आलोचना करते हैं। ये दार्शनिक उस कूपमण्डूक की तरह हैं जिसने प्रशान्त महासागर को मापने का प्रयास किया था। वे आदिकवि ब्रह्मा जैसे भक्तों से उपदेश ग्रहण न करके निरर्थक मानसिक चिन्तन का कष्ट उठाना पसंद करते हैं। ब्रह्माजी ने एक हजार दैवी वर्षों तक कठिन ध्यान किया था; फिर भी उन्होंने कहा कि भगवान् की महिमा अचिन्त्य है। अत: ये कूपमण्डूक दार्शनिक अपने मानसिक चिन्तन से कौन सा लाभ पाने की आशा कर सकते हैं ?

ब्रह्म-संहिता में कहा गया है कि मानसिक चिन्तक चिन्तन के आकाश में मन या वायु के वेग से करोड़ों वर्षों तक क्यों न उड़ता रहे, फिर भी वह इसे अचिन्त्य पाएगा। किन्तु भक्तगण ब्रह्म के ज्ञान की व्यर्थ खोज में समय नहीं गँवाते, अपितु वे प्रामाणिक भक्तों से भगवान् की महिमा का विनीत भाव से श्रवण करते हैं। इस तरह वे श्रवण तथा कीर्तन की प्रक्रिया का दिव्य आनन्द उठाते हैं। भगवान् भक्तों या महात्माओं के भक्तिकार्यों का अनुमोदन करते हैं और कहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता: ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

सततं कार्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता: ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

(*भगवद्गीता* ९.१३-१४)

भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् की अंतरंगा शक्ति, पराप्रकृति की शरण ग्रहण करते हैं जिसे लक्ष्मीदेवी, सीतादेवी, श्रीमती राधारानी या श्रीमती रुक्मिणीदेवी कहा जाता है। इस तरह वे वास्तविक *महात्मा* बन जाते हैं। *महात्मा* मानसिक चिन्तन के शौकीन नहीं होते, किन्तु वे अविचल भाव से भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं। भक्ति का प्राकट्य भगवान् के कार्यकलापों के विषय में सुनने तथा कीर्तन करने की प्रारम्भिक विधि से होता है। *महात्माओं* द्वारा अपनायी गई इस दिव्य विधि से उन्हें भगवान् विषयक पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है, क्योंकि यदि भगवान् को किसी हद तक जाना जा

सकता है, तो वह भक्ति के साधन के द्वारा ही है, अन्य किसी विधि द्वारा नहीं। चिन्तन करते हुए कोई मनुष्य अपने पूरे जीवन का मूल्यवान समय व्यर्थ क्यों न बिता दे, किन्तु इससे भगवान् के धाम में प्रवेश पाने में कोई सहायता नहीं मिलती। किन्तु *महात्मागण* मानसिक चिन्तन द्वारा भगवान् को जानने में तनिक भी रुचि नहीं दिखाते, क्योंकि वे भगवान् द्वारा अपने भक्तों के साथ या असुरों के साथ दिव्य व्यवहारों के अन्तर्गत उनके महिमायुक्त कार्यकलापों के विषय में श्रवण करने में आनन्द लेते हैं। भक्त-गण इन दोनों में आनन्द पाते हैं और इस जीवन में तथा बाद के जीवन में सुखी रहते हैं।

अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी ।
यत्स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुतापरे ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अतः—इसलिए; भगवतः—ईश्वरीय; माया—शक्तियाँ; मायिनाम्—जादूगरों को; अपि—भी; मोहिनी—मोहने वाली; यत्—जो; स्वयम्—अपने से; च—भी; आत्म-वर्त्म—आत्म-निर्भर; आत्मा—आत्म; न—नहीं; वेद—जानता है; किम्—क्या; उत—विषय में कहना; अपरे—अन्यों के।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की आश्चर्यजनक शक्ति जादूगरों को भी मोहग्रस्त करने वाली है। यह निहित शक्ति आत्माराम भगवान् तक को अज्ञात है, अतः अन्यों के लिए यह निश्चय ही अज्ञात है।

तात्पर्य : भले ही कूपमण्डूक दार्शनिक तथा विज्ञान एवं गणितीय गणना के लौकिक बखेड़ेबाज पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की अचिन्त्य शक्ति में विश्वास न करें, किन्तु कभी-कभी वे मनुष्य तथा प्रकृति की अद्भुत जादूगरी से चकरा जाते हैं। लौकिक जगत के ऐसे जादूगर तथा बाजीगर भगवान् के दिव्य कार्यकलापों की जादूगरी से सचमुचही चकरा जाते हैं, किन्तु वे अपने मोह को यह कहकर समंजित करने का प्रयास करते हैं कि यह सब पौराणिक कल्पना है। किन्तु परम शक्तिमान पुरुष में कुछ भी असम्भव या पौराणिक नहीं है। लौकिक विवादप्रिय लोगों के लिए सबसे आश्चर्यजनक पहेली यह है कि एक ओर जहाँ वे परम पुरुष की असीम शक्ति की लम्बाई-चौड़ाई की गणना करने में लगे रहते हैं, वहीं उनके श्रद्धालु भक्तजन व्यवहार जगत में भगवान् की अद्भुत जादूगरी की प्रशंसा करने मात्र से भवबन्धन से मुक्त कर दिये जाते हैं। भगवद्भक्त खाते, सोते, काम करते—इन सभी परिस्थितियों में जिन-जिन वस्तुओं के सम्पर्क में आते हैं उनमें वे आश्चर्यमय कुशलता देखते हैं। वटवृक्ष के छोटे से

फल में हजारों छोटे-छोटे बीज होते हैं और प्रत्येक बीज में एक अन्य वृक्ष की शक्ति छिपी रहती है और इसमें भी कार्यकारण के रूप में लाखों ऐसे फलों की शक्ति निहित होती है। अत: वृक्ष तथा बीज भक्तों को भगवान् के कार्यकलापों के विषय में ध्यान करने में लगाते हैं जबकि लौकिक विवादप्रिय लोग अपना समय शुष्क चिन्तन तथा मनोरथ में व्यर्थ गँवाते हैं, जो इस जीवन में तथा अगले जीवन दोनों में ही निष्फल होता है। अपने चिन्तन से गर्वित वे कभी भी वटवृक्ष के सरल छिपे हुए कार्यकलापों की प्रशंसा नहीं करते। ऐसे बेचारे चिन्तकों के भाग्य में निरन्तर पदार्थ में फंसे रहना बदा है।

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह ।
अहं चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यतः—जिससे; **अप्राप्य**—माप न सकने के कारण; **न्यवर्तन्त**—प्रयास करना बन्द कर देते हैं; **वाचः**—शब्द; **च**—भी; **मनसा**—मन से; **सह**—सहित; **अहम् च**—अहंकार भी; **अन्ये**—अन्य; **इमे**—ये सभी; **देवाः**—देवतागण; **तस्मै**—उस; **भगवते**—भगवान् को; **नमः**—नमस्कार करते हैं।

अपने-अपने नियंत्रक देवों सहित शब्द, मन तथा अहंकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जानने में असफल रहे हैं। अतएव हमें विवेकपूर्वक उन्हें सादर नमस्कार करना होता है।

तात्पर्य : कूपमण्डूक आकलक यह आपत्ति उठा सकता है कि यदि भगवान् वाणी, मन तथा अहंकार के नियन्ता देवों द्वारा, जो कि क्रमशः वेद, ब्रह्मा, रुद्र तथा बृहस्पति इत्यादि देवता हैं, अज्ञेय हैं, तो फिर भक्तगण इस अज्ञात वस्तु में इतनी रुचि क्यों दिखाएँ? इसका उत्तर यह है कि भक्तों को भगवान् की लीलाओं को जानने में जो दिव्य आनन्द प्राप्त होता है, वह निश्चय ही अभक्तों तथा मानसिक चिन्तकों के लिए अज्ञात है। यदि कोई दिव्य आनन्द का आस्वाद नहीं कर लेता तब स्वाभाविक है कि वह अपने चिन्तन तथा मनगढ़ंत निष्कर्षों से वापस लौट आएगा, क्योंकि वह उन्हें न तो वास्तविक मानेगा न आनन्दवर्धक। भक्तगण कम से कम इतना तो जान सकते हैं कि परम सत्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु हैं, जैसी कि वैदिक स्तोत्रों में पुष्टि हुई हैं—*ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः*। *भगवद्गीता* (१५.१५) में भी इस तथ्य की पुष्टि हुई है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*। मनुष्य को वैदिक ज्ञान के अनुशीलन के द्वारा भगवान् कृष्ण को जानना चाहिए और व्यर्थ ही *अहम्*

अर्थात् ''मैं'' शब्द के विषय में चिन्तन नहीं करना चाहिए। परम सत्य को जानने की एकमात्र विधि भक्ति है जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत:*। केवल भक्ति द्वारा यह जाना जा सकता है कि परम सत्य भगवान् हैं और ब्रह्म तथा परमात्मा उनके अंश हैं। इसकी पुष्टि इस श्लोक में महर्षि मैत्रेय द्वारा की गई है। वे भक्तिभाव से भगवान् को (*भगवते*) सादर नमस्कार (नम:) करते हैं। मनुष्य को मैत्रेय तथा विदुर, महाराज परीक्षित एवं शुकदेव गोस्वामी जैसे महर्षियों तथा भक्तों के चरणचिह्नों का अनुगमन करना चाहिए और यदि वह उनके परम स्वरूप को जानना चाहता है, जो कि ब्रह्म तथा परमात्मा के ऊपर है, तो उसे भगवान् की दिव्य भक्तिमय सेवा में लग जाना है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''विश्वरूप की सृष्टि'' नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

विदुर द्वारा अन्य प्रश्न

श्रीशुक उवाच
एवं ब्रुवाणं मैत्रेयं द्वैपायनसुतो बुधः ।
प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; मैत्रेयम्—मैत्रेयमुनि से. मैत्रेय; द्वैपायन-सुतः—द्वैपायन का पुत्र; बुधः—विद्वान; प्रीणयन्—अच्छे लगने वाले ढंग से; इव—मानो; भारत्या—अनुरोध के रूप में; विदुरः—विदुर ने; प्रत्यभाषत—व्यक्त किया।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, जब महर्षि मैत्रेय इस प्रकार से बोल रहे थे तो द्वैपायन व्यास के विद्वान पुत्र विदुर ने यह प्रश्न पूछते हुए मधुर ढंग से एक अनुरोध व्यक्त किया।

विदुर उवाच
ब्रह्मन्कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः ।
लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; कथम्—कैसे; भगवतः—भगवान् का; चित्-मात्रस्य—पूर्ण आध्यात्मिक का; अविकारिणः—अपरिवर्तित का; लीलया—अपनी लीला से; च—अथवा; अपि—यद्यपि यह ऐसा है; युज्येरन्—घटित होती हैं; निर्गुणस्य—वह जो भौतिक गुणों से रहित है; गुणाः—प्रकृति के गुण; क्रियाः—कार्यकलाप।

श्री विदुर ने कहा : हे महान् ब्राह्मण, चूँकि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् संपूर्ण आध्यात्मिक समष्टि हैं और अविकारी हैं, तो फिर वे प्रकृति के भौतिक गुणों तथा उनके कार्यकलापों से किस तरह सम्बन्धित हैं? यदि यह उनकी लीला है, तो फिर अविकारी के कार्यकलाप किस तरह घटित होते हैं और प्रकृति के गुणों के बिना गुणों को किस तरह प्रदर्शित करते हैं?

तात्पर्य : जैसाकि पिछले अध्याय में वर्णन हो चुका है, परमात्मा अर्थात् परमेश्वर तथा जीवों में अन्तर यह है कि विराट जगत को उत्पन्न करने में भगवान् के कार्यकलाप उनकी विविध शक्तियों के द्वारा सम्पन्न होते हैं, किन्तु यह जगत जीवों को मोहग्रस्त करने वाला होता है। इसलिए भगवान् शक्तियों के स्वामी हैं, जबकि जीव उनके अधीन रहते हैं। विदुर दिव्य कार्यकलापों के विषय में विविध प्रश्न पूछकर इस भ्रान्त धारणा को स्पष्ट कर रहे हैं कि जब भगवान् पृथ्वी पर अपने अवतार के रूप में प्रकट होते हैं या अपनी समस्त शक्तियों समेत स्वयं प्रकट होते हैं, तो वे भी सामान्य जीव की तरह माया के द्वारा प्रभावित होते हैं। सामान्यतया यह उन अल्पज्ञ दार्शनिकों की धारणा है, जो भगवान्

तथा जीवों के पद को एक स्तर का मानते हैं। विदुर तो महर्षि मैत्रेय को इन तर्कों का खण्डन करते सुन रहे हैं। इस श्लोक में भगवान् को *चिन्मात्र* या पूर्णतया आध्यात्मिक बतलाया गया है। भगवान् में अनेक अद्‌भुत वस्तुओं को, चाहे वे नश्वर हों या स्थायी हों, उत्पन्न करने तथा प्रकट करने की असीम शक्तियाँ हैं। चूँकि यह भौतिक जगत उनकी बहिरंगा शक्ति की सृष्टि है, अतएव यह नश्वर प्रतीत होता है। यह विशेष अन्तरालों के बाद प्रकट होता है, कुछ काल तक स्थित रहता है और पुन: विलय होकर उनकी निजी शक्ति में संरक्षित हो जाता है। जैसाकि *भगवद्‌गीता* (८.१९) में वर्णन हुआ है—*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते*। किन्तु उनकी अन्तरंगा शक्ति की सृष्टि, आध्यात्मिक जगत, भौतिक जगत की तरह नश्वर न होकर नित्य है और दिव्य ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, सौन्दर्य तथा यश से पूर्ण है। भगवान् की शक्तियों की ऐसी अभिव्यक्तियाँ शाश्वत होती हैं और *निर्गुण* कहलाती हैं अर्थात् वे भौतिक प्रकृति के समस्त गुणों के प्रभाव से, यहाँ तक कि सतोगुण से भी मुक्त होती हैं। आध्यात्मिक जगत भौतिक सत्त्व से भी दिव्य है, अत: अपरिवर्तनीय है। चूँकि परमेश्वर ऐसे नित्य तथा अपरिवर्तनीय गुणों के भौतिक प्रभाव जैसी किसी भी वस्तु से कभी अधीन नहीं बनते अत: उनके कार्यकलाप तथा रूप का जीवों की तरह माया के अधीन होना किस तरह सोचा जा सकता है ?

एक जादूगर या बाजीगर अपने कार्यों तथा कलाओं से अनेक चमत्कार प्रदर्शित करता है। वह अपनी जादूगरी से गाय बन सकता है, फिर भी वह गाय नहीं होता, किन्तु साथ ही जादूगर द्वारा प्रदर्शित गाय उससे भिन्न नहीं है। इसी तरह भौतिक शक्ति भगवान् से भिन्न नहीं है, क्योंकि यह उन्हीं की उद्‌भास है, किन्तु उसी के साथ शक्ति की यह अभिव्यक्ति भगवान् नहीं है। भगवान् का दिव्य ज्ञान तथा शक्ति सदैव वैसे ही बने रहते हैं, वे बदलते नहीं, भले ही वे भौतिक जगत में प्रदर्शित हों। जैसाकि *भगवद्‌गीता* में कहा गया है, भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, अतएव भौतिक प्रकृति के गुणों द्वारा उनका कलुषित, परिवर्तित या अन्यथा प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा *सगुण* हैं, किन्तु साथ ही वे *निर्गुण* हैं, क्योंकि वे भौतिक शक्ति के सम्पर्क में नहीं रहते। कारागार के प्रतिबन्ध उन बन्दियों पर लागू होते हैं, जो राजा के कानून द्वारा दण्डित किए गये होते हैं, किन्तु राजा कभी भी कानून की ऐसी जटिलताओं द्वारा प्रभावित नहीं होता, भले ही वह अपनी सदिच्छा से कारागार का दौरा करे। *विष्णु पुराण* में भगवान् के षडैश्वर्यों

को उनसे अभिन्न बताया गया है। दिव्य ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, शक्ति, सौन्दर्य तथा त्याग—ये सारे ऐश्वर्य भगवान् से अभिन्न हैं। जब वे इस जगत में ऐसे ऐश्वर्यों का स्वयं प्रदर्शन करते हैं, तो भौतिक प्रकृति के गुणों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। *चिन्मात्रत्व* शब्द इसकी गारंटी है कि भगवान् के कार्यकलाप सदैव दिव्य होते हैं चाहे वे भौतिक जगत में ही प्रदर्शित क्यों न हों। उनके कार्यकलाप स्वयं उन पूर्ण पुरुषोत्तम के तुल्य हैं, अन्यथा शुकदेव गोस्वामी जैसे मुक्त भक्त उनके द्वारा आकृष्ट न होते। विदुर ने पूछा कि भगवान् के कार्यकलाप किस तरह भौतिक प्रकृति के गुणों वाले हो सकते हैं जैसाकि कभी-कभी अल्पज्ञों द्वारा गलत आकलन किया जाता है? भौतिक गुणों की नश्वरता भौतिक देह तथा आत्मा के मध्य अन्तर के कारण है। बद्ध आत्मा के कार्यकलाप भौतिक प्रकृति के गुणों के माध्यम से प्रदर्शित किये जाते हैं, अतएव वे देखने में विकृत प्रतीत होते हैं। किन्तु भगवान् का शरीर तथा स्वयं भगवान् एक हैं और जब भगवान् के कार्यकलाप प्रदर्शित किये जाते हैं, तो वे निश्चय ही, सभी प्रकार से भगवान् से अभिन्न होते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जो लोग भगवान् के कार्यकलापों को भौतिक मानते हैं, वे निश्चय ही भ्रमित हैं।

क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः ॥ ३॥

शब्दार्थ

क्रीडायाम्—खेलने के मामले में; उद्यमः—उत्साह; अर्भस्य—बालकों का; कामः—इच्छा; चिक्रीडिषा—खेलने के लिए इच्छा; अन्यतः—अन्य बालकों के साथ; स्वतः-तृप्तस्य—जो आत्मतुष्ट है उसके लिए; च—भी; कथम्—किस लिए; निवृत्तस्य—विरक्त; सदा—सदैव; अन्यतः—अन्यथा।

बालक अन्य बालकों के साथ या विविध क्रीड़ाओं में खेलने के लिए उत्सुक रहते हैं, क्योंकि वे इच्छा द्वारा प्रोत्साहित किये जाते हैं। किन्तु भगवान् में ऐसी इच्छा की कोई सम्भावना नहीं होती, क्योंकि वे आत्म-तुष्ट हैं और सदैव हर वस्तु से विरक्त रहते हैं।

तात्पर्य : चूँकि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अद्वय हैं, अतः इसकी सम्भावना नहीं है कि उनके अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व हो सकता हो। वे अपनी शक्तियों द्वारा स्वांशों तथा विभक्तांशों के विविध रूपों में अपना विस्तार करते हैं जिस तरह अग्नि उष्मा तथा प्रकाश द्वारा अपना विस्तार करती है। चूँकि स्वयं भगवान् के अतिरिक्त कोई अन्य अस्तित्व नहीं है, अतः किसी भी वस्तु के साथ

भगवान् का साहचर्य अपने ही साथ साहचर्य को प्रकट करता है। *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"विराट स्थिति की पूर्ण अभिव्यक्ति भगवान् के निर्गुण रूप का ही विस्तार है। सारी वस्तुएँ केवल उन्हीं में स्थित हैं, फिर भी वे उनमें नहीं हैं।" यह भगवान् की आसक्ति तथा विरक्ति का ऐश्वर्य है। वे हर वस्तु के प्रति आसक्त हैं फिर भी सबों से विरक्त हैं।

अस्राक्षीद्भगवान्विश्वं गुणमय्यात्ममायया ।
तया संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति ॥४॥

शब्दार्थ

अस्राक्षीत्—उत्पन्न कराया; भगवान्—भगवान् ने; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; गुण-मय्या—भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से समन्वित; आत्म—अपनी; मायया—शक्ति द्वारा; तया—उसके द्वारा; संस्थापयति—पालन करता है; एतत्—ये सब; भूयः—तब पुनः; प्रत्य्-अपिधास्यति—उल्टे विलय भी करता है।

भगवान् ने प्रकृति के तीन गुणों की स्वरक्षित शक्ति द्वारा इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि कराई। वे उसी के द्वारा सृष्टि का पालन करते हैं और उल्टे पुनः पुनः उसका विलय भी करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् द्वारा इस विराट ब्रह्माण्ड की रचना उन जीवों के लिए की जाती है, जो नकल द्वारा भगवान् से एकाकार होने के भ्रान्त विचार में बह जाते हैं। प्रकृति के तीनों गुण बद्धजीवों के मोह को और भी बढ़ाने वाले हैं। बद्धजीव माया द्वारा मोहित होकर अपनी दिव्य पहचान की विस्मृति के कारण अपने को भौतिक सृष्टि का एक अंश मानता है और इस तरह वह जन्म-जन्मांतर भौतिक कार्यों में बँध जाता है। यह भौतिक जगत स्वयं भगवान् के निमित्त नहीं है, अपितु यह उन बद्धात्माओं के लिए है, जो ईश्वर-प्रदत्त अल्प स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके नियंत्रक बनना चाहते हैं। इस तरह बद्धात्माओं की बारम्बार जन्म-मृत्यु होती रहती है।

देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः ।
अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताजया कथम् ॥५॥

शब्दार्थ

देशतः—परिस्थितिवश; कालतः—काल के प्रभाव से; यः—जो; असौ—जीव; अवस्थातः—स्थिति से; स्वतः—स्वप्न से; अन्यतः—अन्यों द्वारा; अविलुप्त—लुप्त; अवबोध—चेतना; आत्मा—शुद्ध आत्मा; सः—वह; युज्येत—संलग्न; अजया—अज्ञान द्वारा; कथम्—यह ऐसा किस तरह है।

शुद्ध आत्मा विशुद्ध चेतना है और वह परिस्थितियों, काल, स्थितियों, स्वप्नों अथवा अन्य कारणों से कभी भी चेतना से बाहर नहीं होता। तो फिर वह अविद्या में लिप्त क्यों होता है?

तात्पर्य : सजीव प्राणी में चेतना सदैव विद्यमान रहती है और जैसाकि ऊपर कहा गया है किसी भी परिस्थिति में परिवर्तित नहीं होती। जब कोई जीवित व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है, तो वह सचेत रहता है कि उसने अपनी स्थिति बदल दी है। वह सदैव बिजली की तरह भूत, वर्तमान तथा भविष्य में विद्यमान रहता है। वह अपने भूतकाल की घटनाएँ स्मरण रख सकता है और विगत अनुभव के आधार पर अपने भविष्य के विषय में भी अनुमान लगा सकता है। वह कभी भी अपनी व्यक्तिगत पहचान नहीं भूलता, चाहे वह विकट परिस्थितियों में क्यों न फँसा हो। तो फिर जीव शुद्ध आत्मा के रूप में अपनी असली पहचान को भुला कर पदार्थ के साथ अपनी पहचान कैसे कर सकता है जब तक वह अपने से परे किसी वस्तु द्वारा प्रभावित न हो? निष्कर्ष यह है कि जीव अविद्या शक्ति द्वारा प्रभावित होता है जैसी कि *विष्णु पुराण* में और *श्रीमद्भागवत* के आरम्भ में इस की पुष्टि की गई है। *भगवद्गीता* (७.५) में जीव को *परा प्रकृति* कहा गया है और *विष्णु पुराण* में जीव का उल्लेख *परा शक्ति* के रूप में हुआ है। वह शक्ति के रूप में भगवान् का अंश है, किन्तु शक्ति-मान के रूप में नहीं। शक्ति-मान अनेक शक्तियाँ प्रदर्शित कर सकता है, किन्तु शक्ति किसी भी अवस्था में शक्तिमान की समता नहीं कर सकती। एक शक्ति दूसरी शक्ति द्वारा पराभूत हो सकती है, किन्तु शक्तिमान के लिए सारी ही शक्तियाँ वश में होती हैं। *जीवशक्ति* या भगवान् की *क्षेत्रज्ञ शक्ति* में बहिरंगा शक्ति अर्थात् *अविद्या-कर्म संज्ञा* द्वारा पराभूत होने की प्रवृत्ति रहती है और इस प्रकार वह भौतिक जगत की विषम परिस्थितियों में रखा जाता है। जीव अपनी असली पहचान को तब तक भुला नहीं सकता जब तक वह *अविद्या* शक्तिद्वारा प्रभावित न हो। चूँकि जीव में अविद्या शक्ति के प्रभाव की ओर झुकाव रहता है, अतएव वह कभी भी परम शक्तिमान के तुल्य नहीं हो सकता।

भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः ।
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; एकः—एकमात्र; एव एषः—ये सभी; सर्व—समस्त; क्षेत्रेषु—जीवों में; अवस्थितः—स्थित; अमुष्य—जीवों का; दुर्भगत्वम्—दुर्भाग्य; वा—या; क्लेशः—कष्ट; वा—अथवा; कर्मभिः—कार्यों द्वारा; कुतः—किसलिए।

भगवान् परमात्मा के रूप में हर जीव के हृदय में स्थित रहते हैं। तो फिर जीवों के कर्मों से दुर्भाग्य तथा कष्ट क्यों प्रतिफलित होते हैं?

तात्पर्य : विदुर ने मैत्रेय से जो अगला प्रश्न पूछा, वह है—जीवों के हृदयों में परमात्मा रूप में भगवान् की उपस्थिति के बावजूद उन्हें इतने कष्ट तथा दुर्भाग्य क्यों झेलने पड़ते हैं? शरीर को फलवान वृक्ष माना जाता है और जीव तथा परमात्मा रूप में भगवान् उसमें बैठे दो पक्षियों के तुल्य हैं। व्यष्टि आत्मा उस वृक्ष का फल खा रहा है, किन्तु परमात्मा रूप भगवान् दूसरे पक्षी के कार्यों का साक्षी बना रहता है। राज्य का कोई नागरिक राज्य अधिकारी के पर्याप्त निरीक्षण के अभाव में कष्ट में रह सकता है, किन्तु यह कैसे सम्भव है कि राज्य के मुखिया के स्वयं उपस्थित रहने पर एक नागरिक अन्य नागरिकों द्वारा पीड़ित हो? दूसरी दृष्टि से यह समझा जाता है कि जीव गुणात्मक दृष्टि से भगवान् से एक है, अतएव जीवन की शुद्ध अवस्था में विशेष रूप से भगवान् की उपस्थिति में उसका ज्ञान अविद्या द्वारा प्रच्छन्न नहीं हो सकता। तो फिर जीव किस तरह अज्ञान के वशीभूत होता है और माया के प्रभाव से प्रच्छन्न हो जाता है? भगवान् हर जीव के पिता तथा रक्षक हैं और वे *भूत-भृत* अर्थात् जीवों के पालक कहलाते हैं। तो फिर जीवों को इतने कष्ट तथा दुर्भाग्य क्यों भोगने पड़ते हैं? ऐसा होना नहीं चाहिए, किन्तु वास्तव में हम देखते हैं कि सर्वत्र यही होता है। अतः विदुर ने इस प्रश्न का समाधान चाहा।

एतस्मिन्मे मनो विद्वन्खिद्यतेऽज्ञानसङ्कटे ।
तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

एतस्मिन्—इसमें; मे—मेरा; मनः—मन; विद्वन्—हे विद्वान; खिद्यते—कष्ट दे रहा है; अज्ञान—अविद्या; सङ्कटे—संकट में; तत्—इसलिए; नः—मेरा; पराणुद—स्पष्ट कीजिये; विभो—हे महान्; कश्मलम्—मोह; मानसम्—मन विषयक; महत्—महान्।

हे महान् एवं विद्वान पुरुष, मेरा मन इस अज्ञान के संकट द्वारा अत्यधिक मोहग्रस्त है, इसलिए मैं आप से प्रार्थना करता हूँ कि आप इसको स्पष्ट करें।

तात्पर्य : ऐसा मानसिक मोह, जैसाकि यहाँ पर विदुर द्वारा प्रस्तुत किया गया है, कुछ जीवों के

साथ घटित होता है, किन्तु हर एक के साथ नहीं, क्योंकि यदि हर व्यक्ति मोहित होता तो उच्चतर पुरुषों द्वारा उसके समाधान की कोई सम्भावना न रहती।

श्रीशुक उवाच
स इत्थं चोदितः क्षत्रा तत्त्वजिज्ञासुना मुनिः ।
प्रत्याह भगवच्चित्तः स्मयन्निव गतस्मयः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह (मैत्रेय मुनि); इत्थम्—इस प्रकार; चोदितः—विक्षुब्ध किये जाने पर; क्षत्रा—विदुर द्वारा; तत्त्व-जिज्ञासुना—सत्य जानने के लिए पूछताछ करने के इच्छुक व्यक्ति द्वारा, जिज्ञासु द्वारा; मुनिः—मुनि ने; प्रत्याह—उत्तर दिया; भगवत्-चित्तः—ईशभावनाभावित; स्मयन्—आश्चर्य करते हुए; इव—मानो; गत-स्मयः—हिचक के बिना।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, इस तरह जिज्ञासु विदुर द्वारा विक्षुब्ध किये गये मैत्रेय सर्वप्रथम आश्चर्यचकित प्रतीत हुए, किन्तु इसके बाद उन्होंने बिना किसी हिचक के उन्हें उत्तर दिया, क्योंकि वे पूर्णरूपेण ईशभावनाभावित थे।

तात्पर्य : चूँकि महा-मुनि मैत्रेय ईशभावनाभावित थे, अतएव विदुर द्वारा पूछे गये ऐसे परस्पर विरोधी प्रश्नों से उनके आश्चर्यचकित होने का कोई कारण न था। इसीलिए भक्त रूप में ऊपर से आश्चर्य व्यक्त करते हुए भी मानो वे यह न जानते हों कि इन प्रश्नों का कैसे उत्तर दिया जाय वे तुरन्त पूर्णतया स्थिरचित्त हो गये और उचित रीति से विदुर को उत्तर देने लगे। *यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति*। जो भी व्यक्ति भगवद्भक्त होता है, वह कुछ हद तक भगवान् के विषय में जानता है और भगवद्भक्ति उसे भगवत्कृपा से हर बात को समझने में समर्थ बनाती है। यद्यपि भक्त ऊपर से अपने को अज्ञानी व्यक्त करता है, किन्तु वह प्रत्येक जटिल विषय का पूर्ण ज्ञान रखता है।

मैत्रेय उवाच
सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते ।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सा इयम्—ऐसा कथन; भगवतः—भगवान् की; माया—माया; यत्—जो; नयेन—तर्क द्वारा; विरुध्यते—विरोधी बन जाता है; ईश्वरस्य—भगवान् का; विमुक्तस्य—नित्य मुक्त का; कार्पण्यम्—अपर्याप्तता; उत—क्या कहा जाय, जैसा भी; बन्धनम्—बन्धन।

श्री मैत्रेय ने कहा : कुछ बद्धजीव यह सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि परब्रह्म या भगवान् को

माया द्वारा जीता जा सकता है, किन्तु साथ ही उनका यह भी मानना है कि वे अबद्ध हैं। यह समस्त तर्क के विपरित है।

तात्पर्य : कभी-कभी ऐसा लगता है कि भगवान् जो कि शत-प्रतिशत आध्यात्मिक हैं, उस मायाशक्ति के कारणस्वरूप नहीं हो सकते जो व्यष्टि आत्मा के ज्ञान को प्रच्छन्न कर देती है। किन्तु वास्तव में इसमें कोई सन्देह नहीं कि माया या बहिरंगा शक्ति भी भगवान् का अंश है। जब व्यासदेव ने भगवान् का साक्षात्कार किया, तो उन्होंने भगवान् को अपनी बहिरंगा शक्ति के साथ देखा जो व्यष्टि जीवों के शुद्ध ज्ञान को आवृत करती है। बहिरंगा शक्ति इस तरह क्यों कर्म करती है ? इस पर निम्नवत् विचार किया जा सकता है, जैसाकि विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर तथा श्रील जीव गोस्वामी जैसे महान् टीकाकारों ने विश्लेषण किया है। यद्यपि भौतिक माया शक्ति आध्यात्मिक शक्ति से पृथक् होती है तथापि यह भगवान् की अनेक शक्तियों में से एक है और इस तरह प्रकृति के भौतिक गुण निश्चय ही, भगवान् के ही गुण हैं। शक्ति तथा शक्तिमान भगवान् पृथक्-पृथक् नहीं हैं। यद्यपि ऐसी शक्ति भगवान् के साथ एकाकार रहती है, किन्तु वे इससे कभी भी वशीभूत नहीं होते। यद्यपि सारे जीव भी भगवान् के विभिन्नांश हैं, किन्तु वे भौतिक शक्ति द्वारा पराजित हो जाते हैं। भगवान् का अचिन्त्य *योगमैश्वरम्,* जिसका वर्णन *भगवद्गीता* (९.५) में हुआ है कूपमंडूक दार्शनिकों द्वारा ठीक से नहीं समझा जाता। वे इस सिद्धान्त के समर्थन में कि नारायण (स्वयं भगवान्) *दरिद्रनारायण* बनते हैं, यह प्रस्ताव रखते हैं कि भौतिक शक्ति परमेश्वर को पराजित करती है। किन्तु श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इसकी व्याख्या में एक अति सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि यद्यपि सूर्य सर्वतः प्रकाश देता है, किन्तु बादल, अँधेरा तथा हिमपात ये सभी सूर्य के विभिन्नांश हैं। सूर्य के बिना बादलों या अंधकार से आकाश के आच्छादित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती, न ही पृथ्वी पर हिमपात हो सकता है। यद्यपि सूर्य द्वारा जीवन का पालन होता है, किन्तु सूर्य द्वारा उत्पन्न अंधकार तथा हिमपात से जीवन विचलित भी होता है। किन्तु यह भी तथ्य है कि सूर्य स्वयं कभी भी अंधकार, बादल या हिमपात से पराजित नहीं होता। सूर्य ऐसे उपद्रवों से बहुत दूर रहता है। जो अल्पज्ञानी हैं, वे ही कहते हैं कि सूर्य बादल से या अंधकार से ढक जाता है। इसी तरह परब्रह्म भगवान् सदैव भौतिक शक्ति के प्रभाव से अप्रभावित रहते हैं यद्यपि यह उनकी शक्तियों में से एक है। (*परास्य शक्तिर्विविधैव*

श्रूयते)

अत: माया द्वारा परब्रह्म के पराजित होने पर बल देने का कोई कारण नहीं है। बादल, अंधकार तथा हिमपात सूर्य की किरणों के एक नगण्य अंश को ही ढक सकते हैं। इसी तरह प्रकृति के गुण किरणों के सदृश जीवों पर प्रतिक्रिया कर सकते हैं। यह जीव का दुर्भाग्य है, जो अकारण नहीं है, कि भौतिक शक्ति उसकी शुद्ध चेतना तथा नित्य आनन्द पर प्रभाव डालती है। शुद्ध चेतना तथा नित्य आनन्द का इस तरह प्रच्छन्न होना *अविद्याकर्मसंज्ञा* के कारण है—वह शक्ति जो उन सूक्ष्म जीवों पर प्रभाव डालती है, जो अपनी अल्प स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते हैं। *विष्णुपुराण, भगवद्गीता* तथा अन्य समस्त वैदिक ग्रन्थों के अनुसार सारे जीव भगवान् की तटस्था शक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं और इस तरह वे सभी सदैव भगवान् की शक्ति होते हैं, शक्तिमान नहीं। सारे जीव सूर्य की किरणों के समान हैं। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, यद्यपि सूर्य तथा उसकी किरणों में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है, किन्तु कभी-कभी सूर्य की किरणें सूर्य की अन्य शक्ति, जिसका नाम बादल या हिमपात है, द्वारा पराजित हो जाती हैं। इसी तरह यद्यपि जीव गुणात्मक रूप से भगवान् की पराशक्ति के साथ एक हैं, किन्तु उनमें कनिष्ठा भौतिक शक्ति द्वारा पराजित होने की प्रवृत्ति होती है। वैदिक स्तोत्रों में कहा गया है कि सारे जीव अग्नि के स्फुलिंगों जैसे हैं। अग्नि के स्फुलिंग भी अग्नि होते हैं, किन्तु स्फुलिंगों की ज्वलन शक्ति मूल अग्नि से भिन्न होती है। जब स्फुलिंग मूल अग्नि से सम्पर्क तोड़ कर बाहर उड़ जाते हैं, तो वे अग्निविहीन वायुमण्डल से प्रभावित होते हैं। इस तरह वे स्फुलिंग के रूप में अग्नि के साथ अपनी शक्ति बनाये रखते हैं, किन्तु मूल अग्नि के रूप में नहीं। ये स्फुलिंग मूल अग्नि के भीतर शाश्वत रीति से उसके भिन्नांश के रूप में रह सकते हैं, किन्तु जिस क्षण ये स्फुलिंग मूल अग्नि से पृथक् हो जाते हैं तभी उनके दुर्भाग्य तथा कष्ट प्रारम्भ होते हैं। स्पष्ट निष्कर्ष यह निकला कि भगवान्, जो कि मूल अग्नि हैं, कभी पराजित नहीं होते, किन्तु अग्नि के सूक्ष्म स्फुलिंग माया के मोहक प्रभाव द्वारा पराजित हो सकते हैं। यह कहना अत्यन्त हास्यास्पद तर्क है कि भगवान् अपनी ही भौतिक शक्ति द्वारा पराजित होते हैं। भगवान् भौतिक शक्ति के स्वामी हैं, किन्तु जीव बद्ध अवस्था में भौतिक शक्ति द्वारा नियंत्रित होते हैं। यह *भगवद्गीता* का कथन है। वे कूपमण्डूक दार्शनिक जो यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि भगवान् सतोगुण द्वारा पराजित हो जाते हैं, वे स्वयं ही उसी भौतिक शक्ति द्वारा विमोहित रहते हैं,

यद्यपि वे अपने आपको मुक्तात्माएँ मानते हैं। वे अपने तर्कों के समर्थन में मिथ्या तथा श्रमसाध्य वाग्जाल प्रस्तुत करते हैं, जो कि भगवान् की उसी मोहनी शक्ति का उपहार है। किन्तु बेचारे कूपमण्डूक दार्शनिक ज्ञान के मिथ्या विचार के कारण इस स्थिति को समझ नहीं सकते।

श्रीमद्भागवत (६.९.३४) में कहा गया है—

दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यद् अशरणोऽशरीर

इदम्अन्वेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणम्

अगुण: सृजसि पासि हरसि

इस तरह देवताओं ने भगवान् से प्रार्थना की कि यद्यपि उनके कार्यकलापों को समझ पाना अतीव कठिन है, किन्तु जो लोग भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निष्ठापूर्वक लगे हुए हैं, वे उन्हें कुछ-कुछ समझ सकते हैं। देवताओं ने स्वीकार किया कि यद्यपि भगवान् भौतिक प्रभाव या सृष्टि से पृथक् हैं, तो भी वे देवताओं के माध्यम से पूर्ण विराट जगत का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं।

यदर्थेन विनामुष्य पुंस आत्मविपर्ययः ।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यत्—इस प्रकार; अर्थेन—अभिप्राय या अर्थ; विना—बिना; अमुष्य—ऐसे; पुंसः—जीव का; आत्म-विपर्ययः—आत्म-पहचान के विषय में विभ्रमित; प्रतीयते—ऐसा लगता है; उपद्रष्टुः—उथले द्रष्टा का; स्व-शिरः—अपना सिर; छेदन-आदिकः—काट लेना।.

जीव अपनी आत्म-पहचान के विषय में संकट में रहता है। उसके पास वास्तविक पृष्ठभूमि नहीं होती, ठीक उसी तरह जैसे स्वप्न देखने वाला व्यक्ति यह देखे कि उसका सिर काट लिया गया है।

तात्पर्य : एक बार पाठशाला में एक शिक्षक ने अपने शिष्य को धमकाया कि वह उसका सिर काट कर दीवाल पर टाँग देगा जिससे बालक यह देख सके कि उसका सिर किस तरह काट लिया गया है। वह बालक डर गया और उसने शैतानी करनी बन्द कर दी। इसी तरह शुद्ध आत्मा के कष्ट तथा उसकी आत्म-पहचान का व्यवधान भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा ही नियंत्रित होते हैं। यह शक्ति उन शैतान जीवों को नियंत्रित करती है, जो भगवान् की इच्छा के विरुद्ध जाना चाहते हैं। वस्तुत: जीव के

लिए न तो कोई बन्धन है, न कष्ट, न ही वह कभी अपनी शुद्ध चेतना गँवाता है। अपनी शुद्ध चेतना में जब भी वह अपनी स्थिति के विषय में कुछ गम्भीरता से सोचता है, तो उसकी समझ में आ सकता है कि वह सदैव परमेश्वर की कृपा पर आश्रित है और परमेश्वर से एकाकार होने का उसका प्रयास मिथ्या मोह है। जीव जन्म–जन्मांतर में भौतिक प्रकृति पर मिथ्या ही प्रभुत्व जताने का और भौतिक जगत का प्रभु बनने का प्रयास करता है। उसे कोई ठोस फल हाथ नहीं लगता। अन्त में जब वह हताश हो जाता है, तो वह अपने भौतिक कार्यकलापों को त्याग देता है और भगवान् से एकाकार होने का तथा वाग्जाल द्वारा चिन्तन करने का प्रयास करता है, किन्तु इसमें भी उसे सफलता नहीं मिलती।

ये सारे कार्य माया–शक्ति के आदेशानुसार सम्पन्न किये जाते हैं। इस अनुभव की तुलना स्वप्न में किसी मनुष्य द्वारा अपना सिर काटे जाने के अनुभव से की गई है। जिस व्यक्ति का सिर काटा जाता है, वह भी देखता है कि उसका सिर काट लिया गया है। यदि किसी मनुष्य का सिर काट लिया जाय तो वह देखने की शक्ति खो देता है। अतएव यदि कोई मनुष्य यह देखता है कि उसका सिर काट लिया गया तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसने उसी तरह सोचा है जैसाकि व्यामोह में। इसी तरह शाश्वत रूप से जीव परमेश्वर के अधीन होता है और यह ज्ञान उसके पास रहता है, किन्तु वह कृत्रिम रुप से सोचता है कि वह स्वयं ईश्वर है और यद्यपि वह ईश्वर है, तथापि माया के कारण वह अपना ज्ञान खो चुका है। इस विचारधारा का कोई अर्थ नहीं है, जिस तरह अपने सिर को कटता हुआ देखने का कोई अर्थ नहीं हैं। यही प्रक्रिया है, जिस से ज्ञान ढका रहता है। चूँकि जीव की यह कृत्रिम विद्रोही दशा उसे सारे कष्ट प्रदान करती है, अत: यह समझना चाहिए कि उसे भगवद्भक्त के रूप में अपना सामान्य जीवन ग्रहण करना है और ईश्वर होने की भ्रान्त धारणा से मुक्त होना है। अपने को ईश्वर सोचने की तथाकथित मुक्ति *अविद्या* का अन्तिम प्रतिफल है, जिससे जीव पाश में बँधता है। निष्कर्ष यह है कि भगवान् की नित्य दिव्य सेवा से वंचित जीव कई प्रकार से मोहग्रस्त होता है। अपने बद्धजीवन तक में वह भगवान् का नित्य दास रहता है। मोहिनी माया के पाश के अन्तर्गत उसकी दासता भी उसकी नित्य सेवा–दशा की अभिव्यक्ति है। चूँकि उसने भगवान् की सेवा के विरुद्ध विद्रोह किया है, इसीलिए उसे माया की सेवा में रखा जाता है। वह तब भी सेवा करता है, किन्तु विकृत रीति से। जब वह भौतिक बन्धन के अन्तर्गत सेवा से बाहर होना चाहता है, तो उसके बाद वह भगवान् से एकाकार होना चाहता है। यह

दूसरा मोह है। इसलिए सबसे अच्छा मार्ग भगवान् की शरण ग्रहण करना है और इस तरह हमेशा के लिए माया से छुटकारा पाना है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१४) में हुई है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतांतरन्ति ते॥

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः ।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; जले—जल में; चन्द्रमसः—चन्द्रमा का; कम्प-आदिः—कम्पन इत्यादि.; तत्-कृतः—जल द्वारा किया गया; गुणः—गुण; दृश्यते—इस तरह दिखता है; असन् अपि—बिना अस्तित्व के; द्रष्टुः—द्रष्टा का; आत्मनः—आत्मा का; अनात्मनः—आत्मा के अतिरिक्त अन्य का; गुणः—गुण।.

जिस तरह जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा जल के गुण से सम्बद्ध होने के कारण देखने वाले को हिलता हुआ प्रतीत होता है उसी तरह पदार्थ से सम्बद्ध आत्मा पदार्थ के ही समान प्रतीत होता है।

तात्पर्य : परमात्मा या भगवान् की तुलना आकाश में चन्द्रमा से की गई है और जीवों की तुलना जल में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब से की गई है चन्द्रमा आकाश में स्थिर है और वह जल में दिखने वाले चन्द्रमा की तरह हिलता-डुलता नहीं। वस्तुतः आकाश में मूल चन्द्रमा की तरह जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को काँपना या हिलना नहीं चाहिए, किन्तु जल से सम्बद्ध होने से प्रतिबिम्ब हिलता हुआ प्रतीत होता है, यद्यपि वास्तव में चन्द्रमा स्थिर है। जल चलता है, किन्तु चन्द्रमा नहीं चलता। इसी तरह सारे जीव मोह, शोक तथा कष्ट जैसे भौतिक गुणों से कलुषित प्रतीत होते हैं, यद्यपि शुद्ध आत्मा में ऐसे गुण सर्वथा अनुपस्थित होते हैं। प्रतीयते शब्द यहाँ पर महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ''ऊपर से'' तथा ''वास्तविक रूप में नहीं'' (स्वप्न में अपना सिर कटने के अनुभव की तरह) जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब चन्द्रमा की वियुक्त किरणें होती हैं, वास्तविक चन्द्रमा नहीं। भगवान् के वियुक्त भिन्नांश भौतिक जगत रूपी जल में उलझ कर चलायमान गुण वाले होते हैं, जबकि भगवान् आकाश में स्थित चन्द्रमा के तुल्य है, जो जल से किसी प्रकार भी स्पर्श में नहीं आता है। सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश पदार्थ से परावर्तित होकर उसे चमकीला तथा प्रशंसा के योग्य बनाता है। जीवित लक्षणों की तुलना

वृक्षों तथा पर्वतों जैसे भौतिक रूपों को प्रकाशित करने वाले सूर्य तथा चन्द्रमा के प्रकाश से की जाती है। सूर्य या चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को अल्पज्ञानी असली सूर्य या चन्द्रमा मान बैठता है और शुद्ध अद्वैत दर्शन इन्हीं विचारों से उपजता है। वस्तुत: सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश स्वयं सूर्य तथा चन्द्रमा से भिन्न है, यद्यपि उनमें सदा सम्बन्ध बना रहता है। आकाश भर में फैली हुई चाँदनी निर्विशेष प्रतीत होती है, किन्तु चन्द्रलोक, जिस रूप में वह है, साकार है और चन्द्रलोक में रहने वाले जीव भी साकार हैं। चन्द्रमा की किरणों में विभिन्न भौतिक वस्तुएँ कम या अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हैं। ताजमहल पर चन्द्रमा का प्रकाश (चाँदनी) निर्जन स्थान में उसी प्रकाश की अपेक्षा अधिक सुन्दर लगता है। यद्यपि चन्द्रमा का प्रकाश सर्वत्र वही रहता है, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार से निखरने से वह भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। इसी तरह भगवान् का प्रकाश सर्वत्र एकसमान वितरित है, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार से ग्रहण किये जाने के कारण वह भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। इसलिए जल पर चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को वास्तविक नहीं मानना चाहिए और सम्पूर्ण स्थिति को अद्वैतवाद दर्शन के माध्यम से समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। चन्द्रमा का हिलने-डुलने (कम्पन) का गुण भी परिवर्तनशील है। जब जल स्थिर रहता है, तो कम्पन भी नहीं होता। अधिक स्थिर बद्ध आत्मा में कम कम्पन होता है, किन्तु भौतिक सम्बन्ध होने से यह कम्पन का गुण न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र विद्यमान रहता है।

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया ।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ॥ १२॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—भी; निवृत्ति—विरक्ति; धर्मेण—संलग्न रहने से; वासुदेव—भगवान् की; अनुकम्पया—कृपा से; भगवत्—भगवान् के सम्बन्ध में; भक्ति-योगेन—जुड़ने से; तिरोधत्ते—कम होती है; शनैः—क्रमशः; इह—इस संसार में।.

किन्तु आत्म-पहचान की उस भ्रान्ति को भगवान् वासुदेव की कृपा से विरक्त भाव से भगवान् की भक्तिमय सेवा की विधि के माध्यम से धीरे-धीरे कम किया जा सकता है।

तात्पर्य : संसार का कम्पन गुण जो पदार्थ के साथ अपनी पहचान करने या दार्शनिक चिन्तन के भौतिक प्रभाव में आकर अपने को ईश्वर समझने के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, उसे भगवान् वासुदेव की कृपा से भगवद्भक्ति द्वारा समूल नष्ट किया जा सकता है। जैसी कि प्रथम स्कन्ध में व्याख्या की गई है, चूँकि भगवान् वासुदेव की भक्ति करने से शुद्ध ज्ञान को बुलावा दिया जाता है, अत: यह मनुष्य को

देहात्मबुद्धि से तुरन्त विलग करके सामान्य आध्यात्मिक स्थिति में, इसी जीवन में भी, ला देती है और मनुष्य को उन भौतिक हवाओं से मुक्त कर देती है, जो उसे कँपाती है। भक्ति का ज्ञान ही मनुष्य को मुक्ति के मार्ग तक ऊपर उठाता है। भक्ति किये बिना हर वस्तु को जानने के उद्देश्य से ज्ञान का विकास निष्फल प्रयास माना जाता है और मनुष्य को ऐसे प्रेम रूपी श्रम से वांछित फल नहीं मिल सकता। भगवान् वासुदेव एकमात्र भक्तिमय सेवा से प्रसन्न होते है और इस प्रकार उनकी कृपा की अनुभूति भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति से ही सम्भव है। भगवान् के शुद्ध भक्त उन समस्त भौतिक इच्छाओं से परे हैं, जिनमें सकाम कर्म तथा दार्शनिक चिन्तन के फल सम्मिलित हैं। यदि कोई व्यक्ति भगवान् की कृपा प्राप्त करना चाहता है, तो उसे शुद्ध भक्तों की संगति करनी होती है। ऐसी संगति ही मनुष्य को क्रमशः भ्रमित करने वाले तत्त्वों से छुटकारा दिला सकती है।

यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्ट्रात्मनि परे हरौ ।
विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; उपरामः—तृप्त; अथ—इस प्रकार; द्रष्टृ-आत्मनि—द्रष्टा या परमात्मा के प्रति; परे—अध्यात्म में; हरौ—भगवान् में; विलीयन्ते—लीन हो जाती है; तदा—उस समय; क्लेशाः—कष्ट; संसुप्तस्य—गहरी नींद का भोग कर चुका व्यक्ति; इव—सदृश; कृत्स्नशः—पूर्णतया।

जब इन्द्रियाँ द्रष्टा-परमात्मा अर्थात् भगवान् में तुष्ट हो जाती है और उनमें विलीन हो जाती है, तो सारे कष्ट उसी तरह पूर्णतया दूर हो जाते हैं जिस तरह ये गहरी नींद के बाद दूर हो जाते हैं।

तात्पर्य : जीव का कम्पन (चंचलता), जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है, इन्द्रियों के कारण होता है। चूँकि सम्पूर्ण भौतिक जगत इन्द्रिय-तृप्ति के निमित्त है, अतः इन्द्रियाँ ही भौतिक कर्मों की माध्यम होती हैं और वे निश्चल आत्मा में कम्पन उत्पन्न करती हैं। अतएव इन इन्द्रियों को ऐसे समस्त भौतिक कार्यों से विरक्त करना होगा। निर्विशेषवादियों के अनुसार आत्मा को परमात्मा ब्रह्म में लीन करके इन्द्रियों को कार्य करने से रोका जाता है। किन्तु भक्तगण भौतिक इन्द्रियों को कार्य करने से रोकते नहीं, अपितु वे अपनी दिव्य इन्द्रियों को ब्रह्म या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सेवा में लगाते हैं। दोनों ही दशाओं में ज्ञान के अनुशीलन द्वारा भौतिक क्षेत्र में इन्द्रियों के कार्यों को रोकना चाहिए और, सम्भव हो, तो उन्हें भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए। इन्द्रियों का स्वभाव दिव्य है, किन्तु पदार्थ द्वारा

कलुषित होने पर उनके कार्य दूषित हो जाते हैं। हमें इन्द्रियों को भवरोग से छुटकारा दिलाने के लिए उनका उपचार करना पड़ता है, उन्हें कार्य करने से रोकना नहीं होता जैसाकि निर्विशेषवादियों का सुझाव है। *भगवद्गीता* (२.५९) में कहा गया है कि मनुष्य तभी सारा भौतिक कार्य बन्द करता है जब वह किसी श्रेष्ठतर कार्य में लगने से तुष्ट हो जाता है। चेतना स्वभावत: सक्रिय होती है और काम करने से उसे रोका नहीं जा सकता। उत्पाती बालक को कृत्रिम ढंग से रोकना वास्तविक उपचार नहीं है। उस बालक को किसी श्रेष्ठतर कार्य में लगाना चाहिए जिससे वह स्वत: उपद्रव करना बन्द कर दे। उसी तरह इन्द्रियों की उपद्रवी गतिविधियों को उन्हें भगवान् से सम्बन्धित अच्छे कार्य में प्रवृत्त करके ही रोका जा सकता है। जब आँख भगवान् के सुन्दर रूप को देखने, जीभ प्रसाद का आस्वाद करने, कान उनकी महिमा को सुनने, हाथ भगवान् का मन्दिर बुहारने, पाँव उनके मन्दिरों तक जाने में व्यस्त रहेंगे अर्थात् जब सारी इन्द्रियाँ विविध दिव्य कर्मों में लगी रहेंगी तभी दिव्य इन्द्रियाँ तृप्त हो सकेंगी और भौतिक कार्य से शाश्वत रूप से मुक्त हो जाएँगी। परमात्मा रूप में हर एक के हृदय के भीतर वास करने वाले या भौतिक सृष्टि से परे दिव्य जगत में स्थित रहने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही हमारे सारे कार्यों के द्रष्टा हैं। हमारे कार्यों को इस तरह से संतृप्त होना चाहिए कि भगवान् हम पर कृपादृष्टि डालें और हमें अपनी दिव्य सेवा में लगा लें। तभी इन्द्रियाँ पूर्णतया तुष्ट हो सकती हैं और भौतिक आकर्षण द्वारा फिर कभी सतायी नहीं जाएँगी।

अशेषसङ्क्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः ।
किं वा पुनस्तच्चरणारविन्दपरागसेवारतिरात्मलब्धा ॥ १४॥

शब्दार्थ

अशेष—असीम; सङ्क्लेश—कष्टमय स्थिति; शमम्—शमन; विधत्ते—सम्पन्न कर सकता है; गुण-अनुवाद—दिव्य नाम, रूप, गुण, लीला, पार्षद तथा साज-सामग्री इत्यादि का.; श्रवणम्—सुनना तथा कीर्तन करना; मुरारेः—मुरारी (श्रीकृष्ण) का; किम् वा—और अधिक क्या कहा जाय; पुनः—फिर; तत्—उसके; चरण-अरविन्द—चरणकमल; पराग-सेवा—सुगंधित धूल की सेवा के लिए; रतिः—आकर्षण; आत्म-लब्धा—जिन्होंने ऐसी आत्म-उपलब्धि प्राप्त कर ली है।.

भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य नाम, रूप इत्यादि के कीर्तन तथा श्रवण मात्र से मनुष्य की असीम कष्टप्रद अवस्थाएँ शमित हो सकती हैं। अतएव उनके विषय में क्या कहा जाये, जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों की धूल की सुगंध की सेवा करने के लिए आकर्षण प्राप्त कर लिया हो?

तात्पर्य : वैदिक शास्त्रीय विद्या में भौतिक इन्द्रियों को वश में करने की दो अलग-अलग विधियों की संस्तुति की गई है। इनमें से एक ज्ञानयोग है अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा, तथा भगवान् के दार्शनिक ज्ञान का मार्ग। दूसरी विधि है भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति रुपी सेवा में जुट जाना। इन दो अत्यन्त लोकप्रिय विधियों में से यहाँ पर भक्ति मय सेवा के मार्ग को सर्वोत्तम कह कर संस्तुत किया गया है, क्योंकि जो भक्तिमार्ग पर चलता है उसे पुण्यकर्मों के सकाम फल के लिए या ज्ञान के परिणामों के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। भक्ति सम्पन्न करने की दो अवस्थाएँ हैं। पहली: मान्य शास्त्रों के नियमानुसार अपनी वर्तमान इन्द्रियों द्वारा भक्ति का अभ्यास करने की अवस्था तथा दूसरी: भगवान् के चरणकमलों की धूलि के कणों की सेवा करने के लिए निष्ठावान अनुरक्ति प्राप्त करना। प्रथम अवस्था *साधन भक्ति* कहलाती है, जो नव-जिज्ञासुओं द्वारा की जाने वाली भक्ति है और किसी शुद्ध भक्त के निर्देशन में सम्पन्न की जाती है। दूसरी अवस्था *राग भक्ति* है, जिसमें परिपक्व (प्रौढ़) भक्त निष्ठापूर्ण अनुराग के कारण स्वत: भगवान् की विविध सेवाओं में लगा रहता है। अब महर्षि मैत्रेय विदुर के सारे प्रश्नों का अन्तिम उत्तर इस तरह दे रहे हैं: भगवान् की भक्ति संसार की समस्त कष्टप्रद दशाओं को कम करने का चरम साधन है। उद्देश्य की पूर्ति हेतु ज्ञानमार्ग या योगिक आसनों को अपनाया जा सकता है, किन्तु *भक्ति* से मिश्रित किये बिना ये वाञ्छित फल दिलाने में अक्षम है। साधन भक्ति के अभ्यास से मनुष्य धीर-धीरे रागभक्ति तक उठ सकता है। दिव्य *प्रेमाभक्ति* में *रागभक्ति* सम्पन्न करके वह परम शक्तिशाली भगवान् को भी अपने वश में कर सकता है।

विदुर उवाच
सञ्छिन्नः संशयो मह्यं तव सूक्तासिना विभो ।
उभयत्रापि भगवन्मनो मे सम्प्रधावति ॥ १५॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सञ्छिन्नः—कटे हुए; संशयः—सन्देह; मह्यम्—मेरे; तव—तुम्हारे; सूक्त-असिना—विश्वसनीय शब्द रूपी हथियार से; विभो—हे प्रभु; उभयत्र अपि—ईश्वर तथा जीव दोनों में; भगवन्—हे शक्तिमान; मनः—मन; मे—मेरा; सम्प्रधावति—पूरी तरह प्रवेश करता है।.

विदुर ने कहा : हे शक्तिशाली मुनि, मेरे प्रभु, आपके विश्वसनीय शब्दों से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा जीवों से सम्बन्धित मेरे सारे संशय अब दूर हो गये हैं। अब मेरा मन पूरी तरह से उनमें प्रवेश कर रहा है।

तात्पर्य : कृष्ण–विज्ञान या ईश तथा जीवों का विज्ञान इतना सूक्ष्म है कि विदुर जैसे व्यक्ति को भी मैत्रेय मुनि जैसे महापुरुष से परामर्श करना पड़ता है। भगवान् तथा जीव के नित्य सम्बन्ध के विषय में मानसिक चिन्तन करने वाले लोग तरह तरह से सन्देह उत्पन्न करते हैं, किन्तु निर्णायक तथ्य यह है कि ईश्वर तथा जीव का सम्बन्ध स्वामी (सेव्य) तथा सेवक का सम्बन्ध है। भगवान् नित्य स्वामी हैं और जीव नित्य दास है। इस सम्बन्ध का असली ज्ञान इस लुप्त चेतना को इस स्तर तक पुनरुज्जीवित करना है और इस पुनरुज्जीवन की विधि है भगवान् की भक्ति। इस तरह से मैत्रेय मुनि जैसे अधिकारियों से स्पष्ट रूप से जान लेने पर मनुष्य असली ज्ञान को प्राप्त होता है और इस तरह विक्षुब्ध मन को प्रगति के पथ पर स्थिर किया जा सकता है।

साध्वेतद्व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः ।
आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद्बहिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

साधु—उतनी अच्छी जितनी कि होनी चाहिए; **एतत्**—ये सारी व्याख्याएँ; **व्याहृतम्**—इस तरह कही गई; **विद्वन्**—हे विद्वान; **न**—नहीं; **आत्म**—आत्मा; **माया**—शक्ति; **अयनम्**—गति; **हरेः**—भगवान् की; **आभाति**—प्रकट होती है; **अपार्थम्**—बिना अर्थ के, निरर्थक; **निर्मूलम्**—बिना किसी आधार के, निराधार; **विश्व-मूलम्**—भगवान् जिसका उद्गम है; **न**—नहीं; **यत्**—जो; **बहिः**—बाहरी।

हे विद्वान महर्षि, आपकी व्याख्याएँ अति उत्तम हैं जैसी कि उन्हें होना चाहिए। बद्धजीव के विक्षोभों का आधार भगवान् की बहिरंगा शक्ति की गतिविधि के अलावा कुछ भी नहीं ।

तात्पर्य : जीव की ईश्वर से हर तरह से तदाकार होने की अवैध इच्छा ही सम्पूर्ण भौतिक जगत का मूल कारण है, अन्यथा ईश्वर को ऐसा जगत उत्पन्न करने की, यहाँ तक कि अपनी लीलाओं के लिए भी, कोई आवश्यकता न होती। बद्धजीव भगवान् की बहिरंगा शक्ति के वशीभूत होकर भौतिक जीवन में अनेक दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं को भोगता है। भगवान् बहिरंगा शक्ति माया के स्वामी हैं और जीव भौतिक दशा के अन्तर्गत उसी माया के अधीन रहता है। जीव द्वारा भगवान् के स्वामी पद को प्राप्त करने का मिथ्या प्रयास ही उसके भौतिक बन्धन का कारण है और बद्धजीव का भगवान् के साथ तदाकार होने का प्रयास माया का अन्तिम पाश है।

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।

तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥ १७॥

शब्दार्थ

यः—जो; च—भी; मूढ-तमः—निकृष्टतम मूर्ख; लोके—संसार में; यः च—तथा जो; बुद्धेः—बुद्धि का; परम्—दिव्य; गतः—गया हुआ; तौ—उन; उभौ—दोनों; सुखम्—सुख; एधेते—भोगते हैं; क्लिश्यति—कष्ट पाते हैं; अन्तरितः—बीच में स्थित; जनः—लोग।

निकृष्टतम मूर्ख तथा समस्त बुद्धि के परे रहने वाले दोनों ही सुख भोगते हैं, जबकि उनके बीच के व्यक्ति भौतिक क्लेश पाते हैं।

तात्पर्य : निकृष्टतम मूर्ख भौतिक क्लेशों को नहीं समझते। वे हँसी-खुशी के साथ अपना जीवन बिताते हैं और जीवन के क्लेशों के विषय में जिज्ञासा नहीं करते। ऐसे लोग लगभग पशुओं के स्तर पर होते हैं, जो भौतिक क्लेशों से अवगत नहीं रहते, यद्यपि श्रेष्ठजनों की नजरों में वे सदैव दुखी रहते हैं। शूकर का जीवन सुख के मानदण्ड के अनुसार गिरा हुआ है, क्योंकि इसमें गन्दे स्थान में रहना, किसी भी क्षण संभोग में रत रहना और जीवन-संघर्ष के लिए कठिन श्रम करना होता है, किन्तु शूकर को यह ज्ञात नहीं है। इसी तरह जो मनुष्य भौतिक जगत के कष्ट से अवगत नहीं होते तथा यौन जीवन और कठिन श्रम में सुखी रहते हैं, वे निकृष्टतम मूर्ख हैं। फिर भी चूँकि उन्हें कष्टों का कोई ज्ञान नहीं होता है वे तथाकथित सुख को भोगते प्रतीत होते हैं। अन्य श्रेणी के लोग, जो कि मुक्त हैं तथा बुद्धि से ऊपर दिव्य पद पर स्थित हैं वास्तव में सुखी हैं और *परमहंस* कहलाते हैं। किन्तु वे लोग, जो न तो कूकरों-सूकरों की तरह हैं और न ही परमहंस के स्तर पर हैं भौतिक क्लेशों का अनुभव करते हैं और उनके लिए परम सत्य विषयक जिज्ञासा आवश्यक है। *वेदान्त सूत्र* का कथन है—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—अब मनुष्य को ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए। यह जिज्ञासा उन लोगों के लिए आवश्यक है, जो *परमहंसों* तथा उन मूर्खों के बीच के हैं जिन्होंने इन्द्रियतृप्ति वाले जीवन के बीच में आत्म-साक्षात्कार के प्रश्न को भुला दिया है।

अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः ।
तां चापि युष्मच्चरणसेवयाहं पराणुदे ॥ १८॥

शब्दार्थ

अर्थ-अभावम्—बिना सार के; विनिश्चित्य—सुनिश्चित करके; प्रतीतस्य—बाह्य मूल्यों का; अपि—भी; न—कभी नहीं; आत्मनः—आत्मा का; ताम्—उसे; च—भी; अपि—इस तरह; युष्मत्—तुम्हारे; चरण—पाँव की; सेवया—सेवाद्वारा; अहम्—मैं; पराणुदे—त्याग सकूँगा।

किन्तु हे महोदय, मैं आपका कृतज्ञ हूँ, क्योंकि अब मैं समझ सकता हूँ कि यह भौतिक

जगत साररहित है यद्यपि यह वास्तविक प्रतीत होता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपके चरणों की सेवा करने से मेरे लिए इस मिथ्या विचार को त्याग सकना सम्भव हो सकेगा।

तात्पर्य : बद्धजीव के कष्ट सतही होते हैं और उनका कोई वास्तविक महत्त्व नहीं होता जिस तरह स्वप्न में किसी के सिर को काटने का कोई महत्त्व नहीं होता। यद्यपि यह कथन सिद्धान्त रूप में अतिसत्य है फिर भी सामान्य व्यक्ति या आध्यात्मिक पथ के नवजिज्ञासु के लिए इसकी अनुभूति कर पाना अतीव कठिन है। किन्तु मैत्रेय मुनि जैसे महान् ब्रह्मवादियों के चरणों की सेवा करने से तथा उनकी निरन्तर संगति करने से मनुष्य इस मिथ्या विचार को त्याग सकता है कि आत्मा को भौतिक क्लेश भोगना पड़ता है।

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः ।
रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसको; सेवया—सेवा द्वारा; भगवतः—भगवान् का; कूट-स्थस्य—अपरिवर्तनीय का; मधु-द्विषः—मधु असुर का शत्रु; रति-रासः—विभिन्न सम्बन्धों में अनुरक्ति; भवेत्—उत्पन्न होती है; तीव्रः—अत्यन्त भावपूर्ण; पादयोः—चरणों की; व्यसन—क्लेश; अर्दनः—नष्ट करनेवाले।

गुरु के चरणों की सेवा करने से मनुष्य उन भगवान् की सेवा में दिव्य भावानुभूति उत्पन्न करने में समर्थ होता है, जो मधु असुर के कूटस्थ शत्रु हैं और जिनकी सेवा से मनुष्य के भौतिक क्लेश दूर हो जाते हैं।

तात्पर्य : मैत्रेय मुनि जैसे प्रामाणिक गुरु की संगति भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा के लिए दिव्य आसक्ति प्राप्त करने में परम सहायक हो सकती है। भगवान् मधु असुर के शत्रु हैं, अर्थात् दूसरे शब्दों में अपने शुद्ध भक्त के कष्टों के शत्रु हैं। इस श्लोक में रति रासः शब्द महत्त्वपूर्ण है। भगवान् की सेवा विभिन्न दिव्य रसों (सम्बन्धों) शान्त, वीर, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य में की जाती है। भगवान् की दिव्य सेवा के मुक्त पद पर स्थित जीव उपर्युक्त रसों में से किसी एक रस के प्रति आकृष्ट होता है और जब यह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है, तो भौतिक जगत से उसकी अनुरक्ति स्वतः समाप्त हो जाती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.५९) में कहा गया है—*रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।*

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु ।
यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दुरापा—दुर्लभ; हि—निश्चय ही; अल्प-तपसः—अल्प तपस्या वाले की; सेवा—सेवा; वैकुण्ठ—ईश्वर के धाम के; वर्त्मसु—मार्ग पर; यत्र—जिसमें; उपगीयते—महिमा गाई जाती है; नित्यम्—सदैव; देव—देवताओं के; देवः—स्वामी; जन-अर्दनः—जीवों के नियन्ता।

जिन लोगों की तपस्या अत्यल्प है वे उन शुद्ध भक्तों की सेवा नहीं कर पाते हैं जो भगवद्धाम अर्थात् वैकुण्ठ के मार्ग पर अग्रसर हो रहे होते हैं। शुद्धभक्त शत प्रतिशत उन परम प्रभु की महिमा के गायन में लगे रहते हैं, जो देवताओं के स्वामी तथा समस्त जीवों के नियन्ता हैं।

तात्पर्य : जैसाकि समस्त अधिकारियों ने संस्तुति की है, मुक्ति का मार्ग महात्मा जनों की सेवा करना है। जहाँ तक *भगवद्गीता* का सम्बन्ध है, महात्माजन वे शुद्ध भक्त हैं जो ईश्वर के धाम वैकुण्ठ के मार्ग पर चलते हैं और जो शुष्क लाभरहित दर्शन की बातें न करके भगवान् की महिमा का सदैव कीर्तन तथा श्रवण करते हैं। संगति की यह प्रणाली सनातन से संस्तुत होती आई है, किन्तु इस कलह तथा दिखावे के युग में श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा इसकी विशेष रूप से संस्तुति की गई है। अनुकूल तपस्या की निधि न होने पर भी यदि कोई व्यक्ति उन महात्माओं की शरण में जाता है, जो भगवान् की महिमाओं के श्रवण और कीर्तन में लगे रहते हैं, तो वह भगवद्धाम वापस जाने के पथ पर अवश्य प्रगति कर सकता है।

सृष्ट्वाग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात् ।
तेभ्यो विराजमुद्धृत्य तमनु प्राविशद्विभुः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सृष्ट्वा—सृष्टि करके; अग्रे—प्रारम्भ में; महत्-आदीनि—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति आदि की; स-विकाराणि—इन्द्रिय विषयों सहित; अनुक्रमात्—विभेदन की क्रमिक विधि द्वारा; तेभ्यः—उसमें से; विराजम्—विराट रूप; उद्धृत्य—प्रकट करके; तम्—उसमें; अनु—बाद में; प्राविशत्—प्रवेश किया; विभुः—परमेश्वर ने।

सम्पूर्ण भौतिक शक्ति अर्थात् महत् तत्त्व की सृष्टि कर लेने के बाद तथा इन्द्रियों और इन्द्रिय विषयों समेत विराट रूप को प्रकट कर लेने पर परमेश्वर उसके भीतर प्रविष्ट हो गये।

तात्पर्य : मैत्रेय मुनि के उत्तरों से पूरी तरह तुष्ट होकर विदुर भगवान् के सृजन कार्य के शेष अंशों को भी समझना चाह रहे थे जिनका संकेत पिछली कथाओं से उन्होंने प्राप्त किया था।

यमाहुराद्यं पुरुषं सहस्राङ्घ्र्यूरुबाहुकम् ।
यत्र विश्व इमे लोकाः सविकाशं त आसते ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यम्—जो; आहुः—कहलाता है; आद्यम्—आदि; पुरुषम्—विराट जगत का अवतार; सहस्र—हजार; अङ्घ्रि—पाँव; ऊरु—जंघाएँ; बाहुकम्—हाथ; यत्र—जिसमें; विश्वः—ब्रह्माण्ड; इमे—ये सब; लोकाः—लोक; स-विकाशम्—अपने-अपने विकासों के साथ; ते—वे सब; आसते—रह रहे हैं।

कारणार्णव में शयन करता पुरुष अवतार भौतिक सृष्टियों में आदि पुरुष कहलाता है और उनके विराट रूप में जिसमें सारे लोक तथा उनके निवासी रहते हैं, उस पुरुष के कई-कई हजार हाथ-पाँव होते हैं।

तात्पर्य : प्रथम पुरुष कारणोदकशायी विष्णु हैं, द्वितीय पुरुष गर्भोदकशायी विष्णु तथा तृतीय पुरुष क्षीरोदकशायी विष्णु हैं जिनमें विराट पुरुष की कल्पना की जाती है, जिसमें सारे लोक अपने विभिन्न विस्तीर्णताओं तथा निवासियों समेत तैरते रहते हैं।

यस्मिन्दशविधः प्राणः सेन्द्रियार्थेन्द्रियस्त्रिवृत् ।
त्वयेरितो यतो वर्णास्तद्विभूतीर्वदस्व नः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; दश-विधः—दस प्रकार की; प्राणः—प्राणवायु; स—सहित; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अर्थ—रुचि; इन्द्रियः—इन्द्रियों की; त्रि-वृत्—जीवनी शक्ति (बल) के तीन प्रकार; त्वया—आपके द्वारा; ईरितः—विवेचित; यतः—जिससे; वर्णाः—चार विभाग; तत्-विभूतीः—पराक्रम; वदस्व—कृपया वर्णन करें; नः—मुझसे।

हे महान् ब्राह्मण, आपने मुझे बताया है कि विराट रूप तथा उनकी इन्द्रियाँ, इन्द्रिय विषय तथा दस प्रकार के प्राण तीन प्रकार की जीवनीशक्ति के साथ विद्यमान रहते हैं। अब, यदि आप चाहें तो कृपा करके मुझे विशिष्ट विभागों (वर्णों) की विभिन्न शक्तियों का वर्णन करें।

यत्र पुत्रैश्च पौत्रैश्च नप्तृभिः सह गोत्रजैः ।
प्रजा विचित्राकृतय आसन्याभिरिदं ततम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जिसमें; पुत्रैः—पुत्रों; च—तथा; पौत्रैः—पौत्रों; च—भी; नप्तृभिः—नातियों; सह—के सहित; गोत्र-जैः—एक ही परिवार की; प्रजाः—सन्तानें; विचित्र—विभिन्न प्रकार की; आकृतयः—इस तरह से की गई; आसन्—है; याभिः—जिससे; इदम्—ये सारे लोक; ततम्—विस्तार करते हैं।

हे प्रभु, मेरे विचार से पुत्रों, पौत्रों तथा परिजनों के रूप में प्रकट शक्ति (बल) सारे ब्रह्माण्ड

में विभिन्न रूपों तथा योनियों में फैल गयी है।

प्रजापतीनां स पतिश्चक्रिपे कान्प्रजापतीन् ।
सर्गांश्चैवानुसर्गांश्च मनून्मन्वन्तराधिपान् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

प्रजा-पतीनाम्—ब्रह्मा इत्यादि देवताओं के; सः—वह; पतिः—अग्रणी; चक्रिपे—निश्चय किया; कान्—जिस किसी को; प्रजापतीन्—जीवों के पिताओं; सर्गान्—सन्तानें; च—भी; एव—निश्चय ही; अनुसर्गान्—बाद की सन्तानें; च—भी; मनून्—मनुओं को; मन्वन्तर-अधिपान्—तथा ऐसों के परिवर्तन।

हे विद्वान ब्राह्मण, कृपा करके बतायें कि किस तरह समस्त देवताओं के मुखिया प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा ने विभिन्न युगों के अध्यक्ष विभिन्न मनुओं को स्थापित करने का निश्चय किया। कृपा करके मनुओं का भी वर्णन करें तथा उन मनुओं की सन्तानों का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : मानव जाति या मनुष्य-सर मनुओं से उत्पन्न हुई जो प्रजापति ब्रह्मा के पुत्र तथा पौत्र हैं। मनु की सन्तानें समस्त विभिन्न लोकों में निवास करती हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर शासन करती हैं।

उपर्यधश्च ये लोका भूमेर्मित्रात्मजासते ।
तेषां संस्थां प्रमाणं च भूर्लोकस्य च वर्णय ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

उपरि—सिर पर; अधः—नीचे; च—भी; ये—जो; लोकाः—लोक; भूमेः—पृथ्वी के; मित्र-आत्मज—हे मित्रा के पुत्र (मैत्रेय मुनि); आसते—विद्यमान हैं; तेषाम्—उनके; संस्थाम्—स्थिति; प्रमाणम् च—उनकी माप भी; भूः-लोकस्य—पृथ्वी लोकों का; च—भी; वर्णय—वर्णन कीजिये।

हे मित्रा के पुत्र, कृपा करके इस बात का वर्णन करें कि किस तरह पृथ्वी के ऊपर के तथा उसके नीचे के लोक स्थित हैं और उनकी तथा पृथ्वी लोकों की प्रमाप का भी उल्लेख करें।

तात्पर्य : *यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति*। यह वैदिक स्तोत्र जोर देकर इस बात को घोषित करता है कि भगवान् का भक्त भगवान् से सम्बन्धित समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तुओं को जानता है। भक्तगण केवल भावुक ही नहीं होते जैसाकि कुछ अल्पज्ञों की भ्रान्त धारणा है। उनका दिशा बोध व्यावहारिक होता है। वे हर विद्यमान वस्तु को जानते हैं तथा विभिन्न सृष्टियों में भगवान् के आधिपत्य को सविस्तार जानते हैं।

तिर्यङ्मानुषदेवानां सरीसृपपतत्त्रिणाम् ।

वद नः सर्गसंव्यूहं गार्भस्वेदद्विजोद्भिदाम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तिर्यक्—मानवेतर; मानुष—मानव प्राणी; देवानाम्—अतिमानव प्राणियों या देवताओं का; सरीसृप—रेंगने वाले प्राणी; पतत्रिणाम्—पक्षियों का; वद—कृपया वर्णन करें; नः—मुझसे; सर्ग—उत्पत्ति; संव्यूहम्—विशिष्ट विभाग; गार्भ—गर्भस्थ; स्वेद—पसीना; द्विज—द्विजन्मा; उद्भिदाम्—लोकों आदि का।

कृपया जीवों का विभिन्न विभागों के अन्तर्गत यथा मानवेतर, मानव, भ्रूण से उत्पन्न, पसीने से उत्पन्न, द्विजन्मा (पक्षी) तथा पौधों एवं शाकों का भी वर्णन करें। कृपया उनकी पीढ़ियों तथा उपविभाजनों का भी वर्णन करें।

गुणावतारैर्विश्वस्य सर्गस्थित्यप्ययाश्रयम् ।
सृजतः श्रीनिवासस्य व्याचक्ष्वोदारविक्रमम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

गुण—प्रकृति के गुणों के; अवतारैः—अवतारों का; विश्वस्य—ब्रह्माण्ड के; सर्ग—सृष्टि; स्थिति—पालन; अप्यय—संहार; आश्रयम्—तथा चरम विश्राम; सृजतः—स्रष्टा का; श्रीनिवासस्य—भगवान् का; व्याचक्ष्व—कृपया वर्णन करें; उदार—उदार; विक्रमम्—विशिष्ट कार्यकलाप।

कृपया प्रकृति के गुणावतारों—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर—का भी वर्णन करें। कृपया पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतार तथा उनके उदार कार्यकलापों का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु, तथा महेश्वर, जो कि भौतिक प्रकृति के तीन अवतार हैं, विराट जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के प्रमुख देव हैं, किन्तु वे अन्तिम अधिकारी नहीं हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण चरम लक्ष्य या समस्त कारणों के कारण हैं। वे *आश्रय* हैं अर्थात् समस्त वस्तुओं के अन्तिम विश्राम हैं।

वर्णाश्रमविभागांश्च रूपशीलस्वभावतः ।
ऋषीणां जन्मकर्माणि वेदस्य च विकर्षणम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

वर्ण-आश्रम—सामाजिक पदों तथा आध्यात्मिक संस्कृति के चार विभाग; विभागान्—पृथक्-पृथक् विभागों; च—भी; रूप—निजी स्वरूप; शील-स्वभावतः—निजी चरित्र; ऋषीणाम्—ऋषियों के; जन्म—जन्म; कर्माणि—कार्यकलाप; वेदस्य—वेदों के; च—तथा; विकर्षणम्—कोटियों में विभाजन।

हे महर्षि, कृपया मानव समाज के वर्णों तथा आश्रमों के विभाजनों का वर्णन उनके लक्षणों, स्वभाव तथा मानसिक संतुलन एवं इन्द्रिय नियंत्रण के स्वरूपों के रूप के अनुसार करें। कृपया महर्षियों के जन्म तथा वेदों के कोटि-विभाजनों का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : मानव समाज के चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चार आश्रम—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी—ये सभी विभाजन गुण, शिक्षा, संस्कृति तथा मन एवं इन्द्रियों पर संयम बरतने से उपलब्ध आध्यात्मिक प्रगतियाँ हैं। ये समस्त विभाग प्रत्येक व्यक्ति के विशिष्ट स्वभाव पर आधारित हैं, जन्म के सिद्धान्त पर नहीं। इस श्लोक में जन्म का उल्लेख नहीं हुआ है, क्योंकि जन्म सार हीन है। इतिहास में विदुर शूद्राणी माता से उत्पन्न होने के लिए प्रसिद्ध हैं; फिर भी योग्यता के अनुसार वे ब्राह्मण से भी बढ़कर हैं, क्योंकि वे यहाँ पर महर्षि मैत्रेय के शिष्य रूप में दिखते हैं। जब तक कोई कम से कम ब्राह्मण-योग्यता प्राप्त न कर ले तब तक वह वैदिक स्तोत्रों को नहीं समझ सकता। *महाभारत* भी वेदों का एक विभाग है, किन्तु यह स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विजबन्धुओं अर्थात् उच्चवर्ग की अयोग्य सन्तानों के लिए है। समाज का अल्पज्ञ वर्ग केवल *महाभारत* का अध्ययन करके वैदिक उपदेशों का लाभ उठा सकता है।

यज्ञस्य च वितानानि योगस्य च पथः प्रभो ।
नैष्कर्म्यस्य च साङ्ख्यस्य तन्त्रं वा भगवत्स्मृतम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यज्ञस्य—यज्ञों का; च—भी; वितानानि—विस्तार; योगस्य—योग शक्ति का; च—भी; पथः—मार्ग; प्रभो—हे प्रभु; नैष्कर्म्यस्य—ज्ञान का; च—तथा; साङ्ख्यस्य—वैश्लेषिक अध्ययन का; तन्त्रम्—भक्ति का मार्ग; वा—तथा; भगवत्—भगवान् के सम्बन्ध में; स्मृतम्—विधि-विधान।

कृपया विभिन्न यज्ञों के विस्तारों तथा योग शक्तियों के मार्गों, ज्ञान के वैश्लेषिक अध्ययन (सांख्य) तथा भक्ति-मय सेवा का उनके विधि-विधानों सहित वर्णन करें।

तात्पर्य : यहाँ पर *तन्त्रम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। कभी-कभी *तन्त्रम्* को भ्रान्तिवश इन्द्रियतृप्ति में लगे भौतिकतावादी व्यक्तियों का काला जादू समझ लिया जाता है, किन्तु यहाँ पर *तन्त्रम्* का अर्थ भक्ति का विज्ञान है, जिसका संग्रह श्रील नारद मुनि ने किया। मनुष्य भक्तिमार्ग की ऐसी विधिमयी व्याख्याओं का लाभ उठाकर भगवद्भक्ति में प्रगति कर सकता है। सांख्य दर्शन ज्ञान प्राप्ति का मूल सिद्धान्त है जैसाकि मैत्रेय मुनि द्वारा बतलाया जाएगा। देवहूति-पुत्र कपिलदेव द्वारा प्रवर्तित सांख्य दर्शन परब्रह्म के विषय में ज्ञान का असली स्रोत है। जो ज्ञान सांख्य दर्शन पर आधारित नहीं है, वह मानसिक चिन्तन है और उससे कोई वास्तविक लाभ नहीं प्राप्त हो सकता।

पाषण्डपथवैषम्यं प्रतिलोमनिवेशनम् ।
जीवस्य गतयो याश्च यावतीर्गुणकर्मजाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

पाषण्ड-पथ—अश्रद्धा का मार्ग; वैषम्यम्—विरोध के द्वारा अपूर्णता; प्रतिलोम—वर्णसंकर; निवेशनम्—स्थिति; जीवस्य—जीवों की; गतयः—गतिविधियाँ; याः—वे जैसी हैं; च—भी; यावतीः—जितनी; गुण—भौतिक प्रकृति के गुण; कर्म-जाः—विभिन्न प्रकार के कर्म से उत्पन्न।

कृपया श्रद्धाविहीन नास्तिकों की अपूर्णताओं तथा विरोधों का, वर्णसंकरों की स्थिति तथा विभिन्न जीवों के प्राकृतिक गुणों तथा कर्म के अनुसार विभिन्न जीव-योनियों की गतिविधियों का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : प्रकृति के विभिन्न गुणों वाले जीवों के संयोग को वर्णसंकर या प्रतिलोम कहा जाता है। श्रद्धाविहीन नास्तिक लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते, अतएव उनके दर्शन के मार्ग परस्पर विरोधी होते हैं। नास्तिकतावादी दर्शन कभी भी एक दूसरे से मेल नहीं खाते। जीव की विभिन्न योनियाँ प्रकृति के गुणों के मिश्रण की विविधता के प्रमाण हैं।

धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तान्यविरोधतः ।
वार्ताया दण्डनीतेश्च श्रुतस्य च विधिं पृथक् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

धर्म—धार्मिकता; अर्थ—आर्थिक विकास; काम—इन्द्रियतृप्ति; मोक्षाणाम्—मोक्ष के; निमित्तानि—कारण; अविरोधतः—बिना विरोध के; वार्तायाः—जीविका के साधनों के सिद्धान्तों पर; दण्ड-नीतेः—कानून तथा व्यवस्था का; च—भी; श्रुतस्य—शास्त्र संहिता का; च—भी; विधिम्—नियम; पृथक्—विभिन्न।

आप धर्म, आर्थिक विकास, इन्द्रियतृप्ति तथा मोक्ष के परस्पर विरोधी कारणों का और उसी के साथ जीविका के विभिन्न साधनों, विधि की विभिन्न विधियों तथा शास्त्रों में उल्लिखित व्यवस्था का भी वर्णन करें।

श्राद्धस्य च विधिं ब्रह्मन्पितृणां सर्गमेव च ।
ग्रहनक्षत्रताराणां कालावयवसंस्थितिम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्राद्धस्य—समय-समय पर सम्मानसूचक भेंटों का; च—भी; विधिम्—नियम; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; पितृणाम्—पूर्वजों की; सर्गम्—सृष्टि; एव—जिस तरह; च—भी; ग्रह—ग्रह प्रणाली; नक्षत्र—तारे; ताराणाम्—ज्योतिपिण्डों; काल—समय; अवयव—अवधि; संस्थितिम्—स्थितियाँ।

कृपा करके पूर्वजों के श्राद्ध के विधि-विधानों, पितृलोक की सृष्टि, ग्रहों, नक्षत्रों तथा तारकों के काल-विधान तथा उनकी अपनी-अपनी स्थितियों के विषय में भी बतलाएँ।

तात्पर्य : दिन-रात तथा मास-वर्ष की अवधियाँ विभिन्न ग्रहों, नक्षत्रों तथा तारकों में भिन्न-भिन्न हैं। चन्द्रमा तथा शुक्र जैसे उच्चतरग्रहों में काल की प्रमाप पृथ्वी की अपेक्षा भिन्न है। कहा जाता है कि इस पृथ्वी ग्रह के छह मास उच्चतर ग्रहों के एक दिन के तुल्य हैं। *भगवद्गीता* में ब्रह्मलोक का एक दिन चतुर्युगों से एक हजार गुना वर्षों के तुल्य है अर्थात् ४,३००,००० वर्षों का एक हजार गुना वर्ष। ब्रह्मलोक में मास तथा दिन उसी के अनुसार परिमाणित होते हैं।

दानस्य तपसो वापि यच्चेष्टापूर्तयोः फलम् ।
प्रवासस्थस्य यो धर्मो यश्च पुंस उतापदि ॥ ३४॥

शब्दार्थ

दानस्य—दान का; तपसः—तपस्या का; वापि—बावड़ी; यत्—जो; च—तथा; इष्टा—प्रयास; पूर्तयोः—जलाशयों का; फलम्—सकाम फल; प्रवास-स्थस्य—घर से दूर रहने वाले का; यः—जो; धर्मः—कर्तव्य; यः च—और जो; पुंसः—मनुष्य का; उत—वर्णित; आपदि—आपत्ति में।

कृपया दान तथा तपस्या का एवं जलाशय खुदवाने के सकाम फलों का भी वर्णन करें। कृपया घर से दूर रहने वालों की स्थिति का तथा आपदग्रस्त मनुष्य के कर्तव्य का भी वर्णन करें।

तात्पर्य : जनता के उपयोग हेतु जलाशय खुदवाना महत् दान कार्य है और पचास वर्ष की आयु के बाद गृहस्थ जीवन से वैराग्य लेना भद्र मनुष्य द्वारा सम्पन्न महान् तपस्या का कार्य है।

येन वा भगवांस्तुष्येद्धर्मयोनिर्जनार्दनः ।
सम्प्रसीदति वा येषामेतदाख्याहि मेऽनघ ॥ ३५॥

शब्दार्थ

येन—जिससे; वा—अथवा; भगवान्—भगवान्; तुष्येत्—तुष्ट होता है; धर्म-योनिः—समस्त धर्मों का पिता; जनार्दनः—सारे जीवों का नियन्ता; सम्प्रसीदति—पूर्णतया तुष्ट होता है; वा—अथवा; येषाम्—जिनका; एतत्—ये सभी; आख्याहि—कृपया वर्णन करें; मे—मुझसे; अनघ—हे निष्पाप पुरुष।

हे निष्पाप पुरुष, चूँकि समस्त जीवों के नियन्ता भगवान् समस्त धर्मों के तथा धार्मिक कर्म करने वाले समस्त लोगों के पिता हैं, अतएव कृपा करके इसका वर्णन कीजिये कि उन्हें किस प्रकार पूरी तरह से तुष्ट किया जा सकता है।

तात्पर्य : समस्त धार्मिक कार्यकलाप अन्ततोगत्वा परमेश्वर को तुष्ट करने के लिए हैं। भगवान् समस्त धर्मों के पिता हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१६) में कहा गया है, चार प्रकार के पवित्र पुरुष—अर्थार्थी, आर्त, प्रबुद्ध (ज्ञानी) तथा जिज्ञासु भक्ति द्वारा भगवान् के पास पहुँचते हैं और इनकी भक्ति भौतिक स्नेह से मिश्रित होती है। किन्तु इन सबों के ऊपर वे शुद्ध भक्त हैं, जिनकी भक्ति सकाम कर्म या चिन्तनशील ज्ञान के किसी भौतिक कलुष से रंजित नहीं है। जो लोग जीवन भर केवल दुष्ट बने रहते हैं उनके जीवन की तुलना असुरों से की गई है। (*भगवद्गीता* ७.१५) चाहे वे कैसा भी शैक्षिक जीवन क्यों न बिताएँ, वे समस्त ज्ञान से वंचित ही रहते हैं। ऐसे लुच्चे कभी भी भगवान् को तुष्ट करने वाले व्यक्ति नहीं होते।

अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम ।
अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अनुव्रतानाम्—अनुयायियों के; शिष्याणाम्—शिष्यों के; पुत्राणाम्—पुत्रों के; च—भी; द्विज-उत्तम—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; अनापृष्टम्—अनपूछा; अपि—भी; ब्रूयुः—कृपया वर्णन करें; गुरवः—गुरुजन; दीन-वत्सलाः—दीनों के प्रति कृपालु।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, जो गुरुजन हैं, वे दीनों पर अत्यन्त कृपालु रहते हैं। वे अपने अनुयायियों, शिष्यों तथा पुत्रों के प्रति सदैव कृपालु होते हैं और उनके द्वारा बिना पूछे ही सारा ज्ञान प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : प्रामाणिक गुरु से जानने योग्य अनेक विषय होते हैं। प्रामाणिक गुरु के लिए अनुयायी, शिष्य तथा पुत्र सभी एकसमान होते हैं और वह उन पर सदैव कृपालु रहता है तथा उनके न पूछने पर भी वह सदैव उन्हें दिव्य विषयों के बारे में बताता रहता है। यही प्रामाणिक गुरु का स्वभाव है। विदुर ने मैत्रेय मुनि से ऐसे विषयों के बारे में भी बताने के लिए अनुरोध किया जिन्हें उन्होंने उनसे न भी पूछा हो।

तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसङ्क्रमः ।
तत्रेमं क उपासीरन्क उ स्विदनुशेरते ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तत्त्वानाम्—प्रकृति के तत्त्वों का; भगवन्—हे महर्षि; तेषाम्—उनके; कतिधा—कितने; प्रतिसङ्क्रमः—प्रलय; तत्र—वहाँ; इमम्—भगवान् को; के—वे कौन हैं; उपासीरन्—बचाया जाकर; के—वे कौन हैं; उ—जो; स्वित्—कर सकती है; अनुशेरते—भगवान् के शयन करते समय सेवा।

कृपया इसका वर्णन करें कि भौतिक प्रकृति के तत्त्वों का कितनी बार प्रलय होता है और इन प्रलयों के बाद जब भगवान् सोये रहते हैं उन की सेवा करने के लिए कौन जीवित रहता है?

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (५.४७-४८) में कहा गया है कि जब महाविष्णु योगनिद्रा में रहते हैं, तो उनके श्वास लेते समय असंख्य ब्रह्माण्डों समेत सारे भौतिक जगत प्रकट तथा अप्रकट होते रहते हैं।

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग-

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः ।

आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्तिं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः॥

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"गोविन्द जो कि सर्वोच्च तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (कृष्ण) हैं अपनी उस निद्रा के समय असंख्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि करने के लिए कारणार्णव में अनन्तकाल तक सोते रहते हैं। वे अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा जल में लेटे रहते हैं। मैं उन आदि भगवान् की पूजा करता हूँ।"

"उनके श्वास लेने से असंख्य ब्रह्माण्डों का जन्म होता है और जब वे श्वास निकालते हैं, तो समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामियों का संहार हो जाता है। भगवान् का वह स्वांश महाविष्णु कहलाता है और वे भगवान् कृष्ण के अंश के अंश होते हैं। मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ।"

भौतिक जगतों के प्रलय के पश्चात्, न तो भगवान् का, न कारणार्णव के परे उनके राज्य का विलय होता है, न ही वहाँ के निवासी भगवान् के संगियों का। भगवान् के संगियों की संख्या उन जीवों से काफी अधिक है जिन्होंने भौतिक संगति के कारण भगवान् को भुला दिया है। मूल *भागवत* के *अहमेवासमेवाग्रे* इत्यादि चार श्लोकों में आये *अहम्* शब्द की निर्विशेषवादियों द्वारा की जाने वाली

व्याख्या का यहाँ खण्डन किया गया है। भगवान् तथा उनके नित्य संगी प्रलय के बाद बचे रहते हैं। विदुर द्वारा ऐसे व्यक्तियों के विषय में प्रश्न किया जाना भगवान् के समस्त साज-सामान के अस्तित्व का स्पष्ट सूचक है। इसकी पुष्टि *काशीखंड* में हुई है, जिसका उद्धरण श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती दोनों ने श्रील श्रीधर स्वामी का अनुसरण करते हुए दिया है।

न च्यवन्ते हि यद्भक्ता

महत्यां प्रलयापदि।

अतोऽच्युतोऽखिले लोके

स एक: सर्वगोऽव्यय: ॥

"सम्पूर्ण विराट जगत के प्रलय के बाद भी भगवद्भक्त कभी भी अपना निजी अस्तित्व नहीं खोते। भगवान् तथा उनके साथ रहने वाले भक्त इस जगत में तथा आध्यात्मिक जगत में सदैव शाश्वत हैं।"

पुरुषस्य च संस्थानं स्वरूपं वा परस्य च ।
ज्ञानं च नैगमं यत्तद्गुरुशिष्यप्रयोजनम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

पुरुषस्य—जीव का; च—भी; संस्थानम्—अस्तित्व; स्वरूपम्—पहचान; वा—या; परस्य—परम का; च—भी; ज्ञानम्—ज्ञान; च—भी; नैगमम्—उपनिषदों के विषय में; यत्—जो; तत्—वही; गुरु—गुरु; शिष्य—शिष्य; प्रयोजनम्—अनिवार्यता।

जीवों तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में क्या क्या सच्चाइयाँ हैं? उनके स्वरूप क्या क्या हैं? वेदों में ज्ञान के क्या विशिष्ट मूल्य हैं और गुरु तथा उसके शिष्यों की अनिवार्यताएँ क्या हैं?

तात्पर्य : सारे जीव स्वाभाविक रूप से भगवान् के दास हैं और भगवान् हर एक से सभी प्रकार की सेवाएँ स्वीकार कर सकते हैं। यह स्पष्ट घोषणा की गई है (*भगवद्गीता* ५.२९) कि भगवान् सारे यज्ञों तथा तपस्याओं के लाभों के परम भोक्ता, समस्त व्यक्त वस्तुओं के स्वामी तथा सारे जीवों के मित्र हैं। यही उनकी असली पहचान है। अतएव जब जीव भगवान् के इस परम स्वामित्व को स्वीकार करता है और उसी भाव से कार्य करता है, तो वह अपने असली स्वरूप को धारण कर लेता है। जीव को ज्ञान के इस मानदण्ड तक ऊपर उठाने के लिए आध्यात्मिक संगति की आवश्यकता होती है।

प्रामाणिक गुरु की इच्छा होती है कि उसके शिष्य भगवान् की दिव्य सेवा करने की विधि जानें और शिष्य भी यह जानते हैं कि उन्हें किसी स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से ईश्वर तथा जीव के नित्य सम्बन्ध के विषय में सीखना चाहिए। इस दिव्य ज्ञान का वितरण करने के लिए मनुष्य को वैदिक ज्ञान के प्रकाश के बल पर सांसारिक कार्यकलापों से अवकाश ले लेना चाहिए। इस श्लोक के सारे प्रश्नों का यही सार-समाहार है।

निमित्तानि च तस्येह प्रोक्तान्यनघसूरिभिः ।
स्वतो ज्ञानं कुतः पुंसां भक्तिर्वैराग्यमेव वा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

निमित्तानि—ज्ञान का स्रोत; **च**—भी; **तस्य**—ऐसे ज्ञान का; **इह**—इस संसार में; **प्रोक्तानि**—कहे गये; **अनघ**—निष्कलंक; **सूरिभिः**—भक्तों द्वारा; **स्वतः**—आत्म-निर्भर; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **कुतः**—कैसे; **पुंसाम्**—जीव का; **भक्तिः**—भक्ति; **वैराग्यम्**—विरक्ति; **एव**—निश्चय ही; **वा**—भी।

भगवान् के निष्कलुष भक्तों ने ऐसे ज्ञान के स्रोत का उल्लेख किया है। ऐसे भक्तों की सहायता के बिना कोई व्यक्ति भला किस तरह भक्ति तथा वैराग्य के ज्ञान को पा सकता है?

तात्पर्य : ऐसे अनेक अनुभवहीन व्यक्ति हैं, जो गुरु की सहायता के बिना आत्म-साक्षात्कार के होने की बात कहते हैं। वे गुरु की आवश्यकता की निन्दा करते हैं और इस सिद्धान्त का प्रचार करके कि गुरु आवश्यक नहीं होता उसके स्थान को स्वयं ग्रहण करने का प्रयास करते हैं। किन्तु *श्रीमद्भागवत* इस दृष्टिकोण को मान्यता नहीं देता। महान् दिव्य विद्वान व्यासदेव को भी गुरु की आवश्यकता पड़ी थी और उन्होंने अपने गुरु नारद के आदेश के अनुसार ही इस महान् ग्रन्थ *श्रीमद्भागवत* की रचना की। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी जो कि स्वयं भगवान् कृष्ण हैं, गुरु स्वीकार किया। यहाँ तक कि भगवान् कृष्ण ने भी प्रबुद्ध होने के लिए सान्दीपनि मुनि को अपना गुरु बनाया। संसार के सारे आचार्यों तथा सन्तों के गुरु थे। *भगवद्गीता* में अर्जुन ने श्रीकृष्ण को अपना गुरु स्वीकार किया, यद्यपि ऐसी औपचारिक घोषणा की आवश्यकता नहीं थी। अतः सभी प्रकार से, गुरु स्वीकार करने की आवश्यकता के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। एकमात्र शर्त है कि गुरु प्रामाणिक हो अर्थात् गुरु को *परम्परा* प्रणाली की उचित शृंखला से आया हुआ होना चाहिए।

सूरि महान् विद्वान होते हैं, किन्तु वे सदैव *अनघ* या निष्कलुष नहीं होते। *अनघसूरि* वह है, जो

भगवान् का शुद्ध भक्त होता है। जो भगवान् के शुद्ध भक्त नहीं हैं या जो उनके समकक्ष बनना चाहते हैं, वे *अनघसूरि* नहीं हैं। शुद्ध भक्तों ने प्रामाणिक शास्त्रों के आधार पर ज्ञान के अनेक ग्रंथ लिखे हैं। श्रील रूप गोस्वामी तथा उनके सहायकों ने श्री चैतन्य महाप्रभु के निर्देशानुसार भावी भक्तों के मार्गदर्शन हेतु विविध ग्रन्थों की रचना की है और जो कोई भी भगवान् के शुद्ध भक्त के पद तक सच्चे मन से अपने को ऊपर ले जाना चाहता है उसे इन ग्रन्थों से लाभ उठाना चाहिए।

एतान्मे पृच्छतः प्रश्नान्हरेः कर्मविवित्सया ।
ब्रूहि मेऽज्ञस्य मित्रत्वादजया नष्टचक्षुषः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

एतान्—ये सारे; मे—मेरे; पृच्छतः—पूछने वाले के; प्रश्नान्—प्रश्नों को; हरेः—भगवान् की; कर्म—लीलाएँ; विवित्सया—जानने की इच्छा करते हुए; ब्रूहि—कृपया वर्णन करें; मे—मुझसे; अज्ञस्य—अज्ञानी की; मित्रत्वात्—मित्रता के कारण; अजया—बहिरंगा शक्ति द्वारा; नष्ट-चक्षुषः—वे जिनकी दृष्टि नष्ट हो चुकी है।

हे मुनि, मैंने आपके समक्ष इन सारे प्रश्नों को अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि की लीलाओं को जानने के उद्देश्य से ही रखा है। आप सबों के मित्र हैं, अतएव कृपा करके उन सबों के लाभार्थ जिनकी दृष्टि नष्ट हो चुकी हैं उनका वर्णन करें।

तात्पर्य : विदुर ने भगवान् की प्रेमाभक्ति के सिद्धान्तों को समझने के उद्देश्य से नाना प्रकार के प्रश्न पूछे। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४१) में वर्णन हुआ है भगवान् की भक्ति अनन्य है और भक्त का मन अनिश्चितताओं की अनेक शाखाओं की ओर नहीं मुड़ता। विदुर का उद्देश्य भगवान् की उस सेवा में स्थिर बने रहना था जिसमें मनुष्य इधर-उधर भटके बिना लीन रहता है। उन्होंने मैत्रेय मुनि की मित्रता का दावा इसलिए नहीं किया कि वे मित्रा के पुत्र थे, किन्तु इसलिए किया कि मैत्रेय वस्तुतः उन सबों के मित्र थे जिन्होंने भौतिक प्रभाववश अपनी आध्यात्मिक दृष्टि खो दी है।

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ ।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन्कलामपि ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी तरह के; वेदाः—वेदों के विभाग; च—भी; यज्ञाः—यज्ञ; च—भी; तपः—तपस्याएँ; दानानि—दान; च—तथा; अनघ—हे निष्कलुष; जीव—जीव; अभय—भौतिक पीड़ाओं से मुक्ति; प्रदानस्य—ऐसा आश्वासन देने वाले का; न—नहीं; कुर्वीरन्—बराबरी की जा सकती है; कलाम्—अंशतः भी; अपि—निश्चय ही।

हे अनघ, इन सारे प्रश्नों के आप के द्वारा दिए जाने वाले उत्तर समस्त भौतिक कष्टों से मुक्ति

दिला सकेंगे। ऐसा दान समस्त वैदिक दानों, यज्ञों, तपस्याओं इत्यादि से बढ़कर है।

तात्पर्य : सबसे बड़ा दान है सामान्य जनों को संसार की चिन्ताओं से मुक्ति दिलाना। ऐसा केवल भगवान् की भक्तिमय सेवा सम्पन्न करने से ही हो सकता है। ऐसा ज्ञान अनुपमेय है। वेदों के ज्ञान का अनुशीलन करना, यज्ञ करना तथा दान देना, ये सभी मिलकर भक्ति से प्राप्त होनेवाली तथा संसार की पीड़ा से मिलने वाली शान्ति के एक अंश के भी तुल्य नहीं हैं। मैत्रेय के दान से न केवल विदुर लाभान्वित होंगे, अपितु अपनी वसुधामयी प्रकृति के कारण यह दान सभी कालों में अन्य सबों का उद्धार करेगा। इस तरह मैत्रेय अमर हैं।

श्रीशुक उवाच

स इत्थमापृष्टपुराणकल्पः कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः ।
प्रवृद्धहर्षो भगवत्कथायां सञ्चोदितस्तं प्रहसन्निवाह ॥ ४२॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—वह; इत्थम्—इस प्रकार; आपृष्ट—पूछे जाने पर; पुराण-कल्पः—जो वेदों के पूरकों (पुराणों) की व्याख्या करना जानता है; कुरु-प्रधानेन—कुरुओं के प्रधान द्वारा; मुनि-प्रधानः—प्रमुख मुनि; प्रवृद्ध—पर्याप्त रूप से समृद्ध; हर्षः—सन्तोष; भगवत्—भगवान् की; कथायाम्—कथाओं में; सञ्चोदितः—इस तरह प्रेरित होकर; तम्—विदुर को; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—मानो; आह—उत्तर दिया।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस तरह वे मुनियों में-प्रधान, जो भगवान् विषयक कथाओं का वर्णन करने के लिए सदैव उत्साहित रहते थे, विदुर द्वारा इस तरह प्रेरित किये जाने पर पुराणों की विवरणात्मक व्याख्या का बखान करने लगे। वे भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के विषय में बोलने के लिए अत्यधिक उत्साहित थे।

तात्पर्य : मैत्रेय मुनि जैसे महान् विद्वान मुनिगण भगवान् के दिव्य कार्यकलापों का वर्णन करने के लिए सदैव अत्यधिक उत्साहित रहते हैं। इस तरह बोले जाने के लिए विदुर द्वारा आमंत्रित किये जाने पर मैत्रेय मुनि हँसते से प्रतीत हुए, क्योंकि उन्हें वास्तव में दिव्य आनन्द की अनुभूति हुई।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''विदुर द्वारा अन्य प्रश्न'' नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

गर्भोदकशायी विष्णु से ब्रह्मा का प्राकट्य

मैत्रेय उवाच
सत्सेवनीयो बत पूरुवंशो
यल्लोकपालो भगवत्प्रधानः ।
बभूविथेहाजितकीर्तिमालां
पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्रीमैत्रेय मुनि ने कहा; सत्-सेवनीयः—शुद्ध भक्तों की सेवा करने का पात्र; बत—ओह, निश्चय ही; पूरु-वंशः—राजा पूरु का वंश; यत्—क्योंकि; लोक-पालः—राजा हैं; भगवत्-प्रधानः—भगवान् के प्रति मुख्य रूप से अनुरक्त; बभूविथ—तुम भी उत्पन्न थे; इह—इसमें; अजित—अजेय भगवान्; कीर्ति-मालाम्—दिव्य कार्यों की शृंखला; पदे पदे—प्रत्येक पग पर; नूतनयसि—नवीन से नवीनतर बनते हो; अभीक्ष्णम्—सदैव।

महा-मुनि मैत्रेय ने विदुर से कहा : राजा पूरु का राजवंश शुद्ध भक्तों की सेवा करने के लिए योग्य है, क्योंकि उस वंश के सारे उत्तराधिकारी भगवान् के प्रति अनुरक्त हैं। तुम भी उसी कुल में उत्पन्न हो और यह आश्चर्य की बात है कि तुम्हारे प्रयास से भगवान् की दिव्य लीलाएँ प्रतिक्षण नूतन से नूतनतर होती जा रही हैं।

तात्पर्य : महा-मुनि मैत्रेय ने विदुर को धन्यवाद दिया और उनके वंश की ख्याति का सन्दर्भ देते हुए उनकी प्रशंसा की। पूरुवंश भगवद्भक्तों से भरापूरा था और इसके कारण महिमामंडित था। चूँकि वे लोग निर्विशेष ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा के प्रति अनुरक्त न होकर सीधे भगवान् अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम से जुड़े थे, अतएव वे भगवान् एवं उनके शुद्ध भक्तों की सेवा करने के योग्य थे। क्योंकि विदुर उसी वंश के वंशज थे, अतः स्वाभाविक था कि वे भगवान् के नित नूतन यश का दूर दूर तक विस्तार करने में लग गये। विदुर जैसे व्यक्ति की महिमामंडित संगति पाकर मैत्रेय आनन्दित थे। उन्होंने विदुर की संगति को अतीव वांछनीय माना, क्योंकि ऐसी संगति से मनुष्य की भक्तिमय सेवा की सुसुप्त प्रवृत्तियाँ त्वरायुक्त हो जाती हैं।

सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखं
महद्गतानां विरमाय तस्य ।
प्रवर्तये भागवतं पुराणं

यदाह साक्षाद्भगवानृषिभ्य: ॥ २॥

शब्दार्थ

स:—वह; अहम्—मैं; नृणाम्—मनुष्यों के; क्षुल्ल—अत्यल्प; सुखाय—सुख के लिए; दु:खम्—दुख; महत्—भारी; गतानाम्—को प्राप्त; विरमाय—शमन हेतु; तस्य—उसका; प्रवर्तये—प्रारम्भ में; भागवतम्—श्रीमद्भागवत; पुराणम्—पुराण में; यत्—जो; आह—कहा; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—भगवान् ने; ऋषिभ्य:—ऋषियों से।

अब मैं भागवत पुराण से प्रारम्भ करता हूँ जिसे भगवान् ने प्रत्यक्ष रूप से महान् ऋषियों से उन लोगों के लाभार्थ कहा था, जो अत्यल्प आनन्द के लिए अत्यधिक कष्ट में फँसे हुए हैं।

तात्पर्य : मैत्रेय मुनि ने *श्रीमद्भागवत* के विषय में बोलने का प्रस्ताव रखा, क्योंकि इसकी रचना विशेष रूप से मानव समाज की समस्त समस्याओं के समाधान के लिए की गई थी और यह शिष्य-परम्परा से रूढ़िगत चली आ रही है। जो भाग्यशाली है, केवल वही भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति में *श्रीमद्भागवत* सुनने का सुअवसर प्राप्त कर सकता है। भौतिक शक्ति के जादू के अधीन सारे जीव स्वल्प भौतिक सुख के निमित्त ही अनेक कठिनाइयों के बन्धन में फँसे हुए हैं। वे सकाम कर्मों की उलझनों को न जानते हुए उनमें लगे रहते हैं। वे इस मिथ्या भाव के कारण कि शरीर आत्मा है, अनेकानेक मिथ्या आसक्तियों से अपने को सम्बद्ध करते हैं। वे सोचते हैं कि वे भौतिकतावादी साज-सामग्री से सदा जुड़े हुए रह सकेंगे। जीवन की यह मिथ्या भ्रान्ति इतनी प्रबल होती है कि मनुष्य भगवान् की बहिरंगा शक्ति के अधीन जन्म-जन्मांतर कष्ट उठाता रहता है। यदि वह 'भागवत' ग्रन्थ तथा *भागवत* जानने वाले भक्त *भागवत* इन दोनों के सम्पर्क में आता है, तो ऐसा भाग्यशाली व्यक्ति भौतिक पाश से छूट जाता है। अतएव संसार के दुखी लोगों के प्रति दया के कारण श्रीमैत्रेय मुनि पहले *श्रीमद्भागवत* के विषय में बोलने का प्रस्ताव रख रहे हैं।

आसीनमुर्व्यां भगवन्तमाद्यं
सङ्कर्षणं देवमकुण्ठसत्त्वम् ।
विवित्सवस्तत्त्वमत: परस्य
कुमारमुख्या मुनयोऽन्वपृच्छन् ॥ ३॥

शब्दार्थ

आसीनम्—विराजमान; उर्व्याम्—ब्रह्माण्ड की तली पर; भगवन्तम्—भगवान् को; आद्यम्—आदि; सङ्कर्षणम्—संकर्षण को; देवम्—भगवान्; अकुण्ठ-सत्त्वम्—अबाध ज्ञान; विवित्सव:—जानने के लिए उत्सुक; तत्त्वम् अत:—इस प्रकार का सत्य; परस्य—भगवान् के विषय में; कुमार—बाल सन्त; मुख्या:—इत्यादि, प्रमुख; मुनय:—मुनियों ने; अन्वपृच्छन्—इसी तरह से पूछा।

कुछ काल पूर्व तुम्हारी ही तरह कुमार सन्तों में प्रमुख सनत् कुमार ने अन्य महर्षियों के साथ

जिज्ञासावश ब्रह्माण्ड की तली में स्थित भगवान् संकर्षण से भगवान् वासुदेव विषयक सत्यों के बारे में पूछा था।

तात्पर्य : यह इस कथन का स्पष्टीकरण है कि भगवान् ने प्रत्यक्ष रूप से *श्रीमद्भागवत* के विषय में कहा। यहाँ पर बताया गया है कि कब और किससे *भागवत* कही गई। विदुर द्वारा पूछे गये प्रश्नों के ही समान प्रश्न सनत्कुमार जैसे महामुनियों ने पूछे थे और भगवान् वासुदेव के स्वांश भगवान् संकर्षण ने उनके उत्तर दिये थे।

स्वमेव धिष्ण्यं बहु मानयन्तं
यद्वासुदेवाभिधमामनन्ति ।
प्रत्यग्धृताक्षाम्बुजकोशमीषद्
उन्मीलयन्तं विबुधोदयाय ॥ ४॥

शब्दार्थ

स्वम्—स्वयं; एव—इस प्रकार; धिष्ण्यम्—स्थित; बहु—अत्यधिक; मानयन्तम्—माननीय; यत्—जो; वासुदेव—भगवान् वासुदेव; अभिधम्—नामक; आमनन्ति—स्वीकार करते हैं; प्रत्यक्-धृत-अक्ष—भीतर झाँकने के लिए टिकी आँखें; अम्बुज-कोशम्—कमल सदृश नेत्र; ईषत्—कुछ-कुछ; उन्मीलयन्तम्—खुली हुई; विबुध—अत्यन्त विद्वान ऋषियों की; उदयाय—प्रगति के लिए।

उस समय भगवान् संकर्षण अपने परमेश्वर का ध्यान कर रहे थे जिन्हें विद्वज्जन भगवान् वासुदेव के रूप में सम्मान देते हैं। किन्तु महान् पंडित मुनियों की उन्नति के लिए उन्होंने अपने कमलवत् नेत्रों को कुछ-कुछ खोला और बोलना शुरू किया।

स्वर्धुन्युदार्द्रैः स्वजटाकलापै-
रुपस्पृशन्तश्चरणोपधानम् ।
पद्मं यदर्चन्त्यहिराजकन्याः
सप्रेम नानाबलिभिर्वरार्थाः ॥ ५॥

शब्दार्थ

स्वर्धुनी-उद—गंगा के जल से; आर्द्रैः—भीगे हुए; स्व-जटा—बालों का गुच्छा; कलापैः—सिर पर स्थित; उपस्पृशन्तः—इस तरह छूने से; चरण-उपधानम्—उनके चरणों की शरण; पद्मम्—कमल चरण; यत्—जो; अर्चन्ति—पूजा करते हैं; अहि-राज—सर्पों का राजा; कन्याः—पुत्रियाँ; स-प्रेम—अतीव भक्ति समेत; नाना—विविध; बलिभिः—साज-सामग्री द्वारा; वर-अर्थाः—पतियों की इच्छा से।

चूँकि मुनिगण गंगानदी के माध्यम से उच्चतर लोकों से निम्नतर भाग में आये थे, फलस्वरूप उनके सिर के बाल भीगे हुए थे। उन्होंने भगवान् के उन चरणकमलों का स्पर्श किया जिनकी पूजा नागराज की कन्याओं द्वारा अच्छे पति की कामना से विविध सामग्री द्वारा की

जाती है।

तात्पर्य : गंगा का जल सीधे विष्णु के चरणकमलों से प्रवाहित होता है और उसका मार्ग ब्रह्माण्ड के उच्चतम लोक से लेकर निम्नतम लोक तक जाता है। मुनिगण प्रवाहित जल का लाभ उठाकर सत्यलोक से नीचे आये—परिवहन की यह विधि योग शक्ति से ही सम्भव हो सकी। यदि कोई नदी हजारों मील तक प्रवाहित होती है, तो पूर्णयोगी इसके जल में केवल डुबकी लगाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर तुरन्त पहुँच सकता है। गंगा ही एकमात्र ऐसी नदी है, जो समूचे ब्रह्माण्ड में प्रवाहित होती है और मुनिगण इस पवित्र नदी के माध्यम से ब्रह्माण्ड भर में यात्रा करते हैं। यह कथन कि उनके बाल गीले थे यह सूचित करता है कि विष्णु के चरणकमल से सीधे निकले जल (गंगा) से ही बाल गीले थे। जो भी व्यक्ति अपने सिर से गंगा जल का स्पर्श करता है, वह प्रत्यक्ष रूप से भगवान् के चरणकमलों का स्पर्श करता है और सम्पूर्ण पापकृत्यों के फलों से मुक्त हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति गंगा में स्नान करने या समस्त पापों के धुल जाने के बाद फिर से पापकर्म करने से अपने को बचाता है, तो निश्चित रूप से उसका उद्धार हो जाता है। किन्तु यदि वह पुनः पापकर्म करने लगता है, तो उसका गंगा-स्नान हाथी के स्नान की तरह है, जो नदी में ठीक से नहाता है, किन्तु बाद में भूमि की धूल से अपने शरीर को धूसरित करके सारा किया कराया बिगाड़ देता है।

मुहुर्गृणन्तो वचसानुराग-
स्खलत्पदेनास्य कृतानि तज्ज्ञाः ।
किरीटसाहस्रमणिप्रवेक
प्रद्योतितोद्दामफणासहस्रम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मुहुः—बार बार; गृणन्तः—गुणगान करते; वचसा—शब्दों से; अनुराग—अतीव स्नेह से; स्खलत्-पदेन—सम लय के साथ; अस्य—भगवान् के; कृतानि—कार्यकलाप; तत्-ज्ञाः—लीलाओं के जानने वाले; किरीट—मुकुट; साहस्र—हजारों; मणि-प्रवेक—मणियों के चमचमाते तेज; प्रद्योतित—उद्भासित; उद्दाम—उठे हुए; फणा—फन; सहस्रम्—हजारों।

सनत् कुमार आदि चारों कुमारों ने जो भगवान् की दिव्य लीलाओं के विषय में सब कुछ जानते थे, स्नेह तथा प्रेम से भरे चुने हुए शब्दों से लय सहित भगवान् का गुणगान किया। उस समय भगवान् संकर्षण अपने हजारों फनों को उठाये हुए अपने सिर की चमचमाती मणियों से तेज बिखेरने लगे।

तात्पर्य : भगवान् कभी-कभी *उत्तमश्लोक* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है "जिसकी पूजा भक्तों द्वारा चुने शब्दों से की जाती हो।" जो भक्त भगवान् की भक्ति में स्नेह एवं प्रेम से पूर्णतया निमग्न रहता है उसके मुख से ऐसे चुने हुए शब्दों की झड़ी लग जाती है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें एक छोटे से बालक ने भी, जो भगवान् का महान् भक्त था, भगवान् की लीलाओं के गुणगान के लिए चुने हुए शब्दों में उत्तम स्तुति की। दूसरे शब्दों में, मधुर स्नेह तथा प्रेम उत्पन्न हुए बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् की स्तुति उत्कृष्ट ढंग से नहीं कर सकता।

प्रोक्तं किलैतद्भगवत्तमेन
निवृत्तिधर्माभिरताय तेन ।
सनत्कुमाराय स चाह पृष्टः
साङ्ख्यायनायाङ्ग धृतव्रताय ॥ ७॥

शब्दार्थ

प्रोक्तम्—कहा गया था; किल—निश्चय ही; एतत्—यह; भगवत्तमेन—भगवान् संकर्षण द्वारा; निवृत्ति—वैराग्य; धर्म-अभिरताय—इस धार्मिक व्रत को धारण करने वाले के लिए; तेन—उसके द्वारा; सनत्-कुमाराय—सनत् कुमार को; सः—उसने; च—भी; आह—कहा; पृष्टः—पूछे जाने पर; साङ्ख्यायनाय—सांख्यायन नामक महर्षि को; अङ्ग—हे विदुर; धृत-व्रताय—व्रत धारण करने वाले को।

इस तरह भगवान् संकर्षण ने उन महर्षि सनत्कुमार से श्रीमद्भागवत का भावार्थ कहा जिन्होंने पहले से वैराग्य का व्रत ले रखा था। सनत्कुमार ने भी अपनी पारी में सांख्यायन मुनि द्वारा पूछे जाने पर श्रीमद्भागवत को उसी रूप में बतलाया जिस रूप में उन्होंने संकर्षण से सुना था।

तात्पर्य : *परम्परा* प्रणाली की यही विधि है। यद्यपि सुप्रसिद्ध सनत् कुमार जीवन की सिद्ध अवस्था में थे फिर भी उन्होंने भगवान् संकर्षण से *श्रीमद्भागवत* का सन्देश सुना। इसी तरह सांख्यायन ऋषि द्वारा पूछे जाने पर सनत्कुमार ने भगवान् संकर्षण से जो सन्देश सुना था उसे कह सुनाया। दूसरे शब्दों में, जब तक कोई उचित अधिकारी से नहीं सुन लेता, तब तक वह उपदेशक नहीं बन सकता। इसीलिए भक्तियोग में नौ बातों में से दो बातें—श्रवण तथा कीर्तन—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ठीक से सुने बिना कोई व्यक्ति वैदिक ज्ञान के सन्देश का प्रचार नहीं कर सकता।

साङ्ख्यायनः पारमहंस्यमुख्यो

विवक्षमाणो भगवद्विभूतीः ।
जगाद सोऽस्मद्गुरवेऽन्विताय
पराशरायाथ बृहस्पतेश्च ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

साङ्ख्यायनः—महर्षि सांख्यायन; पारमहंस्य-मुख्यः—समस्त अध्यात्मवादियों में प्रमुख; विवक्षमाणः—बाँचते समय; भगवत्-विभूतीः—भगवान् की महिमाएँ; जगाद—बतलाया; सः—उसने; अस्मत्—मेरे; गुरवे—गुरु को; अन्विताय—अनुसरण किया; पराशराय—पराशर मुनि के लिए; अथ बृहस्पतेः च—बृहस्पति को भी।

सांख्यायन मुनि अध्यात्मवादियों में प्रमुख थे और जब वे श्रीमद्भागवत के शब्दों में भगवान् की महिमाओं का वर्णन कर रहे थे तो ऐसा हुआ कि मेरे गुरु पराशर तथा बृहस्पति दोनों ने उनको सुना।

प्रोवाच मह्यं स दयालुरुक्तो
मुनिः पुलस्त्येन पुराणमाद्यम् ।
सोऽहं तवैतत्कथयामि वत्स
श्रद्धालवे नित्यमनुव्रताय ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रोवाच—कहा; मह्यम्—मुझसे; सः—उसने; दयालुः—दयालु; उक्तः—उपर्युक्त; मुनिः—मुनि; पुलस्त्येन—पुलस्त्य मुनि से; पुराणम् आद्यम्—समस्त पुराणों में अग्रगण्य; सः अहम्—और वह भी मैं; तव—तुम से; एतत्—यह; कथयामि—कहता हूँ; वत्स—पुत्र; श्रद्धालवे—श्रद्धालु के लिए; नित्यम्—सदैव; अनुव्रताय—अनुयायी के लिए।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है महर्षि पराशर ने महर्षि पुलस्त्य के द्वारा कहे जाने पर मुझे अग्रगण्य पुराण (भागवत) सुनाया। हे पुत्र, जिस रूप में उसे मैंने सुना है उसी रूप में मैं तुम्हारे सम्मुख उसका वर्णन करूँगा, क्योंकि तुम सदा ही मेरे श्रद्धालु अनुयायी रहे हो।

तात्पर्य : पुलस्त्य नामक महर्षि सारे असुरों के पिता हैं। एक बार पराशर ने यज्ञ करना प्राम्भ किया जिसमें सारे असुरों को जलाकर नष्ट किया जाना था, क्योंकि इन असुरों में से किसी एक ने उनके पिता का वध करके उसे निगल लिया था। महर्षि वसिष्ठ मुनि यज्ञ में पधारे और पराशर से अनुरोध किया कि इस घातक कृत्य को बन्द कर दें। मुनियों के समुदाय में वशिष्ठ के पद पर एवं प्रतिष्ठा के कारण पराशर उनके अनुरोध को टाल न सके, जब पराशर ने यज्ञ रोक दिया तो असुरों के पिता पुलस्त्य ने उनके ब्राह्मण स्वभाव की प्रशंसा की और यह आशीर्वाद दिया कि भविष्य में वे पुराणों के महान् वक्ता बनेंगे जो वेदों के पूरक ग्रंथ हैं। पराशर के कार्य की पुलस्त्य ने प्रशंसा की, क्योंकि पराशर ने क्षमा दान की अपनी ब्राह्मण शक्ति से असुरों को क्षमा कर दिया था। यज्ञ में पराशर सारे असुरों को नष्ट करने में

समर्थ थे, किन्तु उन्होंने विचार किया, ''असुरों की उत्पत्ति ही इस तरह हुई है कि वे जीवित प्राणियों, मनुष्यों तथा पशुओं को निगल जाते हैं, लेकिन मैं इतने भर के लिए क्षमा के अपने ब्राह्मण-गुण को क्यों छोड़ दूँ?'' पुराणों के महान् वक्ता पराशर ने सर्वप्रथम *श्रीमद्भागवत-पुराण* के विषय में बतलाया, क्योंकि यह समस्त पुराणों में अग्रगण्य है। मैत्रेय मुनि ने पराशर से सुने गये *भागवत* का ही वर्णन करने की इच्छा प्रकट की। विदुर इसको सुनने के पात्र थे, क्योंकि वे श्रद्धालु थे तथा अपने वरिष्ठजनों से प्राप्त उपदेशों का पालन करने वाले थे। इस तरह *श्रीमद्भागवत* अनादि काल से शिष्य-परम्परा द्वारा, व्यासदेव के समय के पहले से ही सुनाया जा रहा था। तथाकथित *इतिहास-वेत्ता* पुराणों को केवल कुछ सौ वर्ष प्राचीन बतलाते हैं, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि पुराण अनादि काल से, संसारी लोगों तथा चिन्तनशील दार्शनिकों की समस्त ऐतिहासिक गणनाओं से बहुत पहले विद्यमान थे।

उदाप्लुतं विश्वमिदं तदासीद्
यन्निद्रयामीलितदृङ्न्यमीलयत् ।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः
कृतक्षणः स्वात्मरतौ निरीहः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

उद—जल में; आप्लुतम्—डूबे, निमग्न; विश्वम्—तीनों जगतों को; इदम्—इस; तदा—उस समय; आसीत्—यह इसी तरह था; यत्—जिसमें; निद्रया—नींद में; अमीलित—बन्द की; दृक्—आँखें; न्यमीलयत्—पूरी तरह से बन्द नहीं; अहि-इन्द्र—महान् सर्प अनन्त; तल्पे—शय्या में; अधिशयानः—लेटे हुए; एकः—एकाकी; कृत-क्षणः—व्यस्त; स्व-आत्म-रतौ—अपनी अन्तरंगा शक्ति का आनन्द लेते; निरीहः—बहिरंगा शक्ति के किसी अंश के बिना।

उस समय जब तीनों जगत जल में निमग्न थे तो गर्भोदकशायी विष्णु महान् सर्प अनन्त की अपनी शय्या में अकेले लेटे थे। यद्यपि वे अपनी निजी अन्तरंगा शक्ति में सोये हुए लग रहे थे और बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से मुक्त थे, किन्तु उनकी आँखें पूर्णतया बन्द नहीं थीं।

तात्पर्य : भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा सतत दिव्य आनन्द लेते हैं, जबकि बहिरंगा शक्ति विराट जगत के प्रलय के समय निलम्बित कर दी जाती है।

सोऽन्तः शरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः
कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः ।
उवास तस्मिन्सलिले पदे स्वे
यथानलो दारुणि रुद्धवीर्यः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—भगवान्; अन्तः—भीतर; शरीरे—दिव्य शरीर में; अर्पित—रखा हुआ; भूत—भौतिक तत्त्व; सूक्ष्मः—सूक्ष्म; काल-आत्मिकाम्—काल का स्वरूप; शक्तिम्—शक्ति; उदीरयाणः—अर्जित करते हुए; उवास—निवास किया; तस्मिन्—उस में; सलिले—जल में; पदे—स्थान में; स्वे—निजी; यथा—जिस तरह; अनलः—अग्नि; दारुणि—लकड़ी में; रुद्ध-वीर्यः—लीन शक्ति।

जिस तरह ईंधन के भीतर अग्नि की शक्ति छिपी रहती है उसी तरह भगवान् समस्त जीवों को उनके सूक्ष्म शरीरों में लीन करते हुए प्रलय के जल के भीतर पड़े रहे। वे काल नामक स्वतः अर्जित शक्ति में लेटे हुए थे।

तात्पर्य : जब तीनों लोक—ऊर्ध्व, मध्य तथा अधोलोक—प्रलय के जल में निमग्न हो गये तो तीनों लोकों के जीव *काल* नामक शक्ति के द्वारा अपने सूक्ष्म शरीरों में पड़े रहे। इस प्रलय में स्थूल शरीर *अप्रकट* हो गये, किन्तु सूक्ष्म शरीर स्थित रहे जिस तरह भौतिक सृष्टि का जल पड़ा रहता है। इस तरह भौतिक शक्ति पूर्णतया निःशेष नहीं हुई जैसाकि भौतिक जगत के पूर्ण प्रलय में होता है।

चतुर्युगानां च सहस्रमप्सु
स्वपन्स्वयोदीरितया स्वशक्त्या ।
कालाख्ययासादितकर्मतन्त्रो
लोकानपीतान्ददृशे स्वदेहे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

चतुः—चार; युगानाम्—युगों के; च—भी; सहस्रम्—एक हजार; अप्सु—जल में; स्वपन्—निद्रा में स्वप्न देखते हुए; स्वया—अपनी अन्तरंगा शक्ति के साथ; उदीरितया—आगे विकास के लिए; स्व-शक्त्या—अपनी निजी शक्ति से; काल-आख्यया—काल नाम से; आसादित—इस तरह व्यस्त रहते हुए; कर्म-तन्त्रः—सकाम कर्मों के मामले में; लोकान्—सारे जीवों को; अपीतान्—नीलाभ; ददृशे—देखा; स्व-देहे—अपने ही शरीर में।

भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति में चार हजार युगचक्रों तक लेटे रहे और अपनी बहिरंगा शक्ति से जल के भीतर सोते हुए प्रतीत होते रहे। जब सारे जीव कालशक्ति द्वारा प्रेरित होकर अपने सकाम कर्मों के आगे के विकास के लिए बाहर आ रहे थे तो उन्होंने अपने दिव्य शरीर को नीले रंग का देखा।

तात्पर्य : *विष्णुपुराण* में कालशक्ति का उल्लेख अविद्या के रूप में हुआ है। कालशक्ति के प्रभाव का लक्षण यह है कि मनुष्य को सकाम फलों के लिए भौतिक जगत में कार्य करना होता है। *भगवद्गीता* में सकामकर्मियों को *मूढ* या मूर्ख कहा गया है। ऐसे मूर्ख जीव कुछ क्षणिक लाभ के लिए शाश्वत बन्धन के अन्तर्गत कार्य करने के लिए अत्यधिक उत्साहित रहते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने बाद अपने बच्चों के लिए प्रभूत सम्पत्ति छोड़ पाता है, तो वह अपने जीवन में अपने को अतीव चतुर

समझता है और इस क्षणिक लाभ को पाने के लिए वह सारे पापकर्मों का जोखिम उठाता है। उसे इसका ज्ञान नहीं रहता कि ऐसे कार्य उसे भवबन्धन की जंजीरों से हमेशा के लिए जकड़ कर रखेंगे। इस दूषित मनोवृत्ति तथा भौतिक पापों के कारण जीव कुल मिलाकर नीले रंग के प्रतीत होते हैं। सकाम फल के लिए कार्य करने की ऐसी प्रेरणा भगवान् की बहिरंगा शक्ति, काल, के आदेश द्वारा सम्भव हो पाती है।

तस्यार्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टेर्
अन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान् ।
गुणेन कालानुगतेन विद्धः
सूष्यंस्तदाभिद्यत नाभिदेशात् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अर्थ—विषय; सूक्ष्म—सूक्ष्म; अभिनिविष्ट-दृष्टेः—जिसका ध्यान स्थिर किया गया था, उसका; अन्तः-गतः—आन्तरिक; अर्थः—प्रयोजन; रजसा—रजोगुण से; तनीयान्—अत्यन्त सूक्ष्म; गुणेन—गुणों के द्वारा; काल-अनुगतेन—कालक्रम में; विद्धः—क्षुब्ध किया गया; सूष्यन्—उत्पन्न करते हुए; तदा—तब; अभिद्यत—वेध दिया; नाभि-देशात्—उदर से।

सृष्टि का सूक्ष्म विषय-तत्व, जिस पर भगवान् का ध्यान टिका था, भौतिक रजोगुण द्वारा विक्षुब्ध हुआ। इस तरह से सृष्टि का सूक्ष्म रूप उनके उदर (नाभि) से बाहर निकल आया।

स पद्मकोशः सहसोदतिष्ठत्
कालेन कर्मप्रतिबोधनेन ।
स्वरोचिषा तत्सलिलं विशालं
विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः ॥ १४॥

शब्दार्थ

सः—वह; पद्म-कोशः—कमल के फूल की कली; सहसा—एकाएक; उदतिष्ठत्—प्रकट हुई; कालेन—काल के द्वारा; कर्म—सकाम कर्म; प्रतिबोधनेन—जगाते हुए; स्व-रोचिषा—अपने ही तेज से; तत्—वह; सलिलम्—प्रलय का जल; विशालम्—अपार; विद्योतयन्—प्रकाशित करते हुए; अर्कः—सूर्य; इव—सदृश; आत्म-योनिः—विष्णु से उत्पन्न।

जीवों के सकाम कर्म के इस समग्र रूप ने भगवान् विष्णु के शरीर से प्रस्फुटित होते हुए कमल की कली का स्वरूप धारण कर लिया। फिर उनकी परम इच्छा से इसने सूर्य की तरह हर वस्तु को आलोकित किया और प्रलय के अपार जल को सुखा डाला।

तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः
प्रावीविशत्सर्वगुणावभासम् ।

तस्मिन्स्वयं वेदमयो विधाता
स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; लोक—ब्रह्माण्ड के; पद्मम्—कमल को; सः—वह; उ—निश्चय ही; एव—वस्तुतः; विष्णुः—भगवान्; प्रावीविशत्—भीतर घुसा; सर्व—समस्त; गुण-अवभासम्—समस्त गुणों का आगार; तस्मिन्—जिसमें; स्वयम्—खुद; वेद-मयः—साक्षात् वैदिक; विधाता—ब्रह्माण्ड का नियंत्रक; स्वयम्-भुवम्—स्वतः उत्पन्न; यम्—जिसको; स्म—भूतकाल में; वदन्ति—कहते हैं; सः—वह; अभूत्—उत्पन्न हुआ।

उस ब्रह्माण्डमय कमल पुष्प के भीतर भगवान् विष्णु परमात्मा रूप में स्वयं प्रविष्ट हो गये और जब यह इस तरह भौतिक प्रकृति के समस्त गुणों से गर्भित हो गया तो साक्षात् वैदिक ज्ञान उत्पन्न हुआ जिसे हम स्वयंभुव (ब्रह्मा) कहते हैं।

तात्पर्य : यह कमल का फूल भौतिक जगत में ब्रह्माण्ड का विराट रूप है। प्रलय के समय यह भगवान् विष्णु के उदर में घुलमिल जाता है और सृष्टि के समय प्रकट होता है। यह गर्भोदकशायी विष्णु के कारण है, जो प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं। इस रूप में भौतिक प्रकृति द्वारा बद्ध समस्त जीवों के सकाम कर्मों का सार-समाहार रहता है और इस कमल पुष्पा से सर्वप्रथम ब्रह्मा अर्थात् ब्रह्माण्ड का नियंत्रक उत्पन्न होता है। इस प्रथम उद्‌भूत जीव का कोई भौतिक पिता नहीं होता यद्यपि बाकी सभी के पिता होते हैं, अतएव वह *स्वयम्भू* कहलाता है। प्रलय के समय वह नारायण के साथ सो जाता है और जब दूसरी सृष्टि होती है, तो वह इसी तरह से उत्पन्न होता है। इस विवरण से हमें स्थूल विराट् रूप, सूक्ष्म हिरण्यगर्भ तथा भौतिक सृजन शक्ति ब्रह्मा—इन तीनों का बोध होता है।

तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकाया-
मवस्थितो लोकमपश्यमानः ।
परिक्रमन्व्योम्नि विवृत्तनेत्र-
श्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उसमें; सः—वे; च—तथा; अम्भः—जल; रुह-कर्णिकायाम्—कमल का कोश; अवस्थितः—स्थित हुआ; लोकम्—जगत; अपश्यमानः—देख पाये बिना; परिक्रमन्—परिक्रमा करते हुए; व्योम्नि—आकाश में; विवृत्त-नेत्रः—आँखे चलाते हुए; चत्वारि—चार; लेभे—प्राप्त किये; अनुदिशम्—दिशाओं के रूप में; मुखानि—सिर।

कमल के फूल से उत्पन्न हुए ब्रह्मा जगत को नहीं देख सके यद्यपि वे कोश में स्थित थे। अतः उन्होंने सारे अन्तरिक्ष की परिक्रमा की और सभी दिशाओं में अपनी आँखें घुमाते समय उन्होंने चार दिशाओं के रूप में चार सिर प्राप्त किये।

तस्माद्युगान्तश्वसनावघूर्ण-
जलोर्मिचक्रात्सलिलाद्विरूढम् ।
उपाश्रितः कञ्जमु लोकतत्त्वं
नात्मानमद्धाविददादिदेवः ॥ १७॥

शब्दार्थ

तस्मात्—वहाँ से; युग-अन्त—युग के अन्त में; श्वसन—प्रलय की वायु; अवघूर्ण—गति के कारण; जल—जल; ऊर्मि-चक्रात्—भँवरों में से; सलिलात्—जल से; विरूढम्—उन पर स्थित; उपाश्रितः—आश्रय के रूप में; कञ्जम्—कमल के फूल को; उ—आश्चर्य में; लोक-तत्त्वम्—सृष्टि का रहस्य; न—नहीं; आत्मानम्—स्वयं को; अद्धा—पूर्णरूपेण; अविदत्—समझ सका; आदि-देवः—प्रथम देवता।

उस कमल पर स्थित ब्रह्मा न तो सृष्टि को, न कमल को, न ही अपने आपको भलीभाँति समझ सके। युग के अन्त में प्रलय वायु जल तथा कमल को बड़ी-बड़ी भँवरों में हिलाने लगी।

तात्पर्य : ब्रह्माजी अपने जन्म, कमल तथा जगत् के विषय में भ्रान्ति में पड़े रहे, यद्यपि उन्होंने एक युग तक इन्हें समझने की कोशिश की जो मनुष्यों के सौर वर्षों की गणना के परे है। अतएव कोई भी व्यक्ति मात्र मानसिक चिन्तन द्वारा सृष्टि तथा विराट ब्रह्माण्ड के रहस्य को नहीं जान सकता। मनुष्य की क्षमता इतनी सीमित है कि परमेश्वर की सहायता के बिना वह सृजन, स्थिति तथा संहार के रूप में भगवान् की इच्छा के रहस्य को नहीं समझ सकता।

क एष योऽसावहमब्जपृष्ठ
एतत्कुतो वाब्जमनन्यदप्सु ।
अस्ति ह्यधस्तादिह किञ्चनैत-
दधिष्ठितं यत्र सता नु भाव्यम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

कः—कौन; एषः—यह; यः असौ अहम्—जो मैं हूँ; अब्ज-पृष्ठे—कमल के ऊपर; एतत्—यह; कुतः—कहाँ से; वा—अथवा; अब्जम्—कमल का फूल; अनन्यत्—अन्यथा; अप्सु—जल में; अस्ति—है; हि—निश्चय ही; अधस्तात्—नीचे से; इह—इस में; किञ्चन—कुछ भी; एतत्—यह; अधिष्ठितम्—स्थित; यत्र—जिसमें; सता—स्वतः; नु—या नहीं; भाव्यम्—होना चाहिए।

ब्रह्माजी ने अपनी अनभिज्ञता से विचार किया : इस कमल के ऊपर स्थित मैं कौन हूँ? यह (कमल) कहाँ से फूटकर निकला है? इसके नीचे कुछ अवश्य होना चाहिए और जिससे यह कमल निकला है उसे जल के भीतर होना चाहिए।

तात्पर्य : प्रारम्भ में विराट जगत की सृष्टि के विषय में ब्रह्मा के चिन्तन का विषय अब भी मानसिक चिन्तकों के लिए जैसे का तैसा बना हुआ है। सर्वाधिक बद्धिमान् व्यक्ति वह है, जो अपने

निजी अस्तित्व तथा सम्पूर्ण विराट जगत के कारण को ढूँढने का प्रयास करता है और इस तरह से वह परम कारण को खोजने का यत्न करता है। यदि तपस्या तथा अध्यवसाय के साथ उसका प्रयास उचित ढंग से सम्पन्न होता है, तो उसे अवश्यमेव सफलता का श्रेय प्राप्त होगा।

स इत्थमुद्वीक्ष्य तदब्जनाल-
नाडीभिरन्तर्जलमाविवेश ।
नार्वाग्गतस्तत्खरनालनाल-
नाभिं विचिन्वंस्तदविन्दताजः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ब्रह्मा); इत्थम्—इस प्रकार से; उद्वीक्ष्य—विचार करके; तत्—वह; अब्ज—कमल; नाल—डंठल; नाडीभिः—नली द्वारा; अन्तः-जलम्—जल के भीतर; आविवेश—घुस गया; न—नहीं; अर्वाक्-गतः—भीतर जाने के बावजूद; तत्-खर-नाल—कमल-नाल; नाल—नली; नाभिम्—नाभि की; विचिन्वन्—सोचते हुए; तत्—वह; अविन्दत—समझ गया; अजः—स्वयंभुव।

इस तरह विचार करते हुए ब्रह्माजी कमल नाल के रन्ध्रों (छिद्रों) से होकर जल के भीतर प्रविष्ट हुए। किन्तु नाल में प्रविष्ट होकर तथा विष्णु की नाभि के निकटतम जाकर भी वे जड़ (मूल) का पता नहीं लगा पाये।

तात्पर्य : मनुष्य अपने निजी प्रयास से भगवान् के पास तक जा सकता है, किन्तु भगवान् की कृपा के बिना वह चरम बिन्दु तक नहीं पहुँच सकता। भगवान् विषयक यह समझ एकमात्र भक्तियोग से सम्भव है जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में पुष्टि हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*।

तमस्यपारे विदुरात्मसर्गं
विचिन्वतोऽभूत्सुमहांस्त्रिणेमिः ।
यो देहभाजां भयमीरयाणः
परिक्षिणोत्यायुरजस्य हेतिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तमसि अपारे—ढूँढने के अज्ञानपूर्ण ढंग के कारण; विदुर—हे विदुर; आत्म-सर्गम्—अपनी सृष्टि का कारण; विचिन्वतः—सोचते हुए; अभूत्—हो गया; सु-महान्—अत्यन्त महान्; त्रि-नेमिः—त्रिनेमी का काल; यः—जो; देह-भाजाम्—देहधारी का; भयम्—भय; ईरयाणः—उत्पन्न करते हुए; परिक्षिणोति—एक सौ वर्ष कम करते हुए; आयुः—आयु; अजस्य—अजन्मा का; हेतिः—शाश्वत काल का चक्र।

हे विदुर, अपने अस्तित्व के विषय में इस तरह खोज करते हुए ब्रह्मा अपने चरमकाल में

पहुँच गये, जो विष्णु के हाथों में शाश्वत चक्र है और जो जीव के मन में मृत्यु-भय की भ्रान्ति भय उत्पन्न करता है।

ततो निवृत्तोऽप्रतिलब्धकामः
स्वधिष्ण्यमासाद्य पुनः स देवः ।
शनैर्जितश्वासनिवृत्तचित्तो
न्यषीददारूढसमाधियोगः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; निवृत्तः—उस प्रयास से विरत होकर; अप्रतिलब्ध-कामः—वांछित लक्ष्य को प्राप्त किये बिना; स्व-धिष्ण्यम्—अपने आसन पर; आसाद्य—पहुँच कर; पुनः—फिर; सः—वह; देवः—देवता; शनैः—अविलम्ब; जित-श्वास—श्वास को नियंत्रित करते हुए; निवृत्त—विरत; चित्तः—बुद्धि; न्यषीदत्—बैठ गया; आरूढ—विश्वास में; समाधि-योगः—भगवान् का ध्यान करने के लिए।

तत्पश्चात् वाँछित लक्ष्य प्राप्त करने में असमर्थ होकर वे ऐसी खोज से विमुख हो गये और पुनः कमल के ऊपर आ गये। इस तरह इन्द्रियविषयों को नियंत्रित करते हुए उन्होंने अपना मन परमेश्वर पर एकाग्र किया।

तात्पर्य : *समाधि* में सबों के परम कारण पर मन को एकाग्र करना होता है, चाहे मनुष्य को इसका ज्ञान हो या न हो कि परमेश्वर साकार हैं, निराकार हैं या अन्तर्यामी हैं। ब्रह्म में मन की एकाग्रता निश्चय ही एक प्रकार से भक्ति है। निजी इन्द्रियों के प्रयासों को रोकना और परम कारण पर चित्त को एकाग्र करना आत्मसमर्पण का लक्षण है और जब आत्मसमर्पण उपस्थित होता है, तो वह भक्ति का निश्चित लक्षण है। यदि अपने जीवन के चरम कारण को जानने की इच्छा है, तो प्रत्येक जीव को भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगने की आवश्यकता है।

कालेन सोऽजः पुरुषायुषाभि-
प्रवृत्तयोगेन विरूढबोधः ।
स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभातम्
अपश्यतापश्यत यन्न पूर्वम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कालेन—कालक्रम में; सः—वह; अजः—स्वयंभुव ब्रह्मा; पुरुष-आयुषा—अपनी आयु से; अभिप्रवृत्त—लगा रहकर; योगेन—ध्यान में; विरूढ—विकसित; बोधः—बुद्धिः स्वयम्; स्वयम्—स्वतः; तत् अन्तः-हृदये—हृदय में; अवभातम्—प्रकट हुआ; अपश्यत—देखा; अपश्यत—देखा; यत्—जो; न—नहीं; पूर्वम्—इसके पहले।

अपने सौ वर्षों के बाद जब ब्रह्मा का ध्यान पूरा हुआ तो उन्होंने वांछित ज्ञान विकसित किया

जिसके फलस्वरूप वे अपने ही भीतर अपने हृदय में परम पुरुष को देख सके जिन्हें वे इसके पूर्व महानतम् प्रयास करने पर भी नहीं देख सके थे।

तात्पर्य : भगवान् को *भक्तियोग* के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है—मानसिक चिन्तन के निजी प्रयास द्वारा नहीं। ब्रह्मा की आयु की गणना दिव्य वर्षों के रूप में की जाती है, जो मनुष्यों के सौर वर्षों से भिन्न होते हैं। दिव्य वर्षों की गणना *भगवद्गीता* (८.१७) में दी गई है : सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर्यद् ब्रह्मणो विदुः। ब्रह्मा का एक दिन चतुर्युगों के योग के एक हजार गुना के तुल्य (गणना के अनुसार ४३०००००० वर्ष) होता है। इस आधार पर ब्रह्मा एक सौ वर्षों तक ध्यान करते रहे। पूर्व इस के कि वे समस्त कारणों के कारण को समझ पाये और तब उन्होंने *ब्रह्म-संहिता* लिखी जिसका श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा इस तथ्य का अनुमोदन किया गया है तथा इस तथ्य की मान्यता दी गई है। इसमें ब्रह्मा ने लिखा है—*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि*। इसके पूर्व कि मनुष्य भगवान् की सेवा कर पाये या उन्हें यथारूप जान पाए, उसे भगवान् की कृपा की प्रतीक्षा करनी होती है।

मृणालगौरायतशेषभोग-
पर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम् ।
फणातपत्रायुतमूर्धरत्न
द्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मृणाल—कमल का फूल; गौर—पूरी तरह सफेद; आयत—विराट; शेष-भोग—शेषनाग का शरीर; पर्यङ्के—शय्या पर; एकम्—अकेले; पुरुषम्—परम पुरुष; शयानम्—लेटे हुए; फण-आतपत्र—सर्प के फन का छाता; आयुत—सज्जित; मूर्ध—सिर; रत्न—रत्न की; द्युभिः—किरणों से; हत-ध्वान्त—अँधेरा दूर हो गया; युग-अन्त—प्रलय; तोये—जल में।

ब्रह्मा यह देख सके कि जल में शेषनाग का शरीर विशाल कमल जैसी श्वेत शय्या था जिस पर भगवान् अकेले लेटे थे। सारा वायुमण्डल शेषनाग के फन को विभूषित करने वाले रत्नों की किरणों से प्रदीप्त था और इस प्रकाश से उस क्षेत्र का समस्त अंधकार मिट गया था।

प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः
सन्ध्याभ्रनीवेरुरुरुक्ममूर्ध्नः ।
रत्नोदधारौषधिसौमनस्य
वनस्रजो वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

प्रेक्षाम्—दृश्य; क्षिपन्तम्—उपहास करते हुए; हरित—हरा; उपल—मूँगे के; अद्रेः—पर्वत का; सन्ध्या-अभ्र-नीवेः—सांध्यकालीन आकाश का वस्त्र; उरु—महान्; रुक्म—स्वर्ण; मूर्ध्नः—शिखर पर; रत्न—रत्न; उदधार—झरने; औषधि—जड़ी-बूटियाँ; सौमनस्य—दृश्य का; वन-स्रजः—फूल की माला; वेणु—वस्त्र; भुज—हाथ; अङ्घ्रिप—वृक्ष; अङ्घ्रेः—पाँव।

भगवान् के दिव्य शरीर की कान्ति मूँगे के पर्वत की शोभा का उपहास कर रही थी। मूँगे का पर्वत संध्याकालीन आकाश द्वारा सुन्दर ढंग से वस्त्राभूषित होता है, किन्तु भगवान् का पीतवस्त्र उसकी शोभा का उपहास कर रहा था। इस पर्वत की चोटी पर स्वर्ण है, किन्तु रत्नजटित भगवान् का मुकुट इसकी हँसी उड़ा रहा था। पर्वत के झरने, जड़ी-बूटियाँ आदि फूलों के दृश्य के साथ मालाओं जैसे लगते हैं, किन्तु भगवान् का विराट शरीर तथा उनके हाथ-पाँव रत्नों, मोतियों, तुलसीदल तथा फूलमालाओं से अलंकृत होकर उस पर्वत के दृश्य का उपहास कर रहे थे।

तात्पर्य : प्रकृति का दृश्यात्मक सौन्दर्य जो सबों को चकित करता है भगवान् के दिव्य शरीर का विकृत प्रतिबिम्ब माना जा सकता है। अतः जो व्यक्ति भगवान् के सौन्दर्य द्वारा आकृष्ट होता है, वह भौतिक प्रकृति के सौन्दर्य से आकृष्ट नहीं होता, यद्यपि वह इस सौन्दर्य को कम नहीं समझता। *भगवद्गीता* (२.५९) में वर्णन आया है कि जो *परम* द्वारा आकृष्ट है, वह अन्य किसी निकृष्ट वस्तु द्वारा आकृष्ट नहीं होता।

आयामतो विस्तरतः स्वमान-
देहेन लोकत्रयसङ्ग्रहेण ।
विचित्रदिव्याभरणांशुकानां
कृतश्रियापाश्रितवेषदेहम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

आयामतः—लम्बाई से; विस्तरतः—चौड़ाई से; स्व-मान—अपने ही माप से; देहेन—दिव्य शरीर से; लोक-त्रय—तीन (उच्चतर, मध्य तथा निम्न) लोक; सङ्ग्रहेण—पूर्ण निमग्नता द्वारा; विचित्र—नाना प्रकार का; दिव्य—दिव्य; आभरण-अंशुकानाम्—आभूषणों की किरणों से; कृत-श्रिया अपाश्रित—उन वस्त्रों तथा आभूषणों से उत्पन्न सौन्दर्य; वेष—वेश; देहम्—दिव्य शरीर।

उनके दिव्य शरीर की लम्बाई तथा चौड़ाई असीम थी और वह तीनों लोकों—उच्च, मध्य तथा निम्न—लोकों में फैली हुई थी। उनका शरीर अद्वितीय वेश तथा विविधता से स्वतःप्रकाशित था और भलीभाँति अलंकृत था।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य शरीर की लम्बाई तथा चौड़ाई उन्हीं के प्रमाप से मापी जा सकती है,

क्योंकि वे सम्पूर्ण विराट जगत में सर्वव्याप्त हैं। भौतिक प्रकृति की सुन्दरता उनकी निजी सुन्दरता के कारण है फिर भी वे अपनी दिव्य विविधता को सिद्ध करने के लिए सदा भव्यवेश धारण करते हैं और अलंकृत रहते हैं, जो आध्यात्मिक ज्ञान की प्रगति के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गै-
रभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम् ।
प्रदर्शयन्तं कृपया नखेन्दु-
मयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पुंसाम्—मनुष्यों का; स्व-कामाय—अपनी इच्छा के अनुसार; विविक्त-मार्गैः—शक्ति मार्ग द्वारा; अभ्यर्चताम्—पूजित; काम-दुघ-अङ्घ्रि-पद्मम्—भगवान् के चरणकमल जो मनवांछित फल देने वाले हैं; प्रदर्शयन्तम्—उन्हें दिखलाते हुए; कृपया—अहैतुकी कृपा द्वारा; नख—नाखून; इन्दु—चन्द्रमा सदृश; मयूख—किरणें; भिन्न—विभाजित; अङ्गुलि—अँगुलियाँ; चारु-पत्रम्—अतीव सुन्दर।

भगवान् ने अपने चरणकमलों को उठाकर दिखलाया। उनके चरणकमल समस्त भौतिक कल्मष से रहित भक्ति-मय सेवा द्वारा प्राप्त होने वाले समस्त वरों के स्रोत हैं। ऐसे वर उन लोगों के लिए होते हैं, जो उनकी पूजा शुद्ध भक्तिभाव में करते हैं। उनके पाँव तथा हाथ के चन्द्रमा सदृश नाखूनों से निकलने वाली दिव्य किरणों की प्रभा (छटा) फूल की पंखुड़ियों जैसी प्रतीत हो रही थी।

तात्पर्य : भगवान् हर एक की इच्छाओं की पूर्ति उसकी इच्छानुसार करते हैं। शुद्ध भक्तजन भगवान् की दिव्य सेवा प्राप्त करने में रुचि रखते हैं, जो उनसे अभिन्न होती है। अतएव भगवान् ही शुद्ध भक्तों की एकमात्र इच्छा हैं और *भक्ति* उनकी कृपा प्राप्त करने की एकमात्र निष्कलुष विधि है। *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.१.११) में श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि शुद्ध भक्ति *ज्ञानकर्माद्यनावृतम्* है—शुद्ध भक्ति में ज्ञान तथा सकाम कर्म का लेश भी नहीं रहता। ऐसी भक्ति शुद्ध भक्त को उच्चतम फल अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण का प्रत्यक्ष सान्निध्य दिलाने में समर्थ है। *गोपालतापनी उपनिषद्* के अनुसार भगवान् ने अपने चरणकमल की कई हजार पंखुड़ियों में से एक का दर्शन कराया। कहा गया है *ब्राह्मणोऽसावनवरतं मे ध्यातः स्तुतःपरार्धान्ते सोऽबुध्यत गोपवेशो मे पुरस्तात् आविर्बभूव*। लाखों वर्षों तक तपस्या करते रहने पर ब्रह्माजी गोपबाल वेशधारी श्रीकृष्ण के रूप में भगवान् के दिव्य स्वरूप को समझ पाये। इस तरह उन्होंने अपने अनुभवों को *ब्रह्म-संहिता* में सुप्रसिद्ध स्तुति *गोविन्दमादिपुरुषं*

तमहं भजामि में अंकित किया है।

मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन
परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेन ।
शोणायितेनाधरबिम्बभासा
प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्र्वा ॥ २७॥

शब्दार्थ

मुखेन—मुख के संकेत से; लोक-आर्ति-हर—भक्तों के कष्ट को हरनेवाले; स्मितेन—हँसी के द्वारा; परिस्फुरत्—चकाचौंध करते; कुण्डल—कुण्डल से; मण्डितेन—सुसज्जित; शोणायितेन—स्वीकार करते हुए; अधर—अपने होठों का; बिम्ब—प्रतिबिम्ब; भासा—किरणें; प्रत्यर्हयन्तम्—आदान-प्रदान करते हुए; सु-नसेन—अपनी मनोहर नाक से; सु-भ्र्वा—तथा मनोहर भौहों से।

उन्होंने भक्तों की सेवा भी स्वीकार की और अपनी सुन्दर हँसी से उनका कष्ट मिटा दिया। कुंडलों से सज्जित उनके मुख का प्रतिबिम्ब अत्यन्त मनोहारी था, क्योंकि यह उनके होठों की किरणों तथा उनकी नाक एवं भौंहों की सुन्दरता से जगमगा रहा था।

तात्पर्य : भगवान् अपनी भक्ति से अत्यधिक अनुग्रहीत होते हैं। आध्यात्मिक कार्यकलापों के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक अध्यात्मवादी हैं, किन्तु भगवान् की भक्ति-मय सेवा अद्वितीय होती है। भक्तजन अपनी सेवा के बदले में भगवान् से कुछ भी नहीं माँगते। यहाँ तक कि भगवान् के द्वारा प्रदान की जाने वाली सर्वाधिक इच्छित मुक्ति से भी वे इनकार कर देते हैं। इस तरह भगवान् एक प्रकार से भक्तों के ऋणी बन जाते हैं और वे अपनी सदा मोहक मुसकान से ही भक्तों की सेवा से उऋण होने का प्रयास कर सकते हैं। भक्तजन भगवान् के हँसमुख मुद्रा से सदा तुष्ट रहते हैं और जीवंत होते रहते हैं। भक्तों को इस तरह जीवंत देखकर भगवान् और अधिक तुष्ट होते हैं। इस तरह सेवा तथा स्वीकृति के ऐसे आदान-प्रदान से भगवान् तथा भक्तों के बीच सतत एक दिव्य स्पर्धा चलती जाती है।

कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससा
स्वलङ्कृतं मेखलया नितम्बे ।
हारेण चानन्तधनेन वत्स
श्रीवत्सवक्षःस्थलवल्लभेन ॥ २८॥

शब्दार्थ

कदम्ब-किञ्जल्क—कदम्ब फूल की केसरिया धूल; पिशङ्ग—रंगीन परिधान; वाससा—वस्त्रों से; सु-अलङ्कृतम्—अच्छी तरह सुसज्जित; मेखलया—करधनी से; नितम्बे—कमर पर; हारेण—हार से; च—भी; अनन्त—अत्यन्त; धनेन—मूल्यवान; वत्स—हे विदुर; श्रीवत्स—दिव्य चिह्न का; वक्षः-स्थल—छाती पर; वल्लभेन—अत्यन्त मनोहर।

हे विदुर, भगवान् की कमर पीले वस्त्र से ढकी थी जो कदम्ब फूल के केसरिया धूल जैसा प्रतीत हो रहा था और इसको अतीव सज्जित करधनी घेरे हुए थी। उनकी छाती श्रीवत्स चिन्ह से तथा असीम मूल्य वाले हार से शोभित थी।

पराध्र्यकेयूरमणिप्रवेक-
पर्यस्तदोर्दण्डसहस्रशाखम् ।
अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्र-
महीन्द्रभोगैरधिवीतवल्शम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

परार्ध्य—अत्यन्त मूल्यवान; केयूर—आभूषण; मणि-प्रवेक—अत्यन्त मूल्यवान मणि; पर्यस्त—फैलाते हुए; दोर्दण्ड—भुजाएँ; सहस्र-शाखम्—हजारों शाखाओं से युक्त; अव्यक्त-मूलम्—आत्मस्थित; भुवन—विश्व; अङ्घ्रिप—वृक्ष; इन्द्रम्—स्वामी; अहि-इन्द्र—अनन्तदेव; भोगैः—फनों से; अधिवीत—घिरा; वल्शम्—कंघा।

जिस तरह चन्दन वृक्ष सुगन्धित फूलों तथा शाखाओं से सुशोभित रहता है उसी तरह भगवान् का शरीर मूल्यवान मणियों तथा मोतियों से अलंकृत था। वे आत्म-स्थित (अव्यक्त मूल) वृक्ष और विश्व के अन्य सभी के स्वामी थे। जिस तरह चन्दन वृक्ष अनेक सर्पों से आच्छादित रहता है उसी तरह भगवान् का शरीर भी अनन्त के फनों से ढका था।

तात्पर्य : यहाँ पर *अव्यक्त-मूलम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतया कोई भी व्यक्ति वृक्ष की जड़ें नहीं देख सकता। किन्तु जहाँ तक भगवान् का सम्बन्ध है वे स्वयं अपनी जड़ (मूल) हैं, क्योंकि उनके (चिरंतन) बने रहने का उनके अतिरिक्त कोई और पृथक् कारण नहीं है। वेदों में कहा गया है कि भगवान् *स्वाश्रयाश्रय* हैं। वे अपने निजी आश्रय हैं और उनका कोई अन्य आश्रय नहीं है। अतएव *अव्यक्त* का अर्थ स्वयं भगवान् और उन के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

चराचरौको भगवन्महीध्र-
महीन्द्रबन्धुं सलिलोपगूढम् ।
किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्ग-
माविर्भवत्कौस्तुभरत्नगर्भम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

चर—गतिशील पशु; अचर—स्थिर वृक्ष; ओकः—स्थान या स्थिति; भगवत्—भगवान्; महीध्रम्—पर्वत; अहि-इन्द्र—श्री अनन्तदेव; बन्धुम्—मित्र; सलिल—जल; उपगूढम्—निमग्न; किरीट—मुकुट; साहस्र—हजारों; हिरण्य—स्वर्ण; शृङ्गम्—चोटियाँ; आविर्भवत्—प्रकट किया; कौस्तुभ—कौस्तुभ मणि; रत्न-गर्भम्—समुद्र।

विशाल पर्वत की भाँति भगवान् समस्त जड़ तथा चेतन जीवों के लिए आवास की तरह खड़े हैं। वे सर्पों के मित्र हैं, क्योंकि अनन्त देव उनके मित्र हैं। जिस तरह पर्वत में हजारों सुनहरी चोटियाँ होती हैं उसी तरह अनन्त नाग के सुनहरे मुकुटों वाले हजारों फनों से युक्त भगवान् दीख रहे थे। जिस तरह पर्वत कभी-कभी रत्नों से पूरित रहता है उसी तरह उनका शरीर मूल्यवान रत्नों से पूर्णतया सुशोभित था। जिस तरह कभी-कभी पर्वत समुद्र जल में डूबा रहता है उसी तरह भगवान् कभी-कभी प्रलय-जल में डूबे रहते हैं।

निवीतमाम्नायमधुव्रतश्रिया
स्वकीर्तिमय्या वनमालया हरिम् ।
सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं त्रिधामभि:
परिक्रमत्प्राधनिकैर्दुरासदम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

निवीतम्—इस प्रकार घिरा; आम्नाय—वैदिक ज्ञान; मधु-व्रत-श्रिया—सौन्दर्य में मधुर ध्वनि; स्व-कीर्ति-मय्या—अपनी ही महिमा से; वन-मालया—फूल की माला से; हरिम्—भगवान् को; सूर्य—सूरज; इन्दु—चन्द्रमा; वायु—वायु; अग्नि—आग; अगमम्—न पहुँचने योग्य दुर्गम; त्रि-धामभि:—तीनों लोकों द्वारा; परिक्रमत्—परिक्रमा करते हुए; प्राधनिकै:—युद्ध के लिए; दुरासदम्—पहुँचने के लिए कठिन।

इस तरह पर्वताकार भगवान् पर दृष्टि डालते हुए ब्रह्मा ने यह निष्कर्ष निकाला कि वे भगवान् हरि ही हैं। उन्होंने देखा कि उनके वक्षस्थल पर पड़ी फूलों की माला वैदिक ज्ञान के मधुर गीतों से उनका महिमागान कर रही थी और अतीव सुन्दर लग रही थी। वे युद्ध के लिए सुदर्शन चक्र द्वारा सुरक्षित थे और सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि इत्यादि तक उनके पास फटक नहीं सकते थे।

तर्ह्येव तन्नाभिसर:सरोजम्
आत्मानमम्भ: श्वसनं वियच्च ।
ददर्श देवो जगतो विधाता
नात: परं लोकविसर्गदृष्टि: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तर्हि—अत:; एव—निश्चय ही; तत्—उसकी; नाभि—नाभि; सर:—झील; सरोजम्—कमल का फूल; आत्मानम्—ब्रह्मा; अम्भ:—प्रलय का जल; श्वसनम्—सुखाने वाली वायु; वियत्—आकाश; च—भी; ददर्श—देखा; देव:—देवता; जगत:—ब्रह्माण्ड का; विधाता—भाग्य का निर्माता; न—नहीं; अत: परम्—परे; लोक-विसर्ग—विराट जगत की सृष्टि; दृष्टि:—चितवन।

जब ब्रह्माण्ड के भाग्य विधाता ब्रह्मा ने भगवान् को इस प्रकार देखा तो उसी समय उन्होंने

सृष्टि पर नजर दौड़ाई। ब्रह्मा ने विष्णु की नाभि में झील (नाभि सरोवर) तथा कमल देखा और उसी के साथ प्रलयकारी जल, सुखाने वाली वायु तथा आकाश को भी देखा। सब कुछ उन्हें दृष्टिगोचर हो गया।

स कर्मबीजं रजसोपरक्तः
प्रजाः सिसृक्षन्नियदेव दृष्ट्वा ।
अस्तौद्विसर्गाभिमुखस्तमीड्य-
मव्यक्तवर्त्मन्यभिवेशितात्मा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ब्रह्मा); कर्म-बीजम्—सांसारिक कार्यों का बीज; रजसा उपरक्तः—रजोगुण द्वारा प्रेरित; प्रजाः—जीव; सिसृक्षन्—सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा से; इयत्—सृष्टि के सभी पाँचों कारण; एव—इस तरह; दृष्ट्वा—देखकर; अस्तौत्—स्तुति की; विसर्ग—भगवान् द्वारा सृष्टि के पश्चात् सृष्टि; अभिमुखः—की ओर; तम्—उसको; ईड्यम्—पूजनीय; अव्यक्त—दिव्य; वर्त्मनि—के मार्ग पर; अभिवेशित—स्थिर; आत्मा—मन।.

इस तरह रजोगुण से प्रेरित ब्रह्मा सृजन करने के लिए उन्मुख हुए और भगवान् द्वारा सुझाये गये सृष्टि के पाँच कारणों को देखकर वे सृजनशील मनोवृत्ति के मार्ग पर सादर स्तुति करने लगे।

तात्पर्य : रजोगुण में होते हुए भी इस संसार में किसी वस्तु का सृजन करने के लिए आवश्यक शक्ति हेतु परमेश्वर की शरण ग्रहण करनी पड़ती है। किसी प्रयास के सफल समापन का यही मार्ग है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''गर्भोदकशायी विष्णु से ब्रह्मा का प्राकट्य'' नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

सृजन-शक्ति के लिए ब्रह्मा द्वारा स्तुति

ब्रह्मोवाच
ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां
न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम् ।
नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं
मायागुणव्यतिकराद्यदुरुर्विभासि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; ज्ञातः—ज्ञात; असि—हो; मे—मेरे द्वारा; अद्य—आज; सुचिरात्—दीर्घकाल के बाद; ननु—लेकिन; देह-भाजाम्—भौतिक देह वाले का; न—नहीं; ज्ञायते—ज्ञात है; भगवतः—भगवान् का; गतिः—रास्ता; इति—इस प्रकार; अवद्यम्—महान् अपराध; न अन्यत्—इसके परे कोई नहीं; त्वत्—तुम; अस्ति—है; भगवन्—हे भगवान्; अपि—यद्यपि है; तत्—जो कुछ हो सके; न—कभी नहीं; शुद्धम्—परम; माया—भौतिक शक्ति के; गुण-व्यतिकरात्—गुणों के मिश्रण के कारण; यत्—जिसको; उरुः—दिव्य; विभासि—तुम हो।

ब्रह्माजी ने कहा : हे प्रभु, आज अनेकानेक वर्षों की तपस्या के बाद मैं आपके विषय में जान पाया हूँ। ओह! देहधारी जीव कितने अभागे हैं कि वे आपके स्वरूप को जान पाने में असमर्थ हैं। हे स्वामी, आप एकमात्र ज्ञेय तत्व हैं, क्योंकि आपसे परे कुछ भी सर्वोच्च नहीं है। यदि कोई वस्तु आपसे श्रेष्ठ प्रतीत होती भी है, तो वह परम पूर्ण नहीं है। आप पदार्थ की सृजन शक्ति को प्रकट करके ब्रह्म रूप में विद्यमान हैं।

तात्पर्य : भौतिक शरीरों में बद्धजीवों की सबसे बड़ी नादानी यह है कि वे विराट जगत के परम कारण से अवगत नहीं होते हैं। परम कारण के विषय में भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं, किन्तु उनमें से कोई भी यथार्थ नहीं है। एकमात्र परम कारण विष्णु हैं, किन्तु भगवान् की मोहिनी शक्ति इसमें आड़े आने वाली बाधा है। भगवान् ने भौतिक जगत में अनेकानेक अद्भुत विभ्रान्तियों को प्रकट करने में अपनी विस्मयकारी भौतिक शक्ति लगा रखी है। उसी शक्ति से मोहित सारे बद्धजीव इसीलिए उस परम कारण को जानने में असमर्थ हैं। इसलिए बड़े से बड़े विज्ञानियों तथा दार्शनिकों को अद्भुत नहीं माना जा सकता। वे अद्भुत इसलिए लगते हैं, क्योंकि वे भगवान् की मोहिनी शक्ति के हाथों के खिलौने हैं। मोहवश सामान्य जन परमेश्वर के अस्तित्व से इनकार करते हैं और मोहिनी शक्ति के व्यर्थ के उत्पादों को परम के रुप में स्वीकार करते हैं।

परम कारण भगवान् को उनकी अहैतुकी कृपा द्वारा ही जाना जा सकता है, जो ब्रह्मा जैसे शुद्ध

भक्तों तथा उनकी शिष्य-परम्परा के शुद्ध भक्तों को ही प्रदान की जाती है। ब्रह्माजी एकमात्र तपस्या करने से ही गर्भोदकशायी विष्णु का दर्शन कर सके और उस साक्षात्कार के द्वारा ही वे भगवान् को यथारूप में समझ सके। ब्रह्माजी भगवान् के भव्य सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य को देखकर अत्यधिक तुष्ट थे और उन्होंने यह स्वीकार किया कि वे अतुलनीय हैं। एकमात्र तपस्या द्वारा भगवान् के सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य को सराहा जा सकता है और जब कोई व्यक्ति उस सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य से अवगत हो जाता है, तो वह अन्य किसी वस्तु के द्वारा आकृष्ट नहीं होता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (२.५९) में *परं दृष्ट्वा निवर्तते* के रूप में हुई है।

वे मूर्ख मनुष्य जो भगवान् के परम सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य को खोजने का प्रयास नहीं करते उन्हें यहाँ पर ब्रह्माजी द्वारा धिक्कारा गया है। यह तो अनिवार्य है कि प्रत्येक मनुष्य ऐसे ज्ञान के लिए प्रयत्नशील रहे और यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसका जीवन व्यर्थ जाता है। भौतिक दृष्टि से कोई भी वस्तु जो कि सुन्दर तथा ऐश्वर्यमयी है उन जीवों द्वारा भोगी जाती है, जो कौवों के तुल्य हैं। कौवे सदैव फेंके हुए कूड़े से चारा चुगने में लगे रहते हैं, किन्तु हंस कौवों से मेल-जोल नहीं करते, प्रत्युत वे सुन्दर उद्यानों से घिरे, कमल के फूलों से युक्त पारदर्शी सरोवरों में आनन्द लेते हैं। कौवे तथा हंस दोनों ही जन्म से पक्षी हैं, किन्तु उनके स्वभाव एक से नहीं होते।

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन
शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय ।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं
यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥ २॥

शब्दार्थ

रूपम्—स्वरूप; यत्—जो; एतत्—वह; अवबोध-रस—आपकी अन्तरंगा शक्ति के; उदयेन—प्राकट्य से; शश्वत्—चिरन्तन; निवृत्त—से मुक्त; तमसः—भौतिक कल्मष; सत्-अनुग्रहाय—भक्तों के हेतु; आदौ—पदार्थ की सृजनशक्ति में मौलिक; गृहीतम्—स्वीकृत; अवतार—अवतारों का; शत-एक-बीजम्—सैकड़ों का मूल कारण; यत्—जो; नाभि-पद्म—नाभि से निकला कमल का फूल; भवनात्—घर से; अहम्—मैं; आविरासम्—उत्पन्न हुआ।

मैं जिस रूप को देख रहा हूँ वह भौतिक कल्मष से सर्वथा मुक्त है और अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में भक्तों पर कृपा दिखाने के लिए अवतरित हुआ है। यह अवतार अन्य अनेक अवतारों का उद्गम है और मैं स्वयं आपके नाभि रूपी घर से उगे कमल के फूल से उत्पन्न हुआ हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर (शिव) ये तीन देव, जो तीनगुणों (रजो, सतो तथा तमोगुण) के अधिष्ठाता हैं, गर्भोदकशायी विष्णु से उत्पन्न होते हैं जिनका वर्णन ब्रह्मा यहाँ कर रहे हैं। क्षीरोदकशायी विष्णु से विराट जगत की जीवन अवधि में विभिन्न युगों में अनेक विष्णु विस्तारित होते हैं। इनका विस्तार केवल शुद्ध भक्तों के दिव्य सुख के लिए ही होता है। विभिन्न युगों तथा कालों में प्रकट होने वाले विष्णु के अवतारों की तुलना कभी भी बद्धजीवों से नहीं की जानी चाहिए। विष्णु तत्त्वों की तुलना ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवों से नहीं की जानी चाहिए, न ही वे समान स्तर पर हैं। जो भी इनकी तुलना करता है, वह *पाषण्डी* कहलाता है। यहाँ पर उल्लिखित *तमस:* भौतिक प्रकृति है। आध्यात्मिक प्रकृति का *तमस:* से सर्वथा पृथक् अस्तित्व है। इसीलिए आध्यात्मिक प्रकृति *अवबोध रस* अथवा *अवरोध रस* कहलाती है। *अवरोध* का अर्थ है "जो पूर्णतया निरस्त करे।" अध्यात्म में किसी भी साधन से भौतिक सम्पर्क की कोई सम्भावना नहीं रहती। ब्रह्मा पहले जीव हैं और इसलिए वे गर्भोदकशायी विष्णु के उदर से उत्पन्न कमल के फूल से अपने जन्म का उल्लेख करते हैं।

नात: परं परम यद्भवत: स्वरूप-
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्च: ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अत: परम्—इसके पश्चात्; परम—हे परमेश्वर; यत्—जो; भवत:—आपका; स्वरूपम्—नित्यरूप; आनन्द-मात्रम्—निर्विशेष ब्रह्मज्योति; अविकल्पम्—बिना परिवर्तन के; अविद्ध-वर्च:—शक्ति के ह्रास बिना; पश्यामि—देखता हूँ; विश्व-सृजम्—विराट जगत के स्रष्टा को; एकम्—अद्वय; अविश्वम्—फिर भी पदार्थ का नहीं; आत्मन्—हे परम कारण; भूत—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्मक—ऐसी पहचान से; मद:—गर्व; ते—आपके प्रति; उपाश्रित:—शरणागत; अस्मि—हूँ।

हे प्रभु, मैं आपके इस सच्चिदानन्द रूप से श्रेष्ठ अन्य कोई रूप नहीं देखता। वैकुण्ठ में आपकी निर्विशेष ब्रह्मज्योति में न तो यदाकदा परिवर्तन होता है और न अन्तरंगा शक्ति में कोई ह्रास आता है। मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ, क्योंकि जहाँ मैं अपने भौतिक शरीर तथा इन्द्रियों पर गर्वित हूँ वहीं आप विराट जगत का कारण होते हुए भी पदार्थ द्वारा अस्पृश्य हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहा गया है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:*—परमेश्वर को अंशत: ही जाना जा सकता है और वह भी एकमात्र भगवद्भक्ति के द्वारा। ब्रह्माजी को यह पता चल गया कि परमेश्वर कृष्ण के अनेकानेक सच्चिदानन्द रूप हैं। उन्होंने *ब्रह्म-*

संहिता (५.३३) में परमेश्वर गोविन्द के ऐसे अंशों का वर्णन निम्नवत् किया है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।

वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अद्वैत तथा अच्युत हैं। यद्यपि वे अनेकानेक रूपों में विस्तार करते हैं, किन्तु वे समस्त कारणों के आदि कारण हैं। यद्यपि वे सबसे पुराने व्यक्ति हैं, किन्तु वृद्धावस्था से अप्रभावित रहते हुए वे सदैव तरुण रहते हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को वेदों के किताबी ज्ञान से नहीं जाना जा सकता। उन्हें समझने के लिए भगवद्भक्त के पास जाना पड़ता है।''

भगवान् के यथारूप को समझने का एकमात्र उपाय या तो भगवद्भक्ति है या ऐसे भगवद्भक्त के पास जाना जिसके हृदय में भगवान् सदैव बसते हों। भक्ति की सिद्धि से यह समझा जा सकता है कि निर्विशेष ब्रह्मज्योति तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण का केवल आंशिक स्वरूप है और भौतिक सृष्टि में उनके तीन पुरुष-विस्तार उनके स्वांश हैं। ब्रह्मज्योति के आध्यात्मिक आकाश में कल्पों में भी कोई परिवर्तन नहीं आता और वैकुण्ठलोक में कोई सृजनात्मक कार्यकलाप नहीं होते। काल का प्रभाव उसकी अनुपस्थिति से ही सुस्पष्ट हो जाता है। भगवान् के दिव्य शरीर की किरणें अथवा असीम ब्रह्मज्योति भौतिक शक्ति के प्रभाव से अवरुद्ध नहीं होती हैं। भौतिक जगत में भी आदि स्रष्टा स्वयं भगवान् हैं। वे ब्रह्मा का सृजन करते हैं, जो भगवान् से शक्ति प्राप्त करके परवर्ती स्रष्टा बन जाते हैं।

तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय
ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम् ।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं
योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्—भगवान् श्रीकृष्ण; वा—अथवा; इदम्—यह वर्तमान स्वरूप; भुवन-मङ्गल—हे समस्त ब्रह्माण्डों के लिए सर्वमंगलमय; मङ्गलाय—समस्त सम्पन्नता के लिए; ध्याने—ध्यान में; स्म—मानो था; नः—हमको; दर्शितम्—प्रकट; ते—तुम्हारे; उपासकानाम्—भक्तों का; तस्मै—उनको; नमः—मेरा सादर नमस्कार; भगवते—भगवान् को; अनुविधेम—सम्पन्न करता हूँ; तुभ्यम्—तुमको; यः—जो; अनादृतः—उपेक्षित है; नरक-भाग्भिः—नरक जाने वाले व्यक्तियों द्वारा; असत्-प्रसङ्गैः—भौतिक कथाओं द्वारा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण का यह वर्तमान रूप या उनके द्वारा विस्तार किया हुआ कोई भी दिव्य रूप सारे ब्रह्माण्डों के लिए समान रूप से मंगलमय है। चूँकि आपने यह नित्य साकार रूप प्रकट किया है, जिसका ध्यान आपके भक्त करते हैं, इसलिए मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। जिन्हें नरकगामी होना बदा है वे आपके साकार रूप की उपेक्षा करते हैं, क्योंकि वे लोग भौतिक विषयों की ही कल्पना करते रहते हैं।

तात्पर्य : जहाँ तक परब्रह्म के साकार तथा निर्विशेष रूपों की बात है, उनके साकार रूप भगवान द्वारा समस्त ब्रह्माण्डों के मंगल हेतु विभिन्न स्वांशों के रूप में प्रदर्शित किये जाते हैं। भगवान् के साकार रूप की पूजा ध्यान द्वारा परमात्मा रूप में की जाती है, किन्तु निर्विशेष ब्रह्मज्योति की पूजा नहीं की जाती। जिन्हें भगवान् के निर्विशेष रूप की आसक्ति है, चाहे वह ध्यान में हो या अन्यत्र, वे सब नरकगामी होते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है कि निर्विशेषवादी व्यर्थ ही संसारी मानसिक चिन्तन में अपना समय बरबाद करते हैं, क्योंकि वे सत्य की अपेक्षा मिथ्या तर्कों में आसक्त रहते हैं। अतएव यहाँ पर ब्रह्मा ने निर्विशेषवादियों की संगति की निन्दा की है।

भगवान् के समस्त स्वांश समान रूप से शक्तिमान होते हैं, जैसी कि *ब्रह्म-संहिता* (५.४६) में पुष्टि की गई है—

दीपार्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य
दीपायते विवृतहेतुसमानधर्मा।
यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

भगवान् अपना विस्तार उसी तरह करते हैं, जिस तरह अग्नि की लपटें एक के बाद दूसरे में करती हैं। यद्यपि आदि ज्योति अर्थात् श्रीकृष्ण को परम पुरुष गोविन्द के रूप में स्वीकार किया जाता है, किन्तु राम, नृसिंह तथा वराह जैसे अन्य सारे विस्तार इत्यादि भगवान् के ही समान शक्तिशाली होते हैं। ऐसे समस्त विस्तार दिव्य होते हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में यह स्पष्ट किया गया है कि परम सत्य (परब्रह्म) भौतिक स्पर्श से नित्य अकलुषित होते हैं। भगवान् के दिव्य राज्य में शब्दों तथा कर्मों का इन्द्रजाल नहीं है। भगवान् के सभी रूप दिव्य होते हैं और ऐसे प्रदर्शन सदा समान होते हैं। किसी भक्त

को प्रदर्शित भगवान् का कोई विशेष रूप लौकिक नहीं होता भले ही भक्त में भौतिक इच्छा शेष हो; न ही वह भौतिक शक्ति के प्रभाव के कारण प्रकट होता है जैसाकि निर्विशेषवादी मूर्खतावश मानते हैं। ऐसे निर्विशेषवादी, जो भगवान् के दिव्य रूपों को भौतिक जगत की उपज मानते हैं, निश्चित रूप से नरकगामी होते हैं।

ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम् ।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ये—जो लोग; तु—लेकिन; त्वदीय—आपके; चरण-अम्बुज—चरणकमल; कोश—भीतर; गन्धम्—सुगन्ध; जिघ्रन्ति—सूँघते हैं; कर्ण-विवरैः—कानों के मार्ग से होकर; श्रुति-वात-नीतम्—वैदिक ध्वनि की वायु से ले जाये गये; भक्त्या—भक्ति द्वारा; गृहीत-चरणः—चरणकमलों को स्वीकार करते हुए; परया—दिव्य; च—भी; तेषाम्—उनके लिए; न—कभी नहीं; अपैषि—पृथक्; नाथ—हे प्रभु; हृदय—हृदय रूपी; अम्बु-रुहात्—कमल से; स्व-पुंसाम्—अपने ही भक्तों के।

हे प्रभु, जो लोग वैदिक ध्वनि की वायु द्वारा ले जाई गई आपके चरणकमलों की सुगन्ध को अपने कानों के द्वारा सूँघते हैं, वे आपकी भक्ति-मय सेवा को स्वीकार करते हैं। उनके लिए आप उनके हृदय रूपी कमल से कभी भी विलग नहीं होते।

तात्पर्य : भगवान् के शुद्ध भक्तों के लिए भगवान् के चरणकमलों से परे कुछ भी नहीं है और भगवान् जानते हैं कि ऐसे भक्तों को उससे अधिक कुछ चाहिए भी नहीं। *तु* शब्द विशेष रूप से इस तथ्य को स्थापित करता है। भगवान् भी उन शुद्ध भक्तों के हृदय-कमलों से विलग होना नहीं चाहते। शुद्ध भक्त तथा भगवान् के बीच का यह दिव्य सम्बन्ध होता है। चूँकि भगवान् ऐसे शुद्ध भक्तों के हृदयों से विलग नहीं होना चाहते, अतः यह समझा जाता है कि वे निर्विशेषवादियों की अपेक्षा उन्हें विशेष रूप से अधिक प्रिय हैं। भगवान् के साथ शुद्ध भक्त का सम्बन्ध इसलिए विकसित होता है, क्योंकि भक्त द्वारा वैदिक प्रमाण के वास्तविक आधार पर भगवान् की भक्तिमय सेवा की जाती है। ऐसे शुद्ध भक्त संसारी भावनावादी (भावुक) नहीं होते, अपितु वे वस्तुतः यथार्थवादी होते हैं, क्योंकि उनके कार्यों का समर्थन उन वैदिक अधिकारियों द्वारा होता है जिन्होंने वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित तथ्यों को श्रवण करके ग्रहण किया है।

परया शब्द अत्यन्त सार्थक है। *पराभक्ति* या ईश्वर का स्वतःस्फूर्त प्रेम भगवान् से घनिष्ठ सम्बन्ध का

आधार होता है। भगवान् के साथ सम्बन्ध की यह चरमावस्था प्रामाणिक स्रोतों से यथा *भगवद्गीता* तथा *भागवत* से, भगवान् के विषय में (उनके नाम, रूप, गुण, इत्यादि) भगवान के विशुद्ध भक्तों के मुख से सुनकर प्राप्त की जा सकती है।

तावद्भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; भयम्—भय; द्रविण—सम्पत्ति; देह—शरीर; सुहृत्—सम्बन्धी जन; निमित्तम्—के लिए; शोकः—शोक; स्पृहा—इच्छा; परिभवः—साज-सामग्री; विपुलः—अत्यधिक; च—भी; लोभः—लालच; तावत्—उस समय तक; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; असत्—नश्वर; अवग्रहः—दुराग्रहं; आर्ति-मूलम्—चिन्ता से पूर्ण; यावत्—जब तक; न—नहीं; ते—तुम्हारे; अङ्घ्रिम् अभयम्—सुरक्षित चरणकमल; प्रवृणीत—शरण लेते हैं; लोकः—संसार के लोग।

हे प्रभु, संसार के लोग समस्त भौतिक चिन्ताओं से उद्विग्न रहते हैं—वे सदैव भयभीत रहते हैं। वे सदैव धन, शरीर तथा मित्रों की रक्षा करने का प्रयास करते हैं, वे शोक तथा अवैध इच्छाओं एवं साज-सामग्री से पूरित रहते हैं तथा लोभवश ''मैं'' तथा ''मेरे'' की नश्वरधारणाओं पर अपने दुराग्रह को आधारित करते हैं। जब तक वे आपके सुरक्षित चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करते तब तक वे ऐसी चिन्ताओं से भरे रहते हैं।

तात्पर्य : कोई यह प्रश्न कर सकता है कि यदि कोई पारिवारिक मामलों के विचारों से उद्विग्न रहे तो किस तरह वह सदैव भगवान् के ही नाम, यश, गुण इत्यादि का चिन्तन कर सकता है? भौतिक जगत का हर व्यक्ति इन विचारों में डुबा रहता है कि वह किस तरह अपने परिवार का भरण-पोषण करे, किस तरह अपने धन की रक्षा करे, किस तरह अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के साथ मिलकर चले। इस तरह वह यथास्थिति बनाये रखने के प्रयास में सदैव भय तथा शोक से ग्रस्त रहता है। इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप ब्रह्मा द्वारा कहा गया यह श्लोक अति उपयुक्त है।

भगवान् का शुद्ध भक्त कभी भी अपने को अपने घर का स्वामी नहीं मानता। वह हर वस्तु भगवान् के सर्वोच्च नियंत्रण पर छोड़ देता है, अत: उसे अपने परिवार के भरण-पोषण अथवा अपने परिवार के हितों की रक्षा करने का कोई भय नहीं सताता। इस शरणागति के कारण उसे सम्पत्ति के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता। यदि कोई आकर्षण रहता भी है, तो वह इन्द्रियतृप्ति के निमित्त न होकर

भगवान् की सेवा के प्रति होता है। हो सकता है कि शुद्ध भक्त भी सामान्य व्यक्ति की तरह धन जोड़ने के प्रति आकृष्ट होता हो, किन्तु अन्तर यह है कि भक्त भगवान् की सेवा हेतु धन अर्जित करता है, जबकि सामान्य व्यक्ति अपने इन्द्रियभोग के लिए। इस तरह भक्त के लिए धन का अर्जन, चिन्ता का कारण नहीं बनता जिस तरह वह सांसारिक व्यक्ति के लिए होता है। चूँकि भक्त हर वस्तु को भगवान् के सेवा-भाव के रूप में स्वीकार करता है, अत: धन संग्रह रूपी विषदन्त उखाड़ दिये जाते हैं। यदि साँप का विष निकाल दिया जाय और तब वह किसी व्यक्ति को काटे तो उसका प्रभाव घातक नहीं होता है। इसी तरह भगवान् के निमित्त अर्जित धन के विषैले दाँत नहीं होते हैं और इसका प्रभाव घातक नहीं होता। शुद्ध भक्त जगत में सामान्य व्यक्ति की तरह रहते हुए भी भौतिक सांसारिक मामलों के फंदे में नहीं फंसता।

दैवेन ते हतधियो भवत: प्रसङ्गा-
त्सर्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये ।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना
लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

दैवेन—दुर्भाग्य से; ते—वे; हत-धिय:—स्मृति से वंचित; भवत:—आपकी; प्रसङ्गात्—कथाओं से; सर्व—समस्त; अशुभ—अकल्याणकारी; उपशमनात्—शमन करते हुए; विमुख—के विरुद्ध बने हुए; इन्द्रिया:—इन्द्रियाँ; ये—जो; कुर्वन्ति—करते हैं; काम—इन्द्रिय-तृप्ति; सुख—सुख; लेश—अल्प; लवाय—क्षण भर के लिए; दीना:—बेचारे; लोभ-अभिभूत—लोभ से ग्रसित; मनस:—मन वाले; अकुशलानि—अशुभ कार्यकलाप; शश्वत्—सदैव।

हे प्रभु, वे व्यक्ति जो आपके दिव्य कार्यकलापों के विषय में सर्वमंगलकारी कीर्तन तथा श्रवण करने से वंचित हैं निश्चित रूप से वे अभागे हैं और सद्बुद्धि से विहीन हैं। वे तनिक देर के लिए इन्द्रियतृप्ति का भोग करने हेतु अशुभ कार्यों में लग जाते हैं।

तात्पर्य : अगला प्रश्न है कि लोग भगवान् की महिमा तथा लीलाओं का श्रवण तथा कीर्तन करने जैसे शुभ कार्यों के विरुद्ध क्यों हैं जबकि ये कार्य संसार की सारी चिन्ताओं और झंझटों से पूर्ण स्वतंत्रता दिलाने वाले हैं? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है कि वे इन्द्रियतृप्ति के निमित्त ही किये गये अपने अपराधपूर्ण कार्यों पर अधिदैवी नियंत्रण के कारण अभागे हैं। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्तों को ऐसे अभागे लोगों पर तरस आता है और वे धर्मोपदेश के भाव में उन्हें भक्ति के मार्ग में लाने के लिए राजी करने का प्रयास करते हैं। केवल शुद्ध भक्तों की कृपा से ऐसे अभागे लोग दिव्य सेवा के पद तक

ऊपर उठ पाते हैं।

क्षुत्तृट्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः
शीतोष्णवातवरषैरितरेतराच्च ।
कामाग्निनाच्युतरुषा च सुदुर्भरेण
सम्पश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; त्रि-धातुभिः—तीन-रस, यथा कफ, पित्त तथा वायु; इमाः—ये सभी; मुहुः—सदैव; अर्द्यमानाः—व्यग्र; शीत—जाड़ा; उष्ण—गर्मी; वात—वायु; वरषैः—वर्षा द्वारा; इतर-इतरात्—तथा अन्य अनेक उत्पात; च—भी; काम-अग्निना—प्रबल यौन इच्छा से; अच्युत-रुषा—दुःसह क्रोध; च—भी; सुदुर्भरेण—अत्यन्त असह्य; सम्पश्यतः—देखते हुए; मनः—मन; उरुक्रम—हे महान् कर्ता; सीदते—निराश होता है; मे—मेरा।

हे महान् कर्ता, मेरे प्रभु, ये सभी दीन प्राणी निरन्तर भूख, प्यास, शीत, कफ तथा पित्त से व्यग्र रहते हैं, इन पर कफ युक्त शीतऋतु, भीषण गर्मी, वर्षा तथा अन्य अनेक क्षुब्ध करने वाले तत्त्व आक्रमण करते रहते हैं और ये प्रबल कामेच्छाओं तथा दुःसह क्रोध से अभिभूत होते रहते हैं। मुझे इन पर दया आती है और मैं इनके लिए अत्यन्त सन्तप्त रहता हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्मा जैसे शुद्ध भक्त तथा उनकी शिष्य-परम्परा के अन्य व्यक्ति उन बद्धजीवों की उलझनों को देखकर सदैव दुखी रहते हैं, जो शरीर तथा मन से जुड़ी, भौतिक प्रकृति तथा अन्य ऐसी ही अनेक भौतिक कुदशाओं से सम्बन्धित तीन प्रकार के तापों के प्रहारों से पीड़ित हैं। ऐसी कठिनाइयों से मुक्ति पाने के पर्याप्त उपाय न जानने से पीड़ित व्यक्ति कभी कभी अपने को लोगों का नेता बताते हैं और अभागे अनुयायी ऐसी तथाकथित नेतागिरी से और भी हानि उठाते हैं। यह तो एक अन्धे द्वारा दूसरे अन्धे का मार्गदर्शन करते हुए गड्ढे में गिरा देने के समान है। अतएव जब तक भगवान् के भक्त इन पर दया नहीं दिखाते और इन्हें उचित मार्ग की शिक्षा नहीं देते तब तक इनके जीवन बुरी तरह से असफल होते रहते हैं। ऐसे भगवद्भक्त जो मूर्ख भौतिकतावादी इन्द्रिय-भोक्ताओं को ऊपर उठाने का भार स्वेच्छा से अपने ऊपर लेते हैं, ब्रह्मा के ही समान भगवान् के विश्वासपात्र होते हैं।

यावत्पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ-
मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत् ।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसङ्क्रमेत
व्यर्थापि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; पृथक्त्वम्—विलगाव; इदम्—यह; आत्मनः—शरीर का; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रियतृप्ति के लिए; माया-बलम्—बहिरंगा शक्ति का प्रभाव; भगवतः—भगवान् का; जनः—व्यक्ति; ईश—हे प्रभु; पश्येत्—देखता है; तावत्—तब तक; न—नहीं; संसृतिः—भौतिक जगत का प्रभाव; असौ—वह मनुष्य; प्रतिसङ्क्रमेत—लाँघ सकता है; व्यर्था अपि—यद्यपि अर्थहीन; दुःख-निवहम्—अनेक दुख; वहती—लाते हुए; क्रिया-अर्था—सकाम कर्मों के लिए।

हे प्रभु, आत्मा के लिए भौतिक दुखों का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। फिर भी जब तक बद्धात्मा शरीर को इन्द्रिय भोग के निमित्त देखता है तब तक वह आपकी बहिरंगा शक्ति द्वारा प्रभावित होने से भौतिक कष्टों के पाश से बाहर नहीं निकल पाता।

तात्पर्य : भौतिक जगत में जीव का सारा कष्ट यह है कि उसे जीवन के स्वतंत्र होने की धारणा है। वह बद्ध तथा मुक्त दोनों ही दशाओं में सदैव परमेश्वर के नियमों पर आश्रित रहता है, किन्तु बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से बद्धात्मा अपने को परमेश्वर की प्रभुता से मुक्त (स्वतंत्र) मानता है। उसकी स्वाभाविक स्थिति तो परमेश्वर की इच्छा से अपने को जोड़ना है, किन्तु जब तक वह ऐसा नहीं करता तब तक वह भवबन्धन की बेड़ियों में जकड़ा रहेगा। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.५५) में कहा गया है—*प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्*—उसे मनोरथ द्वारा तैयार की गई सभी प्रकार की योजनाओं का परित्याग करना होता है। जीव को अपने आपको परमेश्वर की इच्छा के साथ जोड़ना होता है। इससे भव-पाश से निकलने में उसे सहायता मिलेगी।

अह्न्यापृतार्तकरणा निशि निःशयाना
नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः ।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव
युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अह्नि—दिन के समय; आपृत—व्यस्त; आर्त—दुखदायी कार्य; करणाः—इन्द्रियाँ; निशि—रात में; निःशयानाः—अनिद्रा; नाना—विविध; मनोरथ—मानसिक चिन्तन; धिया—बुद्धि द्वारा; क्षण—निरन्तर; भग्न—टूटी हुई; निद्राः—नींद; दैव—अतिमानवीय; आहत-अर्थ—हताश; रचनाः—योजनाएँ; ऋषयः—ऋषिगण; अपि—भी; देव—हे प्रभु; युष्मत्—आपकी; प्रसङ्ग—कथा से; विमुखाः—विरुद्ध; इह—इस (जगत) में; संसरन्ति—चक्कर लगाते हैं।

ऐसे अभक्तगण अपनी इन्द्रियों को अत्यन्त कष्टप्रद तथा विस्तृत कार्य में लगाते हैं और रात में उनिद्र रोग से पीड़ित रहते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि विविध मानसिक चिन्ताओं के कारण उनकी नींद को लगातार भंग करती रहती है। वे अतिमानवीय शक्ति द्वारा अपनी विविध योजनाओं में हताश कर दिए जाते हैं। यहाँ तक कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि यदि आपकी दिव्य

कथाओं से विमुख रहते हैं, तो वे भी इस भौतिक जगत में ही चक्कर लगाते रहते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में वर्णन आया है, जिन लोगों को भगवान् की भक्ति में रुचि नहीं होती वे भौतिक कार्यों में लगे रहते हैं। उनमें से अधिकांश लोग दिन के समय कठोर शारीरिक श्रम में लगे रहते हैं। उनकी इन्द्रियाँ भारी औद्योगिक संस्थान के भीमकाय कारखानों में कष्टप्रद कार्य करने में बुरी तरह लगी रहती हैं। ऐसे कारखानों के मालिक अपने औद्योगिक उत्पादों के लिए बाजार खोजने में लगे रहते हैं और मजदूर वर्ग विस्तृत उत्पादन में लगे रहते हैं जिसमें विशाल यांत्रिक व्यवस्था रहती है। कारखाना या फैक्ट्री नरक का दूसरा नाम है। रात्रि होने पर बुरी तरह से व्यस्त मनुष्य अपनी थकी हुई इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए शराब तथा स्त्रियों की शरण में जाते हैं, किन्तु तब भी उन्हें अच्छी नींद नहीं आती, क्योंकि उनकी नाना प्रकार की मानसिक चिन्ताओं वाली योजनाएँ उनकी नींद में निरन्तर व्यवधान डालती रहती हैं। उनिद्र रोग से पीड़ित होने के कारण कभी कभी पर्याप्त आराम के अभाव में उन्हें प्रात:काल नींद सताने लगती है। आधिदैविक शक्ति की व्यवस्था द्वारा संसार के बड़े बड़े विज्ञानी तथा चिन्तक भी अपनी विविध योजनाओं के कारण हताश हो जाते हैं और इस तरह जन्म-जन्मांतर इस भौतिक जगत में सड़ते रहते हैं। भले ही कोई महान् विज्ञानी जगत के त्वरित संहार हेतु परमाणु शक्ति में खोजें करता हो और उसे अपनी सेवा (या कुसेवा) की मान्यता स्वरूप सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार प्रदान किया जाय, किन्तु उसे भी भौतिक प्रकृति के अतिमानवीय नियम के अन्तर्गत बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमते हुए अपने कर्म का फल भोगना पड़ता है। ऐसे सारे लोग जो कि भक्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध होते हैं निश्चित रूप से उन्हें इस भौतिक जगत में चक्कर लगाना पड़ता है।

इस श्लोक में इसका विशेष उल्लेख है कि वे ऋषि भी, जो भगवान् की भक्ति के सिद्धान्त से विमुख रहते हैं, भौतिक जगत के अन्तर्गत बन्धन भोगने के लिए विवश हैं। न केवल इस युग में, अपितु इसके पूर्व भी ऐसे अनेक ऋषि हुए हैं जिन्होंने परमेश्वर की भक्ति का सन्दर्भ दिये बिना अपनी धर्म प्रणालियों का अविष्कार करने का प्रयास किया, किन्तु भगवद्भक्ति के बिना कोई भी धार्मिक सिद्धान्त नहीं चल सकता। परमेश्वर सम्पूर्ण जीव जगत के नायक हैं और कोई भी व्यक्ति उनके तुल्य या उनसे बढ़कर नहीं हो सकता। यहाँ तक कि भगवान् के निर्विशेष रूप तथा सर्वव्यापक अन्तर्यामी रूप भी परमेश्वर की बराबरी नहीं कर सकते। अतएव भक्ति के बिना जीवों की प्रगति हेतु कोई धर्म या

असली दर्शन पद्धति सम्भव नहीं हो सकती।

वे निर्विशेषवादी जो आत्म-मोक्ष के लिए तपस्या करने में काफी कष्ट उठाते हैं भले ही निर्विशेष *ब्रह्मज्योति* तक पहुँच लें, किन्तु अन्ततः भक्ति में स्थित न होने से वे पुनः भौतिक जगत में आ गिरते हैं और पुनः भवबन्धन को भोगते हैं। इसकी पुष्टि इस प्रकार होती है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रियः॥

''वे व्यक्ति जो भगवान् की भक्ति के बिना ही मुक्त होने के झूठे बहकावे में रहते हैं, *ब्रह्मज्योति* के लक्ष्य तक भले ही पहुँच लें, किन्तु अपनी अशुद्ध चेतना के कारण तथा वैकुण्ठलोकों में आश्रय के अभाव में तथाकथित मुक्त लोग पुनः भौतिक संसार में आ गिरते हैं।'' (*भागवत* १०.२.३२)

इसलिए कोई भी व्यक्ति भगवान् की भक्ति के सिद्धान्त के बिना किसी धर्म-प्रणाली का निर्माण नहीं कर सकता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के छठे स्कन्ध में हमें मिलता है, धर्म के प्रवर्तक स्वयं भगवान् हैं। *भगवद्गीता* में भी हम पाते हैं कि भगवान् की शरण ग्रहण करने के अतिरिक्त धर्म के अन्य सभी रूपों की भर्त्सना की गई है। कोई भी प्रणाली जो मनुष्य को भगवद्भक्ति तक ले जाती है, वही असली धर्म या दर्शन है। छठे स्कन्ध में हम अश्रद्धालु जीवों के नियंत्रक यमराज का निम्नलिखित कथन पाते हैं—

धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतं न वै विधुर्ऋषयो नापि देवाः।

न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः कुतो नु विद्याधर चारणादयः॥

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।

गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते॥

''धर्म के सिद्धान्तों का प्रवर्तन भगवान् द्वारा होता है और ऋषियों तथा देवताओं सहित अन्य कोई भी ऐसे सिद्धान्तों का निर्माण नहीं कर सकता। चूँकि बड़े-बड़े ऋषि तथा देवता तक धर्म के ऐसे सिद्धान्तों का प्रवर्तन करने के अधिकारी नहीं होते तो अन्यों के विषय में—तथाकथित योगियों, असुरों,

मनुष्यों, तथा निम्नलोक के निवासी विद्याधरों तथा चारणों के विषय में—क्या कहा जा सकता है? ब्रह्मा, नारद, शिवजी, कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद महाराज, जनक महाराज, भीष्म, बलि, शुकदेव गोस्वामी तथा यमराज—ये बारह अभिकर्ता भगवान् द्वारा धर्म के सिद्धान्तों के विषय में बोलने तथा उसका प्रचार करने के लिए अधिकृत हैं।''(*भागवत* ६.३.१९-२१)

धर्म के सिद्धान्त किसी सामान्य जीव के लिए खुले नहीं होते। वे मानव को नैतिकता के स्तर पर लाने के लिए होते हैं। अहिंसा इत्यादि तो दिग्भ्रमित व्यक्तियों के लिए आवश्यक हैं, क्योंकि जब तक कोई व्यक्ति नैतिक तथा अहिंसक नहीं बनता वह धर्म के सिद्धान्तों को नहीं समझ सकता। वास्तव में धर्म क्या है उसे समझ पाना उस व्यक्ति के लिए भी अत्यन्त कठिन होता है, जो नैतिकता तथा अहिंसा के सिद्धान्तों को प्राप्त होता है। यह अत्यन्त गुह्य है, क्योंकि धर्म के असली सिद्धान्तों से अवगत होते ही मनुष्य मुक्त होकर आनन्द तथा ज्ञान का शाश्वत जीवन बिताता है। अतएव जो व्यक्ति भगवान् की भक्ति के सिद्धान्तों को प्राप्त नहीं है उसे अपने को अबोध जनता का धार्मिक नेता बनने का स्वाँग नहीं रचना चाहिए। *ईशोपनिषद्* ने निम्नलिखित मंत्र में इस बकवास का बलपूर्वक निषेध किया है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥

(*ईशोपनिषद् १२*)

अत:धर्म के नाम पर भक्ति के असली धार्मिक सिद्धान्तों का सन्दर्भ दिये बिना जो अन्य लोगों को गुमराह बनाता है उस व्यक्ति से श्रेष्ठतर, धर्म के सिद्धान्तों से अनजान व्यक्ति है, जो धर्म के मामलों में कुछ भी नहीं करता। धर्म के ऐसे तथाकथित नेताओं की भर्त्सना ब्रह्मा तथा अन्य महाजनों द्वारा अवश्य की जाएगी।

त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुमको; भक्ति-योग—भक्ति में; परिभावित—शत प्रतिशत लगे रहकर; हृत्—हृदय के; सरोजे—कमल में; आस्से—निवास करते हो; श्रुत-ईक्षित—कान के माध्यम से देखा हुआ; पथः—पथ; ननु—अब; नाथ—हे स्वामी; पुंसाम्—भक्तों का; यत्-यत्—जो जो; धिया—ध्यान करने से; ते—तुम्हारा; उरुगाय—हे बहुख्यातिवान्; विभावयन्ति—विशेष रूप से चिन्तन करते हैं; तत्-तत्—वही वही; वपुः—दिव्य स्वरूप; प्रणयसे—प्रकट करते हो; सत्-अनुग्रहाय—अपनी अहैतुकी कृपा दिखाने के लिए।.

हे प्रभु, आपके भक्तगण प्रामाणिक श्रवण विधि द्वारा कानों के माध्यम से आपको देख सकते हैं और इस तरह उनके हृदय विमल हो जाते हैं तथा आप वहाँ पर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। आप अपने भक्तों पर इतने दयालु हैं कि आप अपने को उस अध्यात्म के विशेष नित्य रूप में प्रकट करते हैं जिसमें वे सदैव आपका चिन्तन करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर यह कथन कि भगवान् उस रूप में भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं जिस रूप में वह उनकी पूजा करना चाहता है, यह संकेत करता है कि भगवान् भक्त की इच्छा के अधीन हो जाते हैं—इतने अधिक कि वे भक्त की माँग के अनुसार अपना विशिष्ट रूप प्रकट करते हैं। भगवान् भक्त की इस माँग को पूरा करते हैं, क्योंकि वे भक्त की दिव्य प्रेमपूर्ण सेवा के अनुसार लचीले होते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.११) में भी हुई है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*। किन्तु यह हमें ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् कभी भी भक्त के आदेशवाहक नहीं होते। इस श्लोक में इसका विशेष उल्लेख है—*त्वं भक्तियोगपरिभावित*। यह उस दक्षता का सूचक है, जो भगवान् की परिपक्व *प्रेमाभक्ति* सम्पन्न करने से प्राप्त की जाती है। यह प्रेमावस्था श्रद्धा से प्रेम की क्रमशः विकास-विधि द्वारा प्राप्त की जाती है। श्रद्धा से मनुष्य प्रामाणिक भक्तों की संगति करता है और ऐसी संगति से वह प्रामाणिक भक्ति में संलग्न हो सकता है, जिसमें उचित दीक्षा तथा शास्त्र द्वारा संस्तुत मूल भक्तिमय कार्यों की सम्पन्नता निहित रहती है। इसे यहाँ पर *श्रुतेक्षित* शब्द द्वारा स्पष्ट रूप से सूचित किया गया है। *श्रुतेक्षित* मार्ग में उन प्रामाणिक भक्तों से सुनना होता है, जो वैदिक ज्ञान में पारंगत होते हैं और संसारी आवेश से मुक्त होते हैं। इस प्रामाणिक श्रवण विधि से नवदीक्षित भक्त समस्त भौतिक गंदगी से रहित हो जाता है और इस तरह वह भगवान् के अनेक दिव्य रूपों में से किसी एक के प्रति अनुरक्त हो जाता है जिनका वेदों में वर्णन हुआ है।

भगवान् के किसी विशेष रूप के प्रति भक्त की यह आसक्ति स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण होती है। प्रत्येक जीव मूलतः किसी विशेष प्रकार की दिव्य सेवा के साथ जुड़ा हुआ है, क्योंकि वह भगवान् का

नित्य दास है। श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि जीव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का नित्य दास है। अत: हर जीव का भगवान् के साथ एक विशेष प्रकार का नित्य-दास का सम्बन्ध होता है। यह विशेष आसक्ति भगवान् की वैधी भक्ति के अभ्यास से जागृत होती है और इस तरह भक्त भगवान् के नित्य रूप के साथ उसी तरह जुड़ जाता है, जिस तरह कि पहले से ही नित्य आसक्त व्यक्ति होता है। भगवान् के ऐसे विशेष रूप के प्रति यह आसक्ति *स्वरूप सिद्धि* कहलाती है। भगवान् शुद्ध भक्त के इच्छित नित्य रूप में भक्त के हृदय कमल में आसीन हो जाते हैं और इस तरह भगवान् भक्त से विलग नहीं होते जैसी कि पिछले श्लोक में पुष्टि की गई है। किन्तु भगवान् किसी आकस्मिक या अप्रामाणिक पूजक के समक्ष अपना उद्घाटन नहीं करते। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.२५) में हुई है—*नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावृत:*। प्रत्युत भगवान् अपनी योगमाया द्वारा उन अभक्तों या आकस्मिक भक्तों से अपने को गोपित रखते हैं, जो अपनी इन्द्रियतृप्ति की सेवा में लगे होते हैं। भगवान् कभी भी उन छद्म भक्तों को दृष्टिगोचर नहीं होते जो विश्व के मामलों का भार सँभालने वाले देवताओं की पूजा करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् कभी छद्म भक्त के आदेशवाहक नहीं बन सकते, अपितु वे उस शुद्ध अबद्ध भक्त की इच्छाओं को पूरा करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं, जो समस्त प्रकार के भौतिक दूषण से रहित होता है।

नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारै-
राराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः ।
यत्सर्वभूतदययासदलभ्ययैको
नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अति—अत्यधिक; प्रसीदति—तुष्ट होता है; तथा—जितना; उपचित—ठाठबाट से; उपचारैः—पूजनीय साज सामग्री सहित; आराधितः—पूजित होकर; सुर-गणैः—देवताओं द्वारा; हृदि बद्ध-कामैः—समस्त प्रकार की भौतिक इच्छाओं से पूरित हृदय से; यत्—जो; सर्व—समस्त; भूत—जीव; दयया—उन पर अहैतुकी कृपा दिखाने के लिए; असत्—अभक्त; अलभ्यया—प्राप्त न हो सकने से; एकः—अद्वितीय; नाना—विविध; जनेषु—जीवों में; अवहितः—अनुभूत; सुहृत्—शुभेच्छु मित्र; अन्तः—भीतर; आत्मा—परमात्मा।

हे प्रभु, आप उन देवताओं की पूजा से बहुत अधिक तुष्ट नहीं होते जो आपकी पूजा अत्यन्त ठाठ-बाट से तथा विविध साज-सामग्री के साथ करते तो हैं, किन्तु भौतिक लालसाओं से पूर्ण होते हैं। आप हर एक के हृदय में परमात्मा के रूप में अपनी अहैतुकी कृपा दर्शाने के लिए स्थित

रहते हैं। आप नित्य शुभचिन्तक हैं, किन्तु आप अभक्तों के लिए अनुपलब्ध हैं।

तात्पर्य : भौतिक मामलों के लिए नियुक्त प्रशासक देवलोक के देवता भी भगवान् के भक्त हैं। किन्तु इसी के साथ उनमें भौतिक ऐश्वर्य तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए इच्छाएँ होती हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे उन्हें उनकी इच्छा से भी अधिक समस्त प्रकार का भौतिक सुख प्रदान करते हैं, किन्तु वे उनसे तुष्ट नहीं रहते, क्योंकि वे शुद्ध भक्त नहीं हैं। भगवान् यह नहीं चाहते कि उनके असंख्य पुत्रों (जीवों) में कोई भी तीन तापों वाले भौतिक जगत में रहकर जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग के भौतिक कष्टों को लगातार भोगता रहे। स्वर्गलोक के देवता तथा इस लोक के अनेक भक्त भी भौतिक जगत में भगवद्‌भक्त बने रहकर भौतिक सुख का लाभ उठाना चाहते हैं। वे जीवन के निम्न पद पर आ गिरने का जोखिम उठाकर ऐसा करते हैं जिससे भगवान् उनसे असन्तुष्ट रहते हैं।

शुद्ध भक्तों को न तो किसी भौतिक भोग की आकांक्षा रहती है, न ही वे उससे विमुख रहते हैं। वे भगवान् की इच्छाओं से अपनी इच्छाओं को जोड़ देते हैं और अपने लिए वे कुछ भी नहीं करते। इसका उत्तम उदाहरण अर्जुन है। अर्जुन अपनी भावनाओं से पारिवारिक स्नेहवश युद्ध नहीं करना चाहता था, किन्तु *श्रीमद्‌भगवद्‌गीता* सुनने के बाद उसने भगवान् की इच्छा के लिए लड़ना स्वीकार किया। अतएव भगवान् शुद्ध भक्तों से अत्यधिक सन्तुष्ट रहते हैं, क्योंकि वे अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म न करके एकमात्र भगवान् की इच्छा के अनुसार कर्म करते हैं। परमात्मा रूप में वे हर एक के हृदय में सदैव स्थित रहते हैं और हर एक को अच्छी सलाह से लाभ उठाने का अवसर प्रदान करते हैं। अत: हर व्यक्ति को चाहिए कि इस अवसर का लाभ उठाते हुए पूर्ण मनोयोग से केवल उन्हीं की दिव्य प्रेमाभक्ति करे।

किन्तु अभक्तगण न तो देवताओं जैसे होते हैं न शुद्ध भक्तों जैसे, अपितु वे भगवान् के साथ दिव्य सम्बन्ध बनाने से विमुख रहते हैं। उन्होंने भगवान् के प्रति विद्रोह किया है; इसलिए उन्हें निरन्तर अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है।

भगवद्‌गीता (४.११) में कहा गया है : *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—यद्यपि भगवान् हर जीव पर समान रूप से कृपालु हैं, किन्तु जीव अपनी ओर से भगवान् को कम या ज्यादा प्रसन्न कर सकते हैं। देवता सकाम भक्त कहलाते हैं अर्थात् वे भक्त जिनके मनों में भौतिक इच्छाएँ होती हैं, किन्तु

शुद्ध भक्त निष्काम भक्त कहलाते हैं, क्योंकि उनकी अपने निजी स्वार्थ के लिए इच्छाएँ नहीं होतीं। सकाम भक्त स्व:हितार्थी होते हैं, क्योंकि वे अन्यों के विषय में नहीं सोचते, अतएव वे भगवान् को पूरी तरह से तुष्ट नहीं कर पाते, जबकि शुद्ध भक्तगण अभक्तों को भक्तों में बदलने के धर्मप्रचार का उत्तरदायित्व निभाते हैं, अत: वे भगवान् को देवताओं की अपेक्षा अधिक तुष्ट कर पाते हैं। भगवान् अभक्तों की ओर ध्यान भी नहीं देते यद्यपि वे हर एक के हृदय के भीतर शुभेच्छु तथा परमात्मा के रूप में आसीन रहते हैं। किन्तु वे उन्हें भी अपने ऐसे शुद्ध भक्तों के माध्यम से अपनी कृपा प्राप्त करने का अवसर प्रदान करते हैं, जो धर्मप्रचार कार्यों में लगे हुए हैं। कभी-कभी भगवान् स्वयं ही धर्म प्रचार के कार्यों के लिए अवतरित होते हैं जैसाकि चैतन्य महाप्रभु के रूप में किया था। किन्तु अधिकांशतया वे अपने प्रामाणिक प्रतिनिधियों को भेजते हैं और इस तरह वे अभक्तों के प्रति अपनी अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करते हैं। भगवान् अपने शुद्ध भक्तों से इतना तुष्ट रहते हैं कि वे उन्हें धर्म प्रचार की सफलता का श्रेय देना चाहते हैं, यद्यपि वे इस कार्य को स्वयं कर सकते थे। सकाम भक्तों की तुलना में, अपने शुद्ध निष्काम भक्तों के साथ उनकी तुष्टि का यही संकेत है। भगवान् ऐसे दिव्यकार्यों के साथ ही पक्षपात के आरोप से मुक्त रहते हैं और अपने भक्तों के साथ अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है : यदि भगवान् अभक्तों के हृदय में भी आसीन रहते हैं, तो फिर वे भक्त बनने के लिए प्रेरित क्यों नहीं होते? इसका उत्तर यह है कि ढ़ीढ अभक्त उस बंजड़ या ऊसर खेत की तरह हैं जहाँ कोई भी कृषि-कार्य सफल नहीं हो सकता। भगवान् का भिन्नांश होने से पृथक् जीव को स्वल्प स्वतंत्रता प्राप्त है और इस स्वल्प स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके अभक्तगण भगवान् तथा धर्म प्रचार के कार्य में लगे उनके शुद्ध भक्त, दोनों ही के प्रति अपराध पर अपराध करते जाते हैं। ऐसे कार्यों के परिणामस्वरूप वे ऊसर खेत की तरह बंजड़ बन जाते हैं जिसमें उत्पादन कर पाने की कोई शक्ति नहीं रहती।

पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यै-
दार्नेन चोग्रतपसा परिचर्यया च ।
आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो
धर्मोऽर्पित: कर्हिचिद्म्रियते न यत्र ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पुंसाम्—लोगों का; अतः—इसलिए; विविध-कर्मभिः—नाना प्रकार के सकाम कर्मों द्वारा; अध्वर-आद्यैः—वैदिक अनुष्ठान सम्पन्न करने से; दानेन—दान के द्वारा; च—तथा; उग्र—अत्यन्त कठोर; तपसा—तपस्या से; परिचर्यया—दिव्य सेवा द्वारा; च—भी; आराधनम्—पूजा; भगवतः—भगवान् की; तव—तुम्हारा; सत्-क्रिया-अर्थः—एकमात्र आपको प्रसन्न करने के लिए; धर्मः—धर्म; अर्पितः—इस प्रकार अर्पित; कर्हिचित्—किसी समय; म्रियते—विनष्ट होता है; न—कभी नहीं; यत्र—वहाँ।

किन्तु वैदिक अनुष्ठान, दान, कठोर तपस्या तथा दिव्य सेवा जैसे पुण्य कार्य भी, जो लोगों द्वारा सकाम फलों को आपको अर्पित करके आपकी पूजा करने तथा आपको तुष्ट करने के उद्देश्य से किये जाते हैं, लाभप्रद होते हैं। धर्म के ऐसे कार्य व्यर्थ नहीं जाते।

तात्पर्य : परम भक्ति जो नौ विभिन्न आध्यात्मिक कार्य—यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन इत्यादि द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं, तड़क-भड़क स्वभाव के लोगों को सदैव अच्छी नहीं लगती। वे तो वैदिक बाह्य अनुष्ठानों तथा सामाजिक धार्मिक दिखावे के दूसरे खर्चीले प्रदर्शनों से अधिक आकृष्ट होते हैं। किन्तु वैदिक आदेशों के अनुसार विधि यह है कि सारे पुण्य कर्मों के फल परमेश्वर को अर्पित किये जाँय। *भगवद्गीता* (९.२७) में भगवान् यह माँग करते हैं कि मनुष्य दैनिक कार्यों में जो भी करे यथा पूजा, यज्ञ तथा दान, उन सबका फल एकमात्र उन्हें ही अर्पित किया जाय। परमेश्वर को पुण्य कर्मों के फलों का यह अर्पण भगवान् की भक्ति का एक लक्षण है, जिसका स्थायी महत्त्व होता है, जबकि अपने लिए उन फलों का भोग केवल क्षणिक ही होता है। भगवान् के निमित्त किया गया कोई भी कार्य स्थायी निधि है और यह भगवान् की शुद्ध भक्ति तक क्रमशः उन्नति के लिए अदृश्य पुण्य के रूप में संचित होती है। ये अलक्षित पुण्य कर्म एक न एक दिन परमेश्वर की कृपा से पूर्ण भक्ति के रूप में प्रतिफलित होंगे। अतएव परमेश्वर के निमित्त किये गये किसी भी पुण्य कर्म की संस्तुति यहाँ पर उन लोगों के लिए भी की जाती है, जो शुद्ध भक्त नहीं हैं।

शश्वत्स्वरूपमहसैव निपीतभेद-
मोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै ।
विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीला-
रासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय ॥ १४॥

शब्दार्थ

शश्वत्—शाश्वत रूप से; स्वरूप—दिव्य रूप; महसा—महिमा के द्वारा; एव—निश्चय ही; निपीत—विभेदित; भेद—अन्तर; मोहाय—मोहमयी धारणा के हेतु; बोध—आत्म-ज्ञान; धिषणाय—बुद्धि; नमः—नमस्कार; परस्मै—ब्रह्म को; विश्व-उद्भव—

विराट जगत की सृष्टि; स्थिति—पालन; लयेषु—संहार भी; निमित्त—के हेतु; लीला—ऐसी लीलाओं से; रासाय—भोग हेतु; ते—तुम्हें; नमः—नमस्कार; इदम्—यह; चकृम—मैं करता हूँ; ईश्वराय—परमेश्वर को।

मैं उन परब्रह्म को नमस्कार करता हूँ जो अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा शाश्वत विशिष्ट अवस्था में रहते हैं। उनका विभेदित न किया जा सकने वाला निर्विशेष स्वरूप आत्म-साक्षात्कार हेतु बुद्धि द्वारा पहचाना जाता है। मैं उनको नमस्कार करता हूँ जो अपनी लीलाओं के द्वारा विराट जगत के सृजन, पालन तथा संहार का आनन्द लेते हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा जीवों से सदैव विभेदित होते हैं, यद्यपि वे स्वरूपसिद्ध बुद्धि के द्वारा अपने निर्विशेष रूप में भी समझे जाते हैं। अतएव भगवद्भक्त भगवान् के निर्विशेष रूप को सादर नमस्कार करते हैं। यहाँ पर *रास* शब्द महत्त्वपूर्ण है। रासनृत्य भगवान् कृष्ण द्वारा गोपियों के संग में वृन्दावन में सम्पन्न किया जाता है और गर्भोदकशायी विष्णु भी अपनी उस बहिरंगा शक्ति के साथ रास के भोग में लगे रहते हैं जिसके द्वारा वे सम्पूर्ण भौतिक जगत का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से ब्रह्माजी उन भगवान् श्रीकृष्ण को सादर नमस्कार करते हैं, जो सदैव गोपियों के साथ रासभोग में लगे रहते हैं जिसकी पुष्टि *गोपाल तापनी उपनिषद्* में निम्नलिखित शब्दों द्वारा हुई है—*परार्धान्ते सोऽबुध्यत गोपवेशो मे पुरुषः पुरस्तादाविर्बभूव*

भगवान् तथा जीव के बीच का अन्तर स्पष्ट रूप से तब अनुभव किया जाता है जब उनकी अन्तरंगा शक्ति को समझने के लिए पर्याप्त बुद्धि होती है, जो उस बहिरंगा शक्ति से भिन्न है, जिसके द्वारा वे भौतिक सृष्टि को सम्भव बनाते हैं।

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
तेऽनैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतामृतं तमजं प्रपद्ये ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अवतार—अवतार; गुण—दिव्य गुण; कर्म—कर्म; विडम्बनानि—सभी रहस्यमय; नामानि—दिव्य नाम; ये—वे; असु-विगमे—इस जीवन को छोड़ते समय; विवशाः—स्वतः; गृणन्ति—आवाहन करते हैं; ते—वे; अनैक—अनेक; जन्म—जन्म; शमलम्—संचित पाप; सहसा—तुरन्त; एव—निश्चय ही; हित्वा—त्याग कर; संयान्ति—प्राप्त करते हैं; अपावृत—खुली; अमृतम्—अमरता; तम्—उस; अजम्—अजन्मा की; प्रपद्ये—मैं शरण लेता हूँ।

मैं उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करता हूँ जिनके अवतार, गुण तथा कर्म सांसारिक मामलों के रहस्यमय अनुकरण हैं। जो व्यक्ति इस जीवन को छोड़ते समय अनजाने में भी उनके

दिव्य नाम का आवाहन करता है उसके जन्म-जन्म के पाप तुरन्त धुल जाते हैं और वह उन भगवान् को निश्चित रूप से प्राप्त करता है।

तात्पर्य : भगवान् के अवतारों के कार्यकलाप एक प्रकार से उन कार्यों के अनुकरण हैं, जो भौतिक जगत में चलते रहते हैं। वे मंच पर अभिनेता के समान हैं। अभिनेता मंच पर राजा के कार्यकलापों की नकल उतारता है यद्यपि वह सचमुच में राजा नहीं होता। इसी तरह जब भगवान् अवतरित होते हैं, तो वे ऐसी भूमिकाओं का अनुकरण करते हैं जिनसे उन्हें कुछ भी लेना देना नहीं होता। *भगवद्गीता* (४.१४) में कहा गया है कि भगवान् को उन कार्यों से कुछ भी लेना देना नहीं होता जिनमें वे लगे हुए प्रतीत होते हैं—*न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा*। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं। वे अपनी इच्छामात्र से कोई भी कार्य अथवा प्रत्येक कार्य कर सकते हैं। जब वे कृष्ण के रूप में अवतरित हुए तो उन्होंने यशोदा तथा नन्द के पुत्र-रूप में भूमिका निभाई और उन्होंने गोवर्धन पर्वत उठाया, यद्यपि पर्वत उठाना उनका कार्य नहीं है। वे अपनी इच्छामात्र से लाखों गोवर्धन पर्वतों को उठा सकते हैं। उन्हें अपने हाथ से उसे उठाने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु वे इसे उठा कर सामान्य जीव का अनुकरण करते हैं और साथ ही वे अपनी आधिदैविक शक्ति को दिखाते हैं। इस तरह उनको गोवर्धनधारी नाम से भी पुकारा जाता है। अत: उनके अवतार-रूप के कार्य और भक्तों के प्रति पक्षपात अनुकरण-मात्र हैं जिस तरह कि मंच के दक्ष अभिनेता का वेश होता है। किन्तु उस रूप में उनके सारे कार्य सर्वशक्तिमान के होते हैं और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतारों के ऐसे कार्यों का स्मरण उतना ही शक्तिशाली होता है जितना कि साक्षात् उनका। अजामिल ने अपने पुत्र नारायण के नाम को पुकार करके भगवान् नारायण के पवित्र नाम का स्मरणमात्र किया था, और इससे उसे जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने का पूरा पूरा अवसर प्राप्त हो गया।

यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च
स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम् ।
भित्त्वा त्रिपाद्ववृध एक उरुप्ररोहस्
तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निश्चय ही; अहम् च—मैं भी; गिरिशः च—शिव भी; विभुः—सर्वशक्तिमान; स्वयम्—स्वयं (विष्णु रूप में); च—तथा; स्थिति—पालन; उद्भव—सृजन; प्रलय—संहार; हेतवः—कारण; आत्म-मूलम्—स्वतःस्थित; भित्त्वा—भेदकर; त्रि-पात्—तीन तने; ववृधे—उगा; एकः—अद्वितीय; उरु—अनेक; प्ररोहः—शाखाएँ; तस्मै—उसे; नमः—नमस्कार; भगवते—भगवान् को; भुवन-द्रुमाय—लोक रूपी वृक्ष को।

आप लोक रूपी वृक्ष की जड़ हैं। यह वृक्ष सर्वप्रथम भौतिक प्रकृति को तीन तनों के रूप में—मुझ, शिव तथा सर्वशक्तिमान आपके रूप में—सृजन, पालन तथा संहार के लिए भेदकर निकला है और हम तीनों से अनेक शाखाएँ निकल आई हैं। इसलिए हे विराट जगत रूपी वृक्ष, मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : विराट जगत मोटे तौर पर तीन जगतों में—उच्चतर, निम्न तथा मध्य लोकों में—विभाजित है और तब परम मूल रूप भगवान् के प्राकट्य से यह विराट जगत चौदह लोकों में फैल जाता है। भौतिक प्रकृति, जो विराट जगत का कारण प्रतीत होती है, केवल कारण अथवा भगवान् की शक्ति है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.१०) में हुई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—"केवल भगवान् के अधीक्षण में भौतिक प्रकृति समस्त सृजन, पालन तथा संहार का कारण प्रतीत होती है।" भगवान् पालन, सृजन, तथा संहार के लिए अपना विस्तार क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव इन तीन रूपों में करते हैं। प्रकृति के तीन गुणों के नियंत्रण के इन तीन प्रमुख अभिकर्ताओं में विष्णु सर्वशक्तिमान हैं। यद्यपि वे भौतिक प्रकृति में पालन के निमित्त हैं, किन्तु वे प्रकृति के नियमों द्वारा नियंत्रित नहीं होते। अन्य दो, ब्रह्मा तथा शिव, यद्यपि लगभग विष्णु जितने ही शक्तिशाली हैं, किन्तु वे भगवान् की भौतिक शक्ति के अधीन होते हैं। भौतिक प्रकृति के कई विभागों के अनेक देवताओं द्वारा नियंत्रण किए जाने की विचारधारा मूर्ख सर्वात्मवादी के मन की गन्दी उपज है। ईश्वर अद्वय हैं और वे समस्त कारणों के कारण हैं। जिस तरह सरकारी कामकाज के अनेक विभागीय अध्यक्ष होते हैं उसी तरह ब्रह्माण्ड के कामकाज की व्यवस्था के लिए अनेक अध्यक्ष हैं।

निर्विशेषवादी अल्पज्ञान के कारण यथारूप वस्तुओं की स्वयं की व्यवस्था में विश्वास नहीं करते। किन्तु इस श्लोक में स्पष्ट बताया गया है कि हर वस्तु साकार है, वह निराकार या निर्विशेष नहीं है। प्रस्तावना में हम पहले ही इस बात की व्याख्या कर चुके हैं और इस श्लोक में इसकी पुष्टि हुई है। भौतिक जगत रूपी वृक्ष का वर्णन *भगवद्गीता* में उस *अश्वत्थ* वृक्ष के रूप में हुआ है, जिसकी जड़ें ऊपर को हैं। जब हम किसी जलाशय के तटवर्ती वृक्ष के प्रतिबिम्ब को देखते हैं, तो हमें ऐसे ही वृक्ष

का वास्तविक अनुभव होता है। जल में वृक्ष का प्रतिबिम्ब इसकी ऊर्ध्वमुखी जड़ों से नीचे लटकता प्रतीत होता है। यहाँ जिस सृष्टि रूपी वृक्ष का वर्णन हुआ है, वह सत्य का प्रतिबिम्ब मात्र है और यह सत्य परब्रह्म, विष्णु हैं। वैकुण्ठलोकों की आन्तरिक शक्तिमान अभिव्यक्ति में वास्तविक वृक्ष विद्यमान है और भौतिक प्रकृति में प्रतिबिम्बित वृक्ष इसी वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब मात्र है। निर्विशेषवादियों का यह सिद्धान्त कि ब्रह्म समस्त विविधता से शून्य होता है, झूठा है, क्योंकि *भगवद्गीता* में वर्णित प्रतिबिम्बित वृक्ष असली वृक्ष के प्रतिबिम्ब होने के बिना विद्यमान नहीं रह सकता। असली वृक्ष आध्यात्मिक प्रकृति के नित्य अस्तित्व में स्थित रहता है, जो दिव्य विविधता से पूर्ण है और भगवान् विष्णु उस वृक्ष की भी जड़ हैं। असली तथा मिथ्या दोनों ही वृक्षों की जड़ वही भगवान् हैं, लेकिन मिथ्या वृक्ष असली वृक्ष का विकृत प्रतिबिम्ब मात्र है। यहाँ पर ब्रह्मा अपनी ओर से तथा शिवजी की ओर से असली वृक्ष रूप भगवान् को नमस्कार कर रहे हैं।

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥ १७॥

शब्दार्थ

लोकः—सामान्य लोग; विकर्म—अविचारित कर्म में; निरतः—लगे हुए; कुशले—लाभप्रद कार्य में; प्रमत्तः—लापरवाह; कर्मणि—कर्म में; अयम्—यह; त्वत्—आपके द्वारा; उदिते—घोषित; भवत्—आपकी; अर्चने—पूजा में; स्वे—अपने; यः—जो; तावत्—जब तक; अस्य—सामान्य लोगों का; बलवान्—अत्यन्त शक्तिमान; इह—यह; जीवित-आशाम्—जीवन-संघर्ष; सद्यः—प्रत्यक्षतः; छिनत्ति—काट कर खण्ड खण्ड कर दिया जाता है; अनिमिषाय—नित्य काल द्वारा; नमः—नमस्कार; अस्तु—हो; तस्मै—उसके लिए।

सामान्य लोग मूर्खतापूर्ण कार्यों में लगे रहते हैं। वे अपने मार्गदर्शन हेतु आपके द्वारा प्रत्यक्ष घोषित लाभप्रद कार्यों में अपने को नहीं लगाते। जब तक उनकी मूर्खतापूर्ण कार्यों की प्रवृत्ति बलवती बनी रहती है तब तक जीवन-संघर्ष में उनकी सारी योजनाएँ छिन्न-भिन्न होती रहेंगी। अतएव मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ जो नित्यकाल स्वरूप हैं।

तात्पर्य : सामान्य लोग निरर्थक कार्य में लगे हुए हैं। वे असली लाभप्रद कार्य के प्रति, जो भगवान् की भक्ति है और पारिभाषिक रूप में *अर्चना* विधान कहलाते हैं, बिल्कुल लापरवाह बने रहते हैं। अर्चना विधानों का उपदेश स्वयं भगवान् ने *नारद पांचरात्र* में किया है और उनका बुद्धिमान लोगों

द्वारा कड़ाई से पालन किया जाता है, जो यह भलीभाँति जानते हैं कि जीवन का चरम उद्देश्य उन भगवान् विष्णु तक पहुँचना है, जो विराट जगत रूपी वृक्ष की जड़ हैं। *भागवत* तथा *भगवद्गीता* में भी ऐसे विधानों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि उनका निजी हित विष्णु–अनुभूति में है। *भागवत* (७.५.३०–३२) में कहा गया है—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥
न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं दुराशया ये बहिरर्थमानिनः।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमानास्तेऽपीशतन्त्यामुरुदाम्नि बद्धाः॥
नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किंचनानां न वृणीत यावत्॥

"जो लोग मिथ्या भौतिक सुख में पूरी तरह सड़ने के लिए कटिबद्ध हैं, वे न तो शिक्षकों के उपदेशों द्वारा, न आत्म–साक्षात्कार द्वारा, न ही शिष्टतापूर्ण विचार–विमर्श के द्वारा कृष्णोन्मुख हो सकते हैं। वे बिना लगाम की इन्द्रियों द्वारा अज्ञान के सबसे अंधकारमय क्षेत्र में घसीट कर ले जाए जाते हैं और इस तरह वे चबाये हुए को चबाने में अन्धाधुन्ध लगे रहते हैं।"

"वे अपने मूर्खतापूर्ण कर्मों के कारण यह नहीं जान पाते हैं कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य विराट जगत के स्वामी विष्णु को प्राप्त करना है। इस तरह उनका वह जीवन–संघर्ष भौतिक सभ्यता की गलत दिशा में होता है, जो बहिरंगा शक्ति के अधीन है। उन्हें अपने ही जैसे मूर्ख व्यक्तियों के द्वारा मार्ग दिखलाया जाता है जिस तरह यदि एक अन्धा व्यक्ति दूसरे को रास्ता दिखलाता है, तो दोनों खंदक में जा गिरते हैं।"

"ऐसे मूर्ख लोग उस परम शक्तिमान के कार्यकलापों की ओर जो उनके मूर्खतापूर्ण कर्मों को वस्तुतः निष्प्रभावित करने वाला है, आकृष्ट नहीं हो सकते जब तक कि उनमें यह बुद्धि नहीं आ जाती कि उनका मार्गदर्शन उन महात्माओं द्वारा हो जो भौतिक आसक्ति से पूर्णतया मुक्त हैं।"

भगवद्गीता में भगवान् हर एक से अन्य सारे वृत्तिपरक कार्यों को त्यागने और *अर्चना* कार्यों में या भगवान् को प्रसन्न करने में पूरी तरह लगने के लिए आदेश देते हैं। किन्तु ऐसे अर्चना–कार्य की ओर

प्राय: कोई भी आकृष्ट नहीं होता। हर व्यक्ति न्यूनाधिक रूप में ऐसे कार्यों के प्रति आकृष्ट होता है, जो परमेश्वर के प्रति विद्रोहात्मक कार्य हैं। *ज्ञान* तथा *योग* की पद्धतियाँ भी अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् के प्रति विद्रोहात्मक कार्य हैं। भगवान् की *अर्चना* के अतिरिक्त अन्य कोई कर्म शुभ नहीं है। कभी-कभी *ज्ञान* तथा *योग* को *अर्चना* के क्षेत्र में माना जाता है, जब चरम लक्ष्य एकमात्र विष्णु होता है, अन्यथा नहीं। निष्कर्ष यह है कि एकमात्र भगवद्भक्त ही मोक्ष के योग्य प्रामाणिक मानव है। अन्य लोग व्यर्थ ही, बिना किसी लाभ के, जीवन-संघर्ष में रत हैं।

यस्माद्बिभेम्यहमपि द्विपरार्धधिष्ण्य-
मध्यासितः सकललोकनमस्कृतं यत् ।
तेपे तपो बहुसवोऽवरुरुत्समान-
स्तस्मै नमो भगवतेऽधिमखाय तुभ्यम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यस्मात्—जिससे; बिभेमि—डरता हूँ; अहम्—मैं; अपि—भी; द्वि-पर-अर्ध—४,३०,००,००,०००×२×३०×१२×१०० सौर वर्षों की सीमा तक; धिष्ण्यम्—स्थान में; अध्यासितः—स्थित; सकल-लोक—अन्य सारे लोकों द्वारा; नमस्कृतम्—आदरित; यत्—जिसने; तेपे—किया; तपः—तपस्या; बहु-सवः—अनेकानेक वर्ष; अवरुरुत्समानः—आपको प्राप्त करने की इच्छा से; तस्मै—उन को; नमः—मैं नमस्कार करता हूँ; भगवते—भगवान् को; अधिमखाय—समस्त यज्ञों के भोक्ता; तुभ्यम्—आपको।.

हे प्रभु, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ जो अथक काल तथा समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं। यद्यपि मैं ऐसे स्थान में स्थित हूँ जो दो परार्धों की अवधि तक विद्यमान रहेगा, और यद्यपि मैं ब्रह्माण्ड के अन्य सभी लोकों का अगुआ हूँ, और यद्यपि मैंने आत्म-साक्षात्कार हेतु अनेकानेक वर्षों तक तपस्या की है, फिर भी मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ब्रह्माण्ड के महानतम पुरुष हैं, क्योंकि उनकी आयु सबसे लम्बी है। वे अपने तप, प्रभाव, प्रतिष्ठा इत्यादि के कारण सर्वाधिक सम्माननीय पुरुष हैं फिर भी वे भगवान् को सादर नमस्कार करते हैं। अत: अन्य सारे लोग जो ब्रह्मा के पद से बहुत ही नीचे हैं उनके लिए यह अनिवार्य है कि वे उन्हीं की तरह कर्तव्य समझकर नमस्कार करें।

तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनि-
ष्वात्मेच्छयात्मकृतसेतुपरीप्सया यः ।
रेमे निरस्तविषयोऽप्यवरुद्धदेह-
स्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तिर्यक्—मनुष्येतर पशु; मनुष्य—मानव आदि.; विबुध-आदिषु—देवताओं इत्यादि; जीव-योनिषु—विभिन्न जीव योनियों में; आत्म—आत्मा; इच्छया—इच्छा द्वारा; आत्म-कृत—स्वतःउत्पन्न; सेतु—दायित्व; परीप्सया—बनाये रखने की इच्छा से; यः—जो; रेमे—दिव्य लीला सम्पन्न करते हुए; निरस्त—अधिक प्रभावित हुए बिना; विषयः—भौतिक कल्मष; अपि—निश्चय ही; अवरुद्ध—प्रकट; देहः—दिव्य शरीर; तस्मै—उस; नमः—मेरा नमस्कार; भगवते—भगवान् को; पुरुषोत्तमाय—आदि भगवान्।

हे प्रभु, आप अपनी दिव्य लीलाएँ सम्पन्न करने हेतु स्वेच्छा से विविध जीवयोनियों में, मनुष्येतर पशुओं में तथा देवताओं में प्रकट होते हैं। आप भौतिक कल्मष से तनिक भी प्रभावित नहीं होते। आप धर्म के अपने सिद्धान्तों के दायित्वों को पूरा करने के लिए ही आते हैं, अतः, हे परमेश्वर ऐसे विभिन्न रूपों को प्रकट करने के लिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : विभिन्न जीवयोनियों में भगवान् के अवतार सर्वथा दिव्य हैं। वे कृष्ण, राम इत्यादि अपने अवतारों में मनुष्य रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु वे मनुष्य नहीं हैं। जो व्यक्ति उन्हें सामान्य मनुष्य समझने की भूल करता है, वह निश्चय ही अल्पज्ञ है जैसाकि *भगवद्गीता* (९.११) में पुष्टि की गई है—*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*। यही सिद्धान्त तब भी लागू होता है जब वे शूकर या मत्स्य के रूप में अवतरित होते हैं। ये भगवान् के दिव्य रूप हैं, जो उनकी निजी इच्छा तथा लीलाओं की कुछ आवश्यकताओं के अन्तर्गत ही प्रकट होते हैं। उन्हें ऐसे दिव्य रूपों का प्राकट्य अपने भक्तों को प्रोत्साहित करने के लिए ही करना पड़ता है। जब जब उन्हें अपने भक्तों का उद्धार करने तथा अपने सिद्धान्तों को बनाये रखने की आवश्यकता होती है तब तब उनके विविध अवतार प्रकट होते हैं।

योऽविद्ययानुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या
निद्रामुवाह जठरीकृतलोकयात्रः ।
अन्तर्जलेऽहिकशिपुस्पर्शानुकूलां
भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यः—जो, जिसने; अविद्यया—अविद्या से प्रभावित; अनुपहतः—प्रभावित हुए बिना; अपि—भी; दश-अर्ध—पाँच; वृत्त्या—अन्योन्य क्रिया; निद्राम्—नींद; उवाह—स्वीकार किया; जठरी—उदर के भीतर; कृत—ऐसा करते हुए; लोक-यात्रः—विभिन्न जीवों का पालन पोषण; अन्तः-जले—प्रलयरूपी जल के भीतर; अहि-कशिपु—सर्प-शय्या पर; स्पर्श-अनुकूलाम्—स्पर्श के लिए सुखी; भीम-ऊर्मि—प्रचण्ड लहरों की; मालिनि—शृंखला; जनस्य—बुद्धिमान पुरुष का; सुखम्—सुख; विवृण्वन्—प्रदर्शित करते हुए।

हे प्रभु, आप उस प्रलयकालीन जल में शयन करने का आनन्द लेते हैं जहाँ प्रचण्ड लहरें उठती रहती हैं और बुद्धिमान लोगों को अपनी नींद का सुख दिखाने के लिए आप सर्पों की

शय्या का आनन्द भोगते हैं। उस काल में ब्रह्माण्ड के सारे लोक आपके उदर में स्थित रहते हैं।

तात्पर्य : ऐसे लोग जो अपनी शक्ति की सीमा से परे नहीं सोच पाते, कुएं के उन मेंढकों के समान हैं, जो विशाल प्रशान्त महासागर की लम्बाई-चौड़ाई की कल्पना नहीं कर सकते। ऐसे लोग जब यह सुनते हैं कि भगवान् तो ब्रह्माण्ड के विशाल सागर में अपनी शय्या पर शयन करते हैं, तो वे इसे गप्प मान बैठते हैं। उन्हें आश्चर्य होता है कि कोई किस तरह पानी में लेट कर सुखपूर्वक सो सकता है। किन्तु थोड़ी सी बुद्धि लगाने पर इस मूर्खतापूर्ण आश्चर्य को कम किया जा सकता है। समुद्र की तली में ऐसे विविध जीव हैं, जो भोजन करने, सोने, रक्षा करने तथा संभोग करने जैसे भौतिक शारीरिक कार्यों का भी आनन्द लेते हैं। यदि ऐसे नगण्य जीव जल के भीतर जीवन का आनन्द ले सकते हैं, तो सर्वशक्तिमान परमेश्वर सर्प के शीतल शरीर पर क्यों नहीं सो सकते और सागर की प्रचण्ड लहरों की उथल-पुथल का आनन्द क्यों नहीं ले सकते? भगवान् की विशेषता यह है कि उनके सारे कार्य दिव्य होते हैं और वे काल तथा दिक् की सीमाओं से बाधित हुए बिना कुछ भी तथा सब कुछ कर सकते हैं। वे भौतिक मान्यताओं के प्रति उदासीन रहकर अपना दिव्य आनन्द भोग सकते हैं।

यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य
लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण ।
तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योग-
निद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसकी; नाभि—नाभि; पद्म—कमल रूपी; भवनात्—घर से; अहम्—मैं; आसम्—प्रकट हुआ; ईड्य—हे पूजनीय; लोक-त्रय—तीनों लोकों के; उपकरणः—सृजन में सहायक बनकर; यत्—जिसकी; अनुग्रहेण—कृपा से; तस्मै—उसको; नमः—मेरा नमस्कार; ते—तुमको; उदर-स्थ—उदर के भीतर स्थित; भवाय—ब्रह्माण्ड से युक्त; योग-निद्रा-अवसान—उस दिव्य निद्रा के अन्त होने पर; विकसत्—खिले हुए; नलिन-ईक्षणाय—जिसकी खुली आँखें कमलों के समान हैं उसे।

हे मेरी पूजा के लक्ष्य, मैं आपकी कृपा से ब्रह्माण्ड की रचना करने हेतु आपके कमल-नाभि रूपी घर से उत्पन्न हुआ हूँ। जब आप नींद का आनन्द ले रहे थे, तब ब्रह्माण्ड के ये सारे लोक आपके दिव्य उदर के भीतर स्थित थे। अब आपकी नींद टूटी है, तो आपके नेत्र प्रातःकाल में खिलते हुए कमलों की तरह खुले हुए हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी हमें प्रातः (४ बजे) से सायंकाल (१० बजे) तक के अर्चाविधान के शुभारम्भ की शिक्षा दे रहे हैं। भक्त को तड़के अपने बिस्तर से उठकर भगवान् की प्रार्थना करनी होती है और

प्रात:कालीन मंगल-आरति करने के अन्य विधि-विधान पूरे करने होते हैं। अभक्त मूर्ख-जन अर्चना की महत्ता न समझ सकने के कारण इन विधि-विधानों की आलोचना करते हैं, किन्तु उन्हें यह नहीं दिखता कि भगवान् भी स्वेच्छा से सोते हैं। ब्रह्म की निर्विशेष धारणा भक्ति-मार्ग के लिए इतनी बाधक है कि ढ़ीढ अभक्तों के संग रह पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वे सदैव भौतिक अवधारणाओं के अनुसार ही सोचते हैं।

निर्विशेषवादी सदैव उल्टा सोचते हैं। वे सोचते हैं कि चूँकि पदार्थ में रूप है इसलिए आत्मा रूपविहीन होगा। चूँकि पदार्थ में निद्रा है, अत: आत्मा में निद्रा नहीं हो सकती और चूँकि *अर्चना* में अर्चाविग्रह की निद्रा को स्वीकार किया जाता है, अत: अर्चना माया है। ये समस्त विचार मूलत: भौतिक हैं। तो भी सकारात्मक या नकारात्मक रूप से सोचना भौतिकता है। वेदों के श्रेष्ठ स्रोत से स्वीकार किया गया ज्ञान मानक होता है। *श्रीमद्भागवत* के इन श्लोकों में *अर्चना* की संस्तुति की गई है। सृजन का कार्य अपने हाथों में लेने से पूर्व ब्रह्मा ने देखा कि भगवान् प्रलयकालीन जल की लहरों में सर्प की शय्या में सो रहे हैं। इसलिए शयन करना भगवान् की अन्तरंगा शक्ति में निहित रहता है और भगवान् के शुद्ध भक्तगण, यथा ब्रह्मा तथा उनकी परम्परा के भक्त, इससे इनकार नहीं करते। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् जल की प्रचण्ड लहरों के बीच अतीव सुखपूर्वक सो रहे थे जिसके द्वारा वे यह दिखाना चाह रहे थे कि वे अपनी दिव्य इच्छा से कुछ भी कर सकते हैं और किसी भी परिस्थिति में उन्हें विघ्न नहीं पहुचता है। मायावादी इस भौतिक अनुभव से परे सोच ही नहीं सकता, अतएव वह भगवान् की पानी में सोने की क्षमता को नकारता है। उसका दोष यही है कि वह भगवान् की तुलना अपने से करता है और वह तुलना भी एक भौतिक सोच है। समस्त मायावादी दर्शन मूलत: भौतिक है, क्योंकि यह *नेति नेति* (यह नहीं,वह नहीं) पर आधारित है। ऐसे विचार से किसी को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को यथारूप में जानने का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता।

सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा
सत्त्वेन यन्मृडयते भगवान्भगेन ।
तेनैव मे दृशमनुस्पृशताद्यथाहं
स्त्रक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियोऽसौ ॥ २२॥

शब्दार्थ

सः—वह; अयम्—भगवान्; समस्त-जगताम्—समस्त ब्रह्माण्डों में से; सुहृत् एकः—एकमात्र मित्र तथा दार्शनिक; आत्मा—परमात्मा; सत्त्वेन—सतोगुण के द्वारा; यत्—जो; मृडयते—सुख उत्पन्न करता है; भगवान्—भगवान्; भगेन—छः ऐश्वर्यों द्वारा; तेन—उसके द्वारा; एव—निश्चय ही; मे—मुझको; दृशम्—आत्मपरीक्षण की शक्ति, अन्तर्दृष्टि; अनुस्पृशतात्—वह दे; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; स्त्रक्ष्यामि—सृजन कर सकूँगा; पूर्व-वत्—पहले की तरह; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; प्रणत—शरणागत; प्रियः—प्रिय; असौ—वह (भगवान्)।

परमेश्वर मुझ पर कृपालु हों। वे इस जगत में सारे जीवों के एकमात्र मित्र तथा आत्मा हैं और वे अपने छः ऐश्वर्यों द्वारा जीवों के चरम सुख हेतु इन सबों का पालन-पोषण करते हैं। वे मुझ पर कृपालु हों, जिससे मैं पहले की तरह सृजन करने की आत्मपरीक्षण शक्ति से युक्त हो सकूँ, क्योंकि मैं भी उन शरणागत जीवों में से हूँ जो भगवान् को प्रिय हैं।

तात्पर्य : भगवान् पुरुषोत्तम अर्थात् श्रीकृष्ण दिव्य तथा भौतिक दोनों ही जगतों में सबों के पालनकर्ता हैं। वे सबों के जीवन तथा मित्र हैं, क्योंकि जीवों तथा भगवान् के बीच शाश्वत सहज स्नेह तथा प्रेम होता है। वे सबों के एकमात्र मित्र तथा हितैषी हैं और वे अद्वय हैं। भगवान् अपने छः दिव्य ऐश्वर्यों द्वारा सर्वत्र समस्त जीवों का पालन करते हैं जिसके कारण वे *भगवान्* अथवा पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर कहलाते हैं। ब्रह्माजी ने भगवान् की कृपा पाने के लिए प्रार्थना की जिससे वे पहले की तरह ब्रह्माण्ड का सृजन करने में समर्थ हो सकें। केवल भगवान् की अहैतुकी कृपा से वे मरीचि तथा नारद जैसी भौतिक तथा आध्यात्मिक विभूतियों का सृजन कर सके। ब्रह्मा ने भगवान् से प्रार्थना की, क्योंकि शरणागत के प्रति वे अतीव प्रिय रहते हैं। शरणागत आत्मा भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानता, अतएव भगवान् उसके प्रति अतीव वत्सल रहते हैं।

एष प्रपन्नवरदो रमयात्मशक्त्या
यद्यत्करिष्यति गृहीतगुणावतारः ।
तस्मिन्स्वविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो
युञ्जीत कर्मशमलं च यथा विजह्याम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; प्रपन्न—शरणागत; वर-दः—वर देने वाला; रमया—लक्ष्मीदेवी के साथ रमण करते हुए; आत्म-शक्त्या—अपनी अन्तरंगा शक्ति सहित; यत् यत्—जो जो; करिष्यति—वह कर सके; गृहीत—स्वीकार करते हुए; गुण-अवतारः—सतोगुण का अवतार; तस्मिन्—उसको; स्व-विक्रमम्—सर्वशक्तिमत्ता से; इदम्—इस विराट जगत को; सृजतः—रचते हुए; अपि—भी; चेतः—हृदय; युञ्जीत—लगा रहे; कर्म—कार्य; शमलम्—भौतिक प्रभाव, व्याधि; च—भी; यथा—यथासम्भव; विजह्याम्—मैं त्याग सकता हूँ।

भगवान् सदा ही शरणागतों को वर देने वाले हैं। उनके सारे कार्य उनकी अन्तरंगा शक्ति रमा

या लक्ष्मी के माध्यम से सम्पन्न होते हैं। मेरी उनसे यही विनती है कि भौतिक जगत के सृजन में वे मुझे अपनी सेवा में लगा लें और मेरी यही प्रार्थना है कि मैं अपने कर्मों द्वारा भौतिक रूप से प्रभावित न होऊँ, क्योंकि इस तरह मैं स्रष्टा होने की मिथ्या-प्रतिष्ठा त्यागने में सक्षम हो सकूँगा।

तात्पर्य : भौतिक सृजन, पालन तथा संहार के निमित्त प्रकृति के तीन गुणावतार—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर—हैं। किन्तु विष्णु रूप में, अपनी अन्तरंगा शक्ति में भगवान् का अवतार सम्पूर्ण कार्यों के लिए परम शक्ति है। ब्रह्मा ने, जो सृजन के गुणों में सहायक मात्र हैं भगवान् के उपकरण रूप में अपने वास्तविक पद पर बने रहने की इच्छा व्यक्त की। न कि अपने को स्रष्टा होने की झूठी प्रतिष्ठा से गर्वित होने की। भगवान् का प्रिय बनने और उनका वर पाने की, यही विधि है। मूर्ख लोग अपने द्वारा निर्मित सम्पूर्ण सृजनों का श्रेय लेना चाहते हैं, किन्तु बुद्धिमान लोग यह भली-भाँति जानते हैं कि भगवान् की इच्छा के बिना एक पत्ती भी नहीं हिल सकती। इस तरह अद्भुत सृजनों का श्रेय भगवान् को मिलना चाहिए। एकमात्र आध्यात्मिक चेतना द्वारा ही मनुष्य अपने को भौतिक संसर्ग के कल्मष से मुक्त कर सकता है और भगवान् द्वारा प्रदत्त वर प्राप्त कर सकता है।

नाभिह्रदादिह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो
विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः ।
रूपं विचित्रमिदमस्य विवृण्वतो मे
मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः ॥ २४॥

शब्दार्थ

नाभि-ह्रदात्—नाभिरूपी झील से; इह—इस कल्प में; सतः—लेटे हुए; अम्भसि—जल में; यस्य—जिसका; पुंसः—भगवान् का; विज्ञान—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की; शक्तिः—शक्ति; अहम्—मैं; आसम्—उत्पन्न हुआ था; अनन्त—असीम; शक्तेः—शक्तिशाली का; रूपम्—स्वरूप; विचित्रम्—विचित्र; इदम्—यह; अस्य—उसका; विवृण्वतः—प्रकट करते हुए; मे—मुझको; मा—नहीं; रीरिषीष्ट—लुप्त; निगमस्य—वेदों की; गिराम्—ध्वनियों का; विसर्गः—कम्पन।

भगवान् की शक्तियाँ असंख्य हैं। जब वे प्रलय-जल में लेटे रहते हैं, तो उस नाभिरूपी झील से, जिसमें कमल खिलता है, मैं समग्र विश्वशक्ति के रूप में उत्पन्न होता हूँ। इस समय मैं विराट जगत के रूप में उनकी विविध शक्तियों को उद्घाटित करने में लगा हुआ हूँ। इसलिए मैं प्रार्थना करता हूँ कि अपने भौतिक कार्यों को करते समय मैं वैदिक स्तुतियों की ध्वनि से कहीं विचलित न हो जाऊँ।

तात्पर्य : इस जगत का प्रत्येक व्यक्ति जो कि भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हुआ है

अनेकानेक भौतिक गतिविधियों की ओर प्रवृत्त होता है और यदि वह अपने को भौतिक संसर्ग के प्रहार से बचा पाने में समर्थ नहीं होता तो वह आध्यात्मिक शक्ति से विपथ हो सकता है। भौतिक सृष्टि में ब्रह्मा को सभी प्रकार के जीवों का सृजन करना था जिस के साथ उन सबके शरीर उनकी भौतिक स्थितियों के अनुकूल हों। ब्रह्मा चाहते हैं कि भगवान् उनकी रक्षा करें, क्योंकि उनका सम्पर्क अनेकानेक दूषित जीवों से होना था। एक सामान्य ब्राह्मण अनेक पतित बद्धात्माओं की संगति के कारण अपने *ब्रह्मतेज* से नीचे गिर सकता है। सर्वोच्च ब्राह्मण के रूप में ब्रह्मा ऐसे पतन से भयभीत हैं, इसीलिए सुरक्षा के लिए वे भगवान् से प्रार्थना करते हैं। जीवन की आध्यात्मिक प्रगति में यह हर एक के लिए चेतावनी है। जब तक कोई भगवान् द्वारा पर्याप्त रूप से सुरक्षित न हो, वह अपने आध्यात्मिक पद से नीचे गिर सकता है, अतएव अपनी सुरक्षा के लिए तथा अपना कार्य करते रहने के लिए आशीर्वाद हेतु मनुष्य को निरन्तर भगवान् से प्रार्थना करनी होती है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी अपना धर्मप्रचार कार्य अपने भक्तों को सौंप दिया था और उन्हें भौतिक संसर्ग के प्रहार के प्रति सुरक्षा का आश्वासन दे रखा था। वेदों में आध्यात्मिक जीवन के मार्ग को तेज उस्तरे की धार के समान बताया गया है। थोड़ी सी भी असावधानी से तुरन्त ही ऊहापोह तथा रक्तपात हो सकता है, किन्तु जो व्यक्ति पूर्णतया शरणागत है और अपने को सौंपे हुए कार्य को सम्पन्न करने में सदैव भगवान् से रक्षा की याचना करता रहता है उसे भौतिक कल्मष में गिरने का कोई भय नहीं रहता।

सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान्विवृद्ध-
प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन् ।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं
माध्व्या गिरापनयतात्पुरुषः पुराणः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान्); असौ—उस; अदभ्र—असीम; करुणः—कृपालु; भगवान्—भगवान्; विवृद्ध—अत्यधिक; प्रेम—प्रेम; स्मितेन—हँसी द्वारा; नयन-अम्बुरुहम्—कमलनेत्रों को; विजृम्भन्—खोलते हुए; उत्थाय—उत्थान हेतु; विश्व-विजयाय—विराट सृष्टि की महिमा के गायन हेतु; च—भी; नः—हमारी; विषादम्—निराशा; माध्व्या—मधुर; गिरा—शब्द; अपनयतात्—वे दूर करें; पुरुषः—परम; पुराणः—सबसे प्राचीन।

भगवान् जो कि परम हैं और सबसे प्राचीन हैं, अपार कृपालु हैं। मैं चाहता हूँ कि वे अपने कमलनेत्रों को खोल कर मुसकाते हुए मुझे वर दें। वे सम्पूर्ण विराट सृष्टि का उत्थान कर सकते हैं और अपने कृपापूर्ण आदेशों के द्वारा हमारा विषाद दूर कर सकते हैं।

तात्पर्य : भगवान् इस भौतिक जगत के पतितात्माओं पर अत्यधिक कृपालु हैं। सम्पूर्ण विराट जगत सबों के लिए अपनी भगवद्भक्ति बढ़ाने के लिए सुअवसर है और हर व्यक्ति इसी प्रयोजन के लिए है। भगवान् अपना विस्तार अनेक पुरुषों में करते हैं, जो या तो स्वांश होते हैं या विभिन्नांश। व्यष्टि आत्माओं वाले पुरुष उनके विभिन्नांश हैं जबकि स्वांश साक्षात् भगवान् होते हैं। स्वांश सेव्य होते हैं और विभिन्नांश आनन्द तथा ज्ञान के सर्वोच्च स्वरूप के साथ दिव्य आनन्द के आदान-प्रदान हेतु सेवक होते हैं। मुक्तात्माएँ बिना भौतिक कल्पित विचारों के सेव्य तथा सेवक के आनन्दमय आदान-प्रदान में सम्मिलित हो सकती हैं। सेव्य तथा सेवक के बीच ऐसे दिव्य आदान-प्रदान का विशिष्ट उदाहरण गोपियों के साथ सम्पन्न उनकी *रासलीला* है। गोपियाँ अन्तरंगा शक्ति की सेवक अंश हैं, अतएव रास लीला नृत्य में भगवान् के सम्मिलित होने को कभी भी पुरुष तथा स्त्री के संसारी सम्बन्ध जैसा नहीं मानना चाहिए। प्रत्युत भगवान् तथा जीवों के मध्य विचारों के आदान-प्रदान की यह सर्वोच्च सिद्धावस्था है। भगवान् पतितात्माओं को जीवन की इस सर्वोच्च सिद्धि के लिए अवसर प्रदान करते हैं। ब्रह्माजी को सम्पूर्ण विराट जगत की व्यवस्था का भार सौंपा गया है, अतएव वे भगवान् से आशीर्वाद माँगते हैं जिससे वे अपने इस कार्य को सम्पन्न कर सकें।

मैत्रेय उवाच
स्वसम्भवं निशाम्यैवं तपोविद्यासमाधिभिः ।
यावन्मनोवचः स्तुत्वा विरराम स खिन्नवत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; **स्व-सम्भवम्**—अपने प्राकट्य का स्रोत; **निशाम्य**—देखकर; **एवम्**—इस प्रकार; **तपः**—तपस्या; **विद्या**—ज्ञान; **समाधिभिः**—तथा मन की एकाग्रता द्वारा; **यावत्**—यथासम्भव; **मनः**—मन; **वचः**—शब्द; **स्तुत्वा**—स्तुति करके; **विरराम**—मौन हो गया; **सः**—वह (ब्रह्मा); **खिन्न-वत्**—मानो थक गया हो।

मैत्रेय मुनि ने कहा : हे विदुर, अपने प्राकट्य के स्रोत अर्थात् भगवान् को देखकर ब्रह्मा ने अपने मन तथा वाणी की क्षमता के अनुसार उनकी कृपा हेतु यथासम्भव स्तुति की। इस प्रकार स्तुति करने के बाद वे मौन हो गये मानो अपनी तपस्या, ज्ञान तथा मानसिक एकाग्रता के कारण वे थक गये हों।

तात्पर्य : ब्रह्मा में ज्ञान का प्रकाश इसलिए हुआ, क्योंकि भगवान् उनके हृदय में विराजमान थे। उत्पन्न होने के बाद ब्रह्माजी अपने प्राकट्य के स्रोत को सुनिश्चित नहीं कर पाये, किन्तु तपस्या तथा

मानसिक एकाग्रता के बाद वे अपने जन्म के स्रोत को देख सके और इस तरह अपने हृदय के माध्यम से उन्हें प्रकाश प्राप्त हुआ। बाह्य गुरु तथा अन्तरिक गुरु दोनों ही भगवान् का प्रतिनिधित्व करते हैं। जब तक ऐसे प्रामाणिक प्रतिनिधित्व से किसी का सम्पर्क नहीं हो जाता तब तक वह अपने को गुरु नहीं कह सकता। ब्रह्माजी को बाह्य गुरु से सहायता लेने का अवसर ही नहीं था, क्योंकि उस समय ब्रह्माण्ड में वे ही एकमात्र प्राणी थे। अतएव ब्रह्मा की स्तुतियों से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें प्रत्येक वस्तु के विषय में भीतर से प्रबुद्ध किया।

अथाभिप्रेतमन्वीक्ष्य ब्रह्मणो मधुसूदनः ।
विषण्णचेतसं तेन कल्पव्यतिकराम्भसा ॥ २७॥
लोकसंस्थानविज्ञान आत्मनः परिखिद्यतः ।
तमाहागाधया वाचा कश्मलं शमयन्निव ॥ २८॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अभिप्रेतम्—मंशा, मनोभाव; अन्वीक्ष्य—देखकर; ब्रह्मणः—ब्रह्मा का; मधुसूदनः—मधु नामक असुर के वधकर्ता; विषण्ण—खिन्न; चेतसम्—हृदय के; तेन—उसके द्वारा; कल्प—युग; व्यतिकर-अम्भसा—प्रलयकारी जल; लोक-संस्थान—लोक की स्थिति; विज्ञाने—विज्ञान में; आत्मनः—स्वयं को; परिखिद्यतः—अत्यधिक चिन्तित; तम्—उससे; आह—कहा; अगाधया—अत्यन्त विचारपूर्ण; वाचा—शब्दों से; कश्मलम्—अशुद्धियाँ; शमयन्—हटाते हुए; इव—मानो।

भगवान् ने देखा कि ब्रह्माजी विभिन्न लोकों की योजना बनाने तथा उनके निर्माण को लेकर अतीव चिन्तित हैं और प्रलयंकारी जल को देखकर खिन्न हैं। वे ब्रह्मा के मनोभाव को समझ गये, अतः उन्होंने उत्पन्न मोह को दूर करते हुए गम्भीर एवं विचारपूर्ण शब्द कहे।

तात्पर्य : प्रलयकारी जल इतना भयावना था कि इसे देखकर ब्रह्मा तक विचलित हो गये थे और अत्यन्त चिन्तित थे कि विभिन्न जीवों को यथा मनुष्यों, मनुष्येतर तथा अतिमानवीय प्राणियों को स्थान देने के लिए बाह्य आकाश में विभिन्न लोकों को किस तरह स्थापित किया जाय। ब्रह्माण्ड के सारे लोक प्रकृति के गुणों के प्रभाव के अधीन विभिन्न कोटि के जीवों के अनुसार स्थित हैं। प्रकृति के गुण तीन हैं और परस्पर मिलाने पर ये नौ हो जाते हैं और जब इन नौ को मिलाया जाता है, तो वे इक्यासी बन जाते हैं। इसके बाद ये इक्यासी भी परस्पर मिलकर इतनी संख्या में हो जाते हैं कि भ्रम बढ़ता ही जाता है। ब्रह्माजी को निश्चित संख्या में बद्धजीवों को विभिन्न स्थानों तथा पदों पर स्थापित करना था। यह कार्य ब्रह्मा को ही करना था और ब्रह्माण्ड में अन्य कोई ऐसा नहीं जो यह समझ भी पाता हो कि यह

कार्य कितना कठिन था। किन्तु भगवान् की दया से ब्रह्मा इस गुरुतर कार्य को इतनी दक्षता से सम्पन्न कर सके कि हर व्यक्ति *विधाता* की करामात देखकर चकित है।

श्रीभगवानुवाच
मा वेदगर्भ गास्तन्द्रीं सर्ग उद्यममावह ।
तन्मयापादितं ह्यग्रे यन्मां प्रार्थयते भवान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **मा**—मत; **वेद-गर्भ**—वैदिक ज्ञान की गहराई तक पहुँचने वाले; **गाः तन्द्रीम्**—निराश हो; **सर्गे**—सृजन के लिए; **उद्यमम्**—अध्यवसाय; **आवह**—जरा हाथ तो लगाओ; **तत्**—वह (जो तुम चाहते हो); **मया**—मेरे द्वारा; **आपादितम्**—सम्पन्न हुआ; **हि**—निश्चय ही; **अग्रे**—पहले ही; **यत्**—जो; **माम्**—मुझसे; **प्रार्थयते**—माँग रहे हो; **भवान्**—तुम।

तब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने कहा, ''हे ब्रह्मा, हे वेदगर्भ, तुम सृष्टि करने के लिए न तो निराश होओ, न ही चिन्तित। तुम जो मुझसे माँग रहे हो वह तुम्हें पहले ही दिया जा चुका है।

तात्पर्य : भगवान् या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि द्वारा अधिकारप्रदत्त कोई पुरुष पहले ही आशीर्वाद पा चुकता है और उसी तरह उसे सौंपा हुआ कार्य भी। निस्सन्देह, उस व्यक्ति को जिसे ऐसा उत्तरदायित्व सौंपा गया हो सदैव अपनी अक्षमता से अवगत होना चाहिए और अपने कर्तव्य के सफलतापूर्ण सम्पादन के लिए भगवान् की कृपा के लिए अपेक्षा करनी चाहिए। उसे इसलिए गर्वित नहीं होना चाहिए कि उसे कोई प्रशासनिक कार्य सौंपा गया है। वह भाग्यशाली है, जिसे ऐसा कार्य सौंपा गया है और यदि वह इस भाव में सदैव स्थिर रहता है कि मैं परमेश्वर की इच्छा के अधीन हूँ तो अपने कार्य के सम्पादन में उसका सफल होना सुनिश्चित है। अर्जुन को कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में युद्ध करने का कार्य सौंपा गया था और उसे यह कार्य सौंपने के पूर्व ही भगवान् उसकी विजय की व्यवस्था कर चुके थे। किन्तु अर्जुन भगवान् की अधीनता के प्रति सदैव सचेत रहा और इस उत्तरदायित्व में उसने उन्हें अपना परम मार्गदर्शक स्वीकार किया। जो भी व्यक्ति किसी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने के लिए गर्वित रहता है, किन्तु उसका श्रेय भगवान् को नहीं देता वह निश्चय ही मिथ्याभिमानी है और वह कोई भी कार्य ढंग से सम्पन्न नहीं कर सकता। ब्रह्मा तथा उनके पदचिह्नों का अनुसरण करने वाली शिष्य-परम्परा के व्यक्ति सदैव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति सम्पादित करने में सफल होते हैं।

भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम् ।
ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन्लोकान्द्रक्ष्यस्यपावृतान् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भूयः—पुनः; त्वम्—तुम; तपः—तपस्या; आतिष्ठ—स्थित होओ; विद्याम्—ज्ञान में; च—भी; एव—निश्चय ही; मत्—मेरा; आश्रयाम्—संरक्षण में; ताभ्याम्—उन योग्यताओं द्वारा; अन्तः—भीतर; हृदि—हृदय में; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; लोकान्—सारे लोक; द्रक्ष्यसि—देखोगे; अपावृतान्—प्रकट हुआ।

हे ब्रह्मा, तुम अपने को तपस्या तथा ध्यान में स्थित करो और मेरी कृपा पाने के लिए ज्ञान के सिद्धान्तों का पालन करो। इन कार्यों से तुम अपने हृदय के भीतर से हर बात को समझ सकोगे।

तात्पर्य : किसी सौंपे गये उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने में लगे हुए विशिष्ट व्यक्ति के प्रति भगवान् द्वारा प्रदर्शित दया अकल्पनीय है। किन्तु उनकी यह दया भक्ति के प्रति हमारी तपस्या तथा अध्यवसाय के कारण प्राप्त होती है। ब्रह्मा को लोकों का सृजन करने का कार्य सौंपा गया था। भगवान् ने उन्हें आदेश दिया था कि ध्यान करने पर वे आसानी से जान सकेंगे कि लोकों को कहाँ पर और किस तरह व्यवस्थित किया जाय। ये आदेश अन्त:करण से आने थे और इस कार्य में चिन्ता करने की कोई आवश्यकता न थी। *बुद्धियोग* के ऐसे आदेश स्वयं भगवान् द्वारा अन्त:करण से सीधे प्रदान किये जाते हैं जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.१०) में हुई है।

तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः ।
द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन्मयि लोकांस्त्वमात्मनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; आत्मनि—तुम अपने में; लोके—ब्रह्माण्ड में; च—भी; भक्ति-युक्तः—भक्ति में स्थित; समाहितः—पूर्णतया निमग्न; द्रष्टा असि—तुम देखोगे; माम्—मुझको; ततम्—सर्वत्र व्याप्त; ब्रह्मन्—हे ब्रह्मा; मयि—मुझमें; लोकान्—सारे ब्रह्माण्डों को; त्वम्—तुम; आत्मनः—जीव।

हे ब्रह्मा, जब तुम अपने सर्जनात्मक कार्यकलाप के दौरान भक्ति में निमग्न रहोगे तो तुम मुझको अपने में तथा ब्रह्माण्ड भर में देखोगे और तुम देखोगे कि मुझमें स्वयं तुम, ब्रह्माण्ड तथा सारे जीव हैं।

तात्पर्य : यहाँ भगवान् द्वारा यह उद्धरण दिया गया है कि ब्रह्मा दिन के समय उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में देखेंगे। वे प्रशंसा करेंगे कि किस तरह वृन्दावन में अपने बालपन के समय भगवान्

ने अपना विस्तार बछड़ों के रूप में कर लिया था, और वे जान सकेंगे कि किस तरह यशोदामाता ने कृष्ण की बाललीलाओं के समय उनके मुख के भीतर सारे ब्रह्माण्डों और लोकों को देखा था तथा वे यह भी देख सकेंगे कि ब्रह्मा के दिन में भगवान् कृष्ण के प्राकट्य के दौरान कई लाख ब्रह्मा होते हैं। किन्तु भगवान् के इतने सारे शाश्वत दिव्य रूप, जो सर्वत्र प्रकट होते रहते हैं किसी की समझ में नहीं आ सकते; ये केवल उन शुद्ध भक्तों द्वारा ही समझे जा सकते हैं, जो सदैव भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं और भगवान् में पूरी तरह से लीन रहते हैं। यहाँ पर ब्रह्मा की उच्च योग्यताओं का भी संकेत हुआ है।

यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम् ।
प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात्तर्ह्येव कश्मलम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; तु—लेकिन; सर्व—समस्त; भूतेषु—जीवों में; दारुषु—लकड़ी में; अग्निम्—अग्नि; इव—सदृश; स्थितम्—स्थित; प्रतिचक्षीत—तुम देखोगे; माम्—मुझको; लोकः—तथा ब्रह्माण्ड; जह्यात्—त्याग सकता है; तर्हि—तब तुरन्त; एव—निश्चय ही; कश्मलम्—मोह।

तुम मुझको सारे जीवों में तथा ब्रह्माण्ड में सर्वत्र उसी प्रकार देखोगे जिस तरह काठ में अग्नि स्थित रहती है। केवल उस दिव्य दृष्टि की अवस्था में तुम सभी प्रकार के मोह से अपने को मुक्त कर सकोगे।

तात्पर्य : ब्रह्मा ने प्रार्थना की कि अपने भौतिक कार्यों के दौरान कहीं वे भगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध को भूल न जाँय। उस प्रार्थना के उत्तर में भगवान् ने कहा कि उन्हें यह विचार तक मन में नहीं लाना चाहिए कि वे भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता से सम्बन्ध रखे बिना रह भी सकते हैं। यहाँ पर काठ के भीतर अग्नि का उदाहरण दिया गया है। काठ से उत्पन्न होने वाली अग्नि वही रहती है भले ही काठ भिन्न-भिन्न प्रकारों का हो। इसी तरह भौतिक सृष्टि के भीतर के जीवों के शरीर रूप तथा गुण के अनुसार भले ही भिन्न हों, किन्तु उनके भीतर का आत्मा एक दूसरे से भिन्न नहीं है। अग्नि की उष्मता का गुण सर्वत्र वही रहता है और आध्यात्मिक स्फुलिंग अथवा परमात्मा का भिन्नांश हर जीव में एकसा रहता है। इस तरह भगवान् की शक्ति उनकी सारी सृष्टि में वितरित है। एकमात्र यह दिव्य ज्ञान ही मनुष्य को भौतिक मोह के कल्मष से बचा सकता है। चूँकि भगवान् की शक्ति सर्वत्र वितरित है, अत:

शुद्ध आत्मा या भगवद्भक्त हर वस्तु को भगवान् से सम्बन्धित देख सकता है, अतएव उसे बाहरी आवरणों से कोई स्नेह नहीं रहता। वह शुद्ध आध्यात्मिक विचार उसे भौतिक संगति के समस्त कल्मष से निश्चेष्ट बना देता है। शुद्ध भक्त किसी भी अवस्था में भगवान् के संसर्ग को भुला नहीं पाता।

यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः ।
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन्स्वाराज्यमृच्छति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; रहितम्—से मुक्त; आत्मानम्—आत्मा; भूत—भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—भौतिक इन्द्रियाँ; गुण-आशयैः—भौतिक गुणों के प्रभाव के अधीन; स्वरूपेण—शुद्ध जीवन में; मया—मेरे द्वारा; उपेतम्—निकट आकर; पश्यन्—देखने से; स्वाराज्यम्—आध्यात्मिक साम्राज्य; ऋच्छति—भोग करते हैं।.

जब तुम स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के विचार से मुक्त होगे तथा तुम्हारी इन्द्रियाँ प्रकृति के सारे प्रभावों से मुक्त होंगी तब तुम मेरी संगति में अपने शुद्ध रूप की अनुभूति कर सकोगे। उस समय तुम शुद्ध भावनामृत में स्थित होगे।

तात्पर्य : *भक्तिरसामृत सिन्धु* में यह कहा गया है कि जिस व्यक्ति की एकमात्र आकांक्षा भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने की होती है, वह संसार की किसी भी अवस्था में मुक्त पुरुष होता है। यह सेवाभाव ही जीव का *स्वरूप* या असली रूप है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में यह घोषित करते हुए इस कथन की सम्पुष्टि की है कि जीव का असली आध्यात्मिक रूप भगवान् की नित्य दासता है। मायावादी लोग जीव में सेवा भाव के विचार से काँपने लगते हैं। वे यह नहीं जानते कि दिव्य जगत में भगवान् की सेवा दिव्य प्रेम पर आधारित है। दिव्य प्रेममयी सेवा की तुलना भौतिक जगत की बलात् कराई गई सेवा से कभी नहीं की जा सकती। भौतिक जगत में भले ही कोई इस विचार में रहे कि वह किसी का दास नहीं है फिर भी वह भौतिक गुणों के आदेशानुसार अपनी इन्द्रियों का दास होता है। वस्तुतः इस भौतिक जगत में स्वामी कोई नहीं है, अतः इन्द्रियों के दासों को दासता का बहुत बुरा अनुभव रहता है। वे सेवा के विचार से ही काँप उठते हैं, क्योंकि उन्हें दिव्य पद का कोई ज्ञान नहीं होता। दिव्य प्रेममयी सेवा में दास भगवान् की ही तरह स्वतंत्र होता है। भगवान् *स्वराट्* अर्थात् पूर्णतया स्वतंत्र हैं और आध्यात्मिक जगत में दास भी पूर्णतया स्वतंत्र या *स्वराट्* है, क्योंकि वहाँ बलात् सेवा नहीं ली जाती। वहाँ दिव्य प्रेममयी सेवा स्वतःस्फूर्त प्रेम के कारण होती है। ऐसी सेवा की

प्रतिबिम्बित झलक पुत्र के प्रति माता की सेवा, मित्र के प्रति मित्र की सेवा या पति के प्रति पत्नी की सेवा में अनुभव की जाती है। मित्रों, मातापिता या पत्नियों द्वारा सेवा के ये प्रतिबिम्ब बलकृत नहीं, अपितु एकमात्र प्रेम के कारण हैं। किन्तु इस भौतिक जगत में प्रेममयी सेवा केवल प्रतिबिम्ब है। असली सेवा या स्वरूप सेवा भगवान् के सान्निध्य में दिव्य जगत में वर्तमान है। दिव्य प्रेम की वही सेवा यहाँ पर भक्ति में की जा सकती है।

यह श्लोक ज्ञानियों पर भी लागू होता है। जब प्रबुद्ध ज्ञानी समस्त कल्मषों से—यथा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के साथ-साथ प्रकृति के गुणों वाली इन्द्रियों से—मुक्त होता है, तो वह ब्रह्म को प्राप्त होता है और इस तरह भवबन्धन से छूट जाता है। वस्तुतः ज्ञानी तथा भक्तगण भौतिक कल्मष से मुक्ति पाने तक एकमत हैं, किन्तु जहाँ ज्ञानी लोग सामान्य ज्ञान के स्तर पर शान्त हो जाते हैं वहीं भक्तगण प्रेममयी सेवा में और अधिक आध्यात्मिक प्रगति कर लेते हैं। भक्तगण अपने स्वत:स्फूर्त सेवाभाव में आध्यात्मिक व्यष्टित्व विकसित कर लेते हैं, जो उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ *माधुर्यरस* तक पहुँच जाता है।

नानाकर्मवितानेन प्रजा बह्वीः सिसृक्षतः ।
नात्मावसीदत्यस्मिंस्ते वर्षीयान्मदनुग्रहः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

नाना-कर्म—तरह तरह की सेवा; वितानेन—विस्तार से; प्रजाः—जनता; बह्वीः—असंख्य; सिसृक्षतः—वृद्धि करने की इच्छा करते हुए; न—कभी नहीं; आत्मा—आत्मा; अवसीदति—वंचित होगा; अस्मिन्—पदार्थ में; ते—तुम्हारा; वर्षीयान्—सदैव बढ़ती हुई; मत्—मेरी; अनुग्रहः—अहैतुकी कृपा।

चूँकि तुमने जनसंख्या को असंख्य रूप में बढ़ाने तथा अपनी सेवा के प्रकारों को विस्तार देने की इच्छा प्रकट की है, अतः तुम इस विषय से कभी भी वंचित नहीं होगे, क्योंकि सभी कालों में तुम पर मेरी अहैतुकी कृपा बढ़ती ही जायेगी।

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त विशेष काल, वस्तु तथा परिस्थिति के तथ्यों से ज्ञात होने के कारण भगवद्भक्तों की संख्या को नाना प्रकार से सदैव बढ़ाना चाहता है। दिव्य सेवा का ऐसा विस्तार भौतिकतावादी को भले ही भौतिक लगे, किन्तु तथ्य तो यह है कि वह भक्त के प्रति भगवान् की अहैतुकी कृपा का ही विस्तार होता है। ऐसे कार्यों की योजनाएँ भौतिक कार्य प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु परमेश्वर की दिव्य इन्द्रियों की तुष्टि में लगे होने से उनकी शक्ति भिन्न-भिन्न होती है।

**ऋषिमाद्यं न बध्नाति पापीयांस्त्वां रजोगुणः ।
यन्मनो मयि निर्बद्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते ॥ ३५ ॥**

शब्दार्थ

ऋषिम्—ऋषि को; आद्यम्—सर्वप्रथम; न—कभी नहीं; बध्नाति—पास फटकता है; पापीयान्—पापी; त्वाम्—तुम; रजः-गुणः—रजोगुण; यत्—क्योंकि; मनः—मन; मयि—मुझमें; निर्बद्धम्—लगे रहने पर; प्रजाः—सन्तति; संसृजतः—उत्पन्न करते हुए; अपि—भी; ते—तुम्हारे।

तुम आदि ऋषि हो और तुम्हारा मन सदैव मुझमें स्थिर रहता है इसीलिए विभिन्न सन्ततियाँ उत्पन्न करने के कार्य में लगे रहने पर भी तुम्हारे पास पापमय रजोगुण फटक भी नहीं सकेगा।

तात्पर्य : ब्रह्मा को यही आश्वासन द्वितीय स्कन्ध के नौवें अध्याय के श्लोक ३६ में दिया गया है। भगवान् द्वारा इस तरह अनुग्रह दिखाये जाने से ब्रह्मा की सारी योजनाएँ अच्युत हैं। यदि कभी ब्रह्मा मोहग्रस्त होते भी हैं, जैसाकि दशम स्कंध में है, तो वे अन्तरंगा शक्ति के कार्य को देखकर मोहित होते हैं और वह दिव्य सेवा में आगे बढ़ने के लिए ही है। अर्जुन भी इसी तरह मोहित होता पाया जाता है। भगवान् के शुद्ध भक्तों को ऐसा मोह भगवद्ज्ञान में उनकी उत्तरोत्तर उन्नति के लिए ही है।

**ज्ञातोऽहं भवता त्वद्य दुर्विज्ञेयोऽपि देहिनाम् ।
यन्मां त्वं मन्यसेऽयुक्तं भूतेन्द्रियगुणात्मभिः ॥ ३६ ॥**

शब्दार्थ

ज्ञातः—ज्ञात; अहम्—मैं; भवता—तुम्हारे द्वारा; तु—लेकिन; अद्य—आज; दुः—कठिन; विज्ञेयः—जाना जा सकना; अपि—के बावजूद; देहिनाम्—बद्धजीव के लिए; यत्—क्योंकि; माम्—मुझको; त्वम्—तुम; मन्यसे—समझते हो; अयुक्तम्—बिना बने हुए; भूत—भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—भौतिक इन्द्रियाँ; गुण—भौतिक गुण; आत्मभिः—तथा मिथ्या अभिमान यथा बद्ध आत्मा द्वारा।

यद्यपि मैं बद्ध आत्मा द्वारा सरलता से ज्ञेय नहीं हूँ, किन्तु आज तुमने मुझे जान लिया है, क्योंकि तुम जानते हो कि मैं किसी भौतिक वस्तु से विशेष रूप से पाँच स्थूल तथा तीन सूक्ष्म तत्त्वों से नहीं बना हूँ।

तात्पर्य : सर्वोच्च परम सत्य के ज्ञान के लिए यह आवश्यक नहीं है कि भौतिक जगत का निषेध किया जाय, अपितु इसके लिए आध्यात्मिक जगत का ज्ञान आवश्यक है। यह सोचना कि भौतिक जगत की अनुभूति स्वरूपों में की जाती है, इसलिए आध्यात्मिक जगत रूपविहीन होगा, आत्मा की निषेधात्मक भौतिक धारणा है। असली आध्यात्मिक धारणा तो यह है कि आध्यात्मिक स्वरूप भौतिक

स्वरूप नहीं है। ब्रह्मा ने भगवान् के नित्य रूप की उस तरह से प्रशंसा की और भगवान् ने ब्रह्मा की आध्यात्मिक धारणा का अनुमोदन किया। *भगवद्गीता* में भगवान् ने कृष्ण के शरीर की उस भौतिक अवधारणा की निन्दा की है, जो इस कारण से उत्पन्न होती है कि वे एक मनुष्य की भाँति उपस्थित हैं। भगवान् अपने अनेकानेक आध्यात्मिक रूपों में से किसी एक में प्रकट हो सकते हैं, किन्तु वे न तो भौतिक वस्तु से बने होते हैं न ही उनके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर होता है। भगवान् के आध्यात्मिक स्वरूप के चिन्तन की यही विधि है।

तुभ्यं मद्विचिकित्सायामात्मा मे दर्शितोऽबहिः ।
नालेन सलिले मूलं पुष्करस्य विचिन्वतः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तुभ्यम्—तुमको; मत्—मुझको; विचिकित्सायाम्—जानने के तुम्हारे प्रयास करने पर; आत्मा—आत्मा; मे—मेरा; दर्शितः—प्रदर्शित; अबहिः—भीतर से; नालेन—डंठल से; सलिले—जल में; मूलम्—जड़; पुष्करस्य—आदि स्रोत कमल का; विचिन्वतः—चिंतन करते हुए।

जब तुम यह सोच-विचार कर रहे थे कि तुम्हारे जन्म के कमल-नाल के डंठल का कोई स्रोत है कि नहीं और तुम उस डंठल के भीतर प्रविष्ट भी हो गये थे, तब तुम कुछ भी पता नहीं लगा सके थे। किन्तु उस समय मैंने भीतर से अपना रूप प्रकट किया था।

तात्पर्य : भगवान् को न तो मानसिक चिन्तन द्वारा, न ही भौतिक इन्द्रियों की सहायता से, अपितु एकमात्र उनकी अहैतुकी कृपा होने पर अनुभव किया जा सकता है। भौतिक इन्द्रियाँ भगवान् की दिव्य जानकारी तक नहीं पहुँच सकतीं। उन्हें एकमात्र विनीत भक्ति के द्वारा जाना जा सकता है तब वे भक्त के समक्ष स्वयं प्रकट होते हैं। एकमात्र भगवत्प्रेम द्वारा मनुष्य ईश्वर को जान सकता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। भगवान् को भौतिक आँखों से नहीं देखा जा सकता है किन्तु उन्हें भगवत्प्रेम के अंजन से खुले दिव्य नेत्रों द्वारा भीतर से देखा जा सकता है। जब तक पदार्थ के मलिन आवरण के कारण, मनुष्य की आध्यात्मिक आँखें बन्द रहती हैं, वह भगवान् को नहीं देख सकता। किन्तु जब *भक्तियोग* द्वारा यह मल (धूल) हटा दिया जाता है, तो मनुष्य निश्चित रूप से भगवान् का दर्शन कर सकता है। ब्रह्मा अपने व्यक्तिगत प्रयास से कमलनाल का मूल देख पाने में असफल रहे, किन्तु जब भगवान् उनकी तपस्या तथा भक्ति से तुष्ट हो गये तो उन्होंने बिना बाह्य प्रयास के अपने आपको भीतर से प्रकट

कर दिया।

यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम् ।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यत्—वह जो; चकर्थ—सम्पन्न किया; अङ्ग—हे ब्रह्मा; मत्-स्तोत्रम्—मेरे लिए प्रार्थना; मत्-कथा—मेरे कार्यकलापों के विषय में शब्द; अभ्युदय-अङ्कितम्—मेरी दिव्य लीलाओं की परिगणना करते हुए; यत्—या जो; वा—अथवा; तपसि—तपस्या में; ते—तुम्हारी; निष्ठा—श्रद्धा; सः—वह; एषः—ये सब; मत्—मेरी; अनुग्रहः—अहैतुकी कृपा।

हे ब्रह्मा, तुमने मेरे दिव्य कार्यों की महिमा की प्रशंसा करते हुए जो स्तुतियाँ की हैं, मुझे समझने के लिए तुमने जो तपस्याएँ की हैं तथा मुझमें तुम्हारी जो दृढ़ आस्था है—इन सबों को तुम मेरी अहैतुकी कृपा ही समझो।

तात्पर्य : जब कोई जीव दिव्य प्रेमाभक्ति में भगवान् की सेवा करना चाहता है, तो भगवान् *चैत्य गुरु* अर्थात् अन्तःकरण के गुरु के रूप में भक्त की अनेक प्रकार से सहायता करते हैं। इस तरह भक्त भौतिक अनुमान से परे अनेक अद्भुत कार्य कर सकता है। भगवान् की कृपा से एक साधारण व्यक्ति तक सर्वोच्च आध्यात्मिक सिद्धि की स्तुतियों की रचना कर सकता है। ऐसी आध्यात्मिक सिद्धि भौतिक योग्यताओं द्वारा प्रतिबन्धित नहीं होती, अपितु दिव्य सेवा करने के निष्ठावान् प्रयास के फलस्वरूप विकसित होती है। आध्यात्मिक सिद्धि के लिए स्वैच्छिक प्रयास एकमात्र योग्यता है। धन या विद्या की भौतिक उपलब्धियाँ विचारणीय नहीं होतीं।

प्रीतोऽहमस्तु भद्रं ते लोकानां विजयेच्छया ।
यदस्तौषीर्गुणमयं निर्गुणं मानुवर्णयन् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

प्रीतः—प्रसन्न; अहम्—मैं; अस्तु—ऐसा ही हो; भद्रम्—समस्त आशीर्वाद; ते—तुमको; लोकानाम्—लोकों का; विजय—गुणगान की; इच्छया—तुम्हारी इच्छा से; यत्—वह जो; अस्तौषीः—तुमने प्रार्थना की है; गुण-मयम्—दिव्य गुणों का वर्णन करते हुए; निर्गुणम्—यद्यपि मैं समस्त भौतिक गुणों से रहित हूँ; मा—मुझको; अनुवर्णयन्—अच्छे ढंग से वर्णन करते हुए।

मेरे दिव्य गुण जो कि संसारी लोगों को सांसारिक प्रतीत होते हैं, उनका जो वर्णन तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत किया गया है उससे मैं अतीव प्रसन्न हूँ। अपने कार्यों से समस्त लोकों को महिमामय करने की जो तुम्हारी इच्छा है उसके लिए मैं तुम्हें वर देता हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्मा जैसे शुद्ध भगवद्भक्त तथा उनकी शिष्य-परम्परा के भगवद्भक्त सैदव यही चाहते

हैं कि ब्रह्माण्ड भर के सारे जीव भगवान् से अवगत हो लें। भक्त की इस इच्छा को सदैव भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त होता है। कभी-कभी निर्विशेषवादी जन भगवान् नारायण की कृपा के लिए सतोगुण के साकार रूप में उनकी प्रार्थना करते हैं, किन्तु ऐसी प्रार्थनाओं से भगवान् तुष्ट नहीं होते, क्योंकि इससे उनके वास्तविक दिव्य गुणों का गुणगान नहीं हो पाता। भगवान् के शुद्ध भक्त उन्हें सदैव अतिशय प्रिय होते हैं यद्यपि वे सभी जीवों के प्रति सदा कृपालु और दयापूर्ण रहते हैं। यहाँ पर *गुणमयम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह भगवान् के दिव्य गुणों से युक्त होने का सूचक है।

य एतेन पुमान्नित्यं स्तुत्वा स्तोत्रेण मां भजेत् ।
तस्याशु सम्प्रसीदेयं सर्वकामवरेश्वरः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतेन—इतने से; पुमान्—मनुष्य; नित्यम्—नियमित रूप से; स्तुत्वा—स्तुति करके; स्तोत्रेण—श्लोकों से; माम्—मुझको; भजेत्—पूजे; तस्य—उसकी; आशु—अतिशीघ्र; सम्प्रसीदेयम्—मैं पूरा करूँगा; सर्व—समस्त; काम—इच्छाएँ; वर-ईश्वरः—समस्त वरों का स्वामी।.

जो भी मनुष्य ब्रह्मा की तरह प्रार्थना करता है और इस तरह जो मेरी पूजा करता है, उसे शीघ्र ही यह वर मिलेगा कि उसकी सारी इच्छाएँ पूरी हों, क्योंकि मैं समस्त वरों का स्वामी हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्मा द्वारा की गई स्तुति को कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं कर सकता है, जो अपनी इन्द्रियतृप्ति करने का इच्छुक है। ऐसी स्तुतियों का चयन वही व्यक्ति कर सकता है, जो भगवान् की सेवा करके उन्हें तुष्ट करना चाहता है। भगवान् दिव्य प्रेमाभक्ति विषयक समस्त इच्छाएँ निश्चय ही पूरी करते हैं, किन्तु वे अभक्तों की सनकों को पूरा नहीं कर सकते भले ही ऐसे आकस्मिक भक्तजन सर्वोत्कृष्ट प्रार्थनाएँ क्यों न करें।

पूर्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगसमाधिना ।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

पूर्तेन—परम्परागत अच्छे कार्य द्वारा; तपसा—तपस्या से; यज्ञैः—यज्ञों के द्वारा; दानैः—दान के द्वारा; योग—योग द्वारा; समाधिना—समाधि द्वारा; राद्धम्—सफलता; निःश्रेयसम्—अन्ततोगत्वा लाभप्रद; पुंसाम्—मनुष्य की; मत्—मेरी; प्रीतिः—तुष्टि; तत्त्व-वित्—दक्ष अध्यात्मवादी; मतम्—मत।.

दक्ष अध्यात्मवादियों का यह मत है कि परम्परागत सत्कर्म, तपस्या, यज्ञ, दान, योग कर्म, समाधि आदि सम्पन्न करने का चरम लक्ष्य मेरी तुष्टि का आवाहन करना है।

तात्पर्य : मानव समाज में अनेक परम्परागत पुण्य कर्म हैं यथा परोपकार, उपकार, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, दान, यज्ञ, तप तथा समाधि में ध्यान। किन्तु ये सब तभी लाभप्रद हो सकते हैं जब इनसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की तुष्टि हो सके। किसी भी कार्य की, चाहे वह सामाजिक हो, राजनीतिक, धार्मिक या परोपकार सम्बन्धी, पूर्णता भगवान् को तुष्ट करने में है। सफलता का यह रहस्य भगवद्भक्तों को ज्ञात है, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन द्वारा प्रस्तुत किया गया। अर्जुन एक नेक, अहिंसक मनुष्य के रूप में अपने परिजनों से युद्ध नहीं करना चाहता था किन्तु जब वह यह समझ गया कि कृष्ण युद्ध चाहते हैं और कुरुक्षेत्र में इसकी योजना उन्हीं की है, तो उसने अपनी प्रसन्नता का परित्याग करके भगवान् की प्रसन्नता के लिए युद्ध किया। सारे बुद्धिमान जनों के लिए यही उचित निर्णय है। मनुष्य को एकमात्र चिन्ता अपने कार्यों द्वारा भगवान् को तुष्ट करने की होनी चाहिए। यदि भगवान् किसी कार्य से, चाहे वह कैसा भी हो, तुष्ट हो जाते हैं, तो वह सफल है। अन्यथा यह समय का अपव्यय मात्र है। समस्त यज्ञ, तप, यौगिक समाधि तथा अन्य उत्तम एवं पुण्य कार्यों का यही मानदण्ड है।

अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन्प्रेयसामपि ।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; आत्मा—परमात्मा; आत्मनाम्—अन्य सारी आत्माओं का; धातः—निदेशक; प्रेष्ठः—प्रियतम; सन्—होकर; प्रेयसाम्—समस्त प्रिय वस्तुओं का; अपि—निश्चय ही; अतः—इसलिए; मयि—मेरे प्रति; रतिम्—अनुरक्ति; कुर्यात्—करे; देह-आदिः—शरीर तथा मन; यत्-कृते—जिसके कारण; प्रियः—अत्यन्त प्रिय।

मैं प्रत्येक जीव का परमात्मा हूँ। मैं परम निदेशक तथा परम प्रिय हूँ। लोग स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के प्रति झूठे ही अनुरक्त रहते हैं; उन्हें तो एकमात्र मेरे प्रति अनुरक्त होना चाहिए।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तो बद्ध तथा मुक्त दोनों ही दशाओं में परमप्रिय हैं। जब कोई व्यक्ति यह नहीं जानता कि भगवान् ही एकमात्र सर्वाधिक प्रिय लक्ष्य हैं, तब वह जीवन की बद्ध अवस्था में होता है और जब वह यह भलीभाँति जान लेता है कि भगवान् ही एकमात्र सर्वाधिक प्रिय लक्ष्य हैं, तो वह मुक्त माना जाता है। भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जानने की कोटियाँ हैं, जो इस अनुभूति पर निर्भर करती हैं कि परमेश्वर प्रत्येक जीव के सर्वप्रिय लक्ष्य क्यों हैं। असली कारण

भगवद्गीता (१५.७) में स्पष्ट बतलाया गया है। *ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*—सारे जीव परमेश्वर के नित्य भिन्नांश हैं। जीव *आत्मा* कहलाता है और भगवान् *परमात्मा*। जीव ब्रह्म कहलाता है और भगवान् परब्रह्म या परमेश्वर। *ईश्वर: परम: कृष्ण:*। जिन बद्धात्माओं को आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ होता वे भौतिक देह को ही सर्वप्रिय मानते हैं। तब सर्वप्रियन्ता का विचार केन्द्रीभूत तथा विस्तृत दोनों रूपों में सारे शरीर में फैल जाता है। अपने शरीर तथा इसके विस्तारों यथा सन्तानों तथा सम्बन्धियों के प्रति अनुरक्ति वस्तुत: असली जीव के आधार पर विकसित होती है। जब असली जीव शरीर से बाहर चला जाता है, तो सर्वप्रिय पुत्र तक का शरीर आकर्षक नहीं लगता। अतएव सजीव स्फुलिंग या ब्रह्म का नित्य अंश स्नेह का असली आधार है, शरीर नहीं। चूँकि सारे जीव भी सर्वोपरि पुरुष के अंश हैं, अत: वे परम पुरुष सबों के स्नेह के वास्तविक आधार हैं। जो व्यक्ति प्रत्येक वस्तु के लिए अपने प्रेम के मूलभूत सिद्धान्त को भूल जाता है उसमें केवल टिमटिमाता प्रेम होता है, क्योंकि वह मायाग्रस्त होता है। जो माया के सिद्धान्त से जितना ही अधिक प्रभावित होता है, वह प्रेम के मूल सिद्धान्त से उतना ही विरक्त रहता है। जब तक कोई व्यक्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति में पूर्णतया विकसित नहीं होता तब तक वास्तव में वह किसी वस्तु से प्रेम नहीं कर सकता।

प्रस्तुत श्लोक में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर प्रेम को केन्द्रित करने पर बल दिया गया है। यहाँ पर *कुर्यात्* शब्द सार्थक है। इसका अर्थ है "मनुष्य इसे प्राप्त करे।" यह इस बात पर बल देने के लिए है कि हमें प्रेम के सिद्धान्त के प्रति अधिकाधिक अनुरक्त होना चाहिए। माया का प्रभाव आध्यात्मिक जीव के अंश द्वारा अनुभव किया जाता है, किन्तु यह माया परमात्मा पर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती। मायावादी दार्शनिक जीव पर माया के प्रभाव को स्वीकार करके परमात्मा के साथ तदाकार होना चाहते हैं। किन्तु परमात्मा के प्रति वास्तविक प्रेम न होने से वे माया के प्रभाव द्वारा सदैव पाशबद्ध रहते हैं और परमात्मा के निकट पहुँच पाने में अक्षम रहते हैं। यह अक्षमता परमात्मा के प्रति उनके स्नेह के अभाव के कारण है। धनी कंजूस यह नहीं जानता कि वह अपनी सम्पत्ति का किस तरह उपयोग करे, अतएव अत्यन्त धनी होते हुए भी उसका कंजूस स्वभाव उसे सदैव निर्धन व्यक्ति बनाये रखता है। इस के विपरीत वह व्यक्ति जो यह जानता है कि धन का किस तरह उपयोग किया जाय, थोड़ी पूँजी होने पर भी तुरन्त धनी बन सकता है।

आँखों तथा सूर्य में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि सूर्यप्रकाश के बिना आँखें देख नहीं सकतीं। किन्तु शरीर के अन्य भाग, क्योंकि वे उष्मा के स्रोत के रुप में सूर्य से जुड़े होते हैं, आँखों की अपेक्षा सूर्य का अधिक लाभ उठाते हैं। सूर्य के प्रति स्नेह से युक्त हुए बिना आँखें सूर्य की किरणों को सहन नहीं कर सकतीं अथवा, दूसरे शब्दों में, ऐसी आँखों में सूर्य की किरणों की उपयोगिता को समझ पाने की क्षमता नहीं होती। इसी प्रकार से आनुभविक दार्शनिक, ब्रह्म का सैद्धान्तिक ज्ञान होने के बावजूद, परब्रह्म की कृपा का उपयोग नहीं कर पाते, क्योंकि उनमें स्नेह का अभाव रहता है। अत: अनेक निर्विशेषवादी दार्शनिक जन ब्रह्म का सैद्धान्तिक ज्ञान रखने के बावजूद भी सदा के लिए माया के वशीभूत रहते हैं, और वे ब्रह्म के प्रति स्नेह उत्पन्न नहीं करते, न ही उनमें स्नेह उत्पन्न होने की कोई सम्भावना रहती है, क्योंकि उनकी विधि दोषपूर्ण है। सूर्यदेव का भक्त, दृष्टिहीन होते हुए भी इस लोक से सूर्यदेव को उनके यथारूप में देख सकता है, किन्तु जो सूर्य का भक्त नहीं है, वह सूर्य की चमक को भी सहन नहीं कर पाता। इसी तरह भक्तियोग के द्वारा, कोई व्यक्ति ज्ञानी के स्तर पर न होते हुए भी, शुद्ध प्रेम के विकास के कारण अपने भीतर भगवान् का दर्शन कर सकता है। मनुष्य को सभी परिस्थितियों में भगवत्प्रेम विकसित करने का प्रयास करना चाहिए और इससे समस्त जटिल समस्याएँ हल हो जायेंगी।

सर्ववेदमयेनेदमात्मनात्मात्मयोनिना ।
प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते ॥ ४३॥

शब्दार्थ

सर्व—समस्त; वेद-मयेन—पूर्ण वैदिक ज्ञान के अधीन; इदम्—यह; आत्मना—शरीर द्वारा; आत्मा—तुम; आत्म-योनिना—सीधे भगवान् से उत्पन्न; प्रजाः—जीव; सृज—उत्पन्न करो; यथा-पूर्वम्—पहले की ही तरह; याः—जो; च—भी; मयि—मुझमें; अनुशेरते—स्थित हैं।

मेरे आदेशों का पालन करके तुम पहले की तरह अपने पूर्ण वैदिक ज्ञान से तथा सर्वकारण-के-कारण-रूप मुझसे प्राप्त अपने शरीर द्वारा जीवों को उत्पन्न कर सकते हो।

मैत्रेय उवाच
तस्मा एवं जगत्स्रष्ट्रे प्रधानपुरुषेश्वरः ।
व्यज्येदं स्वेन रूपेण कञ्जनाभस्तिरोदधे ॥ ४४॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; तस्मै—उससे; एवम्—इस प्रकार; जगत्-स्त्रष्ट्रे—ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा के प्रति; प्रधान-पुरुष-ईश्वरः—आदि भगवान्; व्यज्य इदम्—यह आदेश देकर; स्वेन—अपने; रूपेण—स्वरूप द्वारा; कञ्ज-नाभः—भगवान् नारायण; तिरोदधे—अन्तर्धान हो गये।.

मैत्रेय मुनि ने कहा : ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा ब्रह्मा को विस्तार करने का आदेश देकर आदि भगवान् अपने साकार नारायण रूप में अन्तर्धान हो गये।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड का सृजन कार्य करने के पूर्व ब्रह्मा ने भगवान् के दर्शन किये। *चतुःश्लोकी भागवत* की यही व्याख्या है। जब सृजन ब्रह्मा के कार्य की प्रतीक्षा में था, तो ब्रह्मा ने भगवान् को देखा, अतः भगवान् सृष्टि के पूर्व अपने साकार रूप में विद्यमान थे। उनका नित्य रूप ब्रह्मा के प्रयास से सृजित नहीं हुआ जैसाकि अल्पज्ञों की कल्पना है। भगवान् अपने यथारूप में ब्रह्मा के समक्ष प्रकट हुए और उसी रूप में उनके सामने से अदृश्य हो गये। यह रूप भौतिकता से कलुषित नहीं है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत "सृजन-शक्ति के लिए ब्रह्मा द्वारा स्तुति" नामक नौवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

सृष्टि के विभाग

विदुर उवाच
अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः ।
प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—श्री विदुर ने कहा; अन्तर्हिते—अन्तर्धान होने पर; भगवति—भगवान् के; ब्रह्मा—प्रथम उत्पन्न प्राणी ने; लोक-पितामहः—समस्त लोकवासियों के दादा; प्रजाः—सन्तानें; ससर्ज—उत्पन्न किया; कतिधाः—कितनी; दैहिकीः—अपने शरीर से; मानसीः—अपने मन से; विभुः—महान्।

श्री विदुर ने कहा : हे महर्षि, कृपया मुझे बतायें कि लोकवासियों के पितामह ब्रह्मा ने अन्तर्धान हो जाने पर किस तरह से अपने शरीर तथा मन से जीवों के शरीरों को उत्पन्न किया?

ये च मे भगवन्पृष्टास्त्वय्यर्था बहुवित्तम ।
तान्वदस्वानुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ये—वे सभी; च—भी; मे—मेरे द्वारा; भगवन्—हे शक्तिशाली; पृष्टाः—पूछे गये; त्वयि—तुमसे; अर्थाः—प्रयोजन; बहु-वित्-तम—हे परम विद्वान; तान्—उन सबों को; वदस्व—कृपा करके वर्णन करें; आनुपूर्व्येण—आदि से अन्त तक; छिन्धि—कृपया समूल नष्ट कीजिये; नः—मेरे; सर्व—समस्त; संशयान्—सन्देहों को।

हे महान् विद्वान, कृपा करके मेरे सारे संशयों का निवारण करें और मैंने आपसे जो कुछ जिज्ञासा की है उसे आदि से अन्त तक मुझे बताएँ।

तात्पर्य : विदुर ने मैत्रेय से सारे प्रासंगिक प्रश्न पूछे, क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि मैत्रेय उनकी जिज्ञासाओं के सारे बिन्दुओं का उत्तर देने के लिए उचित व्यक्ति हैं। मनुष्य को अपने शिक्षक की योग्यताओं पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए और विशिष्ट आध्यात्मिक प्रश्नों के लिए किसी अभिज्ञ व्यक्ति के पास नहीं जाना चाहिए। जब शिक्षक से ऐसे प्रश्नों का काल्पनिक उत्तर मिले, तो यह समय का अपव्यय मात्र है।

सूत उवाच
एवं सञ्चोदितस्तेन क्षत्त्रा कौषारविर्मुनिः ।
प्रीतः प्रत्याह तान्प्रश्नान्हृदिस्थानथ भार्गव ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सञ्चोदितः—प्रोत्साहित हुआ; तेन—उसके द्वारा; क्षत्रा—विदुर से; कौषारविः—कुषार का पुत्र; मुनिः—मुनि ने; प्रीतः—प्रसन्न होकर; प्रत्याह—उत्तर दिया; तान्—उन; प्रश्नान्—प्रश्नों के; हृदि-स्थान्—अपने हृदय के भीतर से; अथ—इस प्रकार; भार्गव—हे भृगु पुत्र।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे भृगुपुत्र, महर्षि मैत्रेय मुनि विदुर से इस तरह सुनकर अत्यधिक प्रोत्साहित हुए। हर वस्तु उनके हृदय में थी, अतः वे प्रश्नों का एक एक करके उत्तर देने लगे।

तात्पर्य : *सूत उवाच* (सूत गोस्वामी ने कहा) वाक्यांश यह सूचित करता प्रतीत होता है मानो महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी के बीच चल रही वार्ता में भंग हुआ हो। जब शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से बोल रहे थे तो सूत गोस्वामी तमाम दर्शकों में से एक थे। किन्तु सूत गोस्वामी नैमिषारण्य के मुनियों से बातें कर रहे थे जिनमें शुकदेव गोस्वामी के वंशज शौनक मुख्य थे। पर इससे विवेचनगत कथाओं में विशेष अन्तर नहीं आता।

मैत्रेय उवाच
विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः ।
आत्मन्यात्मानमावेश्य यथाह भगवानजः ॥ ४॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; विरिञ्चः—ब्रह्मा ने; अपि—भी; तथा—उस तरह से; चक्रे—सम्पन्न किया; दिव्यम्—स्वर्गिक; वर्ष-शतम्—एक सौ वर्ष; तपः—तपस्या; आत्मनि—भगवान् की; आत्मानम्—अपने आप; आवेश्य—संलग्न रह कर; यथा आह—जैसा कहा गया था; भगवान्—भगवान्; अजः—अजन्मा।

परम विद्वान मैत्रेय मुनि ने कहा : हे विदुर, इस तरह भगवान् द्वारा दी गई सलाह के अनुसार ब्रह्मा ने एक सौ दिव्य वर्षों तक अपने को तपस्या में संलग्न रखा और अपने को भगवान् की भक्ति में लगाये रखा।

तात्पर्य : ब्रह्मा ने भगवान् नारायण के हेतु अपने आपको संलग्न रखा, इसका यह अर्थ है कि उन्होंने भगवान् की सेवा में अपने को लगाए रखा। यही वह सर्वोच्च तपस्या है, जो कितने ही वर्षों तक की जा सकती है। ऐसी सेवा से कोई कभी निवृत्त नहीं होता, क्योंकि यह शाश्वत तथा सदैव उत्साहवर्धक होती है।

तद्विलोक्याब्जसम्भूतो वायुना यदधिष्ठितः ।
पद्ममम्भश्च तत्कालकृतवीर्येण कम्पितम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

तत् विलोक्य—उसके भीतर देखकर; अब्ज-सम्भूतः—कमल से उत्पन्न; वायुना—वायु द्वारा; यत्—जो; अधिष्ठितः—जिस पर यह स्थित था; पद्मम्—कमल; अम्भः—जल; च—भी; तत्-काल-कृत—जो नित्य काल द्वारा प्रभावित था; वीर्येण—अपनी निहित शक्ति से; कम्पितम्—काँपता।

तत्पश्चात् ब्रह्मा ने देखा कि वह कमल जिस पर वे स्थित थे तथा वह जल जिसमें कमल उगा था प्रबल प्रचण्ड वायु के कारण काँप रहे हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत मोहमय कहलाता है, क्योंकि यह भगवान् की दिव्य सेवा की विस्मृति का स्थान है। इस तरह इस भौतिक जगत में भगवद्भक्ति में संलग्न व्यक्ति कभी-कभी विषम परिस्थितियों से अत्यधिक विचलित हो सकता है। माया शक्ति तथा भक्त—इन दो पक्षों के बीच युद्ध की घोषणा हुई रहती है और कभी कभी दुर्बल भक्त-पक्ष सबल मायाशक्ति के प्रतिघात की चपेंट में आ जाता है। किन्तु भगवान् की अहैतुकी कृपावश ब्रह्माजी अत्यन्त प्रबल थे और मायाशक्ति उन्हें अपना शिकार नहीं बना सकी यद्यपि यह उनकी चिन्ता का कारण तब बनी जब यह उनके पद को लड़खड़ाने में समर्थ हुई।

तपसा ह्येधमानेन विद्यया चात्मसंस्थया ।
विवृद्धविज्ञानबलो न्यपाद्वायुं सहाम्भसा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तपसा—तपस्या से; **हि**—निश्चय ही; **एधमानेन**—बढ़ते हुए; **विद्यया**—दिव्य ज्ञान द्वारा; **च**—भी; **आत्म**—आत्मा; **संस्थया**—आत्मस्थ; **विवृद्ध**—परिपक्व; **विज्ञान**—व्यावहारिक ज्ञान; **बलः**—शक्ति; **न्यपात्**—पी लिया; **वायुम्**—वायु को; **सह अम्भसा**—जल के सहित।

दीर्घकालीन तपस्या तथा आत्म-साक्षात्कार के दिव्य ज्ञान ने ब्रह्मा को व्यावहारिक ज्ञान में परिपक्व बना दिया था, अतः उन्होंने वायु को पूर्णतः जल के साथ पी लिया।

तात्पर्य : अस्तित्व के लिए ब्रह्माजी का संघर्ष उस निरन्तर युद्ध का निजी उदाहरण प्रस्तुत करता है, जो इस भौतिक जगत में जीवों तथा मोहिनी शक्ति माया में चलता रहता है। ब्रह्मा से लेकर आज तक सारे जीव भौतिक प्रकृति की सेनाओं से संघर्ष करते रहे हैं। विज्ञान तथा दिव्य अनुभूति में प्रगत ज्ञान के कारण मनुष्य उस भौतिक शक्ति पर नियंत्रण पाने का प्रयास कर सकता है, जो हमारे प्रयासों के विरुद्ध कार्यशील रहती है और आधुनिक युग में तो प्रगत भौतिक वैज्ञानिक ज्ञान तथा तपस्या ने भौतिक शक्तियों को नियंत्रित करने में अद्भुत भूमिका निभाई है। किन्तु भौतिक शक्ति पर ऐसा नियंत्रण तभी सफल हो सकता है जब मनुष्य भगवान् के शरणागत हो और दिव्य प्रेमाभक्ति के भाव से उनके आदेश का पालन करे।

**तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यदधिष्ठितम् ।
अनेन लोकान्प्राग्लीनान्कल्पितास्मीत्यचिन्तयत् ॥ ७॥**

शब्दार्थ

तत् विलोक्य—उसे देखकर; वियत्-व्यापि—अतीव विस्तृत; पुष्करम्—कमल; यत्—जो; अधिष्ठितम्—स्थित था; अनेन—इससे; लोकान्—सारे लोक; प्राक्-लीनान्—पहले प्रलय में मग्न; कल्पिता अस्मि—मैं सृजन करूँगा; इति—इस प्रकार; अचिन्तयत्—उसने सोचा।

तत्पश्चात् उन्होंने देखा कि वह कमल, जिस पर वे आसीन थे, ब्रह्माण्ड भर में फैला हुआ है और उन्होंने विचार किया कि उन समस्त लोकों को किस तरह उत्पन्न किया जाय जो इसके पूर्व उसी कमल में लीन थे।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के सारे लोकों के बीज उसी कमल में गर्भस्थ थे जिस पर ब्रह्मा आसीन थे। भगवान् ने पहले से सारे लोकों को उत्पन्न कर रखा था और सारे जीव भी ब्रह्मा में जन्म ले चुके थे। भौतिक जगत तथा सारे जीव पहले से ही बीजाणु रूप में भगवान् द्वारा उत्पन्न किये जा चुके थे और ब्रह्मा को इन्हीं बीजों को ब्रह्माण्ड भर में बिखेरना था। इसलिए असली सृष्टि *सर्ग* कहलाती है और बाद में ब्रह्मा द्वारा जो सृष्टि की गई वह *विसर्ग* कहलाती है।

**पद्मकोशं तदाविश्य भगवत्कर्मचोदितः ।
एकं व्यभाङ्क्षीदुरुधा त्रिधा भाव्यं द्विसप्तधा ॥ ८॥**

शब्दार्थ

पद्म-कोशम्—कमल-चक्र में; तदा—तब; आविश्य—प्रवेश करके; भगवत्—भगवान् द्वारा; कर्म—कार्यकलाप में; चोदितः—प्रोत्साहित किया गया; एकम्—एक; व्यभाङ्क्षीत्—विभाजित कर दिया; उरुधा—महान् खण्ड; त्रिधा—तीन विभाग; भाव्यम्—आगे सृजन करने में समर्थ; द्वि-सप्तधा—चौदह विभाग।

इस तरह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सेवा में लगे ब्रह्माजी कमल के कोश में प्रविष्ट हुए और चूँकि वह सारे ब्रह्माण्ड में फैला हुआ था, अतः उन्होंने इसे ब्रह्माण्ड के तीन विभागों में और उसके बाद चौदह विभागों में बाँट दिया।

**एतावाञ्जीवलोकस्य संस्थाभेदः समाहृतः ।
धर्मस्य ह्यनिमित्तस्य विपाकः परमेष्ठ्यसौ ॥ ९॥**

शब्दार्थ

एतावान्—यहाँ तक; जीव-लोकस्य—जीवों द्वारा निवसित लोकों के; संस्था-भेदः—निवास स्थान की विभिन्न स्थितियाँ; समाहृतः—पूरी तरह सम्पन्न; धर्मस्य—धर्म का; हि—निश्चय ही; अनिमित्तस्य—अहैतुकता का; विपाकः—परिपक्व अवस्था; परमेष्ठी—ब्रह्माण्ड में सर्वोच्च व्यक्ति; असौ—उस।

परिपक्व दिव्य ज्ञान में भगवान् की अहैतुकी भक्ति के कारण ब्रह्माजी ब्रह्माण्ड में सर्वोच्च पुरुष हैं। इसीलिए उन्होंने विभिन्न प्रकार के जीवों के निवास स्थान के लिए चौदह लोकों का सृजन किया।

तात्पर्य : पमरेश्वर जीवों के समस्त गुणों के आगार हैं। भौतिक जगत में बद्धजीव उन गुणों के अंशमात्र की झलक देते हैं, इसीलिए कभी कभी वे *प्रतिबिम्ब* कहलाते हैं। इन *प्रतिबिम्ब* जीवों ने परमेश्वर के भिन्नांशों के रूप में उनके आदि गुणों के विभिन्न अनुपातों को ही उत्तराधिकार में ग्रहण किया है और इन गुणों को ग्रहण करने के अनुसार ही वे विभिन्न जीवयोनियों के रूप में प्रकट होते हैं और ब्रह्मा की योजना के अनुसार विभिन्न लोकों में स्थान पाते हैं। ब्रह्माजी तीनों जगतों—पाताललोक अर्थात् अधोलोक, भूर्लोक अर्थात् मध्यलोक तथा स्वर्गलोक अर्थात् उच्चतर लोक—के स्रष्टा हैं। इनसे भी उच्चतर लोक यथा महर्लोक, तपोलोक, सत्यलोक तथा ब्रह्मलोक प्रलयजल में विलीन नहीं होते। इसका कारण उन लोकों के निवासियों द्वारा की जाने वाली भगवान् की अहैतुकी भक्ति-मय सेवा है और इन निवासियों का अस्तित्व *द्विपरार्ध* काल के अन्त तक बना रहता है जब वे भौतिक जगत में जन्म-मृत्यु की शृंखला से सामान्य रूप से मुक्त कर दिये जाते हैं।

विदुर उवाच
यथात्थ बहुरूपस्य हरेरद्भुतकर्मणः ।
कालाख्यं लक्षणं ब्रह्मन्यथा वर्णय नः प्रभो ॥ १० ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; यथा—जिस तरह; आत्थ—आपने कहा है; बहु-रूपस्य—विभिन्न रूपों वाले; हरेः—भगवान् के; अद्भुत—विचित्र; कर्मणः—अभिनेता का; काल—समय; आख्यम्—नामक; लक्षणम्—लक्षण; ब्रह्मन्—हे विद्वान ब्राह्मण; यथा—यह जैसा है; वर्णय—कृपया वर्णन करें; नः—हमसे; प्रभो—हे प्रभु।

विदुर ने मैत्रेय से पूछा : हे प्रभु, हे परम विद्वान ऋषि, कृपा करके नित्यकाल का वर्णन करें जो अद्भुत अभिनेता परमेश्वर का दूसरा रूप है। नित्य काल के क्या लक्षण हैं? कृपा करके हमसे विस्तार से कहें।

तात्पर्य : यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अणुओं से लेकर विराट ब्रह्माण्ड तक के चित्र-विचित्र जीवों का

प्राकट्य है और यह सब परमेश्वर के *काल* रूप के नियंत्रण में हैं। नियंत्रक काल विशिष्ट जीवधारियों के अनुसार विभिन्न विस्तारों वाला है। परमाणु-लय के लिए एक काल है और विश्व-लय के लिए भी एक अलग काल है। मनुष्य के शरीर के लय का एक काल है और विश्व शरीर के लय का भी एक काल है। वृद्धि, विकास तथा परिणामी कर्म—ये सभी काल पर आश्रित हैं। विदुर विभिन्न भौतिक प्राकट्यों तथा उनके विलीन होने के कालों के विषय में विस्तार से जानना चाह रहे थे।

मैत्रेय उवाच
गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः ।
पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृजत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; गुण-व्यतिकर—प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रियाओं का; आकारः—स्रोत; निर्विशेषः—विविधता रहित; अप्रतिष्ठितः—असीम; पुरुषः—परम पुरुष का; तत्—वह; उपादानम्—निमित्त; आत्मानम्—भौतिक सृष्टि; लीलया—लीलाओं द्वारा; असृजत्—उत्पन्न किया।

मैत्रेय ने कहा : नित्यकाल ही प्रकृति के तीनों गुणों की अन्योन्य क्रियाओं का आदि स्रोत है। यह अपरिवर्तनशील तथा सीमारहित है और भौतिक सृजन की लीलाओं में यह भगवान् के निमित्त रूप में कार्य करता है।

तात्पर्य : निर्विशेष काल तत्त्व भगवान् के उपादान (निमित्त) के रूप में भौतिक जगत की पृष्ठभूमि है। यह भौतिक प्रकृति को प्रदत्त की गई सहायता का घटक है। कोई भी नहीं जानता कि काल कब प्रारम्भ हुआ और इसका कब अन्त होता है। काल तत्त्व ही भौतिक जगत के सृजन, पालन तथा संहार का लेखा-जोखा रख सकता है। यह काल तत्त्व सृष्टि का भौतिक कारण है, अतएव भगवान् का स्वांश है। काल भगवान् का निर्विशेष रूप माना जाता है।

आधुनिक लोगों ने भी अनेक प्रकारों से काल तत्त्व की व्याख्या की है। कुछ लोग इसे लगभग उसी रूप में स्वीकार करते हैं जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में बतलाया गया है। उदाहरणार्थ, हिब्रू साहित्य में काल को ईश्वर के स्वरूप में स्वीकार किया गया है। उसमें कहा गया है "ईश्वर ने भूतकाल में पैगम्बरों के द्वारा पिताओं से कभी कभी और अनेक प्रकार से बातें कीं।" तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से काल को परम पूर्ण तथा वास्तविक के रूप में विभेदित किया जाता है। परम पूर्ण काल तो सतत है और भौतिक वस्तुओं की गति या मन्दता से अप्रभावित रहता है। काल की गणना ज्योतिर्विज्ञान तथा गणित के

अनुसार गति, परिवर्तन तथा किसी वस्तु विशेष के जीवन के परिपेक्ष्य में की जाती है। किन्तु वस्ततु: काल का वस्तुओं की सापेक्षताओं से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; प्रत्युत हर वस्तु काल द्वारा प्रदत्त सुविधा के रूप में बनती तथा परिगणित होती है। काल हमारी इन्द्रियों की क्रियाशीलता की मूलभूत माप है, जिसके द्वारा हम भूत, वर्तमान तथा भविष्य की गणना करते हैं। किन्तु वास्तविक गणना में काल का कोई आदि तथा अन्त नहीं होता। पण्डित चाणक्य का कथन है कि काल के अल्पांश को भी करोड़ों डालर मूल्य देकर खरीदा नहीं जा सकता। अतएव बिना लाभ के खोए हुए काल का एक क्षण भी जीवन की सबसे बड़ी हानि है। काल न तो किसी प्रकार के मनोविज्ञान के अधीन है न ही काल के क्षण अपने में वस्तुगत वास्तविकताएँ हैं, किन्तु वे विशेष अनुभवों पर आश्रित हैं।

इसीलिए श्रील जीव गोस्वामी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काल तत्त्व भगवान् की बहिरंगा शक्ति के कार्य-कारणों से मिलाजुला हुआ है। बहिरंगा शक्ति या भौतिक प्रकृति स्वयम् भगवान् के रूप में काल की अधीक्षता में कार्य करती है, इसीलिए ऐसा लगता है कि भौतिक प्रकृति ने विराट जगत में अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएँ उत्पन्न की हैं। *भगवद्गीता* (९.१०) में इस निष्कर्ष की पुष्टि इस प्रकार हुई है—

मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया ।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

विश्वम्—भौतिक चक्र; वै—निश्चय ही; ब्रह्म—ब्रह्म; तत्-मात्रम्—उसी तरह का; संस्थितम्—स्थित; विष्णु-मायया—विष्णु की शक्ति से; ईश्वरेण—भगवान् द्वारा; परिच्छिन्नम्—पृथक् की गई; कालेन—नित्य काल द्वारा; अव्यक्त—अप्रकट; मूर्तिना—ऐसे स्वरूप द्वारा।.

यह विराट जगत भौतिक शक्ति के रूप में अप्रकट तथा भगवान् के निर्विशेष स्वरूप काल द्वारा भगवान् से विलग किया हुआ है। यह विष्णु की उसी भौतिक शक्ति के प्रभाव के अधीन भगवान् की वस्तुगत अभिव्यक्ति के रूप में स्थित है।

तात्पर्य : जैसाकि व्यासदेव के समक्ष नारद पहले कह चुके हैं (*भागवत* १.५.२०) *इदं हि विश्वं*

भगवान् इवेतरः—यह अव्यक्त जगत साक्षात् भगवान् है, किन्तु यह भगवान् से परे या भिन्न कुछ और ही प्रतीत होता है। यह इसलिए ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि *काल* द्वारा यह भगवान् से पृथक् किया गया है। यह टेप रिकार्ड द्वारा अंकित उस मनुष्य की वाणी जैसा है, जो सम्प्रति अपनी वाणी से विलग किया हुआ है। जिस तरह टेप-अंकन टेप पर स्थित है, उसी तरह सारा भौतिक जगत भौतिक शक्ति पर स्थित है और *काल* के द्वारा पृथक् प्रतीत होता है। इसलिए भौतिक अभिव्यक्ति परमेश्वर की वस्तुगत अभिव्यक्ति है और उनके निर्विशेष रूप को प्रदर्शित करती है, जो निर्विशेष दार्शनिकों द्वारा इतनी अधिक पूजित है।

यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह है; इदानीम्—इस समय; तथा—उसी तरह; अग्रे—प्रारम्भ में; च—तथा; पश्चात्—अन्त में; अपि—भी; एतत् ईदृशम्—वैसा ही रहता है।

यह विराट जगत जैसा अब है वैसा ही रहता है। यह भूतकाल में भी ऐसा ही था और भविष्य में इसी तरह रहेगा।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (९.८) में कहा गया है—*भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्*—भौतिक जगत के शाश्वत प्राकट्य, पालन तथा संहार के लिए क्रमबद्ध व्यवस्थित कार्यक्रम हैं। जिस तरह यह अभी उत्पन्न किया गया है और बाद में नष्ट कर दिया जायेगा उसी तरह यह भूतकाल में था और कालक्रम में पुनः सृजित, पालित और विनष्ट होगा। अतः काल के क्रमबद्ध कार्यकलाप स्थायी और शाश्वत हैं और इन्हें मिथ्या नहीं कहा जा सकता। अभिव्यक्ति अस्थायी तथा आकस्मिक है, किन्तु मिथ्या नहीं है जैसाकि मायावादी दार्शनिक दावा करते हैं।

सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः ।
कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसङ्क्रमः ॥ १४॥

शब्दार्थ

सर्गः—सृष्टि; नव-विधः—नौ भिन्न-भिन्न प्रकार की; तस्य—इसका; प्राकृतः—भौतिक; वैकृतः—प्रकृति के गुणों द्वारा; तु—लेकिन; यः—जो; काल—नित्यकाल; द्रव्य—पदार्थ; गुणैः—गुणों के द्वारा; अस्य—इसके; त्रि-विधः—तीन प्रकार; प्रतिसङ्क्रमः—संहार।

उस एक सृष्टि के अतिरिक्त जो गुणों की अन्योन्य क्रियाओं के फलस्वरूप स्वाभाविक रूप

से घटित होती है नौ प्रकार की अन्य सृष्टियाँ भी हैं। नित्य काल, भौतिक तत्त्वों तथा मनुष्य के कार्य के गुण के कारण प्रलय तीन प्रकार का है।

तात्पर्य : नियमबद्ध सृजन तथा संहार परमेच्छा के रूप में होते हैं। भौतिक तत्त्वों की अन्योन्य क्रियाओं से अन्य सृष्टियाँ भी होती हैं, जो ब्रह्मा की बुद्धि के द्वारा घटित होती हैं। बाद में इनकी विशद व्याख्या की जायेगी। सम्प्रति, केवल प्रारम्भिक जानकारी दी गई है। तीन प्रकार के प्रलय के कारण हैं (१) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रलय के निर्धारित काल के कारण (२) अनन्त के मुख से निकलने वाली अग्नि के कारण तथा (३) मनुष्य के गुणात्मक कार्य-कारणों के फलस्वरूप।

आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः ।
द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

आद्यः—प्रथम; तु—लेकिन; महतः—भगवान् से पूर्ण उद्भास की; सर्गः—सृष्टि; गुण-वैषम्यम्—भौतिक गुणों की अन्योन्य क्रिया; आत्मनः—ब्रह्म का; द्वितीयः—दूसरी; तु—लेकिन; अहमः—मिथ्या अहंकार; यत्र—जिसमें; द्रव्य—भौतिक घटक; ज्ञान—भौतिक ज्ञान; क्रिया-उदयः—कार्य की जागृति।

नौ सृष्टियों में से पहली सृष्टि महत् तत्त्वसृष्टि अर्थात् भौतिक घटकों की समग्रता है, जिसमें परमेश्वर की उपस्थिति के कारण गुणों में परस्पर क्रिया होती है। द्वितीय सृष्टि में मिथ्या अहंकार उत्पन्न होता है, जिसमें से भौतिक घटक, भौतिक ज्ञान तथा भौतिक कार्यकलाप प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि के लिए परमेश्वर से जो पहला उद्भास होता है, वह *महत्-तत्त्व* कहलाता है। भौतिक गुणों की अन्योन्य क्रिया मिथ्या स्वरूप का कारण है या कि इस भाव का कि जीव भौतिक तत्त्वों से बना है। यह मिथ्या अहंकार आत्मा के साथ शरीर तथा मन की पहचान करने का कारण है। भौतिक संसाधन तथा कार्य करने की क्षमता एवं ज्ञान की उत्पत्ति सृष्टि के दूसरे चरण में होती है, अर्थात् *महत्तत्त्व* के बाद। ज्ञान सूचक है इन्द्रियों का, जो ज्ञान एवं इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवों की साधन हैं। कर्म के अन्तर्गत कर्मेन्द्रियाँ तथा उनके अधिष्ठाता देव आते हैं। ये सब द्वितीय सृष्टि में उत्पन्न होते हैं।

भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान् ।
चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

भूत-सर्गः—पदार्थ की उत्पत्ति; तृतीयः—तीसरी; तु—लेकिन; तत्-मात्रः—इन्द्रियविषय; द्रव्य—तत्वों के; शक्तिमान्—स्त्रष्टा; चतुर्थः—चौथा; ऐन्द्रियः—इन्द्रियों के विषय में; सर्गः—सृष्टि; यः—जो; तु—लेकिन; ज्ञान—ज्ञान-अर्जन; क्रिया—कार्य करने की; आत्मकः—मूलतः।

इन्द्रिय विषयों का सृजन तृतीय सृष्टि में होता है और इनसे तत्त्व उत्पन्न होते हैं। चौथी सृष्टि है ज्ञान तथा कार्य-क्षमता (क्रियाशक्ति) का सृजन।

वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः ।
षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभोः ॥ १७॥

शब्दार्थ

वैकारिकः—सतोगुण की अन्योन्य क्रिया; देव—देवता या अधिष्ठाता देव; सर्गः—सृष्टि; पञ्चमः—पाँचवीं; यत्—जो; मयम्—सम्पूर्णता; मनः—मन; षष्ठः—छठी; तु—लेकिन; तमसः—तमोगुण की; सर्गः—सृष्टि; यः—जो; तु—अनुपूरक; अबुद्धि-कृतः—मूर्ख बनाई गई; प्रभोः—स्वामी की।

पाँचवीं सृष्टि सतोगुण की अन्योन्य क्रिया द्वारा बने अधिष्ठाता देवों की है, जिसका सार समाहार मन है। छठी सृष्टि जीव के अज्ञानतापूर्ण अंधकार की है, जिससे स्वामी मूर्ख की तरह कार्य करता है।

तात्पर्य : उच्चलोकों के देवता *देव* कहलाते हैं, क्योंकि वे सब भगवान् विष्णु के भक्त हैं। *विष्णु भक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः*—विष्णु के सारे भक्त *देव* हैं, जबकि अन्य सारे *असुर* हैं। यह *देवों* तथा *असुरों* का विभाजन है। *देव* भौतिक प्रकृति में सतोगुणी होते हैं जबकि *असुर* रजो या तमोगुणी होते हैं। देवताओं या अधिष्ठाता देवों को भौतिक जगत के विभिन्न कार्यों की विभागीय व्यवस्था सौंपी हुई है। उदाहरणार्थ, हमारी इन्द्रियों में से एक इन्द्रिय आँख प्रकाश द्वारा नियंत्रित है, यह प्रकाश सूर्य की किरणों द्वारा वितरित होता है और उनका अधिष्ठाता देव सूर्य है। इसी तरह मन चन्द्रमा द्वारा नियंत्रित होता है। अन्य सारी इन्द्रियाँ—कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ—विभिन्न देवताओं द्वारा नियंत्रित की जाती हैं। देवतागण भौतिक मामलों की व्यवस्था में भगवान् के सहायक हैं।

देवताओं की सृष्टि के बाद सारे जीव अज्ञान के अंधकार से प्रच्छन्न रहते हैं। भौतिक जगत का प्रत्येक जीव भौतिक प्रकृति के संसाधनों पर प्रभुत्व जताने की अपनी प्रवृत्ति से बद्ध है। यद्यपि जीव भौतिक जगत का स्वामी नहीं है, किन्तु वह अज्ञान से, भौतिक वस्तुओं के स्वामी होने की मिथ्या भावना से बद्ध है।

भगवान् की *अविद्या* नामक शक्ति बद्धजीवों को मोहग्रस्त बनाने वाली है। भौतिक प्रकृति *अविद्या* कहलाती है, किन्तु भगवद्भक्ति में लगे हुए भक्तों के लिए यह शक्ति *विद्या* अर्थात् शुद्ध ज्ञान बन जाती है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है। भगवान् की शक्ति *महामाया* से *योगमाया* में रूपान्तरित हो जाती है और भक्त के समक्ष अपने असली रूप में प्रकट होती है। अतएव भौतिक प्रकृति तीन चरणों में कार्य करती प्रतीत होती है—भौतिक जगत के सृजन सिद्धान्त के रूप में, अज्ञान के रूप में तथा ज्ञान के रूप में। जैसाकि पिछले श्लोक में उद्घाटित हुआ है चौथी सृष्टि में ज्ञान शक्ति भी उत्पन्न होती है। बद्धजीव मूलतः मूर्ख नहीं होते, किन्तु प्रकृति के *अविद्या* कार्य के प्रभाव से वे मूर्ख बना दिये जाते हैं जिससे वे सही दिशा में ज्ञान का उपयोग नहीं कर पाते।

अंधकार के प्रभाव से बद्धजीव परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है और वह राग, घृणा, गर्व, अज्ञान तथा झूठी पहचान से अभिभूत हो जाता है, जो कि भौतिक बन्धन उत्पन्न करने वाले पाँच प्रकार के मोह हैं।

षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु ।
रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

षट्—छठी; इमे—ये सब; प्राकृताः—भौतिक शक्ति की; सर्गाः—सृष्टियाँ; वैकृतान्—ब्रह्मा द्वारा गौण सृष्टियाँ; अपि—भी; मे—मुझसे; शृणु—सुनो; रजः-भाजः—रजोगुण के अवतार (ब्रह्मा) का; भगवतः—अत्यन्त शक्तिशाली की; लीला—लीला; इयम्—यह; हरि—भगवान्; मेधसः—ऐसे मस्तिष्क वाले का।

उपर्युक्त समस्त सृष्टियाँ भगवान् की बहिरंगा शक्ति की प्राकृतिक सृष्टियाँ हैं। अब मुझसे उन ब्रह्माजी द्वारा की गई सृष्टियों के विषय में सुनो जो रजोगुण के अवतार हैं और सृष्टि के मामले में जिनका मस्तिष्क भगवान् जैसा ही है।

सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः ।
वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सप्तमः—सातवीं; मुख्य—प्रधान; सर्गः—सृष्टि; तु—निस्सन्देह; षट्-विधः—छः प्रकार की; तस्थुषाम्—न चलने वालों की; च—भी; यः—वे; वनस्पति—बिना फूल वाले फल वृक्ष; ओषधि—पेड़-पौधे जो फल के पकने तक जीवित रहते हैं; लता—लताएँ; त्वक्साराः—नलीदार पौधे; वीरुधः—बिना आधार वाली लताएँ; द्रुमाः—फलफूल वाले वृक्ष।

सातवीं सृष्टि अचर प्राणियों की है, जो छः प्रकार के हैं: फूलरहित फलवाले वृक्ष, फल

पकने तक जीवित रहने वाले पेड़-पौधे, लताएं, नलीदार पौधे; बिना आधार वाली लताएँ तथा फलफूल वाले वृक्ष।

उत्स्रोतसस्तमःप्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

उत्स्रोतसः—ऊर्ध्वगामी, नीचे से ऊपर की ओर; तमः-प्रायाः—प्रायः अचेत; अन्तः-स्पर्शाः—भीतर कुछ कुछ अनुभव करते हुए; विशेषिणः—नाना प्रकार के स्वरूपों से युक्त।

सारे अचर पेड़-पौधे ऊपर की ओर बढ़ते हैं। वे अचेतप्राय होते हैं, किन्तु भीतर ही भीतर उनमें पीड़ा की अनुभूति होती है। वे नाना प्रकारों में प्रकट होते हैं।

तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः ।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तिरश्चाम्—निम्न पशुओं की जातियाँ; अष्टमः—आठवीं; सर्गः—सृष्टि; सः—वे हैं; अष्टाविंशत्—अट्ठाईस; विधः—प्रकार; मतः—माने हुए; अविदः—कल के ज्ञान से रहित; भूरि—अत्यधिक; तमसः—अज्ञानी; घ्राण-ज्ञाः—गन्ध से इच्छित वस्तुओं को जानने वाले; हृदि अवेदिनः—हृदय में बहुत कम स्मरण रखने वाले।

आठवीं सृष्टि निम्नतर जीवयोनियों की है और उनकी अट्ठाईस विभिन्न जातियाँ हैं। वे सभी अत्यधिक मूर्ख तथा अज्ञानी होती हैं। वे गन्ध से अपनी इच्छित वस्तुएँ जान पाती हैं, किन्तु हृदय में कुछ भी स्मरण रखने में अशक्य होती हैं।

तात्पर्य : वेदों में निम्नतर पशुओं के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार हुआ है: *अथेतरेषां पशूनाः अशनापिपासे एवाभिविज्ञानं न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञातं पश्यन्ति न विदुः स्वस्तनं न लोकालोकाविति; यद्वा भूरि-तमसो बहुरुषः घ्राणेनैव जानन्ति हृदयं प्रति स्वप्रियं वस्त्वेव विन्दन्ति भोजनशयनाद्यर्थं गृहणन्ति।* "निम्नतर पशुओं को केवल अपनी भूख तथा प्यास का ज्ञान होता है। उन्होंने न तो कोई ज्ञान अर्जित किया होता है, न दृष्टि। उनके व्यवहार में औपचारिकता पर निर्भरता प्रदर्शित नहीं होती। वे अत्यधिक अज्ञानी हैं, वे अपनी इच्छित वस्तुओं को केवल गन्ध से ही जान सकते हैं और ऐसी बुद्धि से इतना ही समझ सकते हैं कि क्या उपयुक्त है और क्या अनुपयुक्त। उनका ज्ञान एकमात्र भोजन करने तथा सोने तक सीमित है।" इसीलिए सर्वाधिक खूँखार निम्नतर पशु, यथा बाघ तक को नियमित रूप

से भोजन तथा सोने के लिए आवास का स्थान देकर पाला जा सकता है। एकमात्र सर्प ऐसे हैं, जिन्हें इस तरह से नहीं पाला जा सकता।

गौरजो महिषः कृष्णः सूकरो गवयो रुरुः ।
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम ॥ २२॥

शब्दार्थ

गौः—गाय; अजः—बकरी; महिषः—भैंस; कृष्णः—एक प्रकार का बारहसिंगा; सूकरः—सुअर; गवयः—पशु की एक जाति (नीलगाय); रुरुः—हिरन; द्वि-शफाः—दो खुरों वाले; पशवः—पशु; च—भी; इमे—ये सभी; अविः—मेंढा; उष्ट्रः—ऊँट; च—तथा; सत्तम—हे शुद्धतम।

हे शुद्धतम विदुर, निम्नतर पशुओं में गाय, बकरी, भैंस, काला बारहसिंगा, सूकर, नीलगाय, हिरन, मेंढा तथा ऊँट ये सब दो खुरों वाले हैं।

खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा ।
एते चैकशफाः क्षत्तः शृणु पञ्चनखान्पशून् ॥ २३॥

शब्दार्थ

खरः—गधा; अश्वः—घोड़ा; अश्वतरः—खच्चर; गौरः—सफेद हिरन; शरभः—भैंसा; चमरी—चँवरी गाय; तथा—इस प्रकार; एते—ये सभी; च—तथा; एक—केवल एक; शफाः—खुर; क्षत्तः—हे विदुर; शृणु—सुनो; पञ्च—पाँच; नखान्—नाखून वाले; पशून्—पशुओं के बारे में।

घोड़ा, खच्चर, गधा, गौर, शरभ-भैंसा तथा चँवरी गाय इन सबों में केवल एक खुर होता है। अब मुझसे उन पशुओं के बारे में सुनो जिनके पाँच नाखून होते हैं।

श्वा सृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्वा—कुत्ता; सृगालः—सियार; वृकः—लोमड़ी; व्याघ्रः—बाघ; मार्जारः—बिल्ली; शश—खरगोश; शल्लकौ—सजारु (स्याही, जिसके शरीर पर काँटे होते हैं); सिंहः—शेर; कपिः—बन्दर; गजः—हाथी; कूर्मः—कछुआ; गोधा—गोसाप (गोह); च—भी; मकर-आदयः—मगर इत्यादि।

कुत्ता, सियार, बाघ, लोमड़ी, बिल्ली, खरगोश, सजारु (स्याही), सिंह, बन्दर, हाथी, कछुवा, मगर, गोसाप (गोह) इत्यादि के पंजों में पाँच नाखून होते हैं। वे पञ्चनख अर्थात् पाँच नाखूनों वाले पशु कहलाते हैं।

कङ्कगृध्रबकश्येनभासभल्लूकबर्हिणः ।
हंससारसचक्राह्वकाकोलूकादयः खगाः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

कङ्क—बगुला; गृध्र—गीध; बक—बगुला; श्येन—बाज; भास—भास; भल्लूक—भल्लूक (भालू); बर्हिणः—मोर; हंस—हंस; सारस—सारस; चक्राह्व—चक्रवाक, (चकई चकवा); काक—कौवा; उलूक—उल्लू; आदयः—इत्यादि; खगाः—पक्षी ।.

कंक, गीध, बगुला, बाज, भास, भल्लूक, मोर, हंस, सारस, चक्रवाक, कौवा, उल्लू इत्यादि पक्षी कहलाते हैं।

अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम् ।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अर्वाक्—नीचे की ओर; स्रोतः—भोजन की नली; तु—लेकिन; नवमः—नौवीं; क्षत्तः—हे विदुर; एक-विधः—एक जाति; नृणाम्—मनुष्यों की; रजः—रजोगुण; अधिकाः—अत्यन्त प्रधान; कर्म-पराः—कर्म में रुचि रखने वाले; दुःखे—दुख में; च—लेकिन; सुख—सुख; मानिनः—सोचने वाले ।.

मनुष्यों की सृष्टि क्रमानुसार नौवीं है। यही केवल एक ही योनि (जाति) ऐसी है और अपना आहार उदर में संचित करते हैं। मानव जाति में रजोगुण की प्रधानता होती है। मनुष्यग दुखीजीवन में भी सदैव व्यस्त रहते हैं, किन्तु वे अपने को सभी प्रकार से सुखी समझते हैं।

तात्पर्य : मनुष्य पशुओं से अधिक कामुक होता है, अतः मनुष्य का यौन जीवन अधिक अनियमित होता है। पशुओं में संभोग का एक नियत काल होता है, किन्तु मनुष्य में ऐसे कार्यों के लिए कोई नियमित समय नहीं है। मनुष्य भौतिक दुखों से छुटकारा पाने के लिए उच्चतर एवं उन्नत स्तर की चेतना प्राप्त हुई होती है, किन्तु अपने अज्ञान के कारण वह यह सोचता है कि उसकी उच्चतर चेतना जीवन की भौतिक सुविधाओं के संवर्धन के निमित्त है। इस तरह उसकी बुद्धि का आध्यात्मिक साक्षात्कार के बजाय पाशविक लालसाओं—खाने, सोने, रक्षा करने तथा संभोग करने—में दुरुपयोग होता है। भौतिक सुविधाओं में अग्रसर होकर मनुष्य अपने को अधिक दुखी अवस्था में ले जाता है, किन्तु भौतिक शक्ति के द्वारा मोहित किये जाने से वह अपने को सदैव सुखी समझता है, भले ही वह कष्ट से क्यों न घिरा हो। मनुष्य जीवन की ऐसी दुखी अवस्था उस प्राकृतिक आरामदेह जीवन से भिन्न है, जिसका भोग पशु तक भी करते हैं।

वैकृतास्त्रय एवैते देवसर्गश्च सत्तम ।
वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः ॥ २७॥

शब्दार्थ

वैकृताः—ब्रह्मा की सृष्टियाँ; त्रयः—तीन प्रकार की; एव—निश्चय ही; एते—ये सभी; देव-सर्गः—देवताओं का प्राकट्य; च—भी; सत्तम—हे उत्तम विदुर; वैकारिकः—प्रकृति द्वारा देवताओं की सृष्टि; तु—लेकिन; यः—जो; प्रोक्तः—पहले वर्णित; कौमारः—चारों कुमार; तु—लेकिन; उभय-आत्मकः—दोनों प्रकार (यथा वैकृत तथा प्राकृत)।

हे श्रेष्ठ विदुर, ये अन्तिम तीन सृष्टियाँ तथा देवताओं की सृष्टि (दसवीं सृष्टि) वैकृत सृष्टियाँ हैं, जो पूर्ववर्णित प्राकृत (प्राकृतिक) सृष्टियों से भिन्न हैं। कुमारों का प्राकट्य दोनों ही सृष्टियाँ हैं।

देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः ।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ॥ २८॥
भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः ।
दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः ॥ २९॥

शब्दार्थ

देव-सर्गः—देवताओं की सृष्टि; च—भी; अष्ट-विधः—आठ प्रकार की; विबुधाः—देवता; पितरः—पूर्वज; असुराः—असुरगण; गन्धर्व—उच्चलोक के दक्ष कलाकार; अप्सरसः—देवदूत; सिद्धाः—योगशक्तियों में सिद्ध व्यक्ति; यक्ष—सर्वोत्कृष्ट रक्षक; रक्षांसि—राक्षस; चारणाः—देवलोक के गवैये; भूत—जिन्न, भूत; प्रेत—बुरी आत्माएँ, प्रेत; पिशाचाः—अनुगामी भूत; च—भी; विद्याध्राः—विद्याधर नामक दैवी निवासी; किन्नर—अतिमानव; आदयः—इत्यादि; दश एते—ये दस (सृष्टियाँ); विदुर—हे विदुर; आख्याताः—वर्णित; सर्गाः—सृष्टियाँ; ते—तुमसे; विश्व-सृक्—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा (ब्रह्मा) द्वारा; कृताः—सम्पन्न।

देवताओं की सृष्टि आठ प्रकार की है—(१) देवता (२) पितरगण (३) असुरगण (४) गन्धर्व तथा अप्सराएँ (५) यक्ष तथा राक्षस (६) सिद्ध, चारण तथा विद्याधर (७) भूत, प्रेत तथा पिशाच (८) किन्नर—अतिमानवीय प्राणी, देवलोक के गायक इत्यादि। ये सब ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध में बताया जा चुका है, सिद्धगण सिद्धलोक के निवासी हैं जहाँ के रहने वाले बिना यान के अन्तरिक्ष में यात्रा करते हैं। वे इच्छामात्र से, बिना कठिनाई के, एक लोक से दूसरे लोक में चले जा सकते हैं। अतएव उच्चतर लोगों के निवासी इस लोक के निवासियों की तुलना में कला, संस्कृति तथा विज्ञान के मामले में कहीं श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उनके मस्तिष्क मनुष्यों के मस्तिष्कों से श्रेष्ठ हैं। इस सन्दर्भ में उल्लिखित भूतप्रेतों की भी गणना देवताओं में की जाती है, क्योंकि वे असामान्य कार्य करने में सक्षम हैं, जो मनुष्यों के लिए सम्भव नहीं हैं।

अतः परं प्रवक्ष्यामि वंशान्मन्वन्तराणि च
एवं रजःप्लुतः स्रष्टा कल्पादिष्वात्मभूर्हरिः ।
सृजत्यमोघसङ्कल्प आत्मैवात्मानमात्मना ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अतः—**यहाँ**; परम्—**बाद में**; प्रवक्ष्यामि—**बतलाऊँगा**; वंशान्—**वंशज**; मन्वन्तराणि—**मनुओं के विभिन्न अवतरण**; च—**तथा**; एवम्—**इस प्रकार**; रजः-प्लुतः—**रजोगुण से संतृप्त**; स्रष्टा—**निर्माता**; कल्प-आदिषु—**विभिन्न कल्पों में**; आत्म-भूः—**स्वयं अवतार**; हरिः—**भगवान्**; सृजति—**उत्पन्न करता है**; अमोघ—**बिना चूक के**; सङ्कल्पः—**दृढ़निश्चय**; आत्मा एव—**वे स्वयं**; आत्मानम्—**स्वयं**; आत्मना—**अपनी ही शक्ति से**।

अब मैं मनुओं के वंशजों का वर्णन करूँगा। स्रष्टा ब्रह्मा जो कि भगवान् के रजोगुणी अवतार हैं भगवान् की शक्ति के बल से प्रत्येक कल्प में अचूक इच्छाओं सहित विश्व प्रपंच की सृष्टि करते हैं।

तात्पर्य : विराट जगत भगवान् की अनेक शक्तियों में से एक का विस्तार है। स्रष्टा तथा सृष्टि दोनों एक ही परम सत्य (परब्रह्म) के उद्भास हैं जैसाकि *भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*जन्माद्यस्य यतः*।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत 'सृष्टि के विभाग' नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

परमाणु से काल की गणना

मैत्रेय उवाच
चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा ।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; चरमः—चरम; सत्—प्रभाव; विशेषाणाम्—लक्षण; अनेकः—असंख्य; असंयुतः—अमिश्रित; सदा—सदैव; परम-अणुः—परमाणु; सः—वह; विज्ञेयः—जानने योग्य; नृणाम्—मनुष्यों का; ऐक्य—एकत्व; भ्रमः—भ्रमित; यतः—जिससे।

भौतिक अभिव्यक्ति का अनन्तिम कण जो कि अविभाज्य है और शरीर रूप में निरुपित नहीं हुआ हो, परमाणु कहलाता है। यह सदैव अविभाज्य सत्ता के रूप में विद्यमान रहता है यहाँ तक कि समस्त स्वरूपों के विलीनीकरण (लय) के बाद भी। भौतिक देह ऐसे परमाणुओं का संयोजन ही तो है, किन्तु सामान्य मनुष्य इसे गलत ढ़ग से समझता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* का परमाणु सम्बन्धी विवरण परमाणुवाद के आधुनिक विज्ञान जैसा ही है। इसका और अधिक वर्णन कणाद के परमाणुवाद में पाया जाता है। आधुनिक विज्ञान में भी परमाणु को अनन्तिम अविभाज्य कण माना जाता है, जिससे यह ब्रह्माण्ड बना हुआ है। *श्रीमद्भागवत* ज्ञान के समस्त वर्णनों की पूर्ण पाठपुस्तक है, जिसमें परमाणुवाद भी सम्मिलित है। शाश्वत काल का क्षुद्र सूक्ष्म रूप परमाणु है।

सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत् ।
कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सतः—प्रभावशाली अभिव्यक्ति का; एव—निश्चय ही; पद-अर्थस्य—भौतिक वस्तुओं का; स्वरूप-अवस्थितस्य—प्रलय काल तक एक ही रूप में रहने वाला; यत्—जो; कैवल्यम्—एकत्व; परम—परम; महान्—असीमित; अविशेषः—स्वरूप; निरन्तरः—शाश्वत रीति से।

परमाणु अभिव्यक्त ब्रह्माण्ड की चरम अवस्था है। जब वे विभिन्न शरीरों का निर्माण किये बिना अपने ही रूपों में रहते हैं, तो वे असीमित एकत्व (कैवल्य) कहलाते हैं। निश्चय ही भौतिक रूपों में विभिन्न शरीर हैं, किन्तु परमाणु स्वयं में पूर्ण अभिव्यक्ति का निर्माण करते हैं।

**एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम ।
संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः ॥ ३ ॥**

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कालः—समय; अपि—भी; अनुमितः—मापा हुआ; सौक्ष्म्ये—सूक्ष्म में; स्थौल्ये—स्थूल रूप में; च—भी; सत्तम—हे सर्वश्रेष्ठ; संस्थान—परमाणुओं का संयोग; भुक्त्या—गति द्वारा; भगवान्—भगवान्; अव्यक्तः—अप्रकट; व्यक्त-भुक्—समस्त भौतिक गति को नियंत्रित करने वाला; विभुः—महान् बलवान्।

काल को शरीरों के पारमाणविक संयोग की गतिशीलता के द्वारा मापा जा सकता है। काल उन सर्वशक्तिमान भगवान् हरि की शक्ति है, जो समस्त भौतिक गति का नियंत्रण करते हैं यद्यपि वे भौतिक जगत में दृष्टिगोचर नहीं हैं।

**स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम् ।
सतोऽविशेषभुग्यस्तु स कालः परमो महान् ॥ ४॥**

शब्दार्थ

सः—वह; कालः—नित्यकाल; परम-अणुः—पारमाणविक; वै—निश्चय ही; यः—जो; भुङ्क्ते—गुजरता है; परम-अणुताम्—एक परमाणु का अवकाश; सतः—सम्पूर्ण समुच्चय; अविशेष-भुक्—अद्वैत प्रदर्शन से गुजरने वाला; यः तु—जो; सः—वह; कालः—काल; परमः—परम; महान्—महान्।

परमाणु काल का मापन परमाणु के अवकाश विशेष को तय कर पाने के अनुसार किया जाता है। वह काल जो परमाणुओं के अव्यक्त समुच्चय को प्रच्छन्न करता है महाकाल कहलाता है।

तात्पर्य : काल तथा अवकाश (दिक्) दो सहसम्बन्धी पद हैं। अणुओं के कतिपय अवकाश को तय करने के रूप में काल मापा जाता है। मानक काल की गणना सूर्य की गति के अनुसार की जाती है। एक परमाणु को पार करने में सूर्य जितना काल लेता है, वह परमाणु-काल के रूप में परिगणित किया जाता है। सबसे महान् काल अद्वैत अभिव्यक्ति के समग्र अस्तित्व को व्याप्त करता है। सारे ग्रह चक्कर लगाते हैं और आकाश को तय करते हैं और अवकाश परमाणुओं के रूप में परिगणित किया जाता है। प्रत्येक ग्रह की चक्कर लगाने की अपनी विशिष्ट कक्ष्या होती है, जिसमें वह बिना इधर-उधर हटे गति करता है। इसी तरह सूर्य की अपनी कक्ष्या है। प्रकृति के सृजन, पालन तथा संहार के काल की सम्पूर्ण गणना समस्त ग्रहों की गति की गणना के आधार पर तब तक की जाती है जब तक कि सृष्टि का अन्त नहीं हो जाता। इसे *परमकाल* कहते हैं।

अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः ।
जालार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अणुः—द्विगुण परमाणु; द्वौ—दो; परम-अणु—परमाणु; स्यात्—बनते हैं; त्रसरेणुः—षट् परमाणु; त्रयः—तीन; स्मृतः—विचार किया हुआ; जाल-अर्क—खिड़की के पर्दे के छेदों से होकर धूप को; रश्मि—किरणों द्वारा; अवगतः—जाना जा सकता है; खम् एव—आकाश की ओर; अनुपतन् अगात्—ऊपर जाते हुए।

स्थूल काल की गणना इस प्रकार की जाती है: दो परमाणु मिलकर एक द्विगुण परमाणु (अणु) बनाते हैं और तीन द्विगुण परमाणु (अणु) एक षट् परमाणु बनाते हैं। यह षट्परमाणु उस सूर्य प्रकाश में दृष्टिगोचर होता है, जो खिड़की के परदे के छेदों से होकर प्रवेश करता है। यह आसानी से देखा जा सकता है कि षट्परमाणु आकाश की ओर ऊपर जाता है।

तात्पर्य : परमाणु का वर्णन अदृश्य कण के रूप में किया जाता है, किन्तु जब ऐसे छह कण परस्पर मिलते हैं, तो वे *त्रसरेणु* कहलाते हैं और इन्हें खिड़की के परदे के छेदों से होकर आने वाली धूप में देखा जा सकता है।

त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः ।
शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

त्रसरेणु-त्रिकम्—तीन षट् परमाणुओं का संयोग; भुङ्क्ते—जब वे संयुक्त होते हैं; यः—जो; कालः—काल की अवधि; सः—वह; त्रुटिः—त्रुटि; स्मृतः—कहलाती है; शत-भागः—एक सौ त्रुटियाँ; तु—लेकिन; वेधः—वेध नाम से; स्यात्—यदि ऐसा होता है; तैः—उनके द्वारा; त्रिभिः—तीन गुना; तु—लेकिन; लवः—लव; स्मृतः—ऐसा कहलाता है।

तीन त्रसरेणुओं के समुच्चयन में जितना समय लगता है, वह त्रुटि कहलाता है और एक सौ त्रुटियों का एक वेध होता है। तीन वेध मिलकर एक लव बनाते हैं।

तात्पर्य : यह गणना की गई है कि यदि एक सेंकड के १६८७.५ भाग किये जाँय तो हर भाग एक त्रुटि की अवधि है, जो कि अठारह परमाणु कणों के समुच्चयन का काल है। विभिन्न पिण्डों में परमाणुओं का ऐसा समुच्चयन भौतिक काल की गणना को जन्म देता है। इन विभिन्न अवधियों की गणना के लिए सूर्य केन्द्रबिन्दु है।

निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः ।
क्षणान्पञ्च विदुः काष्ठां लघु ता दश पञ्च च ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

निमेषः—निमेष नामक काल की अवधि; त्रि-लवः—तीन लवों की अवधि; ज्ञेयः—जानी जानी चाहिए; आम्नातः—ऐसा कहलाते हैं; ते—वे; त्रयः—तीन; क्षणः—क्षण; क्षणान्—ऐसे क्षण; पञ्च—पाँच; विदुः—समझना चाहिए; काष्ठाम्—काष्ठा नामक कालावधि; लघु—लघु नामक कालावधि; ताः—वे; दश पञ्च—पन्द्रह; च—भी।

तीन लवों की कालावधि एक निमेष के तुल्य है, तीन निमेष मिलकर एक क्षण बनाते हैं, पाँच क्षण मिलकर एक काष्ठा और पन्द्रह काष्ठा मिलकर एक लघु बनाते हैं।

तात्पर्य : गणना से ज्ञात होता है कि लघु दो मिनट के तुल्य होता है। वैदिक विद्या के रूप में काल की पारमाणविक गणना को समझने के लिए इसी आधार पर वर्तमान समय में परिणत किया जा सकता है।

लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका ।
ते द्वे मुहूर्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

लघूनि—ऐसे लघु (प्रत्येक दो मिनट का); वै—सही सही; समाम्नाता—कहलाता है; दश पञ्च—पन्द्रह; च—भी; नाडिका—एक नाडिका; ते—उनमें से; द्वे—दो; मुहूर्तः—क्षण; प्रहरः—तीन घंटे; षट्—छः; यामः—दिन या रात का चौथाई भाग; सप्त—सात; वा—अथवा; नृणाम्—मनुष्य की गणना का।

पन्द्रह लघु मिलकर एक नाडिका बनाते हैं जिसे दण्ड भी कहा जाता है। दो दण्ड से एक मुहूर्त बनता है। और मानवीय गणना के अनुसार छः या सात दण्ड मिलकर दिन या रात का चतुर्थांश बनाते हैं।

द्वादशार्धपलोन्मानं चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः ।
स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत्प्रस्थजलप्लुतम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

द्वादश-अर्ध—छह; पल—भार की माप का; उन्मानम्—मापक पात्र, मापना; चतुर्भिः—चार के भार के बराबर; चतुः-अङ्गुलैः—चार अंगुल माप का; स्वर्ण—सोने के; माषैः—भार का; कृत-छिद्रम्—छेद बनाकर; यावत्—जितना; प्रस्थ—एक प्रस्थ के जितना; जल-प्लुतम्—जल से भरा।

एक नाडिका या दण्ड के मापने का पात्र छः पल भार (१४ औंस) वाले ताम्र पात्र से तैयार किया जा सकता है, जिसमें चार माषा भार वाले तथा चार अंगुल लम्बे सोने की सलाई से एक छेद बनाया जाता है। जब इस पात्र को जल में रखा जाता है, तो इस पात्र को लबालब भरने में जो समय लगता है, वह एक दण्ड कहलाता है।

तात्पर्य : यहाँ यह सलाह दी जाती है कि ताँबे के मापक पात्र में जो छेद बनाया जाय वह छेद

चार माषा से अधिक भार वाली तथा चार अंगुल से अधिक लम्बी सलाई से न बनाया जाय। इससे छेद का व्यास सही रहता है। इस पात्र को जल में रखा जाता है। उसके ऊपर तक भर जाने का समय *दण्ड* कहलाता है। दण्ड की अवधि मापने की यह दूसरी विधि है, जिस तरह कि काँच के पात्र में बालू से समय मापा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक सभ्यता के दिनों में भौतिकी, रसायन शास्त्र या उच्चतर गणित का अभाव न था। मापों की गणना सरल से सरल रूप में अनेक विधियों से की जाती थी।

यामाश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानामहनी उभे ।
पक्षः पञ्चदशाहानि शुक्लः कृष्णश्च मानद ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यामाः—तीन घंटे; चत्वारः—चार; चत्वारः—तथा चार; मर्त्यानाम्—मनुष्यों के; अहनी—दिन की अवधि; उभे—रात तथा दिन दोनों; पक्षः—पखवाड़ा; पञ्च-दश—पन्द्रह; अहानि—दिन; शुक्लः—उजाला; कृष्णः—अँधेरा; च—भी; मानद—मापा हुआ।

यह भी गणना की गई है कि मनुष्य के दिन में चार प्रहर या याम होते हैं और रात में भी चार प्रहर होते हैं। इसी तरह पन्द्रह दिन तथा पन्द्रह रातें पखवाड़ा कहलाती हैं और एक मास में दो पखवाड़े (पक्ष) उजाला (शुक्ल) तथा अँधियारा (कृष्ण) होते हैं।

तयोः समुच्चयो मासः पितॄणां तदहर्निशम् ।
द्वौ तावृतुः षडयनं दक्षिणं चोत्तरं दिवि ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उनके; समुच्चयः—योग; मासः—महीना; पितॄणाम्—पित-लोकों का; तत्—वह (मास); अहः-निशम्—दिन तथा रात; द्वौ—दोनों; तौ—महीने; ऋतुः—ऋतु; षट्—छः; अयनम्—छह महीनों में सूर्य की गति; दक्षिणम्—दक्षिणी; च—भी; उत्तरम्—उत्तरी; दिवि—स्वर्ग में।

दो पक्षों को मिलाकरएक मास होता है और यह अवधि पित-लोकों का पूरा एक दिन तथा रात है। ऐसे दो मास मिलकर एक ऋतु बनाते हैं और छह मास मिलकर दक्षिण से उत्तर तक सूर्य की पूर्ण गति को बनाते हैं।

अयने चाहनी प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः ।
संवत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अयने—सूर्य की गति (छह मास की) में; च—तथा; अहनी—देवताओं का दिन; प्राहुः—कहा जाता है; वत्सरः—एक पंचांग वर्ष; द्वादश—बारह मास; स्मृतः—ऐसा कहलाता है; संवत्सर-शतम्—एक सौ वर्ष; नृणाम्—मनुष्यों की; परम-आयुः—जीवन की अवधि, उम्र; निरूपितम्—अनुमानित की जाती है।

दो सौर गतियों से देवताओं का एक दिन तथा एक रात बनते हैं और दिन-रात का यह संयोग मनुष्य के एक पूर्ण पंचांग वर्ष के तुल्य है। मनुष्य की आयु एक सौ वर्ष की है।

ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः परमाण्वादिना जगत् ।
संवत्सरावसानेन पर्येत्यनिमिषो विभुः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ग्रह—प्रभावशील ग्रह यथा चन्द्रमा; ऋक्ष—अश्विनी जैसे तारे; तारा—तारा; चक्र-स्थः—कक्ष्या में; परम-अणु-आदिना—परमाणुओं सहित; जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; संवत्सर-अवसानेन—एक वर्ष के अन्त होने पर; पर्येति—अपनी कक्ष्या पूरी करता है; अनिमिषः—नित्य काल; विभुः—सर्वशक्तिमान।

सारे ब्रह्माण्ड के प्रभावशाली नक्षत्र, ग्रह, तारे तथा परमाणु पर ब्रह्म के प्रतिनिधि दिव्य काल के निर्देशानुसार अपनी अपनी कक्ष्याओं में चक्कर लगाते हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि सूर्य परमेश्वर की आँख है और यह काल की अपनी विशिष्ट कक्ष्या में चक्कर लगाता है। इसी तरह सूर्य से लेकर परमाणु तक सारे पिंड *कालचक्र* के वशीभूत हैं और इनमें से हर एक का एक संवत्सर का नियमित चक्र-काल है।

संवत्सरः परिवत्सर इडावत्सर एव च ।
अनुवत्सरो वत्सरश्च विदुरैवं प्रभाष्यते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

संवत्सरः—सूर्य की कक्ष्या; परिवत्सरः—बृहस्पति की प्रदक्षिणा; इडा-वत्सरः—नक्षत्रों की कक्ष्या; एव—जैसे हैं; च—भी; अनुवत्सरः—चन्द्रमा की कक्ष्या; वत्सरः—एक पंचांग वर्ष; च—भी; विदुर—हे विदुर; एवम्—इस प्रकार; प्रभाष्यते—ऐसा उनके बारे में कहा जाता है।

सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा आकाश के तारों के पाँच भिन्न-भिन्न नाम हैं और उनमें से प्रत्येक का अपना संवत्सर है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के उपर्युक्त श्लोकों में भौतिकी, रसायन विज्ञान, गणित, ज्योतिर्विज्ञान, काल तथा दिक् विषयों की चर्चा हुई है। वे उन विषयों के जिज्ञासुओं के लिए निश्चय ही अतीव रोचक हैं, किन्तु जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है हम उनकी सम्यक् व्याख्या तकनीकी ज्ञान के रूप में नहीं दे सकते। इस विषय का सारांश इस कथन द्वारा दिया गया है कि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के ऊपर *काल* का

परम नियंत्रण है और यह काल भगवान् का स्वांश है। उन के बिना कुछ भी विद्यमान नहीं रह सकता; अत: हर वस्तु हमारे अल्प ज्ञान के लिए, चाहे वह कितनी ही अद्‌भुत क्यों न हो, भगवान् की जादुई छड़ी का करतब प्रतीत होती है। जहाँ तक काल का सम्बन्ध है हम आधुनिक घड़ी के अनुसार काल की तालिका दे रहे हैं—

एक त्रुटि	—	८/१३,५०० सेकंड
एक वेध	—	८/१३५ सेकंड
एक लव	—	८/४५ सेकंड
एक निमेष	—	८/१५ सेकंड
एक क्षण	—	८/५ सेकंड
एक काष्ठा	—	८ सेकंड
एक लघु	—	२ मिनट
एक दण्ड	—	३० मिनट
एक प्रहर	—	३ घंटे
एक दिन	—	१२ घंटे
एक रात	—	१२ घंटे
एक पक्ष	—	१५ दिन

दो पक्ष का १ मास तथा १२ मास का १ पंचांग वर्ष या सूर्य की पूरी एक कक्षा होते हैं। मनुष्य की आयु एक सौ वर्ष अनुमानित है। नित्य काल की माप को नियंत्रित करने की यही विधि है।

ब्रह्म-संहिता (५.५२) में इस नियंत्रण की परिपुष्टि इस प्रकार हुई है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां

राजा समस्तसुरमूर्तिरसेषतेजा:।

यस्याज्ञया भ्रमति संभृतकालचक्रो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जिनके नियंत्रण में भगवान् की आँख माना जाने

वाला सूर्य तक नित्य काल की स्थिर कक्ष्या के भीतर चक्कर लगाता है। सूर्य समस्त लोकों का राजा है और उसमें उष्मा तथा प्रकाश की असीम शक्ति है।''

यः सृज्यशक्तिमुरुधोच्छ्वसयन्स्वशक्त्या
पुंसोऽभ्रमाय दिवि धावति भूतभेदः ।
कालाख्यया गुणमयं क्रतुभिर्वितन्वंस्
तस्मै बलिं हरत वत्सरपञ्चकाय ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; सृज्य—सृष्टि के; शक्तिम्—बीज; उरुधा—विभिन्न प्रकारों से; उच्छ्वसयन्—शक्ति देते हुए; स्व-शक्त्या—अपनी शक्ति से; पुंसः—जीव का; अभ्रमाय—अंधकार दूर करने के लिए; दिवि—दिन के समय; धावति—चलता है; भूत-भेदः—अन्य समस्त भौतिक रूप से पृथक्; काल-आख्यया—नित्यकाल के नाम से; गुण-मयम्—भौतिक परिणाम; क्रतुभिः—भेंटों के द्वारा; वितन्वन्—विस्तार देते हुए; तस्मै—उसको; बलिम्—उपहार की वस्तुएँ; हरत—अर्पित करे; वत्सर-पञ्चकाय—हर पाँच वर्ष की भेंट।

हे विदुर, सूर्य अपनी असीम उष्मा तथा प्रकाश से सारे जीवों को जीवन देता है। वह सारे जीवों की आयु को इसलिए कम करता है कि उन्हें भौतिक अनुरक्ति के मोह से छुड़ाया जा सके। वह स्वर्गलोक तक ऊपर जाने के मार्ग को लम्बा (प्रशस्त) बनाता है। इस तरह वह आकाश में बड़े वेग से गतिशील है, अतएव हर एक को चाहिए कि प्रत्येक पाँच वर्ष में एक बार पूजा की समस्त सामग्री के साथ उसको नमस्कार करे।

विदुर उवाच
पितृदेवमनुष्याणामायुः परमिदं स्मृतम् ।
परेषां गतिमाचक्ष्व ये स्युः कल्पाद्बहिर्विदः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; पितृ—पितृलोक; देव—स्वर्गलोक; मनुष्याणाम्—तथा मनुष्यों की; आयुः—आयु; परम्—अन्तिम; इदम्—उनकी अपनी माप में; स्मृतम्—परिगणित; परेषाम्—श्रेष्ठ जीवों की; गतिम्—आयु; आचक्ष्व—कृपया गणना करें; ये—वे जो; स्युः—हैं; कल्पात्—कल्प से; बहिः—बाहर; विदः—अत्यन्त विद्वान।

विदुर ने कहा : मैं पितृलोकों, स्वर्गलोकों तथा मनुष्यों के लोक के निवासियों की आयु को समझ पाया हूँ। कृपया अब मुझे उन महान् विद्वान जीवों की जीवन अवधि के विषय में बतायें जो कल्प की परिधि के परे हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा के दिन की समाप्ति पर ब्रह्माण्ड का जो आंशिक विलय होता है उससे सारे लोक प्रभावित नहीं होते। अत्यधिक विद्वान जीवों, यथा सनक तथा भृगु के लोक कल्पों के प्रलयों से

प्रभावित नहीं होते। सारे लोक विभिन्न प्रकार के हैं और इनमें से हर एक भिन्न *कालचक्र* द्वारा नियंत्रित होता है। पृथ्वी लोक का काल अन्य अधिक उच्चस्थ लोकों पर लागू नहीं होता। अतएव विदुर यहाँ पर अन्य लोकों की कालावधि के विषय में प्रश्न कर रहे हैं।

भगवान्वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु ।
विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा ॥ १७॥

शब्दार्थ

भगवान्—हे आध्यात्मिक रूप से शक्तिशाली; वेद—आप जानते हैं; कालस्य—नित्य काल की; गतिम्—चालें; भगवतः—भगवान् के; ननु—निश्चय ही; विश्वम्—पूरा ब्रह्माण्ड; विचक्षते—देखते हैं; धीराः—स्वरूपसिद्ध व्यक्ति; योग-राद्धेन—योग दृष्टि के बल पर; चक्षुषा—आँखों द्वारा।

हे आध्यात्मिक रूप से शक्तिशाली, आप उस नित्य काल की गतियों को समझ सकते हैं, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का नियंत्रक स्वरूप है। चूँकि आप स्वरूपसिद्ध व्यक्ति हैं, अतः आप योग दृष्टि की शक्ति से हर वस्तु देख सकते हैं।

तात्पर्य : जो योगशक्ति की सर्वोच्च सिद्धावस्था को प्राप्त कर चुके हैं और भूत, वर्तमान तथा भविष्य की हर वस्तु को देख सकते हैं, वे *त्रिकालज्ञ* कहलाते हैं। इसी तरह भगवद्भक्त शास्त्रों की हर वस्तु को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। श्रीकृष्ण के भक्तगण कृष्ण विज्ञान के साथ ही साथ भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों की स्थिति को बिना किसी कठिनाई के सरलता से समझ सकते हैं। भक्तों को किसी योगसिद्धि के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। वे हर एक के हृदय में आसीन भगवान् की कृपा से हर बात को समझने में सक्षम होते हैं।

मैत्रेय उवाच
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; कृतम्—सत्ययुग; त्रेता—त्रेतायुग; द्वापरम्—द्वापरयुग; च—भी; कलिः—कलियुग; च—तथा; इति—इस प्रकार; चतुः-युगम्—चारों युग; दिव्यैः—देवताओं के; द्वादशभिः—बारह; वर्षैः—हजारों वर्ष; स-अवधानम्—लगभग; निरूपितम्—निश्चित किया गया।

मैत्रेय ने कहा : हे विदुर, चारों युग सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि युग कहलाते हैं। इन सबों के कुल वर्षों का योग देवताओं के बारह हजार वर्षों के बराबर है।

तात्पर्य : देवताओं का वर्ष मनुष्यों के ३६० वर्षों के बराबर होता है। जैसाकि आगे के श्लोकों से स्पष्ट हो जायेगा, देवताओं के १२,००० वर्ष, जिसमें संधिकाल की अवधियाँ अर्थात् *युग सन्ध्याएँ* सम्मिलित हैं उपर्युक्त चार युगों के योग के तुल्य हैं। इस तरह उपर्युक्त चार युगों का सम्पूर्ण योग ४,३२०,००० वर्ष है।

चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम् ।
सङ्ख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

चत्वारि—चार; त्रीणि—तीन; द्वे—दो; च—भी; एकम्—एक; कृत-आदिषु—सत्य युग में; यथा-क्रमम्—बाद में अन्य; सङ्ख्यातानि—संख्या वाले; सहस्राणि—हजारों; द्वि-गुणानि—दुगुना; शतानि—सौ; च—भी।

सत्य युग की अवधि देवताओं के ४,८०० वर्ष के तुल्य है; त्रेतायुग की अवधि ३,६०० दैवी वर्षों के तुल्य, द्वापर युग की २,४०० वर्ष तथा कलियुग की अवधि १,२०० दैवी वर्षों के तुल्य है।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है देवताओं का एक वर्ष मनुष्यों के ३६० वर्षों के बराबर होता है। अत: सत्ययुग की अवधि ४,८००×३६०=१७,२८,००० वर्ष हुई। इसी तरह त्रेतायुग की अवधि ३६००×३६०=१२,९६,००० वर्ष, द्वापर युग की २,४००×३६०=८,६४,००० वर्ष तथा कलियुग की अवधि १,२००×३६०=४,३२,००० वर्ष है।

सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तर्यः कालः शतसङ्ख्ययोः ।
तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सन्ध्या—पहले का बीच का काल; सन्ध्या-अंशयोः—तथा बाद का बीच का काल; अन्तः—भीतर; यः—जो; कालः—समय की अवधि; शत-सङ्ख्ययोः—सैकड़ों वर्ष; तम् एव—वह अवधि; आहुः—कहते हैं; युगम्—युग; तत्-ज्ञाः—दक्ष ज्योतिर्विद; यत्र—जिसमें; धर्मः—धर्म; विधीयते—सम्पन्न किया जाता है।

प्रत्येक युग के पहले तथा बाद के सन्धिकाल, जो कि कुछ सौ वर्षों के होते हैं, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, दक्ष ज्योतिर्विदों के अनुसार युग-सन्ध्या या दो युगों के सन्धि काल कहलाते हैं। इन अवधियों में सभी प्रकार के धार्मिक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं।

धर्मश्चतुष्पान्मनुजान्कृते समनुवर्तते ।
स एवान्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्धता ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धर्म; चतुः-पात्—पूरे चार विस्तार (पाद); मनुजान्—मानव जाति; कृते—सत्ययुग में; समनुवर्तते—ठीक से पालित; सः—वह; एव—निश्चय ही; अन्येषु—अन्यों में; अधर्मेण—अधर्म के प्रभाव से; व्येति—पतन को प्राप्त हुआ; पादेन—एक अंश से; वर्धता—धीरे धीरे वृद्धि करता हुआ।

हे विदुर, सत्ययुग में मानव जाति ने उचित तथा पूर्णरूप से धर्म के सिद्धान्तों का पालन किया, किन्तु अन्य युगों में ज्यों ज्यों अधर्म प्रवेश पाता गया त्यों त्यों धर्म क्रमशः एक एक अंश घटता गया।

तात्पर्य : सत्ययुग में धार्मिक सिद्धान्तों को पूरी तरह सम्पन्न किया जाता था। धीरे धीरे बाद के युगों में धर्म के सिद्धान्त एक एक अंश करके घटते गए। दूसरे शब्दों में, सम्प्रति एक अंश धर्म है और तीन अंश अधर्म। इसलिए इस युग में लोग अधिक सुखी नहीं हैं।

त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम् ।
तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों के; युग—चार युग; साहस्रम्—एक हजार; बहिः—बाहर; आब्रह्मणः—ब्रह्मलोक तक; दिनम्—दिन है; तावती—वैसा ही (काल); एव—निश्चय ही; निशा—रात है; तात—हे प्रिय; यत्—क्योंकि; निमीलति—सोने चला जाता है; विश्व-सृक्—ब्रह्मा।

तीन लोकों (स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल) के बाहर चार युगों को एक हजार से गुणा करने से ब्रह्मा के लोक का एक दिन होता है। ऐसी ही अवधि ब्रह्मा की रात होती है, जिसमें ब्रह्माण्ड का स्रष्टा सो जाता है।

तात्पर्य : जब ब्रह्माजी अपनी रात्रि के समय सो जाते हैं, तो ब्रह्मलोक से नीचे के तीनों लोक प्रलय जल में निमग्न रहते हैं। सोते हुए ब्रह्माजी गर्भोदकशायी विष्णु के विषय में स्वप्न देखते हैं और ध्वस्त हुए क्षेत्र के पुनर्वासन हेतु भगवान् से आदेश लेते हैं।

निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते ।
यावद्दिनं भगवतो मनून्भुञ्जंश्चतुर्दश ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

निशा—रात; अवसाने—समाप्ति; आरब्धः—प्रारम्भ करते हुए; लोक-कल्पः—तीन लोकों की फिर से उत्पत्ति; अनुवर्तते—पीछे पीछे आती है; यावत्—जब तक; दिनम्—दिन का समय; भगवतः—भगवान् (ब्रह्मा) का; मनून्—मनुओं; भुञ्जन्—विद्यमान रहते हुए; चतुः-दश—चौदह।

ब्रह्मा की रात्रि के अन्त होने पर ब्रह्मा के दिन के समय तीनों लोकों का पुनः सृजन प्रारम्भ होता है और वे एक के बाद एक लगातार चौदह मनुओं के जीवन काल तक विद्यमान रहते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक मनु के जीवन के अन्त में छोटे छोटे प्रलय भी होते रहते हैं।

स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

स्वम्—अपना; स्वम्—तदनुसार; कालम्—जीवन की अवधि, आयु; मनुः—मनु; भुङ्क्ते —भोग करता है; स-अधिकाम्—की अपेक्षा कुछ अधिक; हि—निश्चय ही; एक-सप्ततिम्—इकहत्तर।

प्रत्येक मनु चतुर्युगों के इकहत्तर से कुछ अधिक समूहों का जीवन भोग करता है।

तात्पर्य : जैसाकि *विष्णु पुराण* में वर्णित है मनु की आयु चतुर्युगों के इकहत्तर समूहों की होती है। एक मनु की आयु दैवी गणना के अनुसार लगभग ८,५२,००० वर्ष या मनुष्य गणना में ३०,६७,२०,००० वर्ष होती है।

मन्वन्तरेषु मनवस्तद्वंश्या ऋषयः सुराः ।
भवन्ति चैव युगपत्सुरेशाश्चानु ये च तान् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

मनु-अन्तरेषु—प्रत्येक मनु के अवसान के बाद; मनवः—अन्य मनु; तत्-वंश्याः—तथा उनके वंशज; ऋषयः—सात विख्यात ऋषि; सुराः—भगवान् के भक्त; भवन्ति—उन्नति करते हैं; च एव—वे सभी भी; युगपत्—एक साथ; सुर-ईशाः—इन्द्र जैसे देवता; च—तथा; अनु—अनुयायी; ये—समस्त; च—भी; तान्—उनको।

प्रत्येक मनु के अवसान के बाद क्रम से अगला मनु अपने वंशजों के साथ आता है, जो विभिन्न लोकों पर शासन करते हैं। किन्तु सात विख्यात ऋषि तथा इन्द्र जैसे देवता एवं गन्धर्व जैसे उनके अनुयायी मनु के साथ साथ प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं और इनमें से हर एक के पृथक्-पृथक् वंशज होते हैं।

एष दैनन्दिनः सर्गो ब्राह्मस्त्रैलोक्यवर्तनः ।
तिर्यङ्नृपितृदेवानां सम्भवो यत्र कर्मभिः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एषः—ये सारी सृष्टियाँ; दैनम्-दिनः—प्रतिदिन; सर्गः—सृष्टि; ब्राह्मः—ब्रह्मा के दिनों के रूप में; त्रैलोक्य-वर्तनः—तीनों लोकों का चक्कर; तिर्यक्—मनुष्येतर पशु; नृ—मनुष्य; पितृ—पितृलोक के; देवानाम्—देवताओं के; सम्भवः—प्राकट्य; यत्र—जिसमें; कर्मभिः—सकाम कर्मों के चक्र में।.

ब्रह्मा के दिन के समय सृष्टि में तीनों लोक—स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल लोक—चक्कर लगाते हैं तथा मनुष्येतर पशु, मनुष्य, देवता तथा पितृगण समेत सारे निवासी अपने अपने सकाम कर्मों के अनुसार प्रकट तथा अप्रकट होते रहते हैं।

मन्वन्तरेषु भगवान्बिभ्रत्सत्त्वं स्वमूर्तिभिः ।
मन्वादिभिरिदं विश्वमवत्युदितपौरुषः ॥ २७॥

शब्दार्थ

मनु-अन्तरेषु—प्रत्येक मनु-परिवर्तन में; भगवान्—भगवान्; बिभ्रत्—प्रकट करते हुए; सत्त्वम्—अपनी अन्तरंगा शक्ति; स्व-मूर्तिभिः—अपने विभिन्न अवतारों द्वारा; मनु-आदिभिः—मनुओं के रूप में; इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; अवति—पालन करता है; उदित—खोजी; पौरुषः—दैवशक्तियाँ।.

प्रत्येक मनु के बदलने के साथ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विभिन्न अवतारों के रूप में यथा मनु इत्यादि के रूप में अपनी अन्तरंगा शक्ति प्रकट करते हुए अवतीर्ण होते हैं। इस तरह प्राप्त हुई शक्ति से वे ब्रह्माण्ड का पालन करते हैं।

तमोमात्रामुपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः ।
कालेनानुगताशेष आस्ते तूष्णीं दिनात्यये ॥ २८॥

शब्दार्थ

तमः—तमोगुण या रात का अंधकार; मात्राम्—नगण्य अंशमात्र; उपादाय—स्वीकार करके; प्रतिसंरुद्ध-विक्रमः—अभिव्यक्ति की सारी शक्ति को रोक करके; कालेन—नित्य काल के द्वारा; अनुगत—विलीन; अशेषः—असंख्य जीव; आस्ते—रहता है; तूष्णीम्—मौन; दिन-अत्यये—दिन का अन्त होने पर।.

दिन का अन्त होने पर तमोगुण के नगण्य अंश के अन्तर्गत ब्रह्माण्ड की शक्तिशाली अभिव्यक्ति रात के अँधेरे में लीन हो जाती है। नित्यकाल के प्रभाव से असंख्य जीव उस प्रलय में लीन रहते हैं और हर वस्तु मौन रहती है।

तात्पर्य : यह श्लोक ब्रह्मा की रात्रि की व्याख्या है, जो प्रकृति के तमोगुण के क्षुद्र अंश के सम्पर्क में काल के प्रभाव का परिणाम है। तीनों लोकों का प्रलय तमस के अवतार रुद्र द्वारा लाया जाता है, जो नित्य काल की उस अग्नि के द्वारा प्रदर्शित होता है, जो तीनों लोकों में प्रज्ज्वलित रहती है। ये तीनों लोक भूः, भुवः तथा स्वः (पाताल, मर्त्य तथा स्वर्ग) कहलाते हैं। असंख्य जीव उस प्रलय में लीन

होते हैं, जो परमेश्वर की शक्ति के दृश्य पर पटाक्षेप जैसी प्रतीत होती है और इस तरह हर वस्तु मौन हो जाती है।

तमेवान्वपि धीयन्ते लोका भूरादयस्त्रयः ।
निशायामनुवृत्तायां निर्मुक्तशशिभास्करम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तम्—वह; एव—निश्चय ही; अनु—पीछे; अपि धीयन्ते—दृष्टि से लुप्त हो जाते हैं; लोकाः—लोक; भूः-आदयः—तीनों लोक, भूः, भुवः तथा स्वः; त्रयः—तीन; निशायाम्—रात में; अनुवृत्तायाम्—सामान्य; निर्मुक्त—बिना चमक दमक के; शशि—चन्द्रमा; भास्करम्—सूर्य।

जब ब्रह्मा की रात शुरू होती है, तो तीनों लोक दृष्टिगोचर नहीं होते और सूर्य तथा चन्द्रमा तेज विहीन हो जाते हैं जिस तरह कि सामान्य रात के समय होता है।

तात्पर्य : ऐसा समझा जाता है कि सूर्य तथा चन्द्रमा की चमक तीनों लोकों की परिधि से अदृश्य हो जाती है, किन्तु स्वयं सूर्य तथा चन्द्रमा लुप्त नहीं होते। वे ब्रह्माण्ड के शेष भाग में, जो तीनों लोकों के मंडल से परे है, प्रकट होते हैं। प्रलयग्रस्त भाग सूर्य की किरणों या चन्द्रमा की चमक के बिना रह जाता है। सर्वत्र अंधकार रहता है और जल भरा रहता है और न रुकने वाली वायु चलती है जैसाकि अगले श्लोकों में बतलाया गया है।

त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या सङ्कर्षणाग्निना ।
यान्त्यूष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

त्रि-लोक्याम्—जब तीनों लोको के मंडल; दह्यमानायाम्—प्रज्ज्वलित; शक्त्या—शक्ति के द्वारा; सङ्कर्षण—संकर्षण के मुख से; अग्निना—आग से; यान्ति—जाते हैं; ऊष्मणा—ताप से तपे हुए; महः-लोकात्—महर्लोक से; जनम्—जनलोक; भृगु—भृगु मुनि; आदयः—इत्यादि; अर्दिताः—पीड़ित।

संकर्षण के मुख से निकलने वाली अग्नि के कारण प्रलय होता है और इस तरह भृगु इत्यादि महर्षि तथा महर्लोक के अन्य निवासी उस प्रज्ज्वलित अग्नि की उष्मा से, जो नीचे के तीनों लोकों में लगी रहती है, व्याकुल होकर जनलोक को चले जाते हैं।

तावत्त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः ।
प्लावयन्त्युत्कटाटोपचण्डवातेरितोर्मयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब; त्रि-भुवनम्—तीनों लोक; सद्यः—उसके तुरन्त बाद; कल्प-अन्त—प्रलय के प्रारम्भ में; एधित—उमड़ कर; सिन्धवः—सारे समुद्र; प्लावयन्ति—बाढ़ से जलमग्न हो जाते हैं; उत्कट—भीषण; आटोप—क्षोभ; चण्ड—अंधड़; वात—हवाओं द्वारा; ईरित—बहाई गई; ऊर्मयः—लहरें।

प्रलय के प्रारम्भ में सारे समुद्र उमड़ आते हैं और भीषण हवाएँ उग्र रूप से चलती हैं। इस तरह समुद्र की लहरें भयावह बन जाती हैं और देखते ही देखते तीनों लोक जलमग्न हो जाते हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि संकर्षण के मुख से निकलने वाली प्रज्ज्वलित अग्नि देवताओं के एक सौ वर्ष तक या मनुष्यों के ३६,००० वर्षों तक धधकती रहती है। इसके पश्चात् अगले ३६,००० वर्षों तक मूसलाधार वर्षा के साथ साथ प्रचण्ड वायु तथा लहरें उठती हैं और समुद्र तथा महासागर उमड़ने लगते हैं। ७२,००० वर्षों के ये घात-प्रतिघात तीनों लोकों के आंशिक प्रलय के आरम्भ हैं। लोकों के इन प्रलयों को भूलकर लोग सभ्यता की भौतिक प्रगति में अपने को सुखी मानते हैं। यही माया कहलाती है अर्थात् "वह जो नहीं हैं।"

अन्तः स तस्मिन्सलिल आस्तेऽनन्तासनो हरिः ।
योगनिद्रानिमीलाक्षः स्तूयमानो जनालयैः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अन्तः—भीतर; सः—वह; तस्मिन्—उस; सलिले—जल में; आस्ते—है; अनन्त—अनन्त के; आसनः—आसन पर; हरिः—भगवान्; योग—योग की; निद्रा—नींद; निमील-अक्षः—बन्द आँखें; स्तूय-मानः—प्रकीर्तित; जन-आलयैः—जनलोक के निवासियों द्वारा।

परमेश्वर अर्थात् भगवान् हरि अपनी आँखें बन्द किए हुए अनन्त के आसन पर जल में लेट जाते हैं और जनलोक के निवासी हाथ जोड़ कर भगवान् की महिमामयी स्तुतियाँ करते हैं।

तात्पर्य : हमें भगवान् की शयन अवस्था को अपनी नींद जैसा नहीं समझना चाहिए। यहाँ पर *योग निद्रा* शब्द का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, जो सूचित करता है कि भगवान् की शयन अवस्था भी उनकी अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति है। जब भी योग शब्द व्यवहृत किया जाता है इसे 'दिव्य' का द्योतक समझना चाहिए। दिव्य अवस्था में समस्त कार्यकलाप विद्यमान रहते हैं और उनकी महिमा का बखान भृगु जैसे महान् ऋषियों की स्तुतियों द्वारा होता है।

एवंविधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः ।
अपक्षितमिवास्यापि परमायुर्वयःशतम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विधैः—विधि से; अहः—दिनों; रात्रैः—रात्रियों के द्वारा; काल-गत्या—काल की प्रगति; उपलक्षितैः—ऐसे लक्षणों द्वारा; अपक्षितम्—घटती हुई; इव—सदृश; अस्य—उसकी; अपि—यद्यपि; परम-आयुः—आयु; वयः—वर्ष; शतम्—एक सौ।.

इस तरह ब्रह्माजी समेत प्रत्येक जीव के लिए आयु की अवधि के क्षय की विधि विद्यमान रहती है। विभिन्न लोकों में काल के सन्दर्भ में हर किसी जीव की आयु केवल एक सौ वर्ष तक होती है।

तात्पर्य : विभिन्न जीवों के लिए विभिन्न लोकों में कालावधि के अनुसार हर जीव एक सौ वर्ष तक जीवित रहता है। जीवन के ये सौ वर्ष प्रत्येक अवस्था में समान नहीं होते। एक सौ वर्षों की सबसे दीर्घ आयु ब्रह्माजी की होती है और ब्रह्मा का जीवन बहुत दीर्घ होने पर भी समय आने पर समाप्त हो जाता है। ब्रह्मा भी अपनी मृत्यु से भयभीत रहते हैं, अतएव वे भगवान् की भक्ति करते हैं जिससे वे माया के पाश से छुटकारा पा सकें। हाँ, पशुओं में उत्तरदायित्व का कोई बोध नहीं होता। किन्तु मनुष्य भी, जिनमें उत्तरदायित्व का बोध विकसित रहता है, भगवान् की भक्ति में लगे बिना अपना अमूल्य समय व्यर्थ खोते रहते हैं। वे आसन्न मृत्यु से डरे बिना मौज से रहते हैं। यह मानव समाज का पागलपन है। पागल मनुष्य का जीवन में कोई उत्तरदायित्व नहीं होता। इसी तरह जो मनुष्य मरने के पूर्व उत्तरदायित्व का बोध विकसित नहीं कर लेता वह उस पागल व्यक्ति के समान है, जो भविष्य की किसी प्रकार की चिन्ता किये बिना भौतिक जीवन का आनन्द लेना चाहता है। यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य अगले जीवन के लिए अपने को तैयार करने के लिए उत्तरदायी बने, भले ही उसकी आयु इस ब्रह्माण्ड के सबसे बड़े प्राणी ब्रह्मा जितनी क्यों न हो।

यदर्धमायुषस्तस्य परार्धमभिधीयते ।
पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यत्—जो; अर्धम्—आधा; आयुषः—आयु का; तस्य—उसका; परार्धम्—एक परार्ध; अभिधीयते—कहलाता है; पूर्वः—पहले वाला; पर-अर्धः—आधी आयु; अपक्रान्तः—बीत जाने पर; हि—निश्चय ही; अपरः—बाद वाला; अद्य—इस युग में; प्रवर्तते—प्रारम्भ करेगा।.

ब्रह्मा के जीवन के एक सौ वर्ष दो भागों में विभक्त हैं प्रथमार्ध तथा द्वितीयार्ध या परार्ध। ब्रह्मा के जीवन का प्रथमार्ध समाप्त हो चुका है और द्वितीयार्ध अब चल रहा है।

तात्पर्य : इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर ब्रह्मा के जीवन के एक सौ वर्षों की अवधि की व्याख्या

की जा चुकी है और *भगवद्गीता* (८.१७) में भी इसका वर्णन हुआ है। ब्रह्मा की आयु के पचास वर्ष बीत चुके हैं और अगले पचास वर्ष अभी पूरे होने हैं। तब ब्रह्मा के लिए भी मृत्यु अपरिहार्य हो जाएगी।

पूर्वस्यादौ परार्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत् ।
कल्पो यत्राभवद्ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

पूर्वस्य—प्रथमार्ध के; आदौ—प्रारम्भ में; पर-अर्धस्य—द्वितीयार्ध का; ब्राह्मः—ब्राह्म-कल्प; नाम—नामक; महान्—महान्; अभूत्—प्रकट था; कल्पः—कल्प; यत्र—जहाँ; अभवत्—प्रकट हुआ; ब्रह्मा—ब्रह्मा; शब्द-ब्रह्म इति—वेदों की ध्वनियाँ; यम्—जिसको; विदुः—वे जानते हैं।

ब्रह्मा के जीवन के प्रथमार्ध के प्रारम्भ में ब्राह्म-कल्प नामक कल्प था जिसमें ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। वेदों का जन्म ब्रह्मा के जन्म के साथ साथ हुआ।

तात्पर्य : *पद्मपुराण* (प्रभास काण्ड) के अनुसार ब्रह्मा के तीस दिनों में कई कल्प यथा वराह कल्प तथा पितृकल्प घटित हो जाते हैं। तीस दिन का ब्रह्मा का एक मास होता है, जो पूर्ण चन्द्रमा से लेकर चन्द्रमा के अस्त होने तक चलता है। ऐसे बारह मासों से पूरा वर्ष बनता है और पचास वर्ष एक परार्ध को पूरा करते हैं, अर्थात् ब्रह्मा की आयु के आधे के तुल्य होते हैं। भगवान् का श्वेत वराह प्राकट्य ब्रह्मा का पहला जन्मदिन है। ब्रह्मा की जन्मतिथि हिन्दू ज्योतिष गणना के अनुसार मार्च मास में पड़ती है। यह कथन श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की व्याख्या से जैसे का तैसा उद्धृत है।

तस्यैव चान्ते कल्पोऽभूद्यं पाद्ममभिचक्षते ।
यद्धरेर्नाभिसरस आसील्लोकसरोरुहम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—ब्राह्म-कल्प का; एव—निश्चय ही; च—भी; अन्ते—के अन्त में; कल्पः—कल्प; अभूत्—उत्पन्न हुआ; यम्—जो; पाद्मम्—पाद्म; अभिचक्षते—कहलाता है; यत्—जिसमें; हरेः—भगवान् की; नाभि—नाभि में; सरसः—जलाशय से; आसीत्—था; लोक—ब्रह्माण्ड; सरोरुहम्—कमल।

प्रथम ब्राह्म-कल्प के बाद का कल्प पाद्म-कल्प कहलाता है, क्योंकि उस काल में विश्वरूप कमल का फूल भगवान् हरि के नाभि रूपी जलाशय से प्रकट हुआ।

तात्पर्य : ब्राह्म-कल्प के बाद का कल्प पाद्म-कल्प कहलाता है, क्योंकि उस कल्प में विश्व रूपी कमल विकसति होता है। कुछ पुराणों में पाद्म-कल्प को पितृकल्प भी कहा गया है।

अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत ।
वाराह इति विख्यातो यत्रासीच्छूकरो हरिः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; तु—लेकिन; कथितः—प्रसिद्ध; कल्पः—चालू कल्प; द्वितीयस्य—परार्ध का; अपि—निश्चय ही; भारत—हे भरतवंशी; वाराहः—वाराह; इति—इस प्रकार; विख्यातः—प्रसिद्ध है; यत्र—जिसमें; आसीत्—प्रकट हुआ; शूकरः—सूकर का रूप; हरिः—भगवान्।

हे भरतवंशी, ब्रह्मा के जीवन के द्वितीयार्ध में प्रथम कल्प वाराह कल्प भी कहलाता है, क्योंकि उस कल्प में भगवान् सूकर अवतार के रूप में प्रकट हुए थे।

तात्पर्य : ब्राह्म, पाद्म तथा वाराह कल्प नामक विभिन्न कल्प अभिज्ञ व्यक्ति को कुछ चक्कर में डालने वाले लगते हैं। कुछ ऐसे विद्वान हैं, जो इन कल्पों को एक ही मानते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार ब्राह्म-कल्प प्रथमार्ध के प्रारम्भ में पाद्म-कल्प जैसा प्रतीत होता है। किन्तु हम तो मूल पाठ का पालन कर सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि वर्तमान कल्प ब्रह्मा की आयु की अवधि के द्वितीयार्ध में है।

कालोऽयं द्विपरार्धाख्यो निमेष उपचर्यते ।
अव्याकृतस्यानन्तस्य ह्यनादेर्जगदात्मनः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

कालः—नित्य काल; अयम्—यह (ब्रह्मा की आयु की अवधि से मापा गया); द्वि-परार्ध-आख्यः—ब्रह्मा के जीवन के दो अर्धों से मापा हुआ; निमेषः—एक क्षण से भी कम; उपचर्यते—इस तरह मापा जाता है; अव्याकृतस्य—अपरिवर्तित रहता है, जो, उसका; अनन्तस्य—असीम का; हि—निश्चय ही; अनादेः—आदि-रहित का; जगत्-आत्मनः—ब्रह्माण्ड की आत्मा का।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ब्रह्मा के जीवन के दो भागों की अवधि भगवान् के लिए एक निमेष (एक सेकेंड से भी कम) के बराबर परिगणित की जाती है। भगवान् अपरिवर्तनीय तथा असीम हैं और ब्रह्माण्ड के समस्त कारणों के कारण हैं।

तात्पर्य : महर्षि मैत्रेय ने काल के विभिन्न मापों का परमाणु से लेकर ब्रह्मा की आयु की अवधि तक का पर्याप्त विवरण दिया है। अब वे अनन्त भगवान् के काल का कुछ अनुमान प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं। वे उनके असीम काल का संकेत ब्रह्मा के जीवन के मानदण्ड द्वारा देते हैं। ब्रह्मा की पूरी आयु की गणना भगवान् के काल के एक सेकेंड से भी कम है और वह *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) में इस प्रकार बतलाई गई है :

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथा: ।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

''मैं समस्त कारणों के कारण भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जिनका स्वांश महाविष्णु है। असंख्य ब्रह्माण्डों के सारे प्रधान (ब्रह्मा-गण) उनके एक श्वास में लगने वाले समय की शरण ग्रहण करके जीवित रहते हैं।'' निर्विशेषवादी भगवान् के स्वरूप पर विश्वास नहीं करते, अत: वे भगवान् के शयन करने पर विश्वास नहीं करेंगे। उनका विचार अल्पज्ञान से उत्पन्न है। वे हर वस्तु की गणना मनुष्य की क्षमता के रूप में करते हैं। वे सोचते हैं कि परमेश्वर का अस्तित्व सक्रिय मानव जीवन के सर्वथा विपरीत है। चूँकि मनुष्य के इन्द्रियाँ होती हैं, अतएव भगवान इन्द्रिय-अनुभूति से विहीन होगा; चूँकि मनुष्य के स्वरूप है, अत: परमात्मा स्वरूप से विहीन होगा; चूँकि मनुष्य सोता है, अत: सर्वोपरि को नहीं सोना चाहिए। किन्तु *श्रीमद्भागवत* ऐसे निर्विशेषवादियों से सहमत नहीं। यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि परमेश्वर योग-निद्रा में शयन करते हैं जैसा पहले कहा जा चुका है। चूँकि वे सोते हैं, अत: स्वाभाविक है कि वे साँस लेंते होंगे और *ब्रह्म-संहिता* इसकी पुष्टि करती है कि उनके श्वास लेने की अवधि में असंख्य ब्रह्मा जन्म लेते तथा मरते हैं।

श्रीमद्भागवत तथा *ब्रह्म-संहिता* में पूर्ण मतैक्य है। नित्य काल कभी भी ब्रह्मा के जीवन के साथ नष्ट नहीं होता। यह चलता रहता है, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नियंत्रित करने की क्षमता इसमें नहीं है, क्योंकि भगवान् काल के नियंत्रक हैं। आध्यात्मिक जगत में काल तो निस्सन्देह, है, किन्तु कार्यकलापों पर इसका नियंत्रण नहीं होता। काल असीम है और आध्यात्मिक जगत भी असीम है, क्योंकि वहाँ पर हर वस्तु परम स्तर पर विद्यमान रहती है।

कालोऽयं परमाण्वादिर्द्विपरार्धान्त ईश्वरः ।
नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाममानिनाम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

कालः—नित्य काल; अयम्—यह; परम-अणु—परमाणु; आदिः—प्रारम्भ से; द्वि-परार्ध—काल की दो परम अवधियाँ; अन्तः—अन्त तक; ईश्वरः—नियन्ता; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; ईशितुम्—नियंत्रित करने के लिए; प्रभुः—समर्थ; भूम्नः—ब्रह्मा का; ईश्वरः—नियन्ता; धाम-मानिनाम्—उनका जो देह में अभिमान रखने वाले हैं।

नित्य काल निश्चय ही परमाणु से लेकर ब्रह्मा की आयु के परार्धों तक के विभिन्न आयामों का नियन्ता है, किन्तु तो भी इसका नियंत्रण सर्वशक्तिमान (भगवान) द्वारा होता है। काल केवल उनका नियंत्रण कर सकता है, जो सत्यलोक या ब्रह्माण्ड के अन्य उच्चतर लोकों तक में देह में अभिमान करने वाले हैं।

विकारैः सहितो युक्तैर्विशेषादिभिरावृतः ।
आण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विकारैः—तत्त्वों के रूपान्तर द्वारा; सहितः—सहित; युक्तैः—इस प्रकार से मिश्रित; विशेष—अभिव्यक्तियाँ; आदिभिः—उनके द्वारा; आवृतः—प्रच्छन्न; आण्ड-कोशः—ब्रह्माण्ड; बहिः—बाहर; अयम्—यह; पञ्चाशत्—पचास; कोटि—करोड़; विस्तृतः—विस्तीर्ण।

यह दृश्य भौतिक जगत चार अरब मील के व्यास तक फैला हुआ है, जिसमें आठ भौतिक तत्त्वों का मिश्रण है, जो सोलह अन्य कोटियों में, भीतर-बाहर निम्नवत् रूपान्तरित हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सम्पूर्ण भौतिक जगत सोलह विविधताओं तथा आठ भौतिक तत्त्वों का प्रदर्शन है। भौतिक जगत का वैश्लेषिक अध्ययन सांख्य दर्शन की विषय- वस्तु है। सोलह विविधताओं में ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच इन्द्रिय-विषय आते हैं और आठ तत्त्व स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ हैं जिनके नाम हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार। ये सभी परस्पर मिश्रित होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैले हुए हैं, जो चार अरब मील के व्यास में विस्तीर्ण है। हमारे अनुभव वाले इस ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त अन्य असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। इनमें से कुछ तो इस ब्रह्माण्ड से बड़े हैं और वे सभी एकसमान भौतिक तत्त्वों के अन्तर्गत एकसाथ संपुंजित रहते हैं जिनका वर्णन नीचे दिया हुआ है।

दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् ।
लक्ष्यतेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

दश-उत्तर-अधिकैः—दस गुनी अधिक मोटाई वाली; यत्र—जिसमें; प्रविष्टः—प्रविष्ट; परम-अणु-वत्—परमाणुओं की तरह; लक्ष्यते—(ब्रह्माण्डों का भार) प्रतीत होता है; अन्तः-गताः—एकसाथ रहते हैं; च—तथा; अन्ये—अन्य में; कोटिशः—संपुंजित; हि—क्योंकि; अण्ड-राशयः—ब्रह्माण्डों के विशाल संयोग।

ब्रह्माण्डों को ढके रखने वाले तत्त्वों की परतें पिछले वाली से दस गुनी अधिक मोटी होती हैं और सारे ब्रह्माण्ड एकसाथ संपुंजित होकर परमाणुओं के विशाल संयोग जैसे प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माण्डों के आवरण (कोश) भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश के तत्त्वों से बने होते हैं और अपने से पहले वाले आवरण की अपेक्षा दसगुना मोटे होते हैं। ब्रह्माण्ड का पहला आवरण पृथ्वी है और यह ब्रह्माण्ड से दस गुना मोटी है। यदि ब्रह्माण्ड ४ अरब मील आकार का है, तो पृथ्वी के आवरण का आकार चार गुणा दस अर्थात् ४० अरब मील है। जल का आवरण पृथ्वी के आवरण से दसगुना मोटा है। और अग्नि का आवरण, जल के आवरण से दसगुना अधिक है। वायु का आवरण अग्नि के आवरण का दस गुना और आकाश का आवरण अग्नि से दस गुना होता है। यह ब्रह्माण्ड पदार्थ के आवरणों के भीतर आवरणों की तुलना में परमाणु जैसा प्रतीत होता है और ब्रह्माण्डों की संख्या उन लोगों को भी ज्ञात नहीं है, जो ब्रह्माण्डों के आवरणों का अनुमान लगा सकते हैं।

तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ।
विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मनः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; आहुः—कहा जाता है; अक्षरम्—अच्युत; ब्रह्म—परम; सर्व-कारण—समस्त कारणों का; कारणम्—परम कारण; विष्णोः धाम—विष्णु का आध्यात्मिक निवास; परम्—परम; साक्षात्—निस्सन्देह; पुरुषस्य—पुरुष अवतार का; महात्मनः—महाविष्णु का।

इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण समस्त कारणों के आदि कारण कहलाते हैं। इस प्रकार विष्णु का आध्यात्मिक धाम निस्सन्देह शाश्वत है और यह समस्त अभिव्यक्तियों के उद्गम महाविष्णु का भी धाम है।

तात्पर्य : महाविष्णु जो कि कारणार्णव में *योगनिद्रा* में शयन करते हैं और अपनी श्वास के द्वारा असंख्य ब्रह्माण्डों को उत्पन्न करते हैं, भौतिक जगतों की क्षणिक अभिव्यक्ति के लिए *महत् तत्त्व* में क्षण भर के लिए ही प्रकट होते हैं। वे भगवान् श्रीकृष्ण के स्वांश हैं और इस तरह भगवान् कृष्ण से अभिन्न होकर भी भौतिक जगत में अवतार के रूप में उनका वैधानिक प्राकट्य अस्थायी है। भगवान् का आदि रूप वस्तुतः *स्वरूप* या असली रूप है और वे वैकुण्ठ जगत (विष्णुलोक) में नित्य वास

करते हैं। यहाँ पर प्रयुक्त *महात्-मनः* शब्द महाविष्णु को सूचित करने के लिए आया है और उनका असली स्वरूप भगवान् कृष्ण है, जो *परम* कहलाते हैं जिसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* में हुई है :

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

''परमेश्वर अर्थात् आदि भगवान् कृष्ण हैं, जो गोविन्द कहलाते हैं। उनका रूप शाश्वत, आनन्दमय तथा ज्ञानमय है और वे समस्त कारणों के आदि कारण हैं।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''परमाणु से काल की गणना'' नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

कुमारों तथा अन्यों की सृष्टि

मैत्रेय उवाच
इति ते वर्णितः क्षत्तः कालाख्यः परमात्मनः ।
महिमा वेदगर्भोऽथ यथास्राक्षीन्निबोध मे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्री मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; ते—तुमसे; वर्णितः—वर्णन किया गया; क्षत्तः—हे विदुर; काल-आख्यः—नित्य काल नामक; परमात्मनः—परमात्मा की; महिमा—ख्याति; वेद-गर्भः—वेदों के आगार, ब्रह्मा; अथ—इसके बाद; यथा—जिस तरह यह है; अस्राक्षीत्—उत्पन्न किया; निबोध—समझने का प्रयास करो; मे—मुझसे।

श्री मैत्रेय ने कहा : हे विद्वान विदुर, अभी तक मैंने तुमसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के काल-रूप की महिमा की व्याख्या की है। अब तुम मुझसे समस्त वैदिक ज्ञान के आगार ब्रह्मा की सृष्टि के विषय में सुन सकते हो।

ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत् ।
महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ससर्ज—उत्पन्न किया; अग्रे—सर्वप्रथम; अन्ध-तामिस्रम्—मृत्यु का भाव; अथ—तब; तामिस्रम्—हताशा पर क्रोध; आदि-कृत्—ये सभी; महा-मोहम्—भोग्य वस्तुओं का स्वामित्व; च—भी; मोहम्—भ्रान्त धारणा; च—भी; तमः—आत्मज्ञान में अंधकार; च—भी; अज्ञान—अविद्या; वृत्तयः—पेशे, वृत्तियाँ।

ब्रह्मा ने सर्वप्रथम आत्मप्रवंचना, मृत्यु का भाव, हताशा के बाद क्रोध, मिथ्या स्वामित्व का भाव तथा मोहमय शारीरिक धारणा या अपने असली स्वरूप की विस्मृति जैसी अविद्यापूर्ण वृत्तियों की संरचना की।

तात्पर्य : विभिन्न प्रकार की योनियों में जीवों की वास्तविक सृष्टि के पूर्व ब्रह्मा ने वे परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं जिनके अन्तर्गत जीवों को इस भौतिक जगत में रहना होता है। जब तक जीव अपने असली स्वरूप को भूल नहीं जाता तब तक जीवन की भौतिक अवस्थाओं में रह पाना उसके लिए असम्भव है। अतएव भौतिक जीवन की पहली दशा है अपने असली स्वरूप की विस्मृति। अपने असली स्वरूप को भूलने पर मनुष्य का मृत्यु से भयभीत होना निश्चित है, यद्यपि शुद्ध आत्मा मृत्युरहित तथा जन्मरहित होता है। भौतिक प्रकृति के साथ यह झूठी पहचान उन वस्तुओं के मिथ्या स्वामित्व का कारण है, जो श्रेष्ठ नियंत्रण की व्यवस्था द्वारा प्रदत्त होती हैं। जीव को समस्त भौतिक संसाधन इसलिए प्रदान किये

जाते हैं कि वह शान्तिपूर्वक रह सके और बद्धजीवन में आत्म-साक्षात्कार के कर्तव्यों को निभा सके। किन्तु झूठी पहचान के कारण बद्धजीव भगवान् की सम्पत्ति के झूठे स्वामित्व के भाव में बन्धक हो जाता है। इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि स्वयं ब्रह्मा परमेश्वर की सृष्टि हैं और भौतिक जगत की पाँच प्रकार की अविद्याएँ, जो जीवों को बद्ध बनाती हैं वे ब्रह्मा की सृष्टियाँ हैं। यह सोचना नितान्त हास्यास्पद है कि जीव परम पुरुष के तुल्य है, जबकि वह यह समझ सकता है कि बद्धजीव ब्रह्मा की जादुई छड़ी के वश में हैं। पतञ्जलि भी यह स्वीकार करते हैं कि अविद्या पाँच प्रकार की है जिनका यहाँ पर उल्लेख हुआ है।

दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नात्मानं बह्वमन्यत ।
भगवद्ध्यानपूतेन मनसान्यां ततोऽसृजत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; पापीयसीम्—पापमयी; सृष्टिम्—सृष्टि को; न—नहीं; आत्मानम्—स्वयं को; बहु—अत्यधिक हर्ष; अमन्यत—अनुभव किया; भगवत्—भगवान् का; ध्यान—ध्यान; पूतेन—उसके द्वारा शुद्ध; मनसा—मन से; अन्याम्—दूसरा; ततः—तत्पश्चात्; असृजत्—उत्पन्न किया।

ऐसी भ्रामक सृष्टि को पापमय कार्य मानते हुए ब्रह्माजी को अपने कार्य में अधिक हर्ष का अनुभव नहीं हुआ, अतएव उन्होंने भगवान् के ध्यान द्वारा अपने आपको परि शुद्ध किया। तब उन्होंने सृष्टि की दूसरी पारी की शुरुआत की।

तात्पर्य : यद्यपि ब्रह्माजी ने विभिन्न प्रकार की अविद्याओं की सृष्टि की, किन्तु वे ऐसे अप्रशंसित कार्य को सम्पन्न करके संतुष्ट नहीं थे। उन्हें यह कार्य इसलिए करना पड़ा, क्योंकि अधिकांश बद्धात्माएँ ऐसा चाहती थीं। भगवान् कृष्ण का *भगवद्गीता* (१५.१५) में कथन है कि वे सबों के हृदय में उपस्थित हैं और हर एक को स्मरण करने या भुलाने में सहायता करते हैं। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि सर्वदयामय भगवान् एक की सहायता स्मरण रखने में और दूसरे की विस्मरण करने में क्यों करते हैं। वस्तुत: उनकी कृपा एक के प्रति पक्षपात के रूप में तथा दूसरे के प्रति शत्रुता के रूप में प्रदर्शित नहीं होती। भगवान् के अंश रूप में जीव अंशत: स्वतंत्र है, क्योंकि उसमें भगवान् के समस्त गुण अंशत: पाये जाते हैं। जिस किसी के पास थोड़ी सी भी स्वतंत्रता होती है, वह अज्ञानवश उसका दुरुपयोग कर सकता है। अब जीव अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करने को अच्छा मानकर अविद्या में

जाने लगता है, तो सर्वदयालु भगवान् सर्वप्रथम उसको पाश से बचाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु जब जीव नरक की ओर गिरते जाने पर उतारू हो जाता है, तो भगवान् उसे उसकी असली स्थिति को भुलवाने में सहायता करते हैं। भगवान् गिरने वाले जीव को सबसे निचले बिन्दु तक गिरने में सहायता करते हैं जिससे वह देख सके कि अपनी स्वतंत्रता के दुरुपयोग से वह सुखी है कि नहीं।

इस जगत में सड़ रहे प्राय: सारे बद्धजीव अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग कर रहे हैं अत: उन पर पाँचों प्रकार की अविद्याएँ थोप दी जाती हैं। ब्रह्माजी भगवान् के आज्ञाकारी सेवक के रूप में अविद्याओं को आवश्यकताओं के रूप में उत्पन्न करते हैं, किन्तु ऐसा करते हुए वे प्रसन्न नहीं होते, क्योंकि यह स्वाभाविक है कि भगवद्भक्त किसी को उसके असली पद से नीचे गिरता नहीं देखना चाहता। जो व्यक्ति साक्षात्कार के मार्ग की परवाह नहीं करते उन्हें भगवान् उनकी दुष्प्रवृत्तियों को जी भर के करने देते हैं और ब्रह्मा उसमें निश्चित रूप से सहायक बनते हैं।

सनकं च सनन्दं च सनातनमथात्मभू: ।
सनत्कुमारं च मुनीन्निष्क्रियानूर्ध्वरेतस: ॥ ४॥

शब्दार्थ

सनकम्—सनक; च—भी; सनन्दम्—सनन्द; च—तथा; सनातनम्—सनातन; अथ—तत्पश्चात्; आत्म-भू:—स्वयंभू ब्रह्मा; सनत्-कुमारम्—सनत्कुमार; च—भी; मुनीन्—मुनिगण; निष्क्रियान्—समस्त सकाम कर्म से मुक्त; ऊर्ध्व-रेतस:—वे जिनका वीर्य ऊपर की ओर प्रवाहित होता है।.

सर्वप्रथम ब्रह्मा ने चार महान् मुनियों को उत्पन्न किया जिनके नाम सनक, सनन्द, सनातन तथा सनत्कुमार हैं। वे सब भौतिकतावादी कार्यकलाप ग्रहण करने के लिए अनिच्छुक थे, क्योंकि ऊर्ध्वरेता होने के कारण वे अत्यधिक उच्चस्थ थे।

तात्पर्य : यद्यपि ब्रह्मा ने अविद्या के सिद्धान्तों की सृष्टि उन जीवों की आवश्यकता के रूप में की जिन के भाग्य में भगवान् की इच्छा से अविद्या बदी थी, किन्तु वे ऐसा अप्रशंसित कार्य करके सन्तुष्ट नहीं थे। इसलिए उन्होंने ज्ञान के चार सिद्धान्तों की सृष्टि की। ये हैं सांख्य, योग, वैराग्य तथा तप। *सांख्य* भौतिक अवस्थाओं के वैश्लेषिक अध्ययन के लिए अनुभवात्मक दर्शन है, योग भवबन्धन से शुद्ध आत्मा को मोक्ष दिलाने के लिए है, *वैराग्य* उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान तक ऊपर उठने के लिए जीवन में भौतिक भोग से पूर्णविरक्ति को स्वीकार करना है और तप आध्यात्मिक सिद्धि के लिए

विभिन्न प्रकार की स्वेच्छा से की गई तपस्या है। ब्रह्मा ने सनक, सनन्द, सनातन तथा सनत् इन चार मुनियों की रचना आध्यात्मिक उन्नति के इन चार सिद्धान्तों को सौंपने के लिए की और इन्होंने अपना निजी *सम्प्रदाय* चलाया जो भक्ति की उन्नति के लिए कुमार सम्प्रदाय अथवा बाद में निम्बार्क सम्प्रदाय कहलाया। ये सभी महान् मुनिगण महान् भक्त बने, क्योंकि भगवान् की भक्ति के बिना आध्यात्मिक महत्त्व के किसी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती।

तान्बभाषे स्वभूः पुत्रान्प्रजाः सृजत पुत्रकाः ।
तन्नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः ॥५॥

शब्दार्थ

तान्—उन कुमारों से, जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है; बभाषे—कहा; स्वभूः—ब्रह्मा ने; पुत्रान्—पुत्रों से; प्रजाः—सन्तानें; सृजत—सृजन करने के लिए; पुत्रकाः—मेरे पुत्रो; तत्—वह; न—नहीं; ऐच्छन्—चाहते हुए; मोक्ष-धर्माणः—मोक्ष के सिद्धान्तों के प्रति प्रतिज्ञाबद्ध; वासुदेव—भगवान् के प्रति; परायणाः—परायण, अनुरक्त।

पुत्रों को उत्पन्न करने के बाद ब्रह्मा ने उनसे कहा, ''पुत्रो, अब तुम लोग सन्तान उत्पन्न करो।'' किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव के प्रति अनुरक्त होने के कारण उन्होंने अपना लक्ष्य मोक्ष बना रखा था, अतएव उन्होंने अपनी अनिच्छा प्रकट की।

तात्पर्य : ब्रह्मा के चारों पुत्रों, कुमारों ने अपने महान् पिता ब्रह्मा के अनुरोध करने पर भी गृहस्थ बनने से इनकार कर दिया। जो लोग भव-बन्धन से छुटकारा पाने के लिए तत्पर हैं उन्हें मिथ्या पारिवारिक बन्धन में नहीं बँधना चाहिए। लोग यह पूछ सकते हैं कि कुमारों ने अपने पिता विशेषकर ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा के आदेशों से इनकार क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि जो *वासुदेव-परायण* हैं, अर्थात् जो भगवान् वासुदेव की भक्ति में गम्भीरतापूर्वक लगे हुए हैं उन्हें अन्य किसी कार्य की परवाह करने की आवश्यकता नहीं है। *भागवत* (११.५.४१) में आदेश है कि—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

''जिस किसी ने भी समस्त सांसारिक सम्बन्धों का परित्याग कर दिया है और उन भगवान् के चरणकमलों की पूर्ण शरण ले रखी है, जो हमारे मोक्षदाता हैं और एकमात्र शरण-ग्रहण करने के योग्य हैं वह किसी का न तो ऋणी है न किसी का दास है चाहे वह देवता, पितर, मुनि सम्बन्धी तथा अन्य

जीव सम्बन्धी तथा मानव समाज का सदस्य क्यों न हो।'' इस तरह जब कुमारों ने अपने महान् पिता के इस अनुरोध को ठुकरा दिया कि वे गृहस्थ बन जाँय तो उनके इस कार्य में कोई त्रुटि न थी।

सोऽवध्यात: सुतैरेवं प्रत्याख्यातानुशासनैः ।
क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुमुपचक्रमे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ब्रह्मा); अवध्यातः—इस प्रकार अनादरित होकर; सुतैः—पुत्रों द्वारा; एवम्—इस प्रकार; प्रत्याख्यात—आज्ञा मानने से इनकार; अनुशासनैः—अपने पिता के आदेश से; क्रोधम्—क्रोध; दुर्विषहम्—असहनीय; जातम्—इस प्रकार उत्पन्न; नियन्तुम्—नियंत्रण करने के लिए; उपचक्रमे—भरसक प्रयत्न किया।

पुत्रों द्वारा अपने पिता के आदेश का पालन करने से इनकार करने पर ब्रह्मा के मन में अत्यधिक क्रोध उत्पन्न हुआ जिसे उन्होंने व्यक्त न करके दबाए रखना चाहा।

तात्पर्य : ब्रह्माजी भौतिक प्रकृति के रजोगुण के प्रभारी निदेशक हैं। अतएव अपने पुत्रों द्वारा अपने आदेश का उल्लंघन होने पर उनका क्रुद्ध होना स्वाभाविक था। यद्यपि कुमारों द्वारा ऐसे कार्य से इनकार किया जाना उचित था, किन्तु रजोगुण में लीन होने से ब्रह्माजी अपना आवेशपूर्ण क्रोध रोक नहीं सके। किन्तु उन्होंने उसे व्यक्त नहीं किया, क्योंकि वे जानते थे कि उनके पुत्र आध्यात्मिक उन्नति में अत्यधिक प्रबुद्ध हैं, अतएव उन्हें उनके समक्ष अपना क्रोध व्यक्त नहीं करना चाहिए।

धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः ।
सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

धिया—बुद्धि से; निगृह्यमाणः—नियंत्रित हुए; अपि—के बावजूद; भ्रुवोः—भौहों के; मध्यात्—बीच से; प्रजापतेः—ब्रह्मा के; सद्यः—तुरन्त; अजायत—उत्पन्न हुआ; तत्—उसका; मन्युः—क्रोध; कुमारः—बालक; नील-लोहितः—नीले तथा लाल का मिश्रण।

यद्यपि उन्होंने अपने क्रोध को दबाए रखने का प्रयास किया, किन्तु वह उनकी भौंहों के मध्य से प्रकट हो ही गया जिससे तुरन्त ही नीललोहित रंग का बालक उत्पन्न हुआ।

तात्पर्य : क्रोध चाहे जानकर प्रकट किया जाय या अनजाने में, उसकी मुखाकृति वही रहती है। यद्यपि ब्रह्मा ने अपना क्रोध नियंत्रित करना चाहा, किन्तु वे ऐसा नहीं कर पाये, तबभी, जबकि वे सर्वोच्च पुरुष हैं। ऐसा क्रोध ब्रह्मा की भौंहों के बीच से रुद्र के रूप में अपने सही रंग में प्रकट हो आया जो नीले (तमो) तथा लाल (रजो) रंग का मिश्रण था, क्योंकि क्रोध रजो तथा तमो गुणों की

उपज है।

स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान्भवः ।
नामानि कुरु मे धातः स्थानानि च जगद्गुरो ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; रुरोद—जोर से चिल्लाया; देवानाम् पूर्वजः—समस्त देवताओं में ज्येष्ठतम; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; भवः—शिवजी; नामानि—विभिन्न नाम; कुरु—नाम रखो; मे—मेरा; धातः—हे भाग्य विधाता; स्थानानि—स्थान; च—भी; जगत्-गुरो—हे ब्रह्माण्ड के शिक्षक।.

जन्म के बाद वह चिल्लाने लगा : हे भाग्यविधाता, हे जगद्गुरु, कृपा करके मेरा नाम तथा स्थान बतलाइये।

इति तस्य वचः पाद्मो भगवान्परिपालयन् ।
अभ्यधाद्भद्रया वाचा मा रोदीस्तत्करोमि ते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तस्य—उसकी; वचः—याचना; पाद्मः—कमल के फूल से उत्पन्न हुआ; भगवान्—शक्तिशाली; परिपालयन्—याचना स्वीकार करते हुए; अभ्यधात्—शान्त किया; भद्रया—भद्र, मृदु; वाचा—शब्दों द्वारा; मा—मत; रोदीः—रोओ; तत्—वह; करोमि—करूँगा; ते—जैसा तुम चाहते हो।.

कमल के फूल से उत्पन्न हुए सर्वशक्तिमान ब्रह्मा ने उसकी याचना स्वीकार करते हुए मृदु वाणी से उस बालक को शान्त किया और कहा—मत चिल्लाओ। जैसा तुम चाहोगे मैं वैसा ही करूँगा।

यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः ।
ततस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यत्—जितना; अरोदीः—जोर से रोया; सुर-श्रेष्ठ—हे देवताओं के प्रधान; स-उद्वेगः—अत्यधिक चिन्ता सहित; इव—सदृश; बालकः—बालक; ततः—तत्पश्चात्; त्वाम्—तुमको; अभिधास्यन्ति—पुकारेंगे; नाम्ना—नाम लेकर; रुद्रः—रुद्र; इति—इस प्रकार; प्रजाः—लोग।.

तत्पश्चात् ब्रह्मा ने कहा : हे देवताओं में प्रधान, सभी लोगों के द्वारा तुम रुद्र नाम से जाने जाओगे, क्योंकि तुम इतनी उत्सुकतापूर्वक चिल्लाये हो।

हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योम वायुरग्निर्जलं मही ।
सूर्यश्चन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्यग्रे कृतानि ते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

हृत्—हृदय; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; असुः—प्राणवायु; व्योम—आकाश; वायुः—वायु; अग्निः—आग; जलम्—जल; मही—पृथ्वी; सूर्यः—सूर्य; चन्द्रः—चन्द्रमा; तपः—तपस्या; च—भी; एव—निश्चय ही; स्थानानि—ये सारे स्थान; अग्रे—इसके पहले के; कृतानि—पहले किये गये; ते—तुम्हारे लिए।

हे बालक, मैंने तुम्हारे निवास के लिए पहले से निम्नलिखित स्थान चुन लिये हैं: हृदय, इद्रियाँ, प्राणवायु, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा तथा तपस्या।

तात्पर्य : ब्रह्मा के क्रोध के फलस्वरूप उनकी भौहों के बीच से रुद्र का जन्म, जो कि कुछ-कुछ तमोगुण तथा रजोगुण से उत्पन्न हुआ था, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *भगवद्गीता* (३.३७) में रुद्रतत्त्व का वर्णन हुआ है। क्रोध काम से उत्पन्न होता है, जो रजोगुण का प्रतिफल है। जब काम तथा लालसा अतुष्ट रह जाते हैं, तो क्रोध उत्पन्न होता है, जो बद्धजीव का भीषण शत्रु है। इस अति पापमय तथा शत्रुवत् काम का प्रतिनिधित्व *अहंकार*—अपने आपको सर्वेसर्वा सोचने की मिथ्या अहंवादी प्रवृत्ति—के रूप में होता है। बद्धजीव जो कि पूरी तरह भौतिक प्रकृति के वश में है उसके लिए इस अहंकार के होने को *भगवद्गीता* में मूर्खतापूर्ण कहा गया है। यह अहंकार हृदय में रुद्र का रूप है जहाँ क्रोध उत्पन्न होता है। यह क्रोध हृदय में विकसित होता है और विविध इन्द्रियों यथा आँखों, हाथों, पावों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। जब मनुष्य क्रुद्ध होता है, तो वह ऐसे क्रोध को लाल-लाल आँखों से और कभी कभी मुट्ठी बाँध कर या पैर पटक कर प्रदर्शित करता है। रुद्र तत्त्व का यह प्रदर्शन ऐसे स्थानों में रुद्र की उपस्थिति का प्रमाण है। जब कोई व्यक्ति क्रुद्ध होता है, तो वह तेजी से साँस लेता है और इस तरह प्राणवायु द्वारा या श्वास लेने की क्रियाओं द्वारा रुद्र का प्रतिनिधित्व होता है। जब आकाश में घने बादल घिरे रहते हैं और वे क्रोध में गरजते हैं और जब वायु प्रचण्ड रूप से बहती है, तो रुद्र तत्त्व प्रकट होता है और इसी तरह जब सागर का जल वायु द्वारा क्रुद्ध किया जाता है, तो वह रुद्र के विषाद्-रूप जैसा प्रतीत होता है, जो सामान्य व्यक्ति के लिए अतीव भयावह है। जब आग धधकती होती है, तो भी हम रुद्र की उपस्थिति का अनुभव कर सकते हैं और जब पृथ्वी पर बाढ़ आती है, तो हम यह समझ सकते हैं कि यह भी रुद्र का स्वरूप है।

पृथ्वी के ऐसे अनेक प्राणी हैं, जो निरन्तर रुद्र तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। साँप, बाघ तथा सिंह सदा ही रुद्र के स्वरूप हैं। कभी-कभी सूर्य की अधिक ऊष्मा के कारण लू लगती है और चन्द्रमा के द्वारा उत्पन्न अत्यधिक शीतलता के कारण हृदयगति रुकने की घटनाएँ होती हैं। ऐसे अनेक मुनि हैं, जो

तपस्या द्वारा शक्त्याविष्ट होते हैं और अनेक योगी, दार्शनिक तथा त्यागी हैं, जो क्रोध तथा काम के रुद्रतत्त्व के वशीभूत होकर अपनी अर्जित शक्ति को यदा-कदा प्रदर्शित करते हैं। महान् योगी दुर्वासा ने इसी रुद्रतत्त्व के प्रभाव में आकर महाराज अम्बरीष से झगड़ा किया और एक ब्राह्मण बालक ने महान् राजा परीक्षित को शाप देकर रुद्रतत्व का प्रदर्शन किया। जब रुद्रतत्त्व ऐसे व्यक्तियों द्वारा प्रकट किया जाता है, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्ति में नहीं लगे हैं, तो क्रुद्ध व्यक्ति अपने उच्चस्थ उन्नत स्थान से नीचे गिर जाता है। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में इस प्रकार हुई है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रियः॥

निर्विशेषवादी का सबसे दयनीय पतन उसके इस झूठे तथा तर्क-हीन दावे के कारण होता है कि वह ब्रह्म से तदाकार है।

मन्युर्मनुर्महिनसो महाञ्छिव ऋतध्वजः ।
उग्ररेता भवः कालो वामदेवो धृतव्रतः ॥ १२॥

शब्दार्थ

मन्युः, मनुः, महिनसः, महान्, शिवः, ऋतध्वजः, उग्ररेताः, भवः, कालः, वामदेवः, धृतव्रतः—**ये सभी रुद्र के नाम हैं।**

ब्रह्माजी ने कहा : हे बालक रुद्र, तुम्हारे ग्यारह अन्य नाम भी हैं—मन्यु, मनु, महिनस, महान, शिव, ऋतुध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव तथा धृतव्रत।

धीर्धृतिरसलोमा च नियुत्सर्पिरिलाम्बिका ।
इरावती स्वधा दीक्षा रुद्राण्यो रुद्र ते स्त्रियः ॥ १३॥

शब्दार्थ

धीः, धृति, रसला, उमा, नियुत्, सर्पिः, इला, अम्बिका, इरावती, स्वधा, दीक्षा रुद्राण्यः—ये ग्यारह रुद्राणियाँ हैं; रुद्र—हे रुद्र; ते—तुम्हारी; स्त्रियः—पत्नियाँ।

हे रुद्र, तुम्हारी ग्यारह पत्नियाँ भी हैं, जो रुद्राणी कहलाती हैं और वे इस प्रकार है—धी, धृति, रसला, उमा, नियुत्, सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, स्वधा तथा दीक्षा।

गृहाणैतानि नामानि स्थानानि च सयोषणः ।
एभिः सृज प्रजा बह्वीः प्रजानामसि यत्पतिः ॥ १४॥

शब्दार्थ

गृहाण—स्वीकार करो; एतानि—इन सारे; नामानि—विभिन्न नामों को; स्थानानि—तथा स्थानों को; च—भी; स-योषणः—पत्नियों समेत; एभिः—उनके द्वारा; सृज—उत्पन्न करो; प्रजाः—सन्तानें; बह्वीः—बड़े पैमाने पर; प्रजानाम्—जीवों के; असि—तुम हो; यत्—क्योंकि; पतिः—स्वामी।

हे बालक, अब तुम अपने तथा अपनी पत्नियों के लिए मनोनीत नामों तथा स्थानों को स्वीकार करो और चूँकि अब तुम जीवों के स्वामियों में से एक हो अतः तुम व्यापक स्तर पर जनसंख्या बढ़ा सकते हो।

तात्पर्य : रुद्र के पिता के रूप में ब्रह्मा ने अपने पुत्र के लिए पत्नियाँ, उसके लिए वासस्थान तथा उसके नामों का भी चयन किया। यह स्वाभाविक है कि पुत्र अपने पिता द्वारा चुनी गई पत्नी को स्वीकार करे जिस तरह वह अपने पिता द्वारा रखे नाम को या पिता द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति को स्वीकार करता है। संसार की जनसंख्या बढ़ाने का यह सामान्य तरीका है। दूसरी ओर चारों कुमार हैं जिन्होंने अपने पिता की भेंट स्वीकार नहीं की, क्योंकि वे बहुत से पुत्र उत्पन्न करने के कार्य की अपेक्षा बहुत उच्च पद पर थे। जिस तरह पुत्र उच्च उद्देश्य के लिए अपने पिता के आदेश को अस्वीकार कर सकता है उसी तरह पिता उच्च उद्देश्य के लिए जनसंख्या बढ़ाने में अपने पुत्रों का पालन करने से इनकार कर सकता है।

इत्यादिष्टः स्वगुरुणा भगवान्नीललोहितः ।
सत्त्वाकृतिस्वभावेन ससर्जात्मसमाः प्रजाः ॥ १५॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आदिष्टः—आदेश दिये जाने पर; स्व-गुरुणा—अपने ही गुरु द्वारा; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; नील-लोहितः—रुद्र, जिनका रंग नीले तथा लाल का मिश्रण है; सत्त्व—शक्ति; आकृति—शारीरिक स्वरूप; स्वभावेन—तथा अत्यन्त उग्र स्वभाव से; ससर्ज—उत्पन्न किया; आत्म-समाः—अपने ही तरह की; प्रजाः—सन्तानें।

नील-लोहित शारीरिक रंग वाले अत्यन्त शक्तिशाली रुद्र ने अपने ही समान स्वरूप, बल तथा उग्र स्वभाव वाली अनेक सन्तानें उत्पन्न कीं।

रुद्राणां रुद्रसृष्टानां समन्ताद्ग्रसतां जगत् ।
निशाम्यासङ्ख्यशो यूथान्प्रजापतिरशङ्कत ॥ १६॥

शब्दार्थ

रुद्राणाम्—रुद्र के पुत्रों का; रुद्र-सृष्टानाम्—रुद्र द्वारा उत्पन्न किये गये; समन्तात्—एकसाथ एकत्र होकर; ग्रसताम्—निगलते समय; जगत्—ब्रह्माण्ड; निशाम्य—उनके कार्यकलापों को देखकर; असङ्ख्यशः—असीम; यूथान्—टोली, समूह; प्रजा-पतिः—जीवों के पिता; अशङ्कत—भयभीत हो गया।

रुद्र द्वारा उत्पन्न पुत्रों तथा पौत्रों की संख्या असीम थी और जब वे एकत्र हुए तो वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को निगलने लगे। जब जीवों के पिता ब्रह्मा ने यह देखा तो वे इस स्थिति से भयभीत हो उठे।

तात्पर्य : क्रोध के अवतार रुद्र की सन्तानें विश्व-व्यापार को बनाये रखने में इतनी भयानक थीं कि जीवों के पिता ब्रह्मा भी उन से भयभीत हो गये। रुद्र के तथाकथित भक्त या अनुयायी भी कष्टकारक ही हैं। कभी-कभी वे रुद्र के लिए भी घातक बन जाते हैं। कभी-कभी रुद्र के वंशज रुद्र की कृपा से रुद्र का वध करने की योजनाएँ बनाते हैं। ऐसा है उनके भक्तों का स्वभाव!

अलं प्रजाभिः सृष्टाभिरीदृशीभिः सुरोत्तम ।
मया सह दहन्तीभिर्दिशश्चक्षुर्भिरुल्बणैः ॥ १७॥

शब्दार्थ

अलम्—व्यर्थ; प्रजाभिः—ऐसे जीवों द्वारा; सृष्टाभिः—उत्पन्न; ईदृशीभिः—इस प्रकार के; सुर-उत्तम—हे देवताओं में सर्वश्रेष्ठ; मया—मुझको; सह—सहित; दहन्तीभिः—जलती हुई; दिशः—सारी दिशाएँ; चक्षुर्भिः—आँखों से; उल्बणैः—दहकती लपटें।

ब्रह्मा ने रुद्र से कहा : हे देवश्रेष्ठ, तुम्हें इस प्रकार के जीवों को उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने अपने नेत्रों की दहकती लपटों से सभी दिशाओं की सारी वस्तुओं को विध्वंस करना शुरू कर दिया है और मुझ पर भी आक्रमण किया है।

तप आतिष्ठ भद्रं ते सर्वभूतसुखावहम् ।
तपसैव यथा पूर्वं स्रष्टा विश्वमिदं भवान् ॥ १८॥

शब्दार्थ

तपः—तपस्या; आतिष्ठ—बैठिये; भद्रम्—शुभ; ते—तुम्हारा; सर्व—समस्त; भूत—जीव; सुख-आवहम्—सुख लानेवाली; तपसा—तपस्या द्वारा; एव—ही; यथा—जितना; पूर्वम्—पहले; स्रष्टा—उत्पन्न करेगा; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; इदम्—यह; भवान्—आप।

हे पुत्र, अच्छा हो कि तुम तपस्या में स्थित होओ जो समस्त जीवों के लिए कल्याणप्रद है और जो तुम्हें सारे वर दिला सकती है। केवल तपस्या द्वारा तुम पूर्ववत् ब्रह्माण्ड की रचना कर सकते हो।

तात्पर्य : विराट जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए क्रमशः तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु तथा

महेश्वर अथवा शिव उत्तरदायी हैं। रुद्र को यह सलाह दी गई कि सृजन तथा पालन की अवधि में वे विनाश न करें, अपितु तपस्या करने बैठ जाँय तथा प्रलय (संहार) की प्रतीक्षा करें, जब उनकी सेवाओं का उपयोग किया जायेगा।

तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम् ।
सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तपसा—तपस्या से; एव—एकमात्र; परम्—परम; ज्योतिः—प्रकाश; भगवन्तम्—भगवान् को; अधोक्षजम्—वह जो इन्द्रियों की पहुँच के परे है; सर्व-भूत-गुहा-आवासम्—सारे जीवों के हृदय में वास करने वाले; अञ्जसा—पूर्णतया; विन्दते—जान सकता है; पुमान्—मनुष्य।

एकमात्र तपस्या से उन भगवान् के भी पास पहुँचा जा सकता है, जो प्रत्येक जीव के हृदय के भीतर हैं किन्तु साथ ही साथ समस्त इन्द्रियों की पहुँच के बाहर हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा ने रुद्र को तपस्या करने के लिए सलाह दी जो उनके पुत्रों तथा अनुयायियों के लिए उदाहरणस्वरूप थी कि भगवान् की कृपा पाने के लिए तपस्या आवश्यक है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि सामान्य जन महाजनों द्वारा दिखाये गये पथ का अनुसरण करते हैं। इस तरह रुद्र की सन्तानों से ऊबकर तथा जनसंख्या के बढ़ने से निगले जाने से भयभीत होकर ब्रह्मा ने रुद्र से और अधिक अवांछित सन्तानें उत्पन्न न करने तथा परमेश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए तपस्या करने की सलाह दी। अतएव चित्रों में हम देखते हैं कि रुद्र सदैव भगवान् की कृपा पाने के लिए ध्यानावस्थित रहते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से रुद्र के पुत्रों तथा अनुयायियों को सलाह दी जा सकती है कि रुद्र तत्त्व का अनुसरण न करते हुए संहार कार्य बन्द कर दें जब कि ब्रह्मा की शान्तिपूर्ण सृष्टि हो रही हो।

मैत्रेय उवाच
एवमात्मभुवादिष्टः परिक्रम्य गिरां पतिम् ।
बाढमित्यमुमामन्त्र्य विवेश तपसे वनम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्री मैत्रेय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; आत्म-भुवा—ब्रह्मा द्वारा; आदिष्टः—इस तरह प्रार्थना किये जाने पर; परिक्रम्य—प्रदक्षिणा करके; गिराम्—वेदों के; पतिम्—स्वामी को; बाढम्—उचित; इति—इस प्रकार; अमुम्—ब्रह्मा को; आमन्त्र्य—इस प्रकार सम्बोधित करते हुए; विवेश—प्रविष्ट हुए; तपसे—तपस्या के लिए; वनम्—वन में।

श्री मैत्रेय ने कहा : इस तरह ब्रह्मा द्वारा आदेशित होने पर रुद्र ने वेदों के स्वामी अपने पिता

की प्रदक्षिणा की। हाँ कहते हुए उन्होंने तपस्या करने के लिए वन में प्रवेश किया।

अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे ।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; अभिध्यायतः—सोचते हुए; सर्गम्—सृष्टि; दश—दस; पुत्राः—पुत्र; प्रजज्ञिरे—उत्पन्न करते हुए; भगवत्—श्रीभगवान् से सम्बन्धित; शक्ति—ऊर्जा; युक्तस्य—शक्तिमान बने हुए; लोक—संसार; सन्तान—संतति; हेतवः—कारण।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा शक्ति प्रदान किये जाने पर ब्रह्मा ने जीवों को उत्पन्न करने की सोची और सन्तानों के विस्तार हेतु उन्होंने दस पुत्र उत्पन्न किये।

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मरीचिः, अत्रि, अङ्गिरसौ, पुलस्त्यः, पुलहः, क्रतुः, भृगुः, वसिष्ठः, दक्षः—ब्रह्मा के पुत्रों के नाम; च—तथा; दशमः—दसवाँ; तत्र—वहाँ; नारदः—नारद।

इस तरह मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष तथा दसवें पुत्र नारद उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : विराट जगत के सृजन, पालन तथा संहार की सम्पूर्ण प्रक्रिया बद्धजीवों को भगवद्धाम वापस जाने का अवसर देने के निमित्त है। ब्रह्मा ने अपने सर्जनात्मक प्रयास में सहायता के लिए रुद्र को उत्पन्न किया, किन्तु रुद्र प्रारम्भ से ही सारी सृष्टि को निगलने लगे, अतः उन्हें ऐसे विनाशकारी कार्य से रोका जाना पड़ा। फलतः ब्रह्मा ने अच्छे बच्चों की दूसरी टोली का सृजन किया जो अधिकांशतया सांसारिक सकाम कर्मों के पक्ष में थे। किन्तु वे भली भाँति जानते थे कि भगवद्भक्ति के बिना बद्ध-जीवों को कोई लाभ नहीं मिलता; फलतः उन्होंने अन्त में अपने योग्य पुत्र नारद को जन्म दिया जो सारे अध्यात्मवादियों के परम गुरु हैं। भगवद्भक्ति के बिना कोई व्यक्ति कर्म के किसी भी क्षेत्र में उन्नति नहीं कर सकता यद्यपि भक्ति का मार्ग किसी भी भौतिक वस्तु से स्वतंत्र है। एकमात्र भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति जीवन के असली लक्ष्य को दिलाने वाली है। अतः ब्रह्मा के समस्त पुत्रों में श्रीमन् नारद मुनि द्वारा की गई सेवा सर्वोच्च है।

उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भुवः ।
प्राणाद्वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः ॥ २३॥

शब्दार्थ

उत्सङ्गात्—दिव्य विचार-विमर्श से; नारदः—महामुनि नारद; जज्ञे—उत्पन्न किया गया; दक्षः—दक्ष; अङ्गुष्ठात्—अँगूठे से; स्वयम्भुवः—ब्रह्मा के; प्राणात्—प्राणवायु से या श्वास लेने से; वसिष्ठः—वसिष्ठ; सञ्जातः—उत्पन्न हुआ; भृगुः—भृगु, मुनि; त्वचि—स्पर्श से; करात्—हाथ से; क्रतुः—क्रतु मुनि।

नारद ब्रह्मा के शरीर के सर्वोच्च अंग मस्तिष्क से उत्पन्न पुत्र हैं। वसिष्ठ उनकी श्वास से, दक्ष अँगूठे से, भृगु उनके स्पर्श से तथा क्रतु उनके हाथ से उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : नारद ब्रह्मा के सर्वोच्च विचार-विमर्श से उत्पन्न हुए थे, क्योंकि नारद जिसे भी चाहते उसी को परमेश्वर प्रदान कर सकते थे। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को कितने भी वैदिक ज्ञान के द्वारा या कितनी भी तपस्या के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। किन्तु नारद जैसा शुद्ध भगवद्भक्त अपनी सदिच्छा द्वारा परमेश्वर प्रदान करा सकता है। नारद नाम से यह सुझाव मिलता है कि वे परमेश्वर प्रदान करा सकते हैं। *नार* का अर्थ है ''परमेश्वर'' तथा *द* का अर्थ है ''जो प्रदान कर सके।'' वह भगवान् को प्रदान कर सकता है का अर्थ यह कदापि नहीं कि भगवान् कोई व्यापारिक वस्तु के सदृश हैं जिसे किसी भी व्यक्ति को प्रदान किया जा सकता है। किन्तु नारद किसी को भी भगवान् के दास, मित्र, माता-पिता या प्रेमी के रूप में भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति प्रदान करा सकते हैं जैसी भी चाह कोई व्यक्ति अपने दिव्य भगवत्प्रेम के कारण कर सके। दूसरे शब्दों में, एकमात्र नारद ही ऐसे हैं, जो *भक्तियोग* का मार्ग प्रदान कर सकते हैं, जो कि परमेश्वर की प्राप्ति के लिए सर्वोच्च योगिक साधन है।

पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोरृषिः ।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत् ॥ २४॥

शब्दार्थ

पुलहः—पुलह मुनि; नाभितः—नाभि से; जज्ञे—उत्पन्न किया; पुलस्त्यः—पुलस्त्यमुनि; कर्णयोः—कानों से; ऋषिः—महामुनि; अङ्गिराः—अंगिरा मुनि; मुखतः—मुख से; अक्ष्णः—आँखों से; अत्रिः—अत्रि मुनि; मरीचिः—मरीचि मुनि; मनसः—मन से; अभवत्—प्रकट हुए।

पुलस्त्य ब्रह्मा के कानों से, अंगिरा मुख से, अत्रि आँखों से, मरीचि मन से तथा पुलह नाभि से उत्पन्न हुए।

धर्मः स्तनाद्दक्षिणतो यत्र नारायणः स्वयम् ।

अधर्मः पृष्ठतो यस्मान्मृत्युर्लोकभयङ्करः ॥ २५॥

शब्दार्थ

धर्मः—धर्म; स्तनात्—वक्षस्थल से; दक्षिणतः—दाहिनी ओर के; यत्र—जिसमें; नारायणः—परमेश्वर; स्वयम्—अपने से; अधर्मः—अधर्म; पृष्ठतः—पीठ से; यस्मात्—जिससे; मृत्युः—मृत्यु; लोक—जीव के लिए; भयम्-करः—भयकारक।

धर्म ब्रह्मा के वक्षस्थल से प्रकट हुआ जहाँ पर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण आसीन हैं और अधर्म उनकी पीठ से प्रकट हुआ जहाँ जीव के लिए भयावह मृत्यु उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि धर्म उस स्थान से प्रकट हुआ जहाँ स्वयं भगवान् आसीन हैं, क्योंकि धर्म का अर्थ है भगवान् की भक्तिमय सेवा जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* तथा *भागवत* में हुई है। *भगवद्गीता* में अन्तिम उपदेश धर्म के नाम पर अन्य सारे कार्यों को त्याग कर भगवान् की शरण लेने के लिए है। *श्रीमद्भागवत* में भी पुष्टि हुई है कि धर्म की सर्वोच्च सिद्धि वह है, जो भौतिक अवरोधों से प्रेरित हुए बिना तथा बिना किसी प्रतिरोध के भगवद्भक्ति तक ले जाय। धर्म अपने पूर्ण रूप में भगवद्भक्ति है और अधर्म इसका विलोम है। हृदय शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है, जबकि पीठ सबसे उपेक्षित अंग है। जब कोई शत्रु हमला करता है, तो मनुष्य पीठ की ओर (पीछे) से प्रहार सहन कर सकता है, किन्तु वह वक्षस्थल पर होने वाले प्रहारों से अपनी रक्षा पूरी सावधानी से करना चाहेगा। सभी प्रकार के अधर्म ब्रह्मा की पीठ से उत्पन्न होते हैं जबकि असली धर्म या भगवद्भक्ति नारायण के वास-स्थान वक्षस्थल से उत्पन्न होती है। जो वस्तु भगवद्भक्ति तक न ले जा सके वह अधर्म है और जो वस्तु भगवद्भक्ति तक ले जाए वह धर्म कहलाती है।

हृदि कामो भ्रुवः क्रोधो लोभश्चाधरदच्छदात् ।
आस्याद्वाक्सिन्धवो मेढ्रान्निरृतिः पायोरघाश्रयः ॥ २६॥

शब्दार्थ

हृदि—हृदय से; कामः—काम; भ्रुवः—भौंहों से; क्रोधः—क्रोध; लोभः—लालच; च—भी; अधर-दच्छदात्—ओठों के बीच से; आस्यात्—मुख से; वाक्—वाणी; सिन्धवः—समुद्र; मेढ्रात्—लिंग से; निरृतिः—निम्न कार्य; पायोः—गुदा से; अघ-आश्रयः—सारे पापों का आगार।

काम तथा इच्छा ब्रह्मा के हृदय से, क्रोध उनकी भौंहों के बीच से, लालच उनके ओठों के बीच से, वाणी की शक्ति उनके मुख से, समुद्र उनके लिंग से तथा निम्न एवं गर्हित कार्यकलाप समस्त पापों के स्रोत उनकी गुदा से प्रकट हुए।

तात्पर्य : बद्ध आत्मा मानसिक चिन्तन के वशीभूत रहता है। कोई संसारी शिक्षा एवं विद्वत्ता के

आकलन में कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह मनोवैज्ञानिक कार्यकलापों के प्रभाव से कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। अतएव निम्न कार्यों के लिए कामवासना तथा इच्छाओं को तब तक त्याग पाना अतीव कठिन है जब तक कोई भगवद्भक्ति की परम्परा में न हो। जब कोई कामवासना तथा निम्न इच्छाओं से हताश होता है, तो मन में क्रोध उत्पन्न होता है, जिसकी अभिव्यक्ति भौहों के मध्य में होती है। इसलिए सामान्य लोगों को सलाह दी जाती है कि वे अपने मन को भौहों के मध्य के स्थान में केन्द्रित करें जबकि भगवद्भक्तों को अपने मन के आसन में भगवान् को स्थापित करने का अभ्यास रहता है। इच्छाविहीन होने का सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि मन को इच्छारहित नहीं बनाया जा सकता है। जब यह संस्तुति की जाती है कि मनुष्य इच्छाविहीन बने तो यह समझा जाता है कि मनुष्य को ऐसी चीजों की इच्छा नहीं करनी चाहिए जो आध्यात्मिक मूल्यों का ध्वंस करने वाली हों। भगवद्भक्त सदैव अपने मन में भगवान् को धारण करता है। इस तरह उसे इच्छाविहीन होने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि उसकी सारी आवश्यकताएँ भगवान् की सेवा के सम्बन्ध में होती हैं। बोलने की शक्ति सरस्वती या विद्या की देवी कहलाती है और विद्या की देवी का जन्म स्थान ब्रह्मा का मुख है। भले ही मनुष्य को विद्या की देवी की कृपा प्राप्त हो, किन्तु उसका हृदय कामवासना तथा भौतिक इच्छा से पूर्ण हो सकता है और उसकी भौंहें क्रोध के लक्षण प्रकट कर सकती हैं। कोई सांसारिक दृष्टि से अत्यन्त विद्वान क्यों न हो, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह कामवासना तथा क्रोध के सारे निम्न कार्यों से मुक्त है। केवल शुद्ध भक्त से अच्छे गुणों की आशा की जा सकती है, क्योंकि वह भगवान् के विचारों में या श्रद्धासहित समाधि में सदैव लीन रहता है।

छायायाः कर्दमो जज्ञे देवहूत्याः पतिः प्रभुः ।
मनसो देहतश्चेदं जज्ञे विश्वकृतो जगत् ॥ २७॥

शब्दार्थ

छायायाः—छाया से; कर्दमः—कर्दम मुनि; जज्ञे—प्रकट हुआ; देवहूत्याः—देवहूति का; पतिः—पति; प्रभुः—स्वामी; मनसः—मन से; देहतः—शरीर से; च—भी; इदम्—यह; जज्ञे—उत्पन्न किया; विश्व—ब्रह्माण्ड; कृतः—स्रष्टा का; जगत्—विराट जगत।

महान् देवहूति के पति कर्दम मुनि ब्रह्मा की छाया से प्रकट हुए। इस तरह सभी कुछ ब्रह्मा के शरीर से या मन से प्रकट हुआ।

तात्पर्य : यद्यपि प्रकृति के तीन गुणों में से सदैव एक की प्रधानता रहती है किन्तु वे कभी भी एक दूसरे से मिश्रित हुए बिना प्रदर्शित नहीं होते। यहाँ तक कि रजो तथा तमो इन दो निम्नतर गुणों की उपस्थिति में भी कभी-कभी सतोगुण का अंश रहता है। अत: ब्रह्मा के शरीर या मन से उत्पन्न सारे पुत्र रजोगुणी तथा तमोगुणी थे, किन्तु उनमें से कुछ, यथा कर्दम मुनि सतोगुण से उत्पन्न थे। नारद ब्रह्मा की दिव्य अवस्था में उत्पन्न हुए थे।

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः ।
अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

वाचम्—वाक्; दुहितरम्—पुत्री को; तन्वीम्—उसके शरीर से उत्पन्न; स्वयम्भूः—ब्रह्मा; हरतीम्—आकृष्ट करते हुए; मनः—मन; अकामाम्—कामुक हुए बिना; चकमे—इच्छा की; क्षत्तः—हे विदुर; स-कामः—कामुक हुआ; इति—इस प्रकार; नः—हमने; श्रुतम्—सुना है।

हे विदुर, हमने सुना है कि ब्रह्मा के वाक् नाम की पुत्री थी जो उनके शरीर से उत्पन्न हुई थी जिसने उनके मन को यौन की ओर आकृष्ट किया यद्यपि वह उनके प्रति कामासक्त नहीं थी।

तात्पर्य : *बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।* (*भागवत* ९.१९.१७) कहा गया है कि इन्द्रियाँ इतनी प्रमत्त तथा प्रबल होती हैं कि वे अत्यन्त विवेकवान तथा विद्वान व्यक्ति को भी मोहित कर सकती हैं। इसलिए सलाह दी जाती है कि कोई व्यक्ति अपनी माता, बहिन या पुत्री के भी साथ अकेले में न रहे। *विद्वांसमपि कर्षति* का अर्थ है कि बड़ा से बड़ा विद्वान भी कामवासना का शिकार बन जाता है। ब्रह्मा अपनी ही पुत्री के प्रति कामासक्त थे, अत: उनके इस अनियमितता को बतलाने में मैत्रेय हिचक रहे थे; फिर भी उन्होंने इसका उल्लेख किया, क्योंकि कभी-कभी ऐसा घटित हो ही जाता है और इसके जीवन्त उदाहरण स्वयं ब्रह्मा हैं, यद्यपि वे आदिजीव हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सबसे अधिक विद्वान हैं। यदि ब्रह्मा जी कामवासना के शिकार हो सकते हैं, तो अन्यों के विषय में क्या कहा जाय जो अनेकानेक संसारी दुर्बलताओं के प्रति उन्मुख हैं? ब्रह्मा की यह असाधारण अनैतिकता किसी विशेष कल्प में घटित हुई सुनी गई थी, किन्तु यह उस कल्प में नहीं घटित हो सकती थी जिसमें ब्रह्मा ने भगवान् से प्रत्यक्ष रूप से *श्रीमद्भागवत* के चार श्लोक सुने थे, क्योंकि *भागवत* का उपदेश देने के बाद भगवान् ने ब्रह्मा को यह वर दिया था कि वे किसी भी कल्प में मोहित नहीं होंगे। इससे यह सूचित

होता है कि *श्रीमद्भागवत* सुनने के पूर्व वे ऐसी कामवासना के शिकार हुए होंगे, किन्तु भगवान् के मुख से *श्रीमद्भागवत* सुन लेने के बाद ऐसी त्रुटि होने की कोई सम्भावना नहीं थी।

फिर भी मनुष्य को इस घटना की ओर गम्भीरता से ध्यान देना चाहिए। मानव एक सामाजिक पशु है और स्त्रियों के साथ अनियंत्रित मेल-जोल से उसका पतन हो जाता है। पुरुष तथा स्त्री की ऐसी सामाजिक स्वतंत्रता, विशेष रूप से युवा वर्ग में, निश्चय ही आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में महान् अवरोध है। भव-बन्धन एकमात्र यौन बन्धन के कारण है, फलत: पुरुष तथा स्त्री की अनियमित संगति अवश्य ही आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में महान् अवरोध है। मैत्रेय ने ब्रह्मा का यह उदाहरण इस भीषण खतरे के प्रति हमारा घ्यान आकृष्ट करने के लिए ही प्रस्तुत किया।

तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः ।
मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात्प्रत्यबोधयन् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; अधर्मे—अनैतिकता में; कृत-मतिम्—ऐसे मन वाला; विलोक्य—देखकर; पितरम्—पिता को; सुताः—पुत्रों ने; मरीचि-मुख्याः—मरीचि इत्यादि; मुनयः—मुनिगण; विश्रम्भात्—आदर सहित; प्रत्यबोधयन्—निवेदन किया।

अपने पिता को अनैतिकता के कार्य में इस प्रकार मुग्ध पाकर मरीचि इत्यादि ब्रह्मा के सारे पुत्रों ने अतीव आदरपूर्वक यह कहा।

तात्पर्य : मरीचि जैसे ऋषि द्वारा अपने महान् पिता के कार्यों के विरुद्ध विरोध प्रकट करने में कोई त्रुटि नहीं थी। वे भलीभाँति जानते थे कि यद्यपि उनके पिता ने त्रुटि की है, किन्तु इस घटना के पीछे कोई न कोई बड़ा कारण रहा होगा अन्यथा इतना महान् पुरुष ऐसी त्रुटि नहीं कर सकता था। हो सकता है कि ब्रह्माजी अपने अधीनस्थों को स्त्रियों से व्यवहार करते समय मानव दुर्बलताओं के प्रति आगाह करना चाह रहे हों। आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर चलने वाले पुरुषों के लिए यह सदैव अत्यन्त घातक है। अत: ब्रह्मा जैसे महापुरुष जब त्रुटि करते हैं तब न तो उनकी उपेक्षा करनी चाहिए न ही मरीचि जैसे महर्षि उनके असामान्य आचरण के कारण उनके प्रति किसी प्रकार का अनादर प्रदर्शित कर सके थे।

नैतत्पूर्वैः कृतं त्वद्ये न करिष्यन्ति चापरे ।

यस्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्याङ्गजं प्रभुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एतत्—ऐसी वस्तु; पूर्वैः—किसी पूर्व कल्प में अन्य किसी ब्रह्मा द्वारा या तुम्हारे द्वारा; कृतम्—सम्पन्न; त्वत्—तुम्हारे द्वारा; ये—वह जो; न—न तो; करिष्यन्ति—करेंगे; च—भी; अपरे—अन्य कोई; यः—जो; त्वम्—तुम; दुहितरम्—पुत्री के प्रति; गच्छेः—जायेगा; अनिगृह्य—अनियंत्रित होकर; अङ्गजम्—कामेच्छा; प्रभुः—हे पिता।

हे पिता, आप जिस कार्य में अपने को उलझाने का प्रयास कर रहे हैं उसे न तो किसी अन्य ब्रह्मा द्वारा न किसी अन्य के द्वारा, न ही पूर्व कल्पों में आपके द्वारा, कभी करने का प्रयास किया गया, न ही भविष्य में कभी कोई ऐसा दुस्साहस ही करेगा। आप ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च प्राणी हैं, अतः आप अपनी पुत्री के साथ संभोग क्यों करना चाहते हैं और अपनी इच्छा को वश में क्यों नहीं कर सकते?

तात्पर्य : ब्रह्मा का पद ब्रह्माण्ड में सर्वोच्च पद है और ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा अनेक हैं और जिस ब्रह्माण्ड में हम रह रहे हैं इसके अतिरिक्त अनेक ब्रह्माण्ड हैं। इस पद पर स्थित रहनेवाले का आचरण आदर्श होना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मा सारे जीवों के लिए आदर्श प्रस्तुत करते हैं। सर्वाधिक पवित्र तथा आध्यात्मिक दृष्टि से उच्चस्थ जीव ब्रह्मा को भगवान् के बाद का पद प्रदान किया गया है।

तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद्गुरो ।
यद्वृत्तमनुतिष्ठन्वै लोकः क्षेमाय कल्पते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तेजीयसाम्—अत्यन्त शक्तिशालियों में; अपि—भी; हि—निश्चय ही; एतत्—ऐसा कार्य; न—उपयुक्त नहीं; सु-श्लोक्यम्—अच्छा आचरण; जगत्-गुरो—हे ब्रह्माण्ड के गुरु; यत्—जिसका; वृत्तम्—चरित्र; अनुतिष्ठन्—पालन करते हुए; वै—निश्चय ही; लोकः—जगत; क्षेमाय—सम्पन्नता के लिए; कल्पते—योग्य बन जाता है।

यद्यपि आप सर्वाधिक शक्तिमान जीव हैं, किन्तु यह कार्य आपको शोभा नहीं देता क्योंकि सामान्य लोग आध्यात्मिक उन्नति के लिए आपके चरित्र का अनुकरण करते हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि परम शक्तिशाली जीव चाहे तो कुछ भी कर सकता है और ऐसे कार्यों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ, इस ब्रह्माण्ड में सूर्य सबसे शक्तिशाली अग्निमय ग्रह है। वह कहीं से भी जल को भाप बनाकर उड़ा सकता है और फिर भी उतना ही शक्तिशाली बना रहता है। सूर्य गन्दे स्थानों से जल को उड़ाता है फिर भी वह गंदगी के गुण से संदूषित नहीं होता। इसी तरह ब्रह्मा सभी दशाओं में महाभियोग से मुक्त बने रहते हैं। किन्तु फिर भी सारे जीवों के गुरु होने के

कारण उनके आचरण तथा चरित्र को इतना आदर्श होना चाहिए कि लोग ऐसे उदात्त आचरण का अनुसरण कर सकें और सर्वोच्च आध्यात्मिक लाभ उठा सकें। अत: उन्हें ऐसा कर्म नहीं करना चाहिए था जैसा उन्होंने किया।

तस्मै नमो भगवते य इदं स्वेन रोचिषा ।
आत्मस्थं व्यञ्जयामास स धर्मं पातुमर्हति ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उसे; नमः—नमस्कार; भगवते—भगवान् को; यः—जो; इदम्—इस; स्वेन—अपने; रोचिषा—तेज से; आत्म-स्थम्—अपने में ही स्थित; व्यञ्जयाम् आस—प्रकट किया है; सः—वह; धर्मम्—धर्म की; पातुम्—रक्षा करने के लिए; अर्हति—ऐसा करे।

हम उन भगवान् को सादर नमस्कार करते हैं जिन्होंने आत्मस्थ होकर अपने ही तेज से इस ब्रह्माण्ड को प्रकट किया है। वे समस्त कल्याण हेतु धर्म की रक्षा करें!

तात्पर्य : संभोग के लिए कामेच्छा इतनी प्रबल होती है कि यहाँ पर ऐसा लगता है कि ब्रह्मा को मरीचि जैसे उनके महान् पुत्र अपनी याचना के बावजूद भी उनके संकल्प से विरत नहीं कर पाये। अत: इन महान् पुत्रों ने ब्रह्मा की सद्बुद्धि के लिए भगवान् से प्रार्थना करना शुरू कर दिया। यह तो एकमात्र भगवान् की कृपा ही है, जिससे मनुष्य को कामेच्छाओं की लालसा से बचाया जा सकता है। भगवान् उन भक्तों को संरक्षण प्रदान करते हैं, जो उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में सदैव लगे रहते हैं और वे अपनी अहैतुकी कृपा से भक्त को उसके अकस्मात् पतन से बचा लेते हैं। अत: मरीचि जैसे ऋषियों ने भगवान् की कृपा के लिए प्रार्थना की और उनकी प्रार्थना फलदायी रही।

स इत्थं गृणतः पुत्रान्पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन्
प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा ।
तां दिशो जगृहुर्घोरां नीहारं यद्विदुस्तमः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ब्रह्मा); इत्थम्—इस प्रकार; गृणतः—बोलते हुए; पुत्रान्—पुत्र; पुरः—पहले; दृष्ट्वा—देखकर; प्रजा-पतीन्—जीवों के पूर्वजों को; प्रजापति-पतिः—उन सबों के पिता (ब्रह्मा); तन्वम्—शरीर; तत्याज—त्याग दिया; व्रीडितः—लज्जित; तदा—उस समय; ताम्—उस शरीर को; दिशः—सारी दिशाएँ; जगृहुः—स्वीकार किया; घोराम्—निन्दनीय; नीहारम्—नीहार, कुहरा; यत्—जो; विदुः—वे जानते हैं; तमः—अंधकार के रूप में।

अपने समस्त प्रजापति पुत्रों को इस प्रकार बोलते देख कर समस्त प्रजापतियों के पिता ब्रह्मा अत्यधिक लज्जित हुए और तुरन्त ही उन्होंने अपने द्वारा धारण किये हुए शरीर को त्याग दिया।

बाद में वही शरीर अंधकार में भयावह कुहरे के रूप में सभी दिशाओं में प्रकट हुआ।

तात्पर्य : अपने पापमय कृत्यों की क्षति-पूर्ति के लिए प्रायश्चित्त का सर्वोत्तम उपाय अपने शरीर को तुरन्त त्याग देना है और जीवों के नायक ब्रह्मा ने इसे अपने उदाहरण से दिखला दिया। ब्रह्मा की आयु असीम होती है किन्तु उन्हें अपने घोर पाप के कारण, जिसे उन्होंने मन में केवल सोचा ही था, वास्तव में किया नहीं था, अपना शरीर त्यागना पड़ा।

यह जीवों के लिए शिक्षा है, जो यह दिखाती है कि अनियंत्रित यौन जीवन में संलग्न होना कितना पापपूर्ण कृत्य है। गर्हित यौन जीवन के विषय में सोचना भी पापपूर्ण है और ऐसे पापपूर्ण कृत्यों की क्षतिपूर्ति के लिए मनुष्य को अपना शरीर त्यागना होता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की आयु, वरदान, ऐश्वर्य इत्यादि सभी बातें पापपूर्ण कृत्यों से घटती हैं और सबसे भयावह पापपूर्ण कृत्य है अनियंत्रित यौन।

पापमय जीवन का कारण अज्ञान है अथवा पापमय जीवन ही निपट अज्ञान का कारण है। अज्ञान की विशेषता है अंधकार या कुहरा। अंधकार या कुहरा अब भी सारे ब्रह्माण्ड को आच्छादित किये है और सूर्य एकमात्र उसका प्रतिकार है। जो व्यक्ति नित्य प्रकाश रूप भगवान् की शरण ग्रहण करता है उसे कुहरे या अज्ञान के अंधकार में विलोप होने का भय नहीं रहता।

कदाचिद्ध्यायतः स्रष्टुर्वेदा आसंश्चतुर्मुखात् ।
कथं स्रक्ष्याम्यहं लोकान्समवेतान्यथा पुरा ॥ ३४॥

शब्दार्थ

कदाचित्—एक बार; ध्यायतः—ध्यान करते समय; स्रष्टुः—ब्रह्मा का; वेदाः—वैदिक वाङ्मय; आसन्—प्रकट हुए; चतुः-मुखात्—चारों मुखों से; कथम् स्रक्ष्यामि—मैं किस तरह सृजन करूँगा; अहम्—मैं; लोकान्—इन सारे लोकों को; समवेतान्—एकत्रित; यथा—जिस तरह वे थे; पुरा—भूतकाल में।

एक बार जब ब्रह्माजी यह सोच रहे थे कि विगत कल्प की तरह लोकों की सृष्टि कैसे की जाय तो चारों वेद, जिनमें सभी प्रकार का ज्ञान निहित है, उनके चारों मुखों से प्रकट हो गये।

तात्पर्य : जिस तरह अग्नि बिना दूषित हुए हर वस्तु को क्षार कर सकती है उसी तरह भगवत्कृपा से ब्रह्मा की महानता रूपी अग्नि ने उनकी पुत्री के साथ पापपूर्ण यौनाचार की उनकी इच्छा को क्षार कर दिया। वेद समस्त ज्ञान के स्रोत हैं और जब ब्रह्मा पुनः सृष्टि करने का विचार कर रहे थे तो पूर्ण

पुरुषोत्तम भगवान की कृपा से वे सर्वप्रथम ब्रह्मा को ही उद्घाटित किए गए। ब्रह्मा अपनी भगवद्भक्ति के कारण शक्तिशाली हैं। भगवान् अपने उस भक्त को सदैव क्षमा करने के लिए तैयार रहते हैं, जो कदाचित् अपने भक्ति के सन्मार्ग से पतित हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* (११.५.४२) में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है।

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्त्वान्यभावस्य हरिः परेशः।

विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद् धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः॥

"जो व्यक्ति पूरी तरह से भगवान् के चरणकमलों पर उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, वह भगवान् हरि को अत्यन्त प्रिय है और भगवान् भक्त के हृदय में स्थित होकर संयोगवश किये गये सभी प्रकार के पापों को क्षमा कर देते हैं।" यह कभी भी आशा नहीं की जाती थी कि ब्रह्मा जैसा महापुरुष अपनी पुत्री के साथ संभोग करने का विचार भी करेगा। ब्रह्मा द्वारा प्रस्तुत किया गया उदाहरण केवल यह निर्देशित करता है कि भौतिक प्रकृति की शक्ति इतनी प्रबल है कि यह किसी पर भी, यहाँ तक कि ब्रह्मा पर भी, अपना प्रभाव दिखा सकती है। ब्रह्माजी अत्यल्प दण्ड के साथ भगवत्कृपा से बचा लिए गये, किन्तु भगवत्कृपा से महान् ब्रह्मा के रूप में उनकी प्रतिष्ठा समाप्त नहीं हुई।

चातुर्होत्रं कर्मतन्त्रमुपवेदनयैः सह ।
धर्मस्य पादाश्चत्वारस्तथैवाश्रमवृत्तयः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

चातुः—चार; होत्रम्—यज्ञ की सामग्री; कर्म—कर्म; तन्त्रम्—ऐसे कार्यकलापों का विस्तार; उपवेद—वेदों के पूरक; नयैः—तथा तर्कशास्त्रीय निर्णय; सह—साथ; धर्मस्य—धर्म के; पादाः—सिद्धान्त; चत्वारः—चार; तथा एव—इसी प्रकार से; आश्रम—सामाजिक व्यवस्था; वृत्तयः—वृत्तियाँ, पेशे।

अग्नि यज्ञ को समाहित करने वाली चार प्रकार की साज-सामग्री प्रकट हुई। ये प्रकार हैं यज्ञकर्ता, होता, अग्नि तथा उपवेदों के रूप में सम्पन्न कर्म। धर्म के चार सिद्धान्त (सत्य, तप, दया, शौच) एवं चारों आश्रमों के कर्तव्य भी प्रकट हुए।

तात्पर्य : खाना, सोना, रक्षा करना तथा संभोग करना—ये चार शारीरिक माँगें पशुओं तथा मनुष्यों में समान रूप से पाई जाती हैं। मानव समाज को पशुओं से विलग करने के लिए वर्णों तथा आश्रमों के रूप में धार्मिक कार्यकलाप सम्पन्न किये जाते हैं। उनका स्पष्ट उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में पाया जाता है

और जब चारों वेद ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए तो ब्रह्मा द्वारा इनका प्राकट्य किया गया। इस तरह वर्णाश्रम के रूप में मानव कर्तव्यों की स्थापना की गई जिससे सभ्य पुरुष इनका पालन कर सकें। जो लोग परम्परा-गत रुप से इन सिद्धान्तों का पालन करते हैं, वे आर्य या प्रगतिशील मानव कहलाते हैं।

विदुर उवाच

स वै विश्वसृजामीशो वेदादीन्मुखतोऽसृजत् ।
यद्यद्येनासृजद्देवस्तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सः—वह (ब्रह्मा); वै—निश्चय ही; विश्व—ब्रह्माण्ड; सृजाम्—सृजनकर्ताओं का; ईशः—नियन्ता; वेद-आदीन्—वेद इत्यादि.; मुखतः—मुख से; असृजत्—स्थापित किया; यत्—जो; यत्—जो; येन—जिससे; असृजत्—उत्पन्न किया; देवः—देवता; तत्—वह; मे—मुझसे; ब्रूहि—बतलाइये; तपः-धन—हे मुनि, तपस्या जिसका एकमात्र धन है।.

विदुर ने कहा, हे तपोधन महामुनि, कृपया मुझसे यह बतलाएँ कि ब्रह्मा ने किस तरह और किसकी सहायता से उस वैदिक ज्ञान की स्थापना की जो उनके मुख से निकला था।

मैत्रेय उवाच

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान्वेदान्पूर्वादिभिर्मुखैः ।
शास्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात्क्रमात् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; ऋक्-यजुः-साम-अथर्व—चारों वेद; आख्यान्—नामक; वेदान्—वैदिक ग्रन्थ; पूर्व-आदिभिः—सामने से प्रारम्भ करके; मुखैः—मुखों से; शास्त्रम्—पूर्व अनुच्चरित वैदिक मंत्र; इज्याम्—पौरोहित्य अनुष्ठान; स्तुति-स्तोमम्—बाँचने वालों की विषयवस्तु; प्रायश्चित्तम्—दिव्य कार्य; व्यधात्—स्थापित किया; क्रमात्—क्रमशः।.

मैत्रेय ने कहा : ब्रह्मा के सामने वाले मुख से प्रारम्भ होकर क्रमशः चारों वेद—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—आविर्भूत हुए। तत्पश्चात् इसके पूर्व अनुच्चरित वैदिक स्तोत्र, पौरोहित्य अनुष्ठान, पाठ की विषयवस्तु तथा दिव्य कार्यकलाप एक-एक करके स्थापित किये गये।

आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः ।
स्थापत्यं चासृजद्वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखैः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

आयुः-वेदम्—औषधि विज्ञान; धनुः-वेदम्—सैन्य विज्ञान; गान्धर्वम्—संगीतकला; वेदम्—ये सभी वैदिक ज्ञान हैं; आत्मनः—अपने से; स्थापत्यम्—वास्तु सम्बन्धी विज्ञान; च—भी; असृजत्—सृष्टि की; वेदम्—ज्ञान; क्रमात्—क्रमशः; पूर्व-आदिभिः—सामने वाले मुख से प्रारम्भ करके; मुखैः—मुखों द्वारा।.

उन्होंने ओषधि विज्ञान, सैन्य विज्ञान, संगीत कला तथा स्थापत्य विज्ञान की भी सृष्टि वेदों से

की। ये सभी सामने वाले मुख से प्रारम्भ होकर क्रमशः प्रकट हुए।

तात्पर्य : वेदों में पूर्ण ज्ञान पाया जाता है, जिसमें न केवल इस लोक के अपितु अन्य मानव लोकों के समाज के लिए भी आवश्यक सभी प्रकार का ज्ञान सम्मिलित है। ऐसा समझा जाता है कि सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए सैन्य कला भी उसी तरह आवश्यक ज्ञान है, जिस तरह संगीत कला है। ज्ञान के ये सारे समूह *उप-पुराण* या वेदों के पूरक कहलाते हैं। वेदों का मुख्य विषय आध्यात्मिक ज्ञान है। किन्तु मनुष्यों के ज्ञान की आध्यात्मिक रुचि में सहायता पहुँचाने के लिए अन्य जानकारी वैदिक ज्ञान की आवश्यक सूचनाओं का निर्माण करती है जैसाकि ऊपर कहा गया है।

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः ।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

इतिहास—इतिहास; पुराणानि—पुराण (पूरक वेद); पञ्चमम्—पाँचवाँ; वेदम्—वैदिक वाङ्मय; ईश्वरः—भगवान्; सर्वेभ्यः—सब मिला कर; एव—निश्चय ही; वक्त्रेभ्यः—अपने मुखों से; ससृजे—उत्पन्न किया; सर्व—चारों ओर; दर्शनः—जो हर समय देख सकता है।

तब उन्होंने अपने सारे मुखों से पाँचवें वेद—पुराणों तथा इतिहासों—की सृष्टि की, क्योंकि वे सम्पूर्ण भूत, वर्तमान तथा भविष्य को देख सकते थे।

तात्पर्य : विशिष्ट देशों तथा राष्ट्रों के और इसी के साथ संसार के अपने इतिहास हैं, किन्तु पुराण सारे ब्रह्माण्ड के, न केवल एक कल्प के अपितु अनेक कल्पों के, इतिहास हैं। ब्रह्मा को इन ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान है, अतएव सभी पुराण इतिहास हैं। चूँकि उनकी मूल रचना ब्रह्मा द्वारा की गई, अतएव वे वेदों के अंग रूप हैं और पंचम वेद कहलाते हैं।

षोडश्युक्थौ पूर्ववक्त्रात्पुरीष्यग्निष्टुतावथ ।
आप्तोर्यामातिरात्रौ च वाजपेयं सगोसवम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

षोडशी-उक्थौ—यज्ञ के प्रकार; पूर्व-वक्त्रात्—पूर्वी मुँह से; पुरीषि-अग्निष्टुतौ—यज्ञ के प्रकार; अथ—तब; आप्तोर्याम-अतिरात्रौ—यज्ञ के प्रकार; च—तथा; वाजपेयम्—एक प्रकार का यज्ञ; स-गोसवम्—एक प्रकार का यज्ञ।

ब्रह्मा के पूर्वी मुख से विभिन्न प्रकार के समस्त अग्नि यज्ञ (षोडशी, उक्थ, पुरीषि, अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, अतिरात्र, वाजपेय तथा गोसव) प्रकट हुए।

विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च ।
आश्रमांश्च यथासङ्ख्यमसृजत्सह वृत्तिभिः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

विद्या—विद्या; दानम्—दान; तपः—तपस्या; सत्यम्—सत्य; धर्मस्य—धर्म का; इति—इस प्रकार; पदानि—चार पाँव; च—भी; आश्रमान्—आश्रमों; च—भी; यथा—वे जिस प्रकार के हैं; सङ्ख्यम्—संख्या में; असृजत्—रचना की; सह—साथ-साथ; वृत्तिभिः—पेशों या वृत्तियों के द्वारा।

शिक्षा, दान, तपस्या तथा सत्य को धर्म के चार पाँव कहा जाता है और इन्हें सीखने के लिए चार आश्रम हैं जिनमें वृत्तियों के अनुसार जातियों (वर्णों) का अलग-अलग विभाजन रहता है। ब्रह्मा ने इन सबों की क्रमबद्ध रूप में रचना की।

तात्पर्य : चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य अर्थात् छात्र जीवन, गृहस्थ अर्थात् पारिवारिक जीवन, वानप्रस्थ अर्थात् तपस्या के निमित्त निवृत्त जीवन तथा संन्यास अर्थात् सत्य के प्रचार हेतु विरक्त जीवन—के केन्द्र धर्म के चार पाँव हैं। वृत्तिपरक विभाग हैं—ब्राह्मण अर्थात् बुद्धिमान वर्ग, क्षत्रिय अर्थात् प्रशासक वर्ग, वैश्य अर्थात् व्यापारी वर्ग तथा शूद्र अर्थात् बिना किसी विशेष योग्यता वाले सामान्य श्रमिक वर्ग। ब्रह्मा ने आत्म-साक्षात्कार में नियमित उन्नति के लिए इन सबों की क्रमबद्ध योजना तथा रचना की। ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त है; गृहस्थ इन्द्रियतृप्ति के लिए है बशर्ते कि यह मन की उदारवृत्ति से की जाय; वानप्रस्थ आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के हेतु तपस्या करने के लिए है और संन्यास सामान्य लोगों को परम सत्य के विषय में उपेदश देने के निमित्त है। समाज के सारे सदस्यों के मिलेजुले कार्यों से मानव जीवन के उद्देश्य के उत्थान हेतु अनुकूल स्थिति उत्पन्न करनी है। इस सामाजिक संस्थान की शुरुआत उस शिक्षा पर आधारित है, जो मनुष्य की पाशविक लालसाओं को शुद्ध करने के लिए है। सर्वोच्च शुद्धीकरण (संस्कार) विधि शुद्धों में परम शुद्ध पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान का ज्ञान है।

सावित्रं प्राजापत्यं च ब्राह्मं चाथ बृहत्तथा ।
वार्ता सञ्चयशालीनशिलोञ्छ इति वै गृहे ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सावित्रम्—द्विजों का यज्ञोपवीत संस्कार; प्राजापत्यम्—एक वर्ष तक व्रत रखने के लिए; च—तथा; ब्राह्मम्—वेदों की स्वीकृति; च—तथा; अथ—भी; बृहत्—यौनजीवन से पूर्ण विरक्ति; तथा—तब; वार्ता—वैदिक आदेश के अनुसार वृत्ति;

सञ्चय—वृत्तिपरक कर्तव्य; शालीन—किसी का सहयोग माँगे बिना जीविका; शिल-उञ्छः—त्यक्त अन्नों को बीनना; इति—इस प्रकार; वै—यद्यपि; गृहे—गृहस्थ जीवन में।.

तत्पश्चात् द्विजों के लिए यज्ञोपवीत संस्कार (सावित्र) का सूत्रपात हुआ और उसी के साथ वेदों की स्वीकृति के कम से कम एक वर्ष बाद तक पालन किये जाने वाले नियमों (प्राजापत्यम्), यौनजीवन से पूर्ण विरक्ति के नियम (बृहत्), वैदिक आदेशों के अनुसार वृत्तियाँ (वार्ता), गृहस्थ जीवन के विविध पेशेवार कर्तव्य (सञ्चय) तथा परित्यक्त अन्नों को बीन कर (शिलोञ्छ) एवं किसी का सहयोग लिए बिना (अयाचित) जीविका चलाने की विधि का सूत्रपात हुआ।

तात्पर्य : विद्यार्थी जीवन में *ब्रह्मचारियों* को मनुष्यजीवन की महत्ता के विषय में पूर्ण शिक्षा दी जाती थी। इस तरह प्रारम्भिक शिक्षा विद्यार्थी को पारिवारिक झंझटों से मुक्त बनने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए थी। जो विद्यार्थी ऐसे व्रत को स्वीकार करने में अक्षम होते थे केवल उन्हें घर वापस जाने और उपयुक्त पत्नी से विवाह करने की अनुमति दी जाती थी। अन्यथा विद्यार्थी जीवन भर यौन जीवन से पूरी तरह विरत रहकर स्थायी *ब्रह्मचारी* बना रहता था। यह सब विद्यार्थी के प्रशिक्षण की गुणवत्ता पर निर्भर करता था। हमें अपने ॐ गुरु विष्णुपाद श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त गोस्वामी महाराज जैसे व्रतधारी ब्रह्मचारी से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ था। ऐसे महापुरुष *नैष्ठिक ब्रह्मचारी* कहलाते हैं।

वैखानसा वालखिल्यौदुम्बराः फेनपा वने ।
न्यासे कुटीचकः पूर्वं बह्वोदो हंसनिष्क्रियौ ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

वैखानसाः—ऐसे मनुष्य जो सक्रिय जीवन से अवकाश लेकर अध-उबले भोजन पर निर्वाह करते हैं; वालखिल्य—वह जो अधिक अन्न पाने पर पुराने संग्रह को त्याग देता है; औदुम्बराः—बिस्तर से उठकर जिस दिशा की ओर आगे जाने पर जो मिले उसी पर निर्वाह करना; फेनपाः—वृक्ष से स्वतः गिरे हुए फलों को खाकर रहने वाला; वने—जंगल में; न्यासे—संन्यास आश्रम में; कुटीचकः—परिवार से आसक्तिरहित जीवन; पूर्वम्—प्रारम्भ में; बह्वोदः—सारे भौतिक कार्यों को त्याग कर दिव्य सेवा में लगे रहना; हंस—दिव्य ज्ञान में पूरी तरह लगा रहने वाला; निष्क्रियौ—सभी प्रकार के कार्यों को बन्द करते हुए।.

वानप्रस्थ जीवन के चार विभाग हैं—वैखानस, वाल-खिल्य, औदुम्बर तथा फेनप। संन्यास आश्रम के चार विभाग हैं—कुटीचक, बह्वोद, हंस तथा निष्क्रिय। ये सभी ब्रह्मा से प्रकट हुए थे।

तात्पर्य : *वर्णाश्रम धर्म* अर्थात् चार वर्णों तथा सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन के चार आश्रमों

का संस्थान आधुनिक युग की कोई नयी ईजाद नहीं है जैसाकि अल्पज्ञों का प्रस्ताव है। यह ऐसा संस्थान है, जिसकी स्थापना ब्रह्मा द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ में की गई। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से (४.१३) भी होती है— *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्*।

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथैव च ।
एवं व्याहृतयश्चासन्प्रणवो ह्यस्य दह्रतः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

आन्वीक्षिकी—तर्क; त्रयी—तीन लक्ष्य जिनके नाम धर्म, अर्थ तथा मोक्ष हैं; वार्ता—इन्द्रियतृप्ति; दण्ड—विधि तथा व्यवस्था; नीतिः—आचरण सम्बन्धी संहिता; तथा—भी; एव च—क्रमशः; एवम्—इस प्रकार; व्याहृतयः—भूः भुवः तथा स्वः नामक विख्यात स्तोत्र; च—भी; आसन्—उत्पन्न हुए; प्रणवः—ॐकार; हि—निश्चय ही; अस्य—उसका (ब्रह्मा का); दह्रतः—हृदय से।

तर्कशास्त्र विज्ञान, जीवन के वैदिक लक्ष्य, कानून तथा व्यवस्था, आचार संहिता तथा भूः भुवः स्वः नामक विख्यात मंत्र—ये सब ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुए और उनके हृदय से प्रणव ॐकार प्रकट हुआ।

तस्योष्णिगासील्लोमभ्यो गायत्री च त्वचो विभोः ।
त्रिष्टुम्मांसात्स्नुतोऽनुष्टुब्जगत्यस्थ्नः प्रजापतेः ॥ ४५॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; उष्णिक्—एक वैदिक छन्द; आसीत्—उत्पन्न हुआ; लोमभ्यः—शरीर पर के रोमों से; गायत्री—प्रमुख वैदिक स्तोत्र; च—भी; त्वचः—चमड़ी से; विभोः—प्रभु के; त्रिष्टुप्—एक विशेष प्रकार का छन्द; मांसात्—मांस से; स्नुतः—शिराओं से; अनुष्टुप्—अन्य छन्द; जगती—एक अन्य छन्द; अस्थ्नः—हड्डियों से; प्रजापतेः—जीवों के पिता के।

तत्पश्चात् सर्वशक्तिमान प्रजापति के शरीर के रोमों से उष्णिक अर्थात् साहित्यिक अभिव्यक्ति की कला उत्पन्न हुई। प्रमुख वैदिक मंत्र गायत्री जीवों के स्वामी की चमड़ी से उत्पन्न हुआ, त्रिष्टुप् उनके माँस से, अनुष्टुप् उनकी शिराओं से तथा जगती छन्द उनकी हड्डियों से उत्पन्न हुआ।

मज्जायाः पङ्क्तिरुत्पन्ना बृहती प्राणतोऽभवत् ॥ ४६॥

शब्दार्थ

मज्जायाः—अस्थिमज्जा से; पङ्क्तिः—एक विशेष प्रकार का श्लोक; उत्पन्ना—उत्पन्न हुआ; बृहती—अन्य प्रकार का श्लोक; प्राणतः—प्राण से; अभवत्—उत्पन्न हुआ।

पंक्ति श्लोक लिखने की कला का उदय अस्थिमज्जा से हुआ और एक अन्य श्लोक बृहती लिखने की कला जीवों के स्वामी के प्राण से उत्पन्न हुई।

स्पर्शस्तस्याभवज्जीवः स्वरो देह उदाहृत
ऊष्माणमिन्द्रियाण्याहुरन्तःस्था बलमात्मनः ।
स्वराः सप्त विहारेण भवन्ति स्म प्रजापतेः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

स्पर्शः—क से म तक के अक्षरों का समूह; तस्य—उसका; अभवत्—हुआ; जीवः—आत्मा; स्वरः—स्वर; देहः—उनका शरीर; उदाहृतः—व्यक्त किये जाते हैं; ऊष्माणम्—श, ष, स तथा ह अक्षर; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; आहुः—कहलाते हैं; अन्तः-स्थाः—य, र, ल तथा व ये अन्तस्थ अक्षर हैं; बलम्—शक्ति; आत्मनः—उसका; स्वराः—संगीत; सप्त—सात; विहारेण—ऐन्द्रिय कार्यकलाप के द्वारा; भवन्ति स्म—प्रकट हुए; प्रजापतेः—जीवों के स्वामी का।

ब्रह्मा की आत्मा स्पर्श अक्षरों के रूप में, उनका शरीर स्वरों के रूप में, उनकी इन्द्रियाँ ऊष्म अक्षरों के रूप में, उनका बल अन्तःस्थ अक्षरों के रूप में और उनके ऐन्द्रिय कार्यकलाप संगीत के सप्त स्वरों के रूप में प्रकट हुए।

तात्पर्य : संस्कृत में १३ स्वर तथा ३५ व्यंजन हैं। स्वर हैं—*अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ,* तथा *औ* एवं व्यजंन हैं—*क, ख, ग, घ,* आदि। व्यंजनों में प्रथम २५ अक्षर *स्पर्श* कहलाते हैं। चार *अतःस्थ* भी है। *ऊष्मों* में से तीन (श, ष, स) तालव्य, मूर्धन्य तथा *दन्त्य* कहलाते हैं। *संगीत* के स्वर हैं *स, रे, ग, म, प, ध* तथा *नि*। ये ध्वनियाँ मूलतः *शब्द ब्रह्म* अर्थात् आध्यात्मिक ध्वनि कहलाती हैं। अतएव यह कहा जाता है कि ब्रह्मा की सृष्टि शब्द *ब्रह्म* के अवतार के रूप में महाकल्प में हुई। वेद शब्द ब्रह्म हैं, अतएव वैदिक वाङ्मय की ध्वनियों की भौतिक व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वेदों का उच्चारण उसी रूप में किया जाना चाहिए जिस रूप में वे हैं, यद्यपि वे प्रतीक रूप में हमें भौतिक रूप से ज्ञात अक्षरों द्वारा प्रदर्शित किए जाते हैं। अन्ततोगत्वा कुछ भी भौतिक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का उद्‌गम आध्यात्मिक जगत से होता है। इसीलिए भौतिक जगत उचित अर्थों में मोह या भ्रम कहलाता है। जो लोग स्वरूपसिद्ध हैं उनके लिए आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परः ।
ब्रह्मावभाति विततो नानाशक्त्युपबृंहितः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

शब्द-ब्रह्म—दिव्य ध्वनि; आत्मनः—परमेश्वर श्रीकृष्ण; तस्य—उनका; व्यक्त—प्रकट; अव्यक्त-आत्मनः—अव्यक्त का; परः—दिव्य; ब्रह्मा—परम; अवभाति—पूर्णतया प्रकट; विततः—वितरित करते हुए; नाना—विविध; शक्ति—शक्तियाँ; उपबृंहितः—से युक्त।

ब्रह्मा दिव्य ध्वनि के रूप में भगवान् के साकार स्वरूप हैं, अतएव वे व्यक्त तथा अव्यक्त

की धारणा से परे हैं। ब्रह्मा परम सत्य के पूर्ण रूप हैं और नानाविध शक्तियों से समन्वित हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा का पद ब्रह्माण्ड भर में सबसे अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण पद है। यह ब्रह्माण्ड के सर्वाधिक पूर्ण व्यक्ति को प्रदान किया जाता है। जब इस पद को ग्रहण करने के लिए उपयुक्त जीव नहीं मिलता तो भगवान् को स्वयं ब्रह्मा बनना पड़ता है। भौतिक जगत में ब्रह्मा भगवान् का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं और *प्रणव* अर्थात् दिव्य ध्वनि उन्हीं से आती है। इसीलिए वे विविध शक्तियों से समन्वित रहते हैं जिनसे ही इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण जैसे सारे देवता प्रकट होते हैं। उनके दिव्य महत्त्व को कम नहीं आँका जाना चाहिए, यद्यपि उन्होंने अपनी ही पुत्री के साथ रमण करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की थी। ब्रह्मा द्वारा ऐसी प्रवृत्ति के प्रदर्शन का एक अभिप्राय है और उन्हें सामान्य जीव की तरह गर्हित या निन्दनीय नहीं मानना चाहिए।

ततोऽपरामुपादाय स सर्गाय मनो दधे ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अपराम्—अन्य; उपादाय—स्वीकार करके; सः—वह; सर्गाय—सृष्टि विषयक; मनः—मन; दधे—ध्यान दिया।

तत्पश्चात् ब्रह्मा ने दूसरा शरीर धारण किया जिसमें यौन जीवन निषिद्ध नहीं था और इस तरह वे आगे सृष्टि के कार्य में लग गये।

तात्पर्य : ब्रह्मा का पहला शरीर दिव्य था जिसमें यौनजीवन के प्रति अनुरक्ति वर्जित थी, अतएव यौन से सम्बद्ध होने के लिए उन्हें दूसरा शरीर अंगीकार करना पड़ा। इस तरह उन्होंने सृजन कार्य में अपने को लगाया। उनका पूर्व शरीर कुहरे में बदल गया जैसाकि पहले वर्णन हो चुका है।

ऋषीणां भूरिवीर्याणामपि सर्गमविस्तृतम् ।
ज्ञात्वा तद्धृदये भूयश्चिन्तयामास कौरव ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

ऋषीणाम्—ऋषियों का; भूरि-वीर्याणाम्—अत्यधिक पराक्रम से; अपि—के बावजूद; सर्गम्—सृष्टि; अविस्तृतम्—विस्तृत नहीं; ज्ञात्वा—जानकर; तत्—वह; हृदये—हृदय में; भूयः—पुन; चिन्तयाम् आस—विचार करने लगा; कौरव—हे कुरुपुत्र।

हे कुरुपुत्र, जब ब्रह्मा ने देखा कि अत्यन्त वीर्यवान ऋषियों के होते हुए भी जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि नहीं हुई तो वे गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगे कि जनसंख्या किस तरह बढ़ायी जाय।

**अहो अद्भुतमेतन्मे व्यापृतस्यापि नित्यदा ।
न ह्येधन्ते प्रजा नूनं दैवमत्र विघातकम् ॥ ५१ ॥**

शब्दार्थ

अहो—हाय; अद्भुतम्—अद्भुत है; एतत्—यह; मे—मेरे लिए; व्यापृतस्य—व्यस्त होते हुए; अपि—यद्यपि; नित्यदा—सदैव; न—नहीं; हि—निश्चय ही; एधन्ते—उत्पन्न करते हैं; प्रजाः—जीव; नूनम्—किन्तु; दैवम्—भाग्य; अत्र—यहाँ; विघातकम्—विरुद्ध, विपरीत।

ब्रह्मा ने अपने आप सोचा : हाय! यह विचित्र बात है कि मेरे सर्वत्र फैले हुए रहने पर भी ब्रह्माण्ड भर में जन-संख्या अब भी अपर्याप्त है। इस दुर्भाग्य का कारण एकमात्र भाग्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

**एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा ।
कस्य रूपमभूद्द्वेधा यत्कायमभिचक्षते ॥ ५२ ॥**

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; युक्त—सोच विचार करते; कृतः—ऐसा करते हुए; तस्य—उसका; दैवम्—दैवी शक्ति; च—भी; अवेक्षतः—देखते हुए; तदा—उस समय; कस्य—ब्रह्माण्ड; रूपम्—स्वरूप; अभूत्—प्रकट हो गया; द्वेधा—दोहरा; यत्—जो है; कायम्—उसका शरीर; अभिचक्षते—कहा जाता है।

जब वे इस तरह विचारमग्न थे और अलौकिक शक्ति को देख रहे थे तो उनके शरीर से दो अन्य रूप उत्पन्न हुए। वे अब भी ब्रह्मा के शरीर के रूप में विख्यात हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा के शरीर से दो शरीर उत्पन्न हुए। एक के मूच्छ थे और दूसरे के उभरे हुए वक्षस्थल। कोई भी उनके प्राकट्य के स्रोत को नहीं बतला सकता। इसीलिए आज भी वे *कायम्* कहलाते हैं जिसका अर्थ है ब्रह्मा का शरीर। इससे उनके पुत्र या पुत्री के रूप में उनके सम्बन्ध की कोई जानकारी नहीं मिलती।

ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

ताभ्याम्—उनके; रूप—रूप; विभागाभ्याम्—इस तरह विभक्त होकर; मिथुनम्—यौन सम्बन्ध; समपद्यत—ठीक से सम्पन्न किया।

ये दोनों पृथक् हुए शरीर यौन सम्बन्ध में एक दूसरे से संयुक्त हो गये।

यस्तु तत्र पुमान्सोऽभूत्मनुः स्वायम्भुवः स्वराट् ।

स्त्री यासीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; तत्र—वहाँ; पुमान्—नर; सः—वह; अभूत्—बना; मनुः—मनुष्यजाति का पिता; स्वायम्भुवः—स्वायंभुव नामक; स्व-राट्—पूर्णतया स्वतंत्र; स्त्री—नारी; या—जो; आसीत्—थी; शतरूपा—शतरूपा; आख्या—नामक; महिषी—रानी; अस्य—उसकी; महात्मनः—महात्मा।

इनमें से जिसका नर रूप था वह स्वायंभुव मनु कहलाया और नारी शतरूपा कहलायी जो महात्मा मनु की रानी के रुप में जानी गई।

तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाम्बभूविरे ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; मिथुन—यौन जीवन; धर्मेण—विधि-विधानों के अनुसार; प्रजाः—सन्तानें; हि—निश्चय ही; एधाम्—बढ़ी हुई; बभूविरे—घटित हुई।

तत्पश्चात् उन्होंने सम्भोग द्वारा क्रमशः एक एक करके जनसंख्या की पीढ़ियों में वृद्धि की।

स चापि शतरूपायां पञ्चापत्यान्यजीजनत्
प्रियव्रतोत्तानपादौ तिस्रः कन्याश्च भारत ।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति सत्तम ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (मनु); च—भी; अपि—कालान्तर में; शतरूपायाम्—शतरूपा में; पञ्च—पाँच; अपत्यानि—सन्तानें; अजीजनत्—उत्पन्न किया; प्रियव्रत—प्रियव्रत; उत्तानपादौ—उत्तानपाद; तिस्रः—तीन; कन्याः—कन्याएँ; च—भी; भारत—हे भरत के पुत्र; आकूतिः—आकूति; देवहूतिः—देवहूति; च—तथा; प्रसूतिः—प्रसूति; इति—इस प्रकार; सत्तम—हे सर्वश्रेष्ठ।

हे भरतपुत्र, समय आने पर उसने (मनु ने) शतरूपा से पाँच सन्तानें उत्पन्न कीं—दो पुत्र प्रियव्रत तथा उत्तानपाद एवं तीन कन्याएँ आकूति, देवहूति तथा प्रसूति।

आकूतिं रुचये प्रादात्कर्दमाय तु मध्यमाम् ।
दक्षायादात्प्रसूतिं च यत आपूरितं जगत् ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

आकूतिम्—आकूति नामक कन्या; रुचये—रुचि मुनि को; प्रादात्—प्रदान किया; कर्दमाय—कर्दम मुनि को; तु—लेकिन; मध्यमाम्—बीच की (देवहूति); दक्षाय—दक्ष को; अदात्—प्रदान किया; प्रसूतिम्—सबसे छोटी पुत्री को; च—भी; यतः—जिससे; आपूरितम्—पूर्ण है; जगत्—सारा संसार।

पिता मनु ने अपनी पहली पुत्री आकूति रुचि मुनि को दी, मझली पुत्री देवहूति कर्दम मुनि को और सबसे छोटी पुत्री प्रसूति दक्ष को दी। उनसे सारा जगत जनसंख्या से पूरित हो गया।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्माण्ड की जनसंख्या के सृजन का इतिहास दिया गया है। ब्रह्माजी ब्रह्माण्ड में

आदि जीवित प्राणी हैं जिनसे मनु स्वायंभुव तथा उनकी पत्नी शतरूपा उत्पन्न हुई। मनु से दो पुत्र तथा तीन पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं और उन सबों से आज तक विभिन्न लोकों की जन-संख्या उत्पन्न हुई है। इसलिए ब्रह्मा सबों के पितामह कहलाते हैं और भगवान् ब्रह्मा के पिता होने से सारे जीवों के प्रपितामह कहलाते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (११.३९) में इस प्रकार हुई है—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुण: शशाङ्क:
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्व:
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

"आप वायु के स्वामी, परम न्यायी यम, अग्नि तथा वर्षा के स्वामी हैं। आप चन्द्रमा हैं तथा आप प्रपितामह हैं। अतएव मैं आपको पुन: पुन: सादर नमस्कार करता हूँ।"

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत "कुमारों तथा अन्यों की सृष्टि" नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

वराह भगवान् का प्राकट्य

श्रीशुक उवाच
निशम्य वाचं वदतो मुनेः पुण्यतमां नृप ।
भूयः पप्रच्छ कौरव्यो वासुदेवकथादृतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; निशम्य—सुन कर; वाचम्—बातें; वदतः—बोलते हुए; मुनेः—मैत्रेय मुनि का; पुण्य-तमाम्—अत्यन्त पुण्यमय; नृप—हे राजा; भूयः—तब फिर; पप्रच्छ—पूछा; कौरव्यः—कुरुओं में सर्वश्रेष्ठ (विदुर); वासुदेव-कथा—भगवान् वासुदेव विषयक कथाएँ; आदृतः—जो इस तरह सादर पूजता है।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, मैत्रेय मुनि से इन समस्त पुण्यतम कथाओं को सुनने के बाद विदुर ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की कथाओं के विषय में और अधिक पूछताछ की, क्योंकि इनका आदरपूर्वक सुनना उन्हें पसन्द था।

तात्पर्य : *आदृत:* शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह संकेत देता है कि विदुर में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के दिव्य सन्देश सुनने के प्रति स्वाभाविक झुकाव था। वे इन कथाओं को लगातार सुनते रहकर कभी भी पूरी तरह तुष्ट नहीं होते थे। वे अधिकाधिक सुनना चाह रहे थे जिससे वे दिव्य सन्देश द्वारा अधिकाधिक कृतार्थ हो सकें।

विदुर उवाच
स वै स्वायम्भुवः सम्राट्प्रियः पुत्रः स्वयम्भुवः ।
प्रतिलभ्य प्रियां पत्नीं किं चकार ततो मुने ॥ २ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सः—वह; वै—सरलता से; स्वायम्भुवः—स्वायम्भुव मनु; सम्राट्—समस्त राजाओं के राजा; प्रियः—प्रिय; पुत्रः—पुत्र; स्वयम्भुवः—ब्रह्मा का; प्रतिलभ्य—प्राप्त करके; प्रियाम्—अत्यन्त प्रिय; पत्नीम्—पत्नी को; किम्—क्या; चकार—किया; ततः—तत्पश्चात्; मुने—हे मुनि।

विदुर ने कहा : हे मुनि, ब्रह्मा के प्रिय पुत्र स्वायम्भुव ने अपनी अतीव प्रिय पत्नी को पाने के बाद क्या किया?

चरितं तस्य राजर्षेरादिराजस्य सत्तम ।

ब्रूहि मे श्रद्दधानाय विष्वक्सेनाश्रयो ह्यसौ ॥ ३॥

शब्दार्थ

चरितम्—चरित्र; तस्य—उसका; राजर्षेः—ऋषितुल्य राजा का; आदि-राजस्य—आदि राजा का; सत्तम—हे अति पवित्र; ब्रूहि—कृपया कहें; मे—मुझसे; श्रद्दधानाय—प्राप्त करने के लिए जो इच्छुक है उसे; विष्वक्सेन—भगवान् का; आश्रयः—जिसने शरण ले रखी है; हि—निश्चय ही; असौ—वह राजा।

हे पुण्यात्मा श्रेष्ठ, राजाओं का आदि राजा (मनु) भगवान् हरि का महान् भक्त था, अतएव उसके शुद्ध चरित्र तथा कार्यकलाप सुनने योग्य हैं। कृपया उनका वर्णन करें। मैं सुनने के लिए अतीव उत्सुक हूँ।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों की दिव्य कथाओं से ओतप्रोत है। परम जगत में भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त में गुणात्मक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं। इसलिए भगवान् की कथाओं के श्रवण तथा शुद्ध भक्त के चरित्र तथा कार्यकलापों के श्रवण का फल एक ही होता है, अर्थात् इनसे भक्ति का विकास होता है।

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य
नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः ।
तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द-
पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्रुतस्य—ऐसे व्यक्तियों का जो सुन रहे हों; पुंसाम्—ऐसे पुरुषों का; सुचिर—दीर्घकाल तक; श्रमस्य—कठिन श्रम करते हुए; ननु—निश्चय ही; अञ्जसा—विस्तार से; सूरिभिः—शुद्ध भक्तों द्वारा; ईडितः—व्याख्या किया गया:; अर्थः—कथन; तत्—वह; तत्—वह; गुण—दिव्य गुण; अनुश्रवणम्—सोचते हुए; मुकुन्द—मुक्तिदाता भगवान् का; पाद-अरविन्दम्—चरणकमल; हृदयेषु—हृदय के भीतर; येषाम्—जिनके।

जो लोग अत्यन्त श्रमपूर्वक तथा दीर्घकाल तक गुरु से श्रवण करते हैं उन्हें शुद्धभक्तों के चरित्र तथा कार्यकलापों के विषय में शुद्धभक्तों के मुख से ही सुनना चाहिए। शुद्ध भक्त अपने हृदयों के भीतर सदैव उन भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करते हैं, जो अपने भक्तों को मोक्ष प्रदान करने वाले हैं।

तात्पर्य : दिव्य छात्र वे हैं, जो प्रामाणिक गुरु से वेदों को सुन कर प्रशिक्षित बनने के लिए कठिन तपस्या करते हैं। उन्हें न केवल भगवान् के कार्यकलापों के बारे में सुनना चाहिए, अपितु उन भक्तों के भी दिव्य गुणों के विषय में सुनना चाहिए जो अपने हृदय के भीतर निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करते रहते हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त को क्षण भर के लिए भी भगवान् के चरणकमलों से

विलग नहीं किया जा सकता। निस्सन्देह, भगवान् सदैव समस्त प्राणियों के हृदयों के भीतर रहते हैं, किन्तु वे इसके विषय में नहीं जान पाते, क्योंकि वे मोहिनी भौतिक शक्ति द्वारा ठगे जाते हैं। तथापि भक्त भगवान् की उपस्थिति का अनुभव करते हैं इसलिए वे अपने हृदय के भीतर भगवान् के चरणकमलों का सदैव दर्शन कर सकते हैं। भगवान् के ऐसे शुद्ध भक्त भगवान् के ही तुल्य गौरवशाली होते हैं; वस्तुत: भगवान् उन्हें अपनी अपेक्षा अधिक पूजनीय मानने की संस्तुति करते हैं। भक्त की पूजा भगवान् की पूजा से अधिक शक्तिमान है। इसलिए दिव्य छात्रों का कर्तव्य है कि वे शुद्ध भक्तों के बारे में उसी रूप में सुनें जिस तरह भगवान् के वैसे ही भक्तों द्वारा बतलाया गया हो, क्योंकि कोई तब तक भगवान् या उनके भक्त के विषय में कुछ नहीं बतला सकता जब तक वह स्वयं शुद्ध भक्त न हो।

श्रीशुक उवाच
इति ब्रुवाणं विदुरं विनीतं
सहस्रशीर्ष्णश्चरणोपधानम् ।
प्रहृष्टरोमा भगवत्कथायां
प्रणीयमानो मुनिरभ्यचष्ट ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; **इति**—इस प्रकार; **ब्रुवाणम्**—बोलते हुए; **विदुरम्**—विदुर को; **विनीतम्**—अतीव नम्र; **सहस्र-शीर्ष्ण:**—भगवान् कृष्ण; **चरण**—चरणकमल; **उपधानम्**—तकिया; **प्रहृष्ट-रोमा**—आनन्द से जिसके रोम खड़े हो गये हों; **भगवत्**—भगवान् के सम्बन्ध में; **कथायाम्**—शब्दों में; **प्रणीयमान:**—ऐसे आत्मा द्वारा प्रभावित हो कर; **मुनि:**—मुनि ने; **अभ्यचष्ट**—बोलने का प्रयास किया।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् कृष्ण विदुर की गोद में अपना चरणकमल रख कर प्रसन्न थे, क्योंकि विदुर अत्यन्त विनीत तथा भद्र थे। मैत्रेय मुनि विदुर के शब्दों से अति प्रसन्न थे और अपनी आत्मा से प्रभावित होकर उन्होंने बोलने का प्रयास किया।

तात्पर्य : यहाँ *सहस्र-शीर्ष्ण:* शब्द अत्यन्त सार्थक है। विविध शक्तियों तथा कार्यकलापों एवं अद्भुत मस्तिष्क वाला व्यक्ति *सहस्र-शीर्ष्ण:* कहलाता है। यह योग्यता एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण पर लागू होती है, अन्य किसी पर नहीं। भगवान् ने कभी प्रसन्न होकर विदुर के घर पर भोजन किया था और विश्राम करते समय उन्होंने विदुर की गोद में अपने चरणकमल रखे थे। मैत्रेय विदुर के अहो-भाग्य को सोचकर प्रेरित हुए। उन्हें रोमांच हो गया और प्रसन्न होकर उन्होंने बड़े ही हर्ष के साथ भगवान् की कथाओं का वर्णन शुरू किया।

मैत्रेय उवाच
यदा स्वभार्यया सार्धं जातः स्वायम्भुवो मनुः ।
प्राञ्जलिः प्रणतश्चेदं वेदगर्भमभाषत ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; यदा—जब; स्व-भार्यया—अपनी पत्नी के; सार्धम्—साथ में; जातः—प्रकट हुआ; स्वायम्भुवः—स्वायम्भुव मनु; मनुः—मानवजाति का पिता; प्राञ्जलिः—हाथ जोड़े; प्रणतः—नमस्कार करके; च—भी; इदम्—यह; वेद-गर्भम्—वैदिक विद्या के आगार को; अभाषत—सम्बोधित किया।

मैत्रेय मुनि ने विदुर से कहा : मानवजाति के पिता मनु अपनी पत्नी समेत अपने प्राकट्य के बाद वेदविद्या के आगार ब्रह्मा को नमस्कार करके तथा हाथ जोड़ कर इस प्रकार बोले।

त्वमेकः सर्वभूतानां जन्मकृद्वृत्तिदः पिता ।
तथापि नः प्रजानां ते शुश्रूषा केन वा भवेत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एकः—एक; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों के; जन्म-कृत्—जनक; वृत्ति-दः—जीविका का साधन; पिता—पिता; तथा अपि—तो भी; नः—हम; प्रजानाम्—उत्पन्न हुए सबों का; ते—तुम्हारी; शुश्रूषा—सेवा; केन—कैसे; वा—अथवा; भवेत्—सम्भव हो सकती है।

आप सारे जीवों के पिता तथा उनकी जीविका के स्रोत हैं, क्योंकि वे सभी आपसे उत्पन्न हुए हैं। कृपा करके हमें आदेश दें कि हम आपकी सेवा किस तरह कर सकते हैं।

तात्पर्य : पुत्र का कर्तव्य है कि वह अपने पिता को केवल अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में इस्तेमाल न करे, अपितु जब वह बड़ा हो जाय तो वह उसकी सेवा भी करे। यही ब्रह्मा के समय से सृष्टि का नियम चला आ रहा है। पिता का कर्तव्य है कि जब तक पुत्र बड़ा न हो जाय उसका पालनपोषण करे और जब पुत्र बड़ा हो जाय तो पुत्र का कर्तव्य है कि वह पिता की सेवा करे।

तद्विधेहि नमस्तुभ्यं कर्मस्वीड्यात्मशक्तिषु ।
यत्कृत्वेह यशो विष्वगमुत्र च भवेद्गतिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; विधेहि—आदेश दें; नमः—मेरा नमस्कार; तुभ्यम्—तुमको; कर्मसु—कार्यों में; ईड्य—हे पूज्य; आत्म-शक्तिषु—हमारी कार्य क्षमता के अन्तर्गत; यत्—जो; कृत्वा—करके; इह—इस जगत में; यशः—यश; विष्वक्—सर्वत्र; अमुत्र—अगले जगत में; च—तथा; भवेत्—इसे होना चाहिए; गतिः—प्रगति।

हे आराध्य, आप हमें हमारी कार्यक्षमता के अन्तर्गत कार्य करने के लिए अपना आदेश दें

जिससे हम इस जीवन में यश के लिए तथा अगले जीवन में प्रगति के लिए उसका पालन कर सकें।

तात्पर्य : ब्रह्माजी तो सीधे भगवान् से वैदिक ज्ञान प्राप्त करने वाले हैं और ब्रह्मा की शिष्य-परम्परा में जिस किसी को उनका निहित कार्य सौंपा जाता है, उसे इस जीवन में यश तथा अगले जीवन में मोक्ष प्राप्त होना निश्चित है। ब्रह्मा से चलने वाली शिष्य-परम्परा *ब्रह्मसम्प्रदाय* कहलाती है और वह इस प्रकार चलती है—ब्रह्मा, नारद, व्यास, मध्व मुनि (पूर्णप्रज्ञ), पद्मनाभ, नृहरि, माधव, अक्षोभ्य, जयतीर्थ, ज्ञानसिन्धु, दयानिधि, विद्यानिधि, राजेन्द्र, जयधर्म, पुरुषोत्तम, ब्रह्मण्यतीर्थ, व्यासतीर्थ, लक्ष्मीपति, माधवेन्द्रपुरी, ईश्वरपुरी, श्री चैतन्य महाप्रभु, स्वरूप दामोदर तथा श्रीरूप गोस्वामी एवं अन्यजन, श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी, कृष्णदास गोस्वामी, नरोत्तमदास ठाकुर, विश्वनाथ चक्रवर्ती, जगन्नाथ दास बाबाजी, भक्ति विनोद ठाकुर, गौरकिशोर दास बाबाजी, श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती, श्री ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी।

ब्रह्मा से चलने वाली शिष्य-परम्परा की यह धारा आध्यात्मिक है, जबकि मनु से चलने वाली वंश परम्परा भौतिक है, किन्तु दोनों ही कृष्णभावनामृत के एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर हैं।

ब्रह्मोवाच
प्रीतस्तुभ्यमहं तात स्वस्ति स्ताद्वां क्षितीश्वर ।
यन्निर्व्यलीकेन हृदा शाधि मेत्यात्मनार्पितम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; प्रीतः—प्रसन्न; तुभ्यम्—तुम को; अहम्—मैं; तात—हे पुत्र; स्वस्ति—कल्याण; स्तात्—हो; वाम्—तुम दोनों को; क्षिति-ईश्वर—हे संसार के स्वामी; यत्—क्योंकि; निर्व्यलीकेन—बिना भेदभाव के; हृदा—हृदय से; शाधि—आदेश दीजिये; मा—मुझको; इति—इस प्रकार; आत्मना—आत्मा से; अर्पितम्—शरणागत।

ब्रह्माजी ने कहा, हे प्रिय पुत्र, हे जगत् के स्वामी, मैं तुम से अति प्रसन्न हूँ और तुम्हारे तथा तुम्हारी पत्नी दोनों ही के कल्याण की कामना करता हूँ। तुमने मेरे आदेशों के लिए अपने हृदय से बिना सोचे विचारे अपने आपको मेरे शरणागत कर लिया है।

तात्पर्य : पिता तथा पुत्र का सम्बन्ध अतीव उदात्त होता है। पिता स्वभावत: पुत्र का शुभेच्छु होता है और अपने पुत्र के जीवन की प्रगति में सहायता करने के लिए सदैव उद्यत रहता है। किन्तु पिता की शुभेच्छा के बावजूद पुत्र कभी कभी निजी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके विपथ हो जाता है। हर जीव में

चाहे वह कितना छोटा या बड़ा क्यों न हो, स्वतंत्रता की रुचि होती है। यदि पुत्र मुक्त भाव से पिता के मार्गदर्शन पर चलना चाहता है, तो पिता सभी तरह से उसे आदेश देने तथा उसका मार्गदर्शन करने के लिए दसगुना अधिक उत्सुक रहता है। यहाँ पर ब्रह्मा तथा मनु के व्यवहार में पिता-पुत्र का जो सम्बन्ध प्रदर्शित हो रहा है, वह सर्वोत्तम है। पिता तथा पुत्र दोनों ही सुयोग्य हैं और समस्त मानव जाति को उनके आदर्श का अनुसरण करना चाहिए। पुत्र मनु ने अपने पिता ब्रह्मा से मुक्तभाव से आदेश देने के लिए कहा और पिता जो वैदिक ज्ञान से पूर्ण थे, इसे देने के लिए अति प्रसन्न थे। मनुष्य को मानवजाति के पिता के इस उदाहरण का दृढ़ता से पालन करना चाहिए, क्योंकि इससे पिता तथा पुत्र के सम्बन्ध उन्नत बनेंगे।

एतावत्यात्मजैर्वीर कार्या ह्यपचितिर्गुरौ ।
शक्त्याप्रमत्तैर्गृह्येत सादरं गतमत्सरैः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एतावती—ठीक इसी तरह; आत्मजैः—सन्तान द्वारा; वीर—हे वीर; कार्या—सम्पन्न किया जाना चाहिए; हि—निश्चय ही; अपचितिः—पूजा; गुरौ—गुरुजन को; शक्त्या—पूरी क्षमता से; अप्रमत्तैः—विवेकवान द्वारा; गृह्येत—स्वीकार किया जाना चाहिए; स-आदरम्—अतीव हर्ष के साथ; गत-मत्सरैः—ईर्ष्या की सीमा से परे रहने वालों के द्वारा।

हे वीर, तुम्हारा उदाहरण पिता-पुत्र सम्बन्ध के सर्वथा उपयुक्त है। बड़ों की इस तरह की पूजा अपेक्षित है। जो ईर्ष्या की सीमा के परे है और विवेकी है, वह अपने पिता के आदेश को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है और अपने पूरी सामर्थ्य से उसे सम्पन्न करता है।

तात्पर्य : जब ब्रह्मा के पहले चार पुत्रों—सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार—ने अपने पिता की आज्ञा का पालन करने से इनकार कर दिया तो ब्रह्मा लज्जित हुए और उनका क्रोध रुद्र के रूप में प्रकट हुआ। ब्रह्मा इस घटना को भूले नहीं थे, अतएव मनु स्वायम्भुव द्वारा आज्ञापालन किये जाने से वे अतीव उत्साहित हुए। भौतिक दृष्टि से चारों मुनियों द्वारा अपने पिता के आदेश का उल्लंघन निश्चय ही निन्दनीय था, किन्तु क्योंकि यह आज्ञोल्लंघन एक उच्चतर उद्देश्य के निमित्त था, वे आज्ञोल्लंघन की प्रतिक्रिया से मुक्त थे। भौतिक कारणों से अपने पिता का जो आज्ञोल्लंघन करते हैं उन्हें ऐसे आज्ञोल्लंघन के लिए निश्चय ही, अनुशासनिक मूल्य चुकाना पड़ता है। मनु द्वारा अपने पिता का भौतिक कारणों से आज्ञापालन निश्चय ही ईर्ष्यारहित था। भौतिक जगत में सामान्य जनों को मनु के इस

उदाहरण का अनुसरण करना अनिवार्य है।

स त्वमस्यामपत्यानि सदृशान्यात्मनो गुणैः ।
उत्पाद्य शास धर्मेण गां यज्ञैः पुरुषं यज ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सः—इसलिए वह आज्ञाकारी पुत्र; त्वम्—तुम जैसे; अस्याम्—उसमें; अपत्यानि—सन्तानें; सदृशानि—समानरूप से योग्य; आत्मनः—तुम्हारी; गुणैः—गुणों से; उत्पाद्य—उत्पन्न किये जाकर; शास—शासन करते हैं; धर्मेण—भक्ति के नियमों के साथ; गाम्—जगत; यज्ञैः—यज्ञों से; पुरुषम्—भगवान् की; यज—पूजा करो।

चूँकि तुम मेरे अत्यन्त आज्ञाकारी पुत्र हो इसलिए मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि तुम अपनी पत्नी के गर्भ से अपने ही समान योग्य सन्तानें उत्पन्न करो। तुम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्ति के सिद्धान्तों का पालन करते हुए सारे जगत पर शासन करो और इस तरह यज्ञ सम्पन्न करके भगवान् की पूजा करो।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्मा द्वारा भौतिक सृष्टि के उद्देश्य का स्पष्ट वर्णन हुआ है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि अपनी पत्नी के गर्भ से उत्तम सन्तानें उत्पन्न करे। यह कार्य भक्तिपूर्वक भगवान् की पूजा करने के लिए यज्ञ के समान है। *विष्णु पुराण* (३.८.९) में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

''वर्ण तथा आश्रम के नियमों का सही ढंग से पालन करके मनुष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा कर सकता है। वर्णाश्रम प्रणाली के नियमों की सम्पन्नता द्वारा भगवान् को तुष्ट करने का कोई अन्य विकल्प नहीं है।''

विष्णु पूजा मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। जिन्हें विवाहित जीवन में इन्द्रिय भोग की स्वीकृति मिलती है उन्हें भगवान् विष्णु को तुष्ट करने का उत्तरदायित्व भी ग्रहण करना चाहिए। उसके लिए पहली सीढ़ी वर्णाश्रम धर्म प्रणाली है। वर्णाश्रम धर्म विष्णु पूजा में प्रगति करने का व्यवस्थित संस्थान है। किन्तु यदि कोई सीधे ही भगवान् की भक्ति करता है, तो उसे वर्णाश्रम धर्म की अनुशासनिक प्रणाली में पड़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती। ब्रह्मा के अन्य पुत्र कुमारगण सीधे भक्ति में लग गये, अतएव उन्हें वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्तों का पालन करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

परं शुश्रूषणं मह्यं स्यात्प्रजारक्षया नृप ।
भगवांस्ते प्रजाभर्तुर्हृषीकेशोऽनुतुष्यति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

परम्—सबसे बड़ी; शुश्रूषणम्—भक्ति; मह्यम्—मेरे प्रति; स्यात्—होनी चाहिए; प्रजा—भौतिक जगत में उत्पन्न जीव; रक्षया—बिगड़ने से बचाकर; नृप—हे राजा; भगवान्—भगवान्; ते—तुम्हारे साथ; प्रजा-भर्तु:—जीवों के रक्षक के साथ; हृषीकेशः—इन्द्रियों के स्वामी; अनुतुष्यति—तुष्ट होता है।

हे राजन्, यदि तुम भौतिक जगत में जीवों को उचित सुरक्षा प्रदान कर सको तो मेरे प्रति वह सर्वोत्तम सेवा होगी। जब परमेश्वर तुम्हें बद्धजीवों के उत्तम रक्षक के रूप में देखेंगे तो इन्द्रियों के स्वामी निश्चय ही तुम पर अतीव प्रसन्न होंगे।

तात्पर्य : सम्पूर्ण प्रशासनिक प्रणाली भगवद्धाम् वापस जाने के लिए व्यवस्थित की जाती है। ब्रह्माजी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रतिनिधि हैं और मनु ब्रह्मा के प्रतिनिधि हैं। इसी तरह ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों के अन्य सारे राजा मनु के प्रतिनिधि हैं। सम्पूर्ण मानव समाज के लिए *मनुसंहिता* विधि ग्रन्थ है, जो सारे कार्यों को भगवान् की दिव्य सेवा की ओर निर्देशित करता है। इसलिए प्रत्येक राजा को यह जानना चाहिए कि प्रशासन में उसका उत्तरदायित्व नागरिकों से केवल कर वसूल करना ही नहीं है, अपितु स्वयं यह देखना है कि उसके अधीन सारे नागरिकों को विष्णु पूजा का प्रशिक्षण दिया जा रहा है। हर व्यक्ति को विष्णु पूजा की शिक्षा दी जानी चाहिए और इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश की भक्ति में लगाया जाना चाहिए। बद्धजीव अपनी भौतिक इच्छाओं को तुष्ट करने के लिए नहीं हैं अपितु भगवान् हृषीकेश की इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए हैं। सम्पूर्ण प्रशासनिक प्रणाली का यही उद्देश्य है। जो ब्रह्मा के कथन द्वारा उद्घाटित इस रहस्य को जानता है, वही पूर्ण प्रशासनिक प्रमुख है। जो इसे नहीं जानता वह दिखावटी प्रशासक है। नागरिकों को भगवद्भक्ति में प्रशिक्षित करने से राज्य का प्रमुख अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकता है, अन्यथा वह उसे सौंपे हुए दूभर कार्य को करने में विफल होगा और इस तरह वह परम अधिकारी द्वारा दण्डनीय होगा। प्रशासनिक कर्तव्य निबाहने का इसके सिवा कोई अन्य विकल्प नहीं है।

येषां न तुष्टो भगवान्यज्ञलिङ्गो जनार्दनः ।
तेषां श्रमो ह्यपार्थाय यदात्मा नादृतः स्वयम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

येषाम्—उनका जिनके साथ; न—कभी नहीं; तुष्टः—तुष्ट; भगवान्—भगवान्; यज्ञ-लिङ्गः—यज्ञ का स्वरूप; जनार्दनः—भगवान् कृष्ण या विष्णुतत्त्व; तेषाम्—उनका; श्रमः—श्रम; हि—निश्चय ही; अपार्थाय—बिना लाभ के; यत्—क्योंकि; आत्मा—परमात्मा; न—नहीं; आदृतः—सम्मानित; स्वयम्—स्वयं।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् जनार्दन (कृष्ण) ही समस्त यज्ञ फलों को स्वीकार करने वाले हैं। यदि वे तुष्ट नहीं होते तो प्रगति के लिए किया गया मनुष्य का श्रम व्यर्थ है। वे चरम आत्मा हैं, अतएव जो व्यक्ति उन्हें तुष्ट नहीं करता वह निश्चय ही अपने ही हितों की उपेक्षा करता है।

तात्पर्य : ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड के मामलों का सर्वोच्च अध्यक्ष नियुक्त किया गया है और वे भौतिक जगत के मामलों के संचालन हेतु मनु तथा अन्यों को नियुक्त करते हैं, किन्तु यह सारा प्रदर्शन परमेश्वर की तुष्टि के हेतु है। ब्रह्माजी जानते हैं कि भगवान् को कैसे तुष्ट किया जाता है। इसी तरह ब्रह्मा की कार्य योजना में लगे लोग भी जानते हैं कि भगवान् को किस तरह तुष्ट करना चाहिए। भगवान् *भक्तियोग* द्वारा तुष्ट किये जाते हैं जिसके अन्तर्गत श्रवण, कीर्तन, इत्यादि नौ विधियाँ आती हैं। यह तो मनुष्य के अपने हित में है कि नियत भक्ति सम्पन्न की जाय और जो भी इस विधि की उपेक्षा करता है, वह अपने ही हित की उपेक्षा करता है। हर व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है, किन्तु इन्द्रियों से भी ऊपर मन है और मन के ऊपर बुद्धि तथा बुद्धि के ऊपर व्यष्टि आत्मा तथा व्यष्टि आत्मा के ऊपर परमात्मा है। परमात्मा के भी ऊपर पुरुषोत्तम भगवान् या *विष्णु तत्त्व* है। आदि भगवान् तथा सभी कारणों के कारण श्रीकृष्ण हैं। सिद्धिसेवा की सम्पूर्ण विधि उन भगवान् कृष्ण की दिव्य इन्द्रियों की तुष्टि हेतु सेवा करना है, जो जनार्दन कहलाते हैं।

मनुरुवाच
आदेशेऽहं भगवतो वर्तेयामीवसूदन ।
स्थानं त्विहानुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो ॥ १४॥

शब्दार्थ

मनुः उवाच—श्री मनु ने कहा; आदेशे—आदेश के अन्तर्गत; अहम्—मैं; भगवतः—शक्तिशाली आपका; वर्तेय—रुकूँगा; अमीव-सूदन—हे समस्त पापों के संहारक; स्थानम्—स्थान; तु—लेकिन; इह—इस जगत में; अनुजानीहि—कृपया मुझे बतलाइये; प्रजानाम्—मुझसे उत्पन्न जीवधारियों का; मम—मेरा; च—भी; प्रभो—हे प्रभु।

श्री मनु ने कहा : हे सर्वशक्तिमान प्रभु, हे समस्त पापों के संहर्ता, मैं आपके आदेशों का पालन करूँगा। कृपया मुझे मेरा तथा मुझसे उत्पन्न जीवों के बसने के लिए स्थान बतलाएँ।

यदोकः सर्वभूतानां मही मग्ना महाम्भसि ।
अस्या उद्धरणे यत्नो देव देव्या विधीयताम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्—क्योंकि; ओकः—वासस्थान; सर्व—सभी के लिए; भूतानाम्—जीवों के लिए; मही—पृथ्वी; मग्ना—डूबी हुई; महा-अम्भसि—विशाल जल में; अस्याः—इसके; उद्धरणे—उठाने में; यत्नः—प्रयास; देव—हे देवताओं के स्वामी; देव्याः—इस पृथ्वी का; विधीयताम्—कराएँ।

हे देवताओं के स्वामी, विशाल जल में डूबी हुई पृथ्वी को ऊपर उठाने का प्रयास करें, क्योंकि यह सारे जीवों का वासस्थान है। यह आपके प्रयास तथा भगवान् की कृपा से ही सम्भव है।

तात्पर्य : यहाँ पर उल्लिखित विशाल जलागार गर्भोदक सागर है, जो ब्रह्माण्ड के आधे भाग में भरा हुआ है।

मैत्रेय उवाच
परमेष्ठी त्वपां मध्ये तथा सन्नामवेक्ष्य गाम् ।
कथमेनां समुन्नेष्य इति दध्यौ धिया चिरम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्री मैत्रेय मुनि ने कहा; परमेष्ठी—ब्रह्मा; तु—भी; अपाम्—जल के; मध्ये—भीतर; तथा—इस प्रकार; सन्नाम्—स्थित; अवेक्ष्य—देखकर; गाम्—पृथ्वी को; कथम्—कैसे; एनाम्—यह; समुन्नेष्ये—मैं उठा लूँगा; इति—इस प्रकार; दध्यौ—ध्यान दिया; धिया—बुद्धि से; चिरम्—दीर्घ काल तक।

श्री मैत्रेय ने कहा : इस प्रकार पृथ्वी को जल में डूबी हुई देखकर ब्रह्मा दीर्घकाल तक सोचते रहे कि इसे किस प्रकार उठाया जा सकता है।

तात्पर्य : जीव गोस्वामी के अनुसार यहाँ पर जिन कथाओं का उद्घाटन किया गया है वे विभिन्न कल्पों की हैं। वर्तमान कथाएँ श्वेत वराह कल्प की हैं और चाक्षुष कल्प की कथाओं को भी इसी अध्याय में बतलाया जायेगा।

सृजतो मे क्षितिर्वार्भिः प्लाव्यमाना रसां गता
अथात्र किमनुष्ठेयमस्माभिः सर्गयोजितैः ।
यस्याहं हृदयादासं स ईशो विदधातु मे ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सृजतः—सृजन करते समय; मे—मेरा; क्षितिः—पृथ्वी; वार्भिः—जल के द्वारा; प्लाव्यमाना—आप्लावित की गई; रसाम्—जल की गहराई; गता—नीचे गया हुआ; अथ—इसलिए; अत्र—इस मामले में; किम्—क्या; अनुष्ठेयम्—क्या प्रयास किया जाना

चाहिए; अस्माभि:—हमारे द्वारा; सर्ग—सृष्टि में; योजितै:—लगे हुए; यस्य—जिसका; अहम्—मैं; हृदयात्—हृदय से; आसम्—उत्पन्न; स:—वह; ईश:—परमेश्वर; विदधातु—निर्देश कर सकते हैं; मे—मुझको।

सृजतो मे क्षितिर्वार्भि: प्लाव्यमाना रसां गता
अथात्र किमनुष्ठेयमस्माभि: सर्गयोजितै: ।
यस्याहं हृदयादासं स ईशो विदधातु मे ॥ १७॥

शब्दार्थ

सृजत:—सृजन करते समय; मे—मेरा; क्षिति:—पृथ्वी; वार्भि:—जल के द्वारा; प्लाव्यमाना—आप्लावित की गई; रसाम्—जल की गहराई; गता—नीचे गया हुआ; अथ—इसलिए; अत्र—इस मामले में; किम्—क्या; अनुष्ठेयम्—क्या प्रयास किया जाना चाहिए; अस्माभि:—हमारे द्वारा; सर्ग—सृष्टि में; योजितै:—लगे हुए; यस्य—जिसका; अहम्—मैं; हृदयात्—हृदय से; आसम्—उत्पन्न; स:—वह; ईश:—परमेश्वर; विदधातु—निर्देश कर सकते हैं; मे—मुझको।

ब्रह्मा ने सोचा : जब मैं सृजन कार्य में लगा हुआ था, तो पृथ्वी बाढ़ से आप्लावित हो गई और समुद्र के गर्त में चली गई। हम लोग जो सृजन के इस कार्य में लगे हैं भला कर ही क्या सकते हैं? सर्वोत्तम यही होगा कि सर्वशक्तिमान हमारा निर्देशन करें।

तात्पर्य : कभी-कभी भगवद्भक्त जो कि विश्वसनीय सेवक होते हैं अपना अपना कर्तव्य निभाते समय विमूढ़ हो जाते हैं, किन्तु वे हतोत्साहित कभी नहीं होते। उन्हें भगवान् में पूर्ण श्रद्धा होती है और भगवान् भक्तों के कर्तव्य पालन की उन्नति के मार्ग को सुगम बनाते हैं।

इत्यभिध्यायतो नासाविवरात्सहसानघ ।
वराहतोको निरगादङ्गुष्ठपरिमाणक: ॥ १८॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अभिध्यायत:—सोचते हुए; नासा-विवरात्—नथुनों से; सहसा—एकाएक; अनघ—हे निष्पाप; वराह-तोक:—वराह का लघुरूप (सूअर); निरगात्—बाहर आया; अङ्गुष्ठ—अँगूठे का ऊपरी हिस्सा; परिमाणक:—माप वाला।

हे निष्पाप विदुर, जब ब्रह्माजी विचारमग्न थे तो उनके नथुने से सहसा एक सूअर (वराह) का लघुरूप बाहर निकल आया। इस प्राणी की माप अँगूठे के ऊपरी हिस्से से अधिक नहीं थी।

तस्याभिपश्यत: खस्थ: क्षणेन किल भारत ।
गजमात्र: प्रववृधे तदद्भुतमभून्महत् ॥ १९॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अभिपश्यत:—इस प्रकार देखते हुए; ख-स्थ:—आकाश में स्थित; क्षणेन—सहसा; किल—निश्चय ही; भारत—हे भरतवंशी; गज-मात्र:—हाथी के समान; प्रववृधे—भलीभाँति विस्तार किया; तत्—वह; अद्भुतम्—असामान्य; अभूत्—बदल गया; महत्—विराट शरीर में।

हे भरतवंशी, तब ब्रह्मा के देखते ही देखते वह वराह विशाल काय हाथी जैसा अद्भुत

विराट स्वरूप धारण करके आकाश में स्थित हो गया।

**मरीचिप्रमुखैर्विप्रैः कुमारैर्मनुना सह ।
दृष्ट्वा तत्सौकरं रूपं तर्कयामास चित्रधा ॥ २० ॥**

शब्दार्थ

मरीचि—मरीचि मुनि; प्रमुखैः—इत्यादि; विप्रैः—सारे ब्राह्मणों; कुमारैः—चारों कुमारों सहित; मनुना—तथा मनु; सह—के साथ; दृष्ट्वा—देख कर; तत्—वह; सौकरम्—सूकर जैसा; रूपम्—स्वरूप; तर्कयाम् आस—परस्पर तर्क-वितर्क किया; चित्रधा—विविध प्रकारों से।

आकाश में अद्भुत सूकर जैसा रूप देखने से आश्चर्यचकित ब्रह्माजी मरीचि जैसे महान् ब्राह्मणों तथा चारों कुमारों एवं मनु के साथ अनेक प्रकार से तर्क-वितर्क करने लगे।

**किमेतत्सूकरव्याजं सत्त्वं दिव्यमवस्थितम् ।
अहो बताश्चर्यमिदं नासाया मे विनिःसृतम् ॥ २१ ॥**

शब्दार्थ

किम्—क्या; एतत्—यह; सूकर—सूकर के; व्याजम्—बहाने से; सत्त्वम्—जीव; दिव्यम्—असामान्य; अवस्थितम्—स्थित; अहो बत—ओह, यह है; आश्चर्यम्—अत्यन्त अद्भुत; इदम्—यह; नासायाः—नाक से; मे—मेरी; विनिःसृतम्—बाहर आया।

क्या सूकर के बहाने से यह कोई असामान्य व्यक्तित्व आया है? यह अति आश्चर्यप्रद है कि वह मेरी नाक से निकला है।

**दृष्टोऽङ्गुष्ठशिरोमात्रः क्षणाद्गण्डशिलासमः ।
अपि स्विद्भगवानेष यज्ञो मे खेदयन्मनः ॥ २२ ॥**

शब्दार्थ

दृष्टः—अभी-अभी देखा हुआ; अङ्गुष्ठ—अँगूठे का; शिरः—सिरा; मात्रः—केवल; क्षणात्—तुरन्त; गण्ड-शिला—विशाल पत्थर; समः—सदृश; अपि स्वित्—क्या; भगवान्—भगवान्; एषः—यह; यज्ञः—विष्णु; मे—मेरा; खेदयन्—खिन्न; मनः—मन।

प्रारम्भ में यह सूकर अँगूठे के सिरे से बड़ा न था, किन्तु क्षण भर में वह शिला के समान विशाल बन गया। मेरा मन विक्षुब्ध है। क्या वह पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु हैं?

तात्पर्य : चूँकि ब्रह्माजी इस ब्रह्माण्ड के सर्वोपरि पुरुष हैं और इसके पूर्व उन्होंने ऐसा रूप नहीं देखा था, अतएव वे अनुमान नहीं लगा पाये कि शूकर का प्राकट्य विष्णु का अवतार था। भगवान् के अवतार के असामान्य लक्षण ब्रह्मा तक के मन को मोहित कर सकते हैं।

इति मीमांसतस्तस्य ब्रह्मणः सह सूनुभिः ।
भगवान्यज्ञपुरुषो जगर्जागेन्द्रसन्निभः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; मीमांसतः—विचार-विमर्श करते; तस्य—उस; ब्रह्मणः—ब्रह्मा के; सह—साथ-साथ; सूनुभिः—उनके पुत्रगण; भगवान्—परमेश्वर; यज्ञ—भगवान् विष्णु ने; पुरुषः—सर्वश्रेष्ठ पुरुष; जगर्ज—गर्जना की; अग-इन्द्र—विशाल पर्वत; सन्निभः—सदृश।

जब ब्रह्माजी अपने पुत्रों के साथ विचार-विमर्श कर रहे थे तो पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु ने विशाल पर्वत के समान गम्भीर गर्जना की।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि विशाल पर्वतों में भी उनकी गर्जना शक्ति होती है, क्योंकि वे भी जीव हैं। ध्वनि गर्जन की गहनता भौतिक शरीर के आकार के अनुपात में होती है। अभी ब्रह्माजी भगवान् के शूकर अवतार के प्रकट होने के विषय में अनुमान लगा ही रहे थे कि भगवान् ने अपनी गम्भीर वाणी द्वारा गर्जना करके ब्रह्मा के अनुमान की पुष्टि कर दी।

ब्रह्माणं हर्षयामास हरिस्तांश्च द्विजोत्तमान् ।
स्वगर्जितेन ककुभः प्रतिस्वनयता विभुः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्माणम्—ब्रह्मा को; हर्षयाम् आस—जीवन्त कर दिया; हरिः—भगवान् ने; तान्—वे उन सबों को; च—भी; द्विज-उत्तमान्—अति उच्च ब्राह्मणों को; स्व-गर्जितेन—अपनी असाधारण वाणी से; ककुभः—सारी दिशाएँ; प्रतिस्वनयता—प्रतिध्वनित हो उठीं; विभुः—सर्वशक्तिमान।

सर्वशक्तिमान भगवान् ने पुनः असाधारण वाणी से ऐसी गर्जना कर के ब्रह्मा तथा अन्य उच्चस्थ ब्राह्मणों को जीवन्त कर दिया, जिससे सारी दिशाओं में गूँज उठीं।

तात्पर्य : ब्रह्मा तथा अन्य उत्तम ब्राह्मण, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जानते हैं, भगवान् को नाना अवतारों में से किसी एक में प्रकट होते देखकर जीवन्त हो उठते हैं। पर्वतसदृश शूकर के रूप में विष्णु के अद्भुत तथा विराट अवतार के प्रकट होने पर उनमें किसी प्रकार का भय उत्पन्न नहीं हुआ यद्यपि भगवान् की गूँजती वाणी कोलाहलपूर्ण थी और सभी दिशाओं में भयानक रूप से प्रतिध्वनित हुई, मानो उन असुरों के लिए खुली धमकी हो जो उनकी सर्व-शक्तिमत्ता को चुनौती दे रहे हों।

निशम्य ते घर्घरितं स्वखेद-
क्षयिष्णु मायामयसूकरस्य ।
जनस्तपःसत्यनिवासिनस्ते

त्रिभिः पवित्रैर्मुनयोऽगृणन्स्म ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; ते—वे; घर्घरितम्—कोलाहलपूर्ण ध्वनि, घुरघुराहट; स्व-खेद—निजी शोक; क्षयिष्णु—विनष्ट करने वाला; माया-मय—सर्व कृपालु; सूकरस्य—सूकर का; जनः—जनलोक; तपः—तपोलोक; सत्य—सत्यलोक के; निवासिनः—निवासी; ते—वे सभी; त्रिभिः—तीन वेदों से; पवित्रैः—शुभ मंत्रों से; मुनयः—महान् चिन्तकों तथा ऋषियों ने; अगृणन् स्म—उच्चारण किया।

जब जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक के निवासी महर्षियों तथा चिन्तकों ने भगवान् सूकर की कोलाहलपूर्ण वाणी सुनी, जो सर्वकृपालु भगवान् की सर्वकल्याणमय ध्वनि थी तो उन्होंने तीनों वेदों से शुभ मंत्रों का उच्चारण किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *मायामय* शब्द अत्यन्त सार्थक है। *माया* का अर्थ है "कृपा" "विशेष ज्ञान" तथा "मोह"। इसलिए भगवान् शूकर सर्वस्व हैं—वे दयालु हैं, वे समस्त ज्ञान हैं और वे मोह भी हैं। वराह अवतार के रूप में उन्होंने जो ध्वनि की उसका उत्तर जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक में रहनेवाले मुनियों ने वैदिक मंत्रों से दिया। उन लोकों में सर्वोच्च बुद्धिमान तथा पवित्र जीव निवास करते हैं अत: जब उन्होंने वराह की असाधारण ध्वनि सुनी तो वे यह समझ गये कि यह विशेष ध्वनि भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी की नहीं हो सकती। इसलिए उन्होंने वैदिक मंत्रों से भगवान् की प्रार्थना करते हुए उसका उत्तर दिया। यद्यपि पृथ्वी कीचड़ में धँसी हुई थी, किन्तु भगवान् की ध्वनि सुनकर उच्चतर लोकों के निवासी परम हर्षित हुए, क्योंकि वे जान गये कि पृथ्वी का उद्धार करने के लिए भगवान् वहाँ थे। अतएव ब्रह्मा तथा सारे साधुगण यथा भृगु, ब्रह्मा के अन्य पुत्र तथा विद्वान ब्राह्मण जीवन्त हो उठे और उन्होंने मिलकर वैदिक मंत्रों की दिव्य ध्वनि से भगवान् की प्रशंसा करने में उनका साथ दिया। सबसे महत्त्वपूर्ण मंत्र *वृहन्नारदीय पुराण* का मंत्र है—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे।

तेषां सतां वेदवितानमूर्ति-
र्ब्रह्मावधार्यात्मगुणानुवादम् ।
विनद्य भूयो विबुधोदयाय
गजेन्द्रलीलो जलमाविवेश ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उन; सताम्—महान् भक्तों के; वेद—सम्पूर्ण ज्ञान; वितान-मूर्तिः—विस्तार का स्वरूप; ब्रह्म—वैदिक ध्वनि; अवधार्य—इसे ठीक से जानकर; आत्म—अपना; गुण-अनुवादम्—दिव्य गुणगान; विनद्य—प्रतिध्वनित; भूयः—पुनः;

विबुध—विद्वानों के; उदयाय—लाभ या उत्थान् हेतु; गजेन्द्र-लीलः—हाथी के समान क्रीड़ा करते हुए; जलम्—जल में; आविवेश—प्रविष्ट हुआ।

हाथी के समान क्रीड़ा करते हुए वे महान् भक्तों द्वारा की गई वैदिक स्तुतियों के उत्तर में पुनः गर्जना करके जल में घुस गये। भगवान् वैदिक स्तुतियों के लक्ष्य हैं, अतएव वे समझ गये कि भक्तों की स्तुतियाँ उन्हीं के लिए की जा रही हैं।

तात्पर्य : भगवान् का कोई भी रूप दिव्य तथा ज्ञान एवं करुणा से पूरित होता है। भगवान् समस्त भौतिक कल्मष का विनाश करने वाले हैं, क्योंकि उनका स्वरूप साक्षात् वैदिक ज्ञान है। सारे वेद भगवान् के दिव्य रूप की पूजा करते हैं। वैदिक मंत्रों में भक्तगण भगवान् से चमचमाते तेज को हटाने की प्रार्थना करते हैं, क्योंकि यह उनके असली मुखमंडल को आच्छादित करता है। *ईशोपनिषद्* का यही कथन है। भगवान् के कोई भौतिक रूप नहीं होता, किन्तु उनके स्वरूप को सदैव वेदों के रूप में समझा जाता है। वेदों को भगवान् की साँस कहा गया है और वह साँस वेदों के आदि जिज्ञासु ब्रह्मा ने अपने भीतर खींची थी। ब्रह्मा के नथुने से ली गई साँस से भगवान् शूकर प्रकट हुए, अतएव भगवान् का शूकर अवतार साक्षात् वेद हैं। उच्चलोकों के मुनियों द्वारा अवतार का महिमागान वास्तविक वैदिक मंत्रों से युक्त था। जब भी भगवान् का महिमागान होता है, तो यह समझा जाना चाहिए कि वैदिक मंत्रों का ठीक से उच्चारण किया जा रहा है। अतएव जब वैदिक मंत्रों का उच्चारण हुआ तो भगवान् प्रसन्न हुए और अपने शुद्ध भक्तों को प्रोत्साहित करने के लिए पुनः एक बार उन्होंने गर्जना की और निमग्न पृथ्वी का उद्धार करने के लिए जल में प्रविष्ट हो गये।

उत्क्षिप्तवालः खचरः कठोरः
सटा विधुन्वन्खररोमशत्वक् ।
खुराहताभ्रः सितदंष्ट्र ईक्षा
ज्योतिर्बभासे भगवान्महीध्रः ॥ २७॥

शब्दार्थ

उत्क्षिप्त-वालः—पूँछ फटकारते; ख-चरः—आकाश में; कठोरः—अति कठोर; सटाः—कंधे तक लटकते बाल; विधुन्वन्—हिलाता; खर—तेज; रोमश-त्वक्—रोओं से भरी त्वचा; खुर-आहत—खुरों से टकराया; अभ्रः—बादल; सित-दंष्ट्रः—सफेद दाढ़ें; ईक्षा—चितवन; ज्योतिः—चमकीली; बभासे—तेज निकालने लगा; भगवान्—भगवान्; मही-ध्रः—जगत को धारण करने वाला।

पृथ्वी का उद्धार करने के लिए जल में प्रवेश करने के पूर्व भगवान् वराह अपनी पूँछ फटकारते तथा अपने कड़े बालों को हिलाते हुए आकाश में उड़े। उनकी चितवन चमकीली थी।

और उन्होंने अपने खुरों तथा चमचमाती सफेद दाढ़ों से आकाश में बादलों को बिखरा दिया।

तात्पर्य : जब भक्तों द्वारा भगवान् की स्तुतियाँ की जाती हैं, तो उनके दिव्य कार्यों का ही वर्णन होता है। भगवान् वराह के कुछ दिव्य गुण यहाँ दिये गये हैं। चूँकि तीनों उच्च लोकों के निवासियों ने भगवान् की स्तुतियाँ कीं, अत: यह समझा जाता है कि उनका शरीर सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक या सत्यलोक से लेकर पूरे आकाश में फैल गया था। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि उनकी आँखें सूर्य तथा चन्द्रमा हैं, अतएव आकाश पर उनकी चितवन सूर्य या चन्द्रमा जितनी चमकीली थी। यहाँ पर भगवान् को *महीध्र:* कहा गया है, जिसका अर्थ है ''विशाल पर्व'' अथवा ''पृथ्वी को धारण करने वाला।'' दूसरे शब्दों में, भगवान् का शरीर हिमालय पर्वत जैसा विशाल तथा कठोर था, अन्यथा वे सम्पूर्ण पृथ्वी को अपनी श्वेत दाढ़ों के सहारे किस तरह धारण करते? भगवान् के महान् भक्त कविवर जयदेव ने इस घटना को अवतारों की अपनी स्तुति में इस प्रकार गाया है—

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना

शशिनि कलंककलेव निमग्ना

केशव धृत शूकर रूप जय जगदीश हरे॥

''भगवान् केशव (कृष्ण) की जय हो जो शूकर के रूप में प्रकट हुए। पृथ्वी उनकी दाढ़ों के बीच में पकड़ी हुई थी जो चन्द्रमा पर कलंक के निशान जैसी प्रतीत हो रही थी।''

घ्राणेन पृथ्व्या: पदवीं विजिघ्रन्
क्रोडापदेश: स्वयमध्वराङ्ग: ।
करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदृग्भ्या-
मुद्वीक्ष्य विप्रान्गृणतोऽविशत्कम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

घ्राणेन—सूँघने से; पृथ्व्या:—पृथ्वी की; पदवीम्—स्थिति; विजिघ्रन्—पृथ्वी की खोज करते हुए; क्रोड-अपदेश:—सूकर का शरीर धारण किये हुए; स्वयम्—स्वयं; अध्वर—दिव्य; अङ्ग:—शरीर; कराल—भयावना; दंष्ट्र:—दाँत (दाढ़ें); अपि—के बावजूद; अकराल—भयावना नहीं; दृग्भ्याम्—अपनी चितवन से; उद्वीक्ष्य—दृष्टि दौड़ाकर; विप्रान्—सारे ब्राह्मण भक्त; गृणत:—स्तुति में लीन; अविशत्—प्रवेश दिया; कम्—जल में।

वे साक्षात् परम प्रभु विष्णु थे, अतएव दिव्य थे, फिर भी सूकर का शरीर होने से उन्होंने पृथ्वी को उसकी गंध से खोज निकाला। उनकी दाढ़ें अत्यन्त भयावनी थीं। उन्होंने स्तुति करने में व्यस्त भक्त-ब्राह्मणों पर अपनी दृष्टि दौड़ाई। इस तरह वे जल में प्रविष्ट हुए।

तात्पर्य : हमें यह सदैव स्मरण रखना होगा कि यद्यपि शूकर का शरीर भौतिक होता है, किन्तु भगवान् का शूकर रूप भौतिकता से कल्मषग्रस्त नहीं था। किसी पार्थिव शूकर के लिए सम्भव नहीं कि वह ऐसा विराट रूप धारण कर सके जो सत्यलोक से लेकर पूरे आकाश में फैला हो। उनका शरीर सभी परिस्थितियों में दिव्य होता है, अतएव शूकर रूप धारण करना उनकी लीला मात्र है। उनका शरीर सम्पूर्ण वेद हैं या दिव्य है। किन्तु क्योंकि उन्होंने शूकर का रूप धारण किया था, अतएव वे शूकर की तरह सूँघ कर पृथ्वी की खोज करने लगे। भगवान् किसी भी जीव की भूमिका पूरी तरह से निभा सकते हैं। शूकर का विराट रूप निश्चय ही समस्त अभक्तों के लिए अतीव भयावना था किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्तों के लिए वह तनिक भी भयावना नहीं था। विपरीत इसके, वे अपने भक्तों पर इतनी प्रसन्नता से दृष्टिपात कर रहे थे कि उन सबों को दिव्य सुख का अनुभव हुआ।

स वज्रकूटाङ्गनिपातवेग-
विशीर्णकुक्षिः स्तनयन्नुदन्वान् ।
उत्सृष्टदीर्घोर्मिभुजैरिवार्त-
श्चुक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वज्र-कूट-अङ्ग—विशाल पर्वत जैसा शरीर; निपात-वेग—डुबकी लगाने का वेग; विशीर्ण—दो भागों में करते हैं; कुक्षिः—मध्य भाग को; स्तनयन्—के समान गुँजाते; उदन्वान्—समुद्र; उत्सृष्ट—उत्पन्न करके; दीर्घ—ऊँची; ऊर्मि—लहरें; भुजैः—बाँहों से; इव आर्तः—दुखी पुरुष की तरह; चुक्रोश—तेज स्वर से स्तुति की; यज्ञ-ईश्वर—हे समस्त यज्ञों के स्वामी; पाहि—कृपया बचायें; मा—मुझको; इति—इस प्रकार।

दानवाकार पर्वत की भाँति जल में गोता लगाते हुए भगवान् वराह ने समुद्र के मध्यभाग को विभाजित कर दिया और दो ऊँची लहरें समुद्र की भुजाओं की तरह प्रकट हुईं जो उच्च स्वर से आर्तनाद कर रही थीं मानो भगवान् से प्रार्थना कर रही हों, ''हे समस्त यज्ञों के स्वामी, कृपया मेरे दो खण्ड न करें। कृपा करके मुझे संरक्षण प्रदान करें।''

तात्पर्य : दिव्य शूकर के पर्वत जैसे शरीर के आ गिरने से महासागर तक विचलित था और वह भयभीत प्रतीत हो रहा था मानो मृत्यु निकट हो।

खुरैः क्षुरप्रैर्दरयंस्तदाप
उत्पारपारं त्रिपरू रसायाम् ।

ददर्श गां तत्र सुषुप्सुरग्रे
यां जीवधानीं स्वयमभ्यधत्त ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

खुरैः—खुरों से; क्षुरप्रैः—तेज हथियार के समान; दरयन्—घुस कर; तत्—वह; आपः—जल; उत्पार-पारम्—असीम् की सीमा पा ली; त्रि-परुः—सभी यज्ञों का स्वामी; रसायाम्—जल के भीतर; ददर्श—पाया; गाम्—पृथ्वी को; तत्र—वहाँ; सुषुप्सुः—लेटे हुए; अग्रे—प्रारम्भ में; याम्—जिसको; जीव-धानीम्—सभी जीवों की विश्राम की स्थली; स्वयम्—स्वयं; अभ्यधत्त—ऊपर उठा लिया।

भगवान् वराह तीरों जैसे नुकीले अपने खुरों से जल में घुस गये और उन्होंने अथाह समुद्र की सीमा पा ली। उन्होंने समस्त जीवों की विश्रामस्थली पृथ्वी को उसी तरह पड़ी देखा जिस तरह वह सृष्टि के प्रारम्भ में थी और उन्होंने उसे स्वयं ऊपर उठा लिया।

तात्पर्य : कभी-कभी *रसायाम्* का अर्थ रसातल अर्थात् निम्नतम लोक निकाला जाता है, किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस प्रसंग में यह लागू नहीं होता। पृथ्वी अन्य लोकों अर्थात् तल, अतल, तलातल, वितल, रसातल, पाताल इत्यादि की अपेक्षा सात गुनी श्रेष्ठ है। अत:पृथ्वी रसातल लोक में स्थित नहीं हो सकती। *विष्णु धर्म* में वर्णन हुआ है कि—

पातालमूलेश्वरभोगसंहतौ

विन्यस्य पादौ पृथिवीं च बिभ्रतः।

यस्योपमानो न बभूव सोऽच्युतो

ममास्तु माङ्गल्यविवृद्धये हरिः॥

अतएव भगवान् ने पृथ्वी को गर्भोदक सागर की पेंदी में पाया जहाँ ब्रह्मा के दिन की समाप्ति पर प्रलय के समय सारे लोक विश्राम करते हैं।

स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां
स उत्थितः संरुरुचे रसायाः ।
तत्रापि दैत्यं गदयापतन्तं
सुनाभसन्दीपिततीव्रमन्युः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

स्व-दंष्ट्रया—अपनी ही दाढ़ों से; उद्धृत्य—उठाकर; महीम्—पृथ्वी को; निमग्नाम्—डूबी हुई; सः—उसने; उत्थितः—ऊपर उठाकर; संरुरुचे—अतीव भव्य दिखाई पड़ा; रसायाः—जल से; तत्र—वहाँ; अपि—भी; दैत्यम्—असुर को; गदया—गदा से; आपतन्तम्—उसकी ओर दौड़ाते हुए; सुनाभ—कृष्ण का चक्र; सन्दीपित—चमकता हुआ; तीव्र—भयानक; मन्युः—क्रोध।

भगवान् वराह ने बड़ी ही आसानी से पृथ्वी को अपनी दाढ़ों में ले लिया और वे उसे जल से

बाहर निकाल लाये। इस तरह वे अत्यन्त भव्य लग रहे थे। तब उनका क्रोध सुदर्शन चक्र की तरह चमक रहा था और उन्होंने तुरन्त उस असुर (हिरण्याक्ष) को मार डाला, यद्यपि वह भगवान् से लड़ने का प्रयास कर रहा था।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार वैदिक ग्रन्थों में भगवान् वराह के अवतार का वर्णन दो विभिन्न प्रलयों—चाक्षुष प्रलय तथा स्वायम्भुव प्रलय—में हुआ है। वराह का यह विशेष अवतार वस्तुत: स्वायम्भुव प्रलय में हुआ जब उच्चतर लोकों—जन, महर तथा सत्य—को छोड़ कर शेष सारे लोक प्रलय-जल में डूबे थे। वराह के इस अवतार को उपर्युक्त लोकों के वासियों ने देखा था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती सुझाते हैं कि मुनि मैत्रेय ने विभिन्न प्रलयों के दोनों वराह अवतारों को एक में मिलाकर उनका सारांश रूप विदुर के समक्ष रखा।

जघान रुन्धानमसह्यविक्रमं
स लीलयेभं मृगराडिवाम्भसि ।
तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्डो
यथा गजेन्द्रो जगतीं विभिन्दन् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

जघान—वध किया; रुन्धानम्—अवरोध उत्पन्न करनेवाला शत्रु; असह्य—असहनीय; विक्रमम्—पराक्रम; स:—उसने; लीलया—सरलतापूर्वक; इभम्—हाथी; मृग-राट्—सिंह; इव—सदृश; अम्भसि—जल में; तत्-रक्त—उसके रक्त का; पङ्क-अङ्कित—कीचड़ से रँगा हुआ; गण्ड—गाल; तुण्ड:—जीभ; यथा—मानो; गजेन्द्र:—हाथी; जगतीम्—पृथ्वी को; विभिन्दन्—खोदते हुए।

तत्पश्चात् भगवान् वराह ने उस असुर को जल के भीतर मार डाला जिस तरह एक सिंह हाथी को मारता है। भगवान् के गाल तथा जीभ उस असुर के रक्त से उसी तरह रँगे गये जिस तरह हाथी नीललोहित पृथ्वी को खोदने से लाल हो जाता है।

तमालनीलं सितदन्तकोट्या
क्ष्मामुत्क्षिपन्तं गजलीलयाङ्ग ।
प्रज्ञाय बद्धाञ्जलयोऽनुवाकै-
र्विरिञ्चिमुख्या उपतस्थुरीशम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तमाल—नीला वृक्ष जिसका नाम तमाल है; नीलम्—नीले रंग का; सित—श्वेत; दन्त—दाँत; कोट्या—टेढ़ी कोर वाला; क्ष्माम्—पृथ्वी; उत्क्षिपन्तम्—लटकाये हुए; गज-लीलया—हाथी की तरह क्रीड़ा करता; अङ्ग—हे विदुर; प्रज्ञाय—इसे जान

लेने पर; बद्ध—जोड़े हुए; अञ्जलयः—हाथ; अनुवाकैः—वैदिक मंत्रों से; विरिञ्चि—ब्रह्मा; मुख्याः—इत्यादि; उपतस्थुः—स्तुति की; ईशम्—भगवान् के प्रति।

तब हाथी की तरह क्रीड़ा करते हुए भगवान् ने पृथ्वी को अपने सफेद टेढ़े दाँतों के किनारे पर अटका लिया। उनके शरीर का वर्ण तमाल वृक्ष जैसा नीलाभ हो गया और तब ब्रह्मा इत्यादि ऋषि उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समझ सके और उन्होंने सादर नमस्कार किया।

ऋषय ऊचुः
जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन
त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः ।
यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरद्धय-
स्तस्मै नमः कारणसूकराय ते ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ऋषयः ऊचुः—यशस्वी ऋषि बोल पड़े; जितम्—जय हो; जितम्—जय हो; ते—तुम्हारी; अजित—हे न जीते जा सकने वाले; यज्ञ-भावन—यज्ञ सम्पन्न करने पर जाना जाने वाले; त्रयीम्—साक्षात् वेद; तनुम्—ऐसा शरीर; स्वाम्—अपना; परिधुन्वते—हिलाते हुए; नमः—नमस्कार; यत्—जिसके; रोम—रोएँ; गर्तेषु—छेदों में; निलिल्युः—डूबे हुए; अद्धयः—सागर; तस्मै—उसको; नमः—नमस्कार करते हुए; कारण-सूकराय—सकारण शूकर विग्रह धारण करने वाले; ते—तुमको।

सारे ऋषि अति आदर के साथ बोल पड़े'' हे समस्त यज्ञों के अजेय भोक्ता, आपकी जय हो, जय हो, आप साक्षात् वेदों के रूप में विचरण कर रहे हैं और आपके शरीर के रोमकूपों में सारे सागर समाये हुए हैं। आपने किन्हीं कारणों से (पृथ्वी का उद्धार करने के लिए) अब सूकर का रूप धारण किया है।

तात्पर्य : भगवान् इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर सकते हैं और सारी परिस्थितियों में वे समस्त कारणों के कारण हैं। चूँकि उनका रूप दिव्य होता है, अत: वे सदैव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं जैसे कि कारणार्णव में वे महाविष्णु के रूप में रहते हैं। उनके शरीर के रोमकूपों से असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और इस तरह उनका दिव्य शरीर साक्षात् वेद हैं। वे समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं और अजेय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। उनसे मात्र इसलिए भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी रूप का भ्रम नहीं होना चाहिए कि पृथ्वी का उद्धार करने के लिए उन्होंने शूकर रूप धारण किया है। ऋषियों तथा ब्रह्मा जैसे महापुरुष एवं उच्च लोकों के अन्य वासियों की यही स्पष्ट धारणा है।

रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां

दुर्दर्शनं देव यदध्वरात्मकम् ।
छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोम-
स्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

रूपम्—स्वरूप; तव—तुम्हारा; एतत्—यह; ननु—लेकिन; दुष्कृत-आत्मनाम्—दुष्टात्माओं का; दुर्दर्शनम्—देख पाना कठिन; देव—हे प्रभु; यत्—वह; अध्वर-आत्मकम्—यज्ञ सम्पन्न करने के कारण पूजनीय; छन्दांसि—गायत्री तथा अन्य छंद; यस्य—जिसके; त्वचि—त्वचा का स्पर्श; बर्हिः—कुश नामक पवित्र घास; रोमसु—शरीर के रोएँ; आज्यम्—घी; दृशि—आँखों में; तु—भी; अङ्घ्रिषु—चारों पाँवों पर; चातुः-होत्रम्—चार प्रकार के सकाम कर्म।

हे प्रभु, आपका स्वरूप यज्ञ सम्पन्न करके पूजा के योग्य है, किन्तु दुष्टात्माएँ इसे देख पाने में असमर्थ हैं। गायत्री तथा अन्य सारे वैदिक मंत्र आपकी त्वचा के सम्पर्क में हैं। आपके शरीर के रोम कुश हैं, आपकी आँखें घृत हैं और आपके चार पाँव चार प्रकार के सकाम कर्म हैं।

तात्पर्य : दुष्टों का एक वर्ग है, जिसे *भगवद्गीता* में *वेदवादी* कहा गया है, अर्थात् जो वेदों के कट्टर अनुयायी हैं। वे भगवान् के अवतार में विश्वास नहीं करते। पूज्य शूकर के रूप में भगवान् के अवतार के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। वे भगवान् के विभिन्न रूपों या अवतारों की पूजा को अवतारवाद कहते हैं। *श्रीमद्भागवत* के अनुसार ये व्यक्ति दुष्ट हैं और *भगवद्गीता* (७.१५) में इन्हें न केवल दुष्ट, अपितु मूर्ख तथा मनुष्यों में अधम कहा गया है। और यह भी कहा गया है कि उनका ज्ञान उनके नास्तिकतावादी स्वभाव के कारण मोह द्वारा हरा जा चुका है। ऐसे गर्हित व्यक्तियों के लिए विराट शूकर के रूप में भगवान् का अवतार अदृश्य रहता है। वेदों के कट्टर अनुयायियों को, जो भगवान् के नित्य रूपों का उपहास करते हैं, *श्रीमद्भागवत* से जान लेना चाहिए कि ऐसे अवतार साक्षात् वेदों के रूप हैं। भगवान् वराह की त्वचा, उनकी आँखें तथा उनके शरीर के रोमकूपों का वर्णन यहाँ पर वेदों के विभिन्न अंगों के रूप में हुआ है। अतएव वे वैदिक मंत्रों के, विशेष रूप से गायत्रीमंत्र के, साक्षात् रूप हैं।

स्रक्तुण्ड आसीत्स्रुव ईश नासयो-
रिडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे ।
प्राशित्रमास्ये ग्रसने ग्रहास्तु ते
यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

स्रक्—यज्ञ का पात्र; तुण्डे—जीभ पर; आसीत्—है; स्रुवः—यज्ञ का दूसरा पात्र; ईश—हे प्रभु; नासयोः—नथुनों का; इडा—खाने का पात्र; उदरे—पेट में; चमसाः—यज्ञ का अन्य पात्र, चम्मच; कर्ण-रन्ध्रे—कान के छेदों में; प्राशित्रम्—ब्रह्मा नामक

पात्र; आस्ये—मुख में; ग्रसने—गले में; ग्रहाः—सोम पात्र; तु—लेकिन; ते—तुम्हारा; यत्—जो; चर्वणम्—चबाना; ते—तुम्हारा; भगवन्—हे प्रभु; अग्नि-होत्रम्—अपनी यज्ञ-अग्नि के माध्यम से तुम्हारा भोजन है।

हे प्रभु, आपकी जीभ यज्ञ का पात्र (स्रक्) है, आपका नथुना यज्ञ का अन्य पात्र (स्रुवा) है। आपके उदर में यज्ञ का भोजन-पात्र (इडा) है और आपके कानों के छिद्रों में यज्ञ का अन्य पात्र (चमस) है। आपका मुख ब्रह्मा का यज्ञ पात्र (प्राशित्र) है, आपका गला यज्ञ पात्र है, जिसका नाम सोमपात्र है तथा आप जो भी चबाते हैं वह अग्निहोत्र कहलाता है।

तात्पर्य : *वेदवादियों* का कहना है कि वेदों तथा वेदों में वर्णित यज्ञ अनुष्ठानों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उन्होंने हाल ही में अपने दल का यह नियम बनाया है कि प्रतिदिन यज्ञ किया जाय। वे थोड़ी सी आग जलाकर उसमें मनमाने ढंग से कुछ होम करते हैं, किन्तु वेदों में उल्लिखित यज्ञ विषयक विधि-विधानों का कड़ाई से पालन नहीं करते। ऐसा माना जाता है कि विधान के अनुसार यज्ञ के विभिन्न पात्रों की यथा *स्रक्, स्रुवा, बर्हि, चातुर्होत्र, इडा, चमस, प्राशित्र, ग्रह* तथा *अग्निहोत्र* की आवश्यकता होती है। जब तक इन कठिन नियमों का पालन नहीं किया जाता, यज्ञ के फल प्राप्त नहीं हो पाते। इस युग में यज्ञों को सही ढंग से सम्पन्न करने की एक तरह से कोई सुविधा ही नहीं है। अत: इस कलियुग में ऐसे यज्ञों के लिए एक बाध्य आदेश है—यह स्पष्ट निर्देश है कि मनुष्य केवल *संकीर्तन यज्ञ* करे, अन्य कुछ भी नहीं। भगवान् का अवतार यज्ञेश्वर है और जब तक भगवान् के अवतार के लिए आदर भाव न हो तब तक यज्ञ पूर्णरूपेण नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, भगवान् की शरण-ग्रहण करना और उनकी सेवा करना समस्त यज्ञों का वास्तविक अनुष्ठान है जैसाकि यहाँ पर बताया गया है यज्ञ के विभिन्न पात्र भगवान् के अवतार के शरीर के विभिन्न भागों को बताने वाले हैं। *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध में इसका स्पष्ट निर्देश है कि श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में भगवान् के अवतार को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य को *संकीर्तन यज्ञ* करना चाहिए। यज्ञ का फल पाने के लिए इसका कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए।

दीक्षानुजन्मोपसदः शिरोधरं
त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः ।
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव शीर्षकं क्रतोः
सत्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि ते ॥ ३७॥

शब्दार्थ

दीक्षा—दीक्षा; अनुजन्म—आध्यात्मिक जन्म या बारम्बार अवतार; उपसदः—तीन प्रकार की इच्छाएँ (सम्बन्ध, कर्म तथा चरम लक्ष्य); शिरः-धरम्—गर्दन; त्वम्—तुम; प्रायणीय—दीक्षा के परिणाम के बाद; उदयनीय—इच्छाओं का अन्तिम संस्कार; दंष्ट्रः—दाढ़ें; जिह्वा—जीभ; प्रवर्ग्यः—पहले के कार्य; तव—तुम्हारा; शीर्षकम्—सिर; क्रतोः—यज्ञ का; सत्य—यज्ञ के बिना अग्नि; आवसथ्यम्—पूजा की अग्नि; चितयः—समस्त इच्छाओं का समूह; असवः—प्राणवायु; हि—निश्चय ही; ते—तुम्हारा।.

हे प्रभु, इसके साथ ही साथ सभी प्रकार की दीक्षा के लिए आपके बारम्बार प्राकट्य की आकांक्षा भी है। आपकी गर्दन तीनों इच्छाओं का स्थान है और आपकी दाढ़ें दीक्षा-फल तथा सभी इच्छाओं का अन्त हैं, आप की जिव्हा दीक्षा के पूर्व-कार्य हैं, आपका सिर यज्ञ रहित अग्नि तथा पूजा की अग्नि है तथा आप की जीवनी-शक्ति समस्त इच्छाओं का समुच्चय है।

सोमस्तु रेतः सवनान्यवस्थितिः
संस्थाविभेदास्तव देव धातवः ।
सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धि-
स्त्वं सर्वयज्ञक्रतुरिष्टिबन्धनः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सोमः तु रेतः—आपका वीर्य सोमयज्ञ है; सवनानि—प्रातःकाल के अनुष्ठान; अवस्थितिः—शारीरिक वृद्धि की विभिन्न अवस्थाएँ; संस्था-विभेदाः—यज्ञ के सात प्रकार; तव—तुम्हारा; देव—हे प्रभु; धातवः—शरीर के अवयव यथा त्वचा एवं मांस; सत्राणि—बारह दिनों तक चलने वाले यज्ञ; सर्वाणि—सारे; शरीर—शारीरिक; सन्धिः—जोड़; त्वम्—आप; सर्व—समस्त; यज्ञ—असोम यज्ञ; क्रतुः—सोम यज्ञ; इष्टि—चरम इच्छा; बन्धनः—आसक्ति।.

हे प्रभु, आपका वीर्य सोम नामक यज्ञ है। आपकी वृद्धि प्रातःकाल सम्पन्न किये जाने वाले कर्मकाण्डीय अनुष्ठान हैं। आपकी त्वचा तथा स्पर्श अनुभूति अग्निष्टोम यज्ञ के सात तत्त्व हैं। आपके शरीर के जोड़ बारह दिनों तक किये जाने वाले विविध यज्ञों के प्रतीक हैं। अतएव आप सोम तथा असोम नामक सभी यज्ञों के लक्ष्य हैं और आप एकमात्र यज्ञों से बँधे हुए हैं।

तात्पर्य : वैदिक कर्मकाण्ड के अनुयायी सात प्रकार के सामान्य यज्ञ करते हैं, जिन्हें *अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र* तथा *आप्तोर्याम* कहते हैं। जो भी व्यक्ति ऐसे यज्ञों को नियमित रूप से सम्पन्न करता है, वह भगवान् के पास स्थित माना जाता है। किन्तु जो कोई भक्ति योग सम्पन्न करके भगवान् के सम्पर्क में रहता है उसके लिए यह समझा जाता है कि उसने विभिन्न प्रकार के सभी यज्ञ सम्पन्न कर लिए हैं।

नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवता-

द्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने ।
वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावित-
ज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

नमः नमः—नमस्कार है; ते—आपको, जो कि आराध्य है; अखिल—सभी सम्मिलित रूप से; मन्त्र—मंत्र; देवता—भगवान्; द्रव्याय—यज्ञ सम्पन्न करने की समस्त सामग्रियों को; सर्व-क्रतवे—सभी प्रकार के यज्ञों को; क्रिया-आत्मने—सभी यज्ञों के परम रूप आपको; वैराग्य—वैराग्य; भक्त्या—भक्ति द्वारा; आत्म-जय-अनुभावित—मन को जीतने पर अनुभूत किए जाने वाले; ज्ञानाय—ऐसे ज्ञान को; विद्या-गुरवे—समस्त ज्ञान के परम गुरु को; नमः नमः—मैं पुनः सादर नमस्कार करता हूँ।

हे प्रभु, आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और वैश्विक-प्रार्थनाओं, वैदिक मंत्रों तथा यज्ञ की सामग्री द्वारा पूजनीय हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं। आप समस्त दृश्य तथा अदृश्य भौतिक कल्मष से मुक्त शुद्ध मन द्वारा अनुभवगम्य हैं। हम आपको भक्ति-योग के ज्ञान के परम गुरु के रूप में सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : भगवद्भक्ति के लिए योग्यता यह है कि भक्त को समस्त भौतिक कल्मषों तथा इच्छाओं से मुक्त होना चाहिए। यह मुक्तावस्था *वैराग्य* अर्थात् भौतिक इच्छाओं से विरक्ति कहलाती है। जो व्यक्ति विधिविधानों के अनुसार भक्ति में लगा रहता है, वह स्वतः भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाता है और उस शुद्ध मनोदशा में वह भगवान् की अनुभूति कर सकता है। प्रत्येक के हृदय में स्थित होने से भगवान् भक्त को शुद्धभक्ति के विषय में शिक्षा देते हैं जिससे वह अन्ततः भगवान् की संगति प्राप्त कर सके। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.१०) में इस प्रकार हुई है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो व्यक्ति श्रद्धा तथा प्रेम के साथ निरन्तर भगवान् की भक्ति में लगा रहता है उसे अन्त में भगवान् निश्चित रूप से अपने को प्राप्त करने के लिए बुद्धि प्रदान करते हैं।"

मनुष्य को मन जीतना होता है और वह ऐसा वैदिक अनुष्ठानों द्वारा तथा विभिन्न प्रकार के यज्ञ सम्पन्न करके कर सकता है। इन समस्त कार्यों का चरम अन्त भगवान् की भक्ति प्राप्त करना है। भक्ति के बिना भगवान् को नहीं समझा जा सकता। आदि भगवान् या उनके असंख्य विष्णु अंश ही समस्त वैदिक अनुष्ठानों तथा यज्ञों के द्वारा पूजा के एकमात्र लक्ष्य हैं।

दंष्ट्राग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता
विराजते भूधर भूः सभूधरा ।
यथा वनान्निःसरतो दता धृता
मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

दंष्ट्र-अग्र—दाढ़ के अगले भाग; कोट्या—किनारों के द्वारा; भगवन्—हे भगवान्; त्वया—आपके द्वारा; धृता—धारण किया; विराजते—सुन्दर ढंग से स्थित है; भू-धर—हे पृथ्वी के उठाने वाले; भूः—पृथ्वी; स-भूधरा—पर्वतों सहित; यथा—जिस तरह; वनात्—जल से; निःसरतः—बाहर आते हुए; दता—दाँत से; धृता—पकड़े हुए है; मतम्-गजेन्द्रस्य—क्रुद्ध हाथी; स-पत्र—पत्तियों सहित; पद्मिनी—कमलिनी।

हे पृथ्वी के उठाने वाले, आपने जिस पृथ्वी को पर्वतों समेत उठाया है, वह उसी तरह सुन्दर लग रही है, जिस तरह जल से बाहर आने वाले क्रुद्ध हाथी के द्वारा धारण की गई पत्तियों से युक्त एक कमलिनी।

तात्पर्य : पृथ्वी लोक के भाग्य की सराहना इसलिए की गई है, क्योंकि इसे भगवान् ने विशेष रूप से धारण किया है। इसके सौन्दर्य की प्रशंसा की जा रही है और इसकी तुलना उस कमल के फूल की सुन्दरता से भी की जा रही है, जो हाथी की सूँड़ पर स्थित है। चूँकि कमल का फूल पत्तियों समेत अत्यन्त सुन्दर लगता है उसी तरह यह पृथ्वी अपने अनेक सुन्दर पर्वतों समेत भगवान् वराह की दाढ़ों पर शोभायमान हो रही थी।

त्रयीमयं रूपमिदं च सौकरं
भूमण्डलेनाथ दता धृतेन ते ।
चकास्ति शृङ्गोढघनेन भूयसा
कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

त्रयी-मयम्—साक्षात् वेद; रूपम्—स्वरूप; इदम्—यह; च—भी; सौकरम्—सूकर का; भू-मण्डलेन—भूलोक द्वारा; अथ—अब; दता—दाढ़ के द्वारा; धृतेन—धारण किया गया; ते—तुम्हारी; चकास्ति—चमक रही है; शृङ्ग-ऊढ—शिखरों द्वारा धारित; घनेन—बादलों द्वारा; भूयसा—अत्यधिक मंडित; कुल-अचल-इन्द्रस्य—विशाल पर्वतों के; यथा—जिस तरह; एव—निश्चय ही; विभ्रमः—अलंकरण।

हे प्रभु, जिस तरह बादलों से अलंकृत होने पर विशाल पर्वतों के शिखर सुन्दर लगने लगते हैं उसी तरह आपका दिव्य शरीर सुन्दर लग रहा है, क्योंकि आप पृथ्वी को अपनी दाढ़ों के सिरे पर उठाये हुए हैं।

तात्पर्य : *विभ्रमः* शब्द सार्थक है। *विभ्रमः* का अर्थ है "भ्रम" तथा "सौन्दर्य।" जब कोई बादल

किसी विशाल पर्वत की चोटी पर विश्राम करता है, तो ऐसा लगता है मानो उसे पर्वत ने उठा रखा हो। साथ ही वह अत्यन्त सुन्दर लगता है। इसी तरह भगवान् को अपनी दाढ़ों पर पृथ्वी धारण करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जब वे ऐसा करते हैं, तो संसार उसी तरह सुन्दर लगने लगता है, जिस तरह भगवान् पृथ्वी पर अपने शुद्ध भक्तों के कारण अधिक सुन्दर लगते हैं। यद्यपि भगवान् वैदिक मंत्रों के दिव्य स्वरूप हैं, किन्तु पृथ्वी को धारण करने के कारण वे अत्यधिक सुन्दर लग रहे हैं।

संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां
लोकाय पत्नीमसि मातरं पिता ।
विधेम चास्यै नमसा सह त्वया
यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवारणावधाः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

संस्थापय एनाम्—इस पृथ्वी को उठाओ; जगताम्—चर; स-तस्थुषाम्—तथा अचर दोनों; लोकाय—उनके निवास स्थान के लिए; पत्नीम्—पत्नी; असि—हो; मातरम्—माता; पिता—पिता; विधेम—हम अर्पित करते हैं; च—भी; अस्यै—माता को; नमसा—नमस्कार; सह—समेत; त्वया—तुम्हारे साथ; यस्याम्—जिसमें; स्व-तेजः—अपनी शक्ति द्वारा; अग्निम्—अग्नि; इव—सदृश; अरणौ—अरणि काष्ठ में; अधाः—निहित।

हे प्रभु, यह पृथ्वी चर तथा अचर दोनों प्रकार के निवासियों के रहने के लिए आपकी पत्नी है और आप परम पिता हैं। हम उस माता पृथ्वी समेत आपको सादर नमस्कार करते हैं जिसमें आपने अपनी शक्ति स्थापित की है, जिस तरह कोई दक्ष यज्ञकर्ता अरणि काष्ठ में अग्नि स्थापित करता है।

तात्पर्य : तथाकथित गुरुत्वाकर्षण का नियम, जो लोकों को स्थिर रखता है, यहाँ पर उसे भगवान् की शक्ति बतलाया गया है। इस शक्ति को भगवान् ने उसी तरह स्थापित कर रखा है, जिस तरह दक्ष यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण वैदिक मंत्रों की शक्ति से अरणि काष्ठ में अग्नि को स्थापित करता है। इस व्यवस्था से यह संसार चर तथा अचर प्राणियों के लिए रहने के योग्य बन जाता है। सारे बद्धजीव, जो कि इस भौतिक जगत के वासी हैं, माता पृथ्वी के गर्भ में उसी प्रकार स्थापित किये जाते हैं जिस तरह पिता द्वारा माता के गर्भ में शिशु का बीज स्थापित किया जाता है। पिता के रूप में भगवान् तथा माता के रूप में पृथ्वी की यह विचारधारा *भगवद्गीता* (१४.४) में विवेचित है। बद्धजीव उस जन्मभूमि के प्रति भक्तिभाव से पूरित रहते हैं जिसमें वे जन्म लेते हैं, किन्तु वे अपने पिता को जानते नहीं। माता सन्तान उत्पन्न करने के मामले में स्वतंत्र नहीं है। इसी तरह भौतिक प्रकृति तब तक जीवित प्राणियों को उत्पन्न

नहीं कर सकती जब तक वह परम पिता परमेश्वर के सम्पर्क में न आये। *श्रीमद्भागवत* हमें परम पिता के साथ साथ माता को नमस्कार करने की शिक्षा देती है, क्योंकि पिता ही समस्त चराचर जीवों के धारण तथा पालन करने के लिए माता को समस्त शक्तियों से गर्भित करता है।

कः श्रद्दधीतान्यतमस्तव प्रभो
रसां गताया भुव उद्विबर्हणम् ।
न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये
यो माययेदं ससृजेऽतिविस्मयम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

कः—और कौन; श्रद्दधीत—प्रयास कर सकता है; अन्यतमः—आपके अतिरिक्त अन्य कोई; तव—तुम्हारा; प्रभो—हे प्रभु; रसाम्—जल में; गतायाः—पड़ी हुई; भुवः—पृथ्वी को; उद्विबर्हणम्—उद्धार; न—कभी नहीं; विस्मयः—आश्चर्यमय; असौ—ऐसा कार्य; त्वयि—तुमको; विश्व—विश्व के; विस्मये—आश्चर्यों से पूर्ण; यः—जो; मायया—शक्तियों द्वारा; इदम्—यह; ससृजे—उत्पन्न किया; अतिविस्मयम्—सभी आश्चर्यों से बढ़कर।

हे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, आपके अतिरिक्त ऐसा कौन है, जो जल के भीतर से पृथ्वी का उद्धार कर सकता? किन्तु यह आपके लिए बहुत आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि ब्रह्माण्ड के सृजन में आपने अति अद्भुत कार्य किया है। अपनी शक्ति से आपने इस अद्भुत विराट जगत की सृष्टि की है।

तात्पर्य : जब कोई विज्ञानी मनुष्य अज्ञानी जन समूह के लिए किसी प्रभावशाली वस्तु की खोज करता है, तो सामान्य लोग बिना पूछताछ के ऐसी खोज को आश्चर्यजनक मान लेते हैं। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति ऐसी खोजों से तनिक भी आश्चर्यचकित नहीं होता। वह उस व्यक्ति को सारा श्रेय प्रदान करता है, जिसने विज्ञानी के अद्भुत मस्तिष्क को बनाया। एक सामान्य व्यक्ति भी भौतिक प्रकृति के अद्भुत कार्य से विस्मित होता है और वह सारा श्रेय विराट जगत को प्रदान करता है। किन्तु एक विद्वान कृष्णभावनाभावित व्यक्ति यह भली-भाँति जानता रहता है कि विराट जगत के पीछे कृष्ण का मस्तिष्क कार्य करता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.१०) में हुई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*। चूँकि कृष्ण अद्भुत विराट जगत का संचालन कर सकते हैं, अतएव उनके लिए वराह का विराट रूप धारण करना और फिर पृथ्वी को जल के कीचड़ से निकालना तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है। इसीलिए भक्त अद्भुत शूकर को देखकर चकित नहीं होता, क्योंकि वह जानता रहता है कि भगवान् में अपनी शक्तियों के द्वारा कहीं अधिक आश्चर्यजनक कार्य जो बड़े से बड़े विद्वान विज्ञानी के मस्तिष्क के

लिए अचिन्त्य हैं, करने की क्षमता है।

विधुन्वता वेदमयं निजं वपु-
र्जनस्तपःसत्यनिवासिनो वयम् ।
सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभि-
र्विमृज्यमाना भृशमीश पाविताः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

विधुन्वता—हिलाते हुए; वेद-मयम्—साक्षात् वेद; निजम्—अपना; वपुः—शरीर; जनः—जनलोक; तपः—तपोलोक; सत्य—सत्यलोक; निवासिनः—निवासी; वयम्—हम; सटा—कन्धे तक लटकते बाल; शिख-उद्धूत—चोटी (शिखा) के द्वारा धारण किया हुआ; शिव—शुभ; अम्बु—जल; बिन्दुभिः—कणों के द्वारा; विमृज्यमानाः—छिड़के जाते हुए हम; भृशम्—अत्यधिक; ईश—हे परमेश्वर; पाविताः—पवित्र किये गये।

हे परमेश्वर, निस्सन्देह, हम जन, तप तथा सत्य लोकों जैसे अतीव पवित्र लोकों के निवासी हैं फिर भी हम आपके शरीर के हिलने से आपके कंधों तक लटकते बालों के द्वारा छिड़के गए जल की बूँदों से शुद्ध बन गये हैं।

तात्पर्य : सामान्यतया शूकर का शरीर अशुद्ध माना जाता है, किन्तु हमें यह नहीं मानना चाहिए कि भगवान् द्वारा धारण किया हुआ शूकर अवतार भी अशुद्ध है। भगवान् का वह रूप साक्षात् वेद हैं और दिव्य है। जन, तप तथा सत्य लोकों के निवासी भौतिक विश्व के सर्वाधिक पवित्र व्यक्ति हैं, किन्तु क्योंकि ये लोक भी भौतिक जगत में स्थित हैं, अतएव उनमें भी अनेकानेक भौतिक अशुद्धियाँ हैं। इसलिए जब भगवान् के कन्धों तक लटके हुए बालों के अग्रभागों से जल की बूँदें इन उच्चलोकों के निवासियों के शरीरों पर छिडकी गईं तो वे अपने को शुद्ध हुआ अनुभव कर रहे थे। गंगा का जल इसलिए शुद्ध है क्योंकि यह भगवान् के पाँव के अँगूठे से निकलता है और अँगूठे से निकलने वाले जल तथा भगवान् वराह के कन्धों तक लटकते बालों की छोरों से टपकने वाले जल में कोई अन्तर नहीं हैं। दोनों ही परम और दिव्य हैं।

स वै बत भ्रष्टमतिस्तवैषते
यः कर्मणां पारमपारकर्मणः ।
यद्योगमायागुणयोगमोहितं
विश्वं समस्तं भगवन्विधेहि शम् ॥ ४५॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; बत—हाय; भ्रष्ट-मतिः—मतिभ्रष्ट, मूर्ख; तव—तुम्हारी; एषते—इच्छाएँ; यः—जो; कर्मणाम्—कर्मों का; पारम्—सीमा; अपार-कर्मणः—असीम कर्मों वाले का; यत्—जिससे; योग—योगशक्ति; माया—शक्ति; गुण—भौतिक प्रकृति के गुण; योग—योग शक्ति; मोहितम्—मोहग्रस्त; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; समस्तम्—सम्पूर्ण; भगवन्—हे भगवान्; विधेहि—वर दें; शम्—सौभाग्य।

हे प्रभु, आपके अद्‌भुत कार्यों की कोई सीमा नहीं है। जो भी व्यक्ति आपके कार्यों की सीमा जानना चाहता है, वह निश्चय ही मतिभ्रष्ट है। इस जगत में हर व्यक्ति प्रबल योगशक्तियों से बँधा हुआ है। कृपया इन बद्धजीवों को अपनी अहैतुकी कृपा प्रदान करें।

तात्पर्य : मनोधर्मी चिन्तक (ज्ञानी), जो असीम की सीमा जानना चाहते हैं निश्चय ही, मतिभ्रष्ट हैं। इनमें से हर एक भगवान् की बहिरंगा शक्तियों द्वारा पाशबद्ध है। उनके लिए सबसे अच्छी बात यह है कि वे भगवान् को अचिन्त्य जानकर उनकी शरण में जाँय, क्योंकि उन्हें इस तरह उनकी अहैतुकी कृपा प्राप्त हो सकती है। यह स्तुति उच्चतर लोकों अर्थात् जन, तप तथा सत्य लोकों के निवासियों द्वारा की गई जो मनुष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिमान तथा शक्तिशाली होते हैं।

यहाँ पर *विश्वं समस्तम्* अत्यन्त सार्थक है। लोक दो तरह के हैं—भौतिक तथा आध्यात्मिक। मुनिगण प्रार्थना करते हैं ''दोनों लोक आपकी विभिन्न शक्तियों द्वारा मोहित हैं। जो लोग आध्यात्मिक जगत में हैं, वे अपने को तथा आपको भी भुलाकर आपकी प्रेमाभक्ति में लीन रहते हैं, जबकि भौतिक जगत के लोग इन्द्रियतृप्ति में डूबे रहते हैं, अतएव वे भी आपको भुला देते हैं। कोई भी आपको नहीं जान सकता, क्योंकि आप असीम हैं। सबसे उत्तम यही है कि व्यर्थ के मानसिक चिन्तन द्वारा आपको जानने का प्रयास ही न किया जाय प्रत्युत आप हम सबों को आशीर्वाद दें जिससे हम अहैतुकी भक्ति से आपकी पूजा कर सकें।''

मैत्रेय उवाच
इत्युपस्थीयमानोऽसौ मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ।
सलिले स्वखुराक्रान्त उपाधत्तावितावनिम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; इति—इस प्रकार; उपस्थीयमानः—प्रशंसित होकर; असौ—भगवान् वराह; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; ब्रह्म-वादिभिः—अध्यात्मवादियों द्वारा; सलिले—जल में; स्व-खुर-आक्रान्ते—अपने ही खुरों से स्पर्श हुआ; उपाधत्त—रखा; अविता—पालनकर्ता; अवनिम्—पृथ्वी को।

मैत्रेय मुनि ने कहा : इस तरह समस्त महर्षियों तथा दिव्यात्माओं के द्वारा पूजित होकर भगवान् ने अपने खुरों से पृथ्वी का स्पर्श किया और उसे जल पर रख दिया।

तात्पर्य : भगवान् ने अपनी अचिन्त्य शक्ति से पृथ्वी को जल के ऊपर रखा था। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे विशाल लोकों को चाहें तो जल पर या वायु में स्थिर कर सकते हैं। मनुष्य का लघु मस्तिष्क इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता कि भगवान् की ये शक्तियाँ किस तरह कार्य करती हैं। मनुष्य उन नियमों की अस्पष्ट सी व्याख्या कर सकता है जिनसे ऐसी घटनाएँ सम्भव होती हैं, किन्तु वास्तव में लघु मानव मस्तिष्क भगवान् के कार्यों के विषय में कल्पना कर सकने में अशक्त है, इसीलिए वे अचिन्त्य कहलाते हैं। किन्तु तो भी कूपमंडूक दार्शनिक कुछ काल्पनिक व्याख्या करने का प्रयास करते हैं।

स इत्थं भगवानुर्वीं विष्वक्सेनः प्रजापतिः ।
रसाया लीलयोन्नीतामप्सु न्यस्य ययौ हरिः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

सः—वह; इत्थम्—इस तरह से; भगवान्—भगवान्; उर्वीम्—पृथ्वी को; विष्वक्सेनः—विष्णु का अन्य नाम; प्रजा-पतिः—जीवों के स्वामी; रसायाः—जल के भीतर से; लीलया—आसानी से; उन्नीताम्—उठाया हुआ; अप्सु—जल में; न्यस्य—रखकर; ययौ—अपने धाम लौट गये; हरिः—भगवान्।

इस प्रकार से समस्त जीवों के पालनहार भगवान् विष्णु ने पृथ्वी को जल के भीतर से उठाया और उसे जल के ऊपर तैराते हुए रखकर वे अपने धाम को लौट गये।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु विशिष्ट प्रयोजनों के लिए अपने असंख्य अवतारों में अपनी इच्छा से भौतिक लोकों में अवतरित होते हैं और पुनः अपने धाम को चले जाते हैं। जब वे अवतरित होते हैं, तो वे *अवतार* कहलाते हैं, क्योंकि *अवतार* का अर्थ है "अवतरित होने वाला।" न तो स्वयं भगवान्, न ही उनके विशिष्ट भक्त जो इस पृथ्वी पर आते हैं, हम जैसे सामान्य जीव होते हैं।

य एवमेतां हरिमेधसो हरेः
कथां सुभद्रां कथनीयमायिनः ।
शृण्वीत भक्त्या श्रवयेत वोशतीं
जनार्दनोऽस्याशु हृदि प्रसीदति ॥ ४८॥

शब्दार्थ

यः—जो; एवम्—इस प्रकार; एताम्—यह; हरि-मेधसः—भक्त के भौतिक शरीर को विनष्ट करनेवाला; हरेः—भगवान् की; कथाम्—कथा; सु-भद्राम्—मंगलकारी; कथनीय—कहने योग्य; मायिनः—उनकी अन्तरंगा शक्ति द्वारा कृपालु का; शृण्वीत—सुनता है; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; श्रवयेत—अन्यों को भी सुनाता है; वा—अथवा; उशतीम्—अत्यन्त सुहावना; जनार्दनः—भगवान्; अस्य—उसका; आशु—तुरन्त; हृदि—हृदय के भीतर; प्रसीदति—प्रसन्न हो जाता है।

यदि कोई व्यक्ति भगवान् वराह की इस शुभ एवं वर्णनीय कथा को भक्तिभाव से सुनता है अथवा सुनाता है, तो हर एक के हृदय के भीतर स्थित भगवान् अत्यधिक प्रसन्न होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपने विविध अवतारों में प्रकट होते हैं, कार्य करते हैं और अपने पीछे वर्णनात्मक इतिहास छोड़ जाते हैं, जो स्वयं भगवान् जितना ही दिव्य है। हममें से हर व्यक्ति कोई न कोई अद्‌भुत कथा सुनने का इच्छुक रहता है, किन्तु अधिकांश कथाएँ न तो मंगलप्रद होती हैं न सुनने के लायक, क्योंकि वे भौतिक प्रकृति की निम्न गुण वाली हैं। प्रत्येक जीव उत्कृष्ट गुण का अर्थात् आत्मा है और कोई भी भौतिक वस्तु उसके लिए शुभ नहीं हो सकती। इसलिए बुद्धिमान लोगों को भगवान् की विवरणात्मक दृष्टान्त स्वयं सुनने चाहिए और अन्यों को भी सुनने के लिए बाध्य करना चाहिए, क्योंकि इससे संसार का ताप विनष्ट होगा। भगवान् एकमात्र अपनी अहैतुकी कृपा से इस पृथ्वी पर आते हैं और अपने कृपामय कार्यकलापों को पीछे छोड़ते जाते हैं जिससे कि भक्तगण दिव्य लाभ उठा सकें।

तस्मिन्प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ
किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः ।
अनन्यदृष्ट्या भजतां गुहाशयः
स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उन; प्रसन्ने—प्रसन्न होने पर; सकल-आशिषाम्—सारे आशीर्वादों का; प्रभौ—भगवान् को; किम्—वह क्या है; दुर्लभम्—प्राप्त कर सकना अतीव कठिन; ताभिः—उनके साथ; अलम्—दूर; लव-आत्मभिः—क्षुद्र लाभ सहित; अनन्य-दृष्ट्या—अन्य कुछ से नहीं अपितु भक्ति से; भजताम्—भक्ति में लगे हुओं का; गुहा-आशयः—हृदय के भीतर निवास करने वाले; स्वयम्—स्वयं; विधत्ते—सम्पन्न करता है; स्व-गतिम्—अपने धाम में; परः—परम; पराम्—दिव्य।

जब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् किसी पर प्रसन्न होते हैं, तो उसके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता। दिव्य उपलब्धि के द्वारा मनुष्य अन्य प्रत्येक वस्तु को नगण्य मानता है। जो व्यक्ति दिव्य प्रेमाभक्ति में अपने को लगाता है, वह हर व्यक्ति के हृदय में स्थित भगवान् के द्वारा सर्वोच्च सिद्धावस्था तक ऊपर उठा दिया जाता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्‌गीता* (१०.१०) में कहा गया है, भगवान् शुद्ध भक्तों को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वे सर्वोच्च सिद्धि-अवस्था तक ऊपर उठाये जा सकें। यहाँ पर इस बात की पुष्टि की गई है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगे रहने वाले शुद्ध भक्त को वह समस्त

ज्ञान प्रदान किया जाता है, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तक पहुँचने के लिए आवश्यक है। ऐसे भक्त के लिए भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त किया जाना मूल्यवान नहीं है। यदि कोई व्यक्ति श्रद्धापूर्वक सेवा करता है, तो निराशा की कोई सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि भक्त की प्रगति का भार स्वयं भगवान् ले लेते हैं। भगवान् हर एक के हृदय में आसीन हैं और वे भक्त के मन्तव्य को जानते हैं तथा उपलब्ध हो सकने वाली हर वस्तु की व्यवस्था करते हैं। दूसरे शब्दों में, छद्म भक्त, जो कि भौतिक लाभ पाने के लिए उत्सुक रहता है सर्वोच्च सिद्धि-अवस्था इसलिए प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि भगवान् को उसके गन्तव्य की जानकारी रहती है। मनुष्य को अपने उद्देश्य में केवल निष्ठावान बनने की आवश्यकता है। फिर तो भगवान् सभी तरह से उसकी सहायता करने के लिए वहाँ पर मौजूद रहते हैं।

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्
पुराकथानां भगवत्कथासुधाम् ।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा-
महो विरज्येत विना नरेतरम् ॥५०॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नाम—निस्सन्देह; लोके—संसार में; पुरुष-अर्थ—जीवन-लक्ष्य; सार-वित्—सार को जानने वाला; पुरा-कथानाम्—सारे विगत इतिहासों में; भगवत्—भगवान् विषयक; कथा-सुधाम्—भगवान् विषयक कथाओं का अमृत; आपीय—पीकर; कर्ण-अञ्जलिभिः—कानों के द्वारा ग्रहण करके; भव-अपहाम्—सारे भौतिक तापों को नष्ट करने वाला; अहो—हाय; विरज्येत—मना कर सकता है; विना—बिना; नर-इतरम्—मनुष्येतर प्राणी।. बेइन्ग्.

मनुष्य के अतिरिक्त ऐसा प्राणी कौन है, जो इस जगत में विद्यमान हो और जीवन के चरम लक्ष्य के प्रति रुचि न रखता हो? भला कौन ऐसा है, जो भगवान् के कार्यों से सम्बन्धित उन कथाओं के अमृत से मुख मोड़ सके जो मनुष्य को समस्त भौतिक तापों से उबार सकती हैं?

तात्पर्य : भगवान् के कार्यों की कथा अमृत के सतत प्रवाह के तुल्य है। ऐसे अमृत को पीने से इनकार वही कर सकता है, जो मनुष्य नहीं है। हर मनुष्य के लिए भगवद्भक्ति जीव का सर्वोच्च लक्ष्य है और ऐसा भक्तियोग भगवान् के दिव्य कार्यों को श्रवण करने से शुरू होता है। केवल कोई पशु या ऐसा मनुष्य जो आचरण में पशुप्राय है, भगवान् का सन्देश सुनने में रुचि लेने से इनकार करेगा। संसार में कथाओं तथा इतिहासों के अनेक ग्रन्थ हैं, किन्तु भगवान् की कथाओं के इतिहासों या कथाओं को छोड़कर उनमें से कोई भी भवताप के भार को कम करने में समर्थ नहीं है। अतएव जो व्यक्ति भौतिक

जीवन का निराकरण करना चाहता है उसे भगवान् के दिव्य कार्यों के विषय में कीर्तन तथा श्रवण करना चाहिए। अन्यथा उस मनुष्य की तुलना अमनुष्यों से की जानी चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''वराह भगवान् का प्राकट्य'' नामक तेरहवें अध्याय के भक्ति वेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

संध्या समय दिति का गर्भ-धारण

श्रीशुक उवाच
निशम्य कौषारविणोपवर्णितां
हरेः कथां कारणसूकरात्मनः ।
पुनः स पप्रच्छ तमुद्यताञ्जलि-
र्न चातितृप्तो विदुरो धृतव्रतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; निशम्य—सुनकर; कौषारविणा—मैत्रेय मुनि द्वारा; उपवर्णिताम्—वर्णित; हरेः—भगवान् की; कथाम्—कथा; कारण—पृथ्वी उठाने के कारण; सूकर-आत्मनः—सूकर अवतार; पुनः—फिर; सः—उसने; पप्रच्छ—पूछा; तम्—उस (मैत्रेय) से; उद्यत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े हुए; न—कभी नहीं; च—भी; अति-तृप्तः—अत्यधिक तुष्ट; विदुरः—विदुर; धृत-व्रतः—व्रत लिए हुए।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : महर्षि मैत्रेय से वराह रूप में भगवान् के अवतार के विषय में सुनकर दृढ़संकल्प विदुर ने हाथ जोड़कर उनसे भगवान् के अगले दिव्य कार्यों के विषय में सुनाने की प्रार्थना की, क्योंकि वे (विदुर) अब भी तुष्ट अनुभव नहीं कर रहे थे।

विदुर उवाच
तेनैव तु मुनिश्रेष्ठ हरिणा यज्ञमूर्तिना ।
आदिदैत्यो हिरण्याक्षो हत इत्यनुशुश्रुम ॥ २ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—श्री विदुर ने कहा; तेन—उसके द्वारा; एव—निश्चय ही; तु—लेकिन; मुनि-श्रेष्ठ—हे मुनियों में श्रेष्ठ; हरिणा—भगवान् द्वारा; यज्ञ-मूर्तिना—यज्ञ का स्वरूप; आदि—मूल; दैत्यः—असुर; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष नामक; हतः—मारा गया; इति—इस प्रकार; अनुशुश्रुम—उसी क्रम में सुना है।

श्री विदुर ने कहा : हे मुनिश्रेष्ठ, मैंने शिष्य-परम्परा से यह सुना है कि आदि असुर हिरण्याक्ष उन्हीं यज्ञ रूप भगवान् (वराह) द्वारा मारा गया था।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, वराह अवतार दो कल्पों में प्रकट हुआ था—स्वायम्भुव कल्प तथा चाक्षुष कल्प। दोनों ही कल्पों में भगवान् का वराह अवतार हुआ था, किन्तु स्वायम्भुव कल्प में उन्होंने ब्रह्माण्ड के जल के भीतर से पृथ्वी को ऊपर उठाया था जबकि चाक्षुष कल्प में उन्होंने प्रथम असुर हिरण्याक्ष का वध किया था। स्वायम्भुव कल्प में उन्होंने श्वेत रंग धारण किया था और चाक्षुष कल्प में लाल। विदुर ने पहले ही इनमें से एक के विषय में सुन रखा था और अब वे दूसरे के

विषय में सुनने का प्रस्ताव कर रहे थे। ये दोनों भिन्न-भिन्न वर्णित अवतार एक ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।

तस्य चोद्धरतः क्षौणीं स्वदंष्ट्राग्रेण लीलया ।
दैत्यराजस्य च ब्रह्मन्कस्माद्धेतोरभून्मृधः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; च—भी; उद्धरतः—उठाते हुए; क्षौणीम्—पृथ्वी लोक को; स्व-दंष्ट्र-अग्रेण—अपनी दाढ़ के सिरे से; लीलया—अपनी लीला में; दैत्य-राजस्य—दैत्यों के राजा का; च—तथा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; कस्मात्—किस; हेतोः—कारण से; अभूत्—हुआ; मृधः—युद्ध।

हे ब्राह्मण, जब भगवान् अपनी लीला के रूप में पृथ्वी ऊपर उठा रहे थे, तब उस असुरराज तथा भगवान् वराह के बीच, युद्ध का क्या कारण था?

श्रद्दधानाय भक्ताय ब्रूहि तज्जन्मविस्तरम् ।
ऋषे न तृप्यति मनः परं कौतूहलं हि मे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

श्रद्दधानाय—श्रद्धावान पुरुष के लिए; भक्ताय—भक्त के लिए; ब्रूहि—कृपया बतलाएँ; तत्—उसका; जन्म—आविर्भाव; विस्तरम्—विस्तार से; ऋषे—हे ऋषि; न—नहीं; तृप्यति—सन्तुष्ट होता है; मनः—मन; परम्—अत्यधिक; कौतूहलम्—जिज्ञासु; हि—निश्चय ही; मे—मेरा।

मेरा मन अत्यधिक जिज्ञासु बन चुका है, अतएव भगवान् के आविर्भाव की कथा सुन कर मुझे तुष्टि नहीं हो रही है। इसलिए आप इस श्रद्धावान् भक्त से और अधिक कहें।

तात्पर्य : जो वास्तव में श्रद्धावान् तथा जिज्ञासु होता है, वही भगवान् के आविर्भाव तथा तिरोभाव की दिव्य लीलाएँ सुनने के लिए सुपात्र है। विदुर ऐसे दिव्य सन्देशों को ग्रहण करने के उपयुक्त पात्र थे।

मैत्रेय उवाच
साधु वीर त्वया पृष्टमवतारकथां हरेः ।
यत्त्वं पृच्छसि मर्त्यानां मृत्युपाशविशातनीम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; साधु—भक्त; वीर—हे योद्धा; त्वया—तुम्हारे द्वारा; पृष्टम्—पूछी गयी; अवतार-कथाम्—अवतार की कथाएँ; हरेः—भगवान् की; यत्—जो; त्वम्—तुम स्वयं; पृच्छसि—मुझसे पूछ रहे हो; मर्त्यानाम्—मर्त्यों के; मृत्यु-पाश—जन्म-मृत्यु की शृंखला; विशातनीम्—मोक्ष का स्रोत।

महर्षि मैत्रेय ने कहा : हे योद्धा, तुम्हारे द्वारा की गई जिज्ञासा एक भक्त के अनुरूप है,

क्योंकि इसका सम्बन्ध भगवान् के अवतार से है। वे मर्त्यों को जन्म-मृत्यु की शृंखला से मोक्ष दिलाने वाले हैं।

तात्पर्य : महर्षि मैत्रेय ने विदुर को योद्धा के रूप में सम्बोधित किया, क्योंकि वे न केवल कुरुवंश से सम्बन्धित थे, अपितु वराह तथा नृसिंह अवतारों में भगवान् के वीरतापूर्ण कार्यों के विषय में सुनने के लिए उत्सुक थे। चूँकि ये जिज्ञासाएँ भगवान् के विषय में थीं इसलिए ये एक भक्त के सर्वथा अनुकूल थीं। भक्त को अन्य किसी संसारी कथा सुनने में कोई रुचि नहीं रहती। वैसे संसारी युद्ध की अनेक कथाएँ हैं, किन्तु भक्त इन्हें सुनने के लिए उन्मुख नहीं होता। भगवान् जिन युद्धकथाओं में भाग लेते हैं उनमें मृत्यु का युद्ध नहीं रहता, अपितु मायापाश के विरुद्ध युद्ध होता है, जिसके कारण मनुष्य को बारम्बार जन्म तथा मृत्यु स्वीकार करनी पड़ती है। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति भगवान् की युद्धकथाओं के सुनने में आनन्द प्राप्त करता है, वह जन्म-मृत्यु के पाश से मुक्त हो जाता है। मूर्ख लोग कुरुक्षेत्र के युद्ध में कृष्ण के सम्मिलित होने के विषय में सन्देह करते हैं, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि उनके भाग लेने से उन लोगों की मुक्ति सुनिश्चित हो गई थी जो युद्धभूमि में उपस्थित थे। भीष्मदेव ने कहा है कि कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में उपस्थित सारे लोगों को मृत्यु के बाद उन्हें अपने मूल आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हो गये। अतएव भगवान् की युद्धकथाओं का सुनना अन्य किसी भक्ति के ही समान है।

ययोत्तानपदः पुत्रो मुनिना गीतयार्भकः ।
मृत्योः कृत्वैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पदम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यया—जिससे; उत्तानपदः—राजा उत्तानपाद; पुत्रः—पुत्र; मुनिना—मुनि द्वारा; गीतया—गाया जाकर; अर्भकः—शिशु; मृत्योः—मृत्यु का; कृत्वा—रखते हुए; एव—निश्चय ही; मूर्ध्नि—सिर पर; अङ्घ्रिम्—पाँव; आरुरोह—चढ़ गया; हरेः—भगवान् के; पदम्—धाम तक।

इन कथाओं को मुनि (नारद) से सुनकर राजा उत्तानपाद का पुत्र (ध्रुव) भगवान् के विषय में प्रबुद्ध हो सका और मृत्यु के सिर पर पाँव रखते हुए वह भगवान् के धाम पहुँच गया।

तात्पर्य : अपना शरीर त्याग करते समय राजा उत्तानपाद के पुत्र महाराज ध्रुव के पास सुनन्द तथा अन्य पुरुष आये जिन्होंने भगवद्धाम में उनका स्वागत किया। उन्होंने अल्पायु में, जब वे बालक ही थे,

इस संसार को त्याग दिया था, यद्यपि उन्होंने अपने पिता का सिंहासन प्राप्त कर लिया था और उनके अपने कई पुत्र भी थे। चूँकि उन्हें इस संसार को छोड़ना था, इसलिए मृत्यु उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। किन्तु उन्होंने मृत्यु की परवाह नहीं की और वे उसी शरीर सहित एक आध्यात्मिक विमान पर आरूढ़ होकर उन महर्षि नारद की संगति के कारण सीधे विष्णुलोक पहुँचे जिन्होंने उन्हें भगवान् की लीलाएँ सुनाई थीं।

अथात्रापीतिहासोऽयं श्रुतो मे वर्णितः पुरा ।
ब्रह्मणा देवदेवेन देवानामनुपृच्छताम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

अथ—अब; अत्र—इस विषय में; अपि—भी; इतिहासः—इतिहास; अयम्—यह; श्रुतः—सुना हुआ; मे—मेरे द्वारा; वर्णितः—वर्णित; पुरा—वर्षो बीते; ब्रह्मणा—ब्रह्मा द्वारा; देव-देवेन—देवताओं में अग्रणी; देवानाम्—देवताओं द्वारा; अनुपृच्छताम्—पूछने पर।

वराह रूप भगवान् तथा हिरण्याक्ष असुर के मध्य युद्ध का यह इतिहास मैंने बहुत वर्षों पूर्व तब सुना था जब यह देवताओं के अग्रणी ब्रह्मा द्वारा अन्य देवताओं के पूछे जाने पर वर्णन किया गया था।

दितिर्दाक्षायणी क्षत्तर्मारीचं कश्यपं पतिम् ।
अपत्यकामा चकमे सन्ध्यायां हृच्छयार्दिता ॥ ८॥

शब्दार्थ

दितिः—दिति; दाक्षायणी—दक्ष कन्या; क्षत्तः—हे विदुर; मारीचम्—मरीचि का पुत्र; कश्यपम्—कश्यप से; पतिम्—अपने पति; अपत्य-कामा—सन्तान की इच्छुक; चकमे—इच्छा की; सन्ध्यायाम्—सायंकाल; हृत्-शय—यौन इच्छा से; अर्दिता—पीड़ित।

दक्ष-कन्या दिति ने कामेच्छा से पीड़ित होकर संध्या के समय अपने पति मरीचि पुत्र कश्यप से सन्तान उत्पन्न करने के उद्देश्य से संभोग करने के लिए प्रार्थना की।

इष्ट्वाग्निजिह्वं पयसा पुरुषं यजुषां पतिम् ।
निम्लोचत्यर्क आसीनमग्न्यगारे समाहितम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

इष्ट्वा—पूजा करके; अग्नि—अग्नि; जिह्वम्—जीभ को; पयसा—आहुति से; पुरुषम्—परम पुरुष को; यजुषाम्—समस्त यज्ञों के; पतिम्—स्वामी; निम्लोचति—अस्त होते हुए; अर्के—सूर्य; आसीनम्—बैठे हुए; अग्नि-अगारे—यज्ञशाला में; समाहितम्—पूर्णतया समाधि में।

सूर्य अस्त हो रहा था और मुनि भगवान् विष्णु को, जिनकी जीभ यज्ञ की अग्नि है, आहुति देने के बाद समाधि में आसीन थे।

तात्पर्य : अग्नि को भगवान् विष्णु की जीभ माना जाता है और अग्नि में अन्न तथा घी की जो आहुतियाँ डाली जाती हैं, वे उनके द्वारा स्वीकार की जाती हैं। यह उन सभी यज्ञों का नियम है जिनके स्वामी भगवान् विष्णु हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् विष्णु की तुष्टि में सारे देवताओं तथा अन्य जीवों की तुष्टि सम्मिलित रहती है।

दितिरुवाच
एष मां त्वत्कृते विद्वन्काम आत्तशरासनः ।
दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

दितिः उवाच—सुन्दरी दिति ने कहा; एषः—ये सब; माम्—मुझको; त्वत्-कृते—आपके लिए; विद्वन्—हे विद्वान; कामः—कामदेव; आत्त-शरासनः—अपने तीर लेकर; दुनोति—पीड़ित करता है; दीनाम्—मुझ दीना को; विक्रम्य—आक्रमण करके; रम्भाम्—केले के वृक्ष पर; इव—सदृश; मतम्-गजः—उन्मत्त हाथी।

उस स्थान पर सुन्दरी दिति ने अपनी इच्छा व्यक्त की : हे विद्वान, कामदेव अपने तीर लेकर मुझे बलपूर्वक उसी तरह सता रहा है, जिस तरह उन्मत्त हाथी एक केले के वृक्ष को झकझोरता है।

तात्पर्य : अपने पति को समाधिस्थ देखकर सुन्दरी दिति ने जोर जोर से बोलना शुरु किया। उसने अपने शारीरिक हावभाव से उन्हें आकृष्ट करने का प्रयास नहीं किया। उसने खुलकर कहा कि उसके पति की उपस्थिति के कारण उसका सारा शरीर कामेच्छा से उसी तरह पीड़ित हो रहा है, जिस तरह उन्मत्त हाथी द्वारा केले का वृक्ष झकझोरा जाता है। यद्यपि समाधि में लीन पति को चलायमान करना उसे स्वाभाविक नहीं लगा, किन्तु वह अपनी प्रबल काम-क्षुधा को रोक नहीं पाई। उसकी कामेच्छा उन्मत्त हाथी के समान थी, अतएव उसके पति का यह पहला कर्तव्य था कि उसकी इच्छा पूरी करके उसे सभी तरह का संरक्षण प्रदान करे।

तद्भवान्दह्यमानायां सपत्नीनां समृद्धिभिः ।
प्रजावतीनां भद्रं ते मय्यायुङ्क्तामनुग्रहम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; भवान्—आप; दह्यमानायाम्—सताई जा रही; स-पत्नीनाम्—सौतों की; समृद्धिभिः—समृद्धि द्वारा; प्रजा-वतीनाम्—सन्तान वालियों की; भद्रम्—समस्त समृद्धि; ते—तुमको; मयि—मुझको; आयुङ्क्ष्याम्—सभी तरह से, मुझपर करें; अनुग्रहम्—कृपा।

अतएव आपको मुझ पर पूर्ण दया दिखाते हुए मेरे प्रति कृपालु होना चाहिए। मुझे पुत्र प्राप्त करने की चाह है और मैं अपनी सौतों का ऐश्वर्य देखकर अत्यधिक व्यथित हूँ। इस कृत्य को करने से आप सुखी हो सकेंगे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में सन्तानोत्पत्ति के लिए संभोग को धर्मोचित बताया गया है। किन्तु केवल इन्दियतृप्ति के लिए कामोन्मुख होना उचित नहीं है। संभोग के लिए अपने पति से दिति की याचना में ऐसा कुछ नहीं था कि वह कामेच्छा से पीड़ित थी, अपितु वह पुत्र चाहती थी। चूँकि उसके कोई पुत्र न था इसलिए वह स्वयं को अपनी सौतों की अपेक्षा हेय समझ रही थी। अत: कश्यप से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपनी प्रामाणिक पत्नी को तुष्ट करें।

भर्तर्याप्तोरुमानानां लोकानाविशते यशः ।
पतिर्भवद्विधो यासां प्रजया ननु जायते ॥ १२॥

शब्दार्थ

भर्तरि—पति द्वारा; आप्त-उरुमानानाम्—प्रेयसियों का; लोकान्—संसार में; आविशते—फैलता है; यशः—यश; पतिः—पति; भवत्-विधः—आपकी तरह; यासाम्—जिसकी; प्रजया—सन्तानों द्वारा; ननु—निश्चय ही; जायते—विस्तार करता है।

एक स्त्री अपने पति के आशीर्वाद से संसार में आदर पाती है और सन्तानें होने से आप जैसा पति प्रसिद्धि पाएगा, क्योंकि आप जीवों के विस्तार के निमित्त ही हैं।

तात्पर्य : ऋषभदेव के अनुसार किसी को तब तक पिता या माता नहीं बनना चाहिए जब तक वह विश्वस्त न हो ले कि वह जिन सन्तानों को उत्पन्न करेगा उन्हें वह जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्ति दिला सकेगा। मानव जीवन ही उस भौतिक घेरे से बाहर निकलने का एकमात्र अवसर है, जो जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग के कष्टों से पूरित है। हर व्यक्ति को अपने मनुष्य जीवन का लाभ उठाने का अवसर मिलना चाहिए और कश्यप जैसे पिता से आशा की जाती है कि मोक्ष के प्रयोजन से वे अच्छी सन्तानें उत्पन्न करें।

पुरा पिता नो भगवान्दक्षो दुहितृवत्सलः ।
कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक् ॥ १३॥

शब्दार्थ

पुरा—बुहत काल पूर्व; पिता—पिता; नः—हमारा; भगवान्—अत्यन्त ऐश्वर्यवान्; दक्षः—दक्ष; दुहितृ-वत्सलः—अपनी पुत्रियों के प्रति स्नेहिल; कम्—किसको; वृणीत—तुम स्वीकार करना चाहते हो; वरम्—अपना पति; वत्साः—हे मेरी सन्तानो; इति—इस प्रकार; अपृच्छत—पूछा; नः—हमसे; पृथक्—अलग अलग।

बहुत काल पूर्व अत्यन्त ऐश्वर्यवान हमारे पिता दक्ष ने, जो अपनी पुत्रियों के प्रति अत्यन्त वत्सल थे, हममें से हर एक को अलग अलग से पूछा कि तुम किसे अपने पति के रूप में चुनना चाहोगी।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि पिता द्वारा पति के स्वतंत्र चुनाव की तो अनुमति पुत्री को दी जाती थी, किन्तु स्वच्छन्द संगति के द्वारा नहीं। पुत्रियों को अलग अलग से कहा गया कि वे ऐसे पति का चुनाव करें जो अपने कार्यों तथा व्यक्तित्व के लिए विख्यात हो। अन्तिम चुनाव पिता की रुचि पर निर्भर करता था।

स विदित्वात्मजानां नो भावं सन्तानभावनः ।
त्रयोदशाददात्तासां यास्ते शीलमनुव्रताः ॥ १४॥

शब्दार्थ

सः—दक्ष; विदित्वा—समझ करके; आत्म-जानाम्—अपनी पुत्रियों के; नः—हमारा; भावम्—संकेत; सन्तान—सन्तानों का; भावनः—हितैषी; त्रयोदश—तेरह; अददात्—प्रदान किया; तासाम्—उन सबों का; याः—जो हैं; ते—तुम्हारे; शीलम्—आचरण; अनुव्रताः—सभी आज्ञाकारिणी।

हमारे शुभाकांक्षी पिता दक्ष ने हमारे मनोभावों को जानकर अपनी तेरहों कन्याएँ आपको समर्पित कर दीं और तबसे हम सभी आपकी आज्ञाकारिणी रही हैं।

तात्पर्य : सामान्यतया कन्याएँ अपने पिता के समक्ष अपना मत व्यक्त करने में सकुचाती थीं, किन्तु पिता पुत्रियों के मनोभावों को अन्य किसी के माध्यम से यथा दादी के माध्यम से जिसके साथ पौत्रियों की सीधी पहुँच होती थी, स्वीकार कर लेता था। राजा दक्ष ने अपनी पुत्रियों का मत जाना और इस तरह तेरहों को कश्यप को प्रदान कर दिया। दिति की हर बहिन बच्चों की माता थी। अतएव वह सन्तानहीन क्यों बनी रहे जबकि वह उसी पति के प्रति समान रूप से आज्ञाकारिणी थी?

अथ मे कुरु कल्याणं कामं कमललोचन ।
आर्तोपसर्पणं भूमन्नमोघं हि महीयसि ॥ १५॥

शब्दार्थ

अथ—इसलिए; मे—मेरा; कुरु—कीजिये; कल्याणम्—कल्याण; कामम्—इच्छा; कमल-लोचन—हे कमल सदृश नेत्र वाले; आर्त—पीड़ित; उपसर्पणम्—निकट आना; भूमन्—हे महान्; अमोघम्—जो विफल न हो; हि—निश्चय ही; महीयसि—महापुरुष के प्रति।

हे कमललोचन, कृपया मेरी इच्छा पूरी करके मुझे आशीर्वाद दें। जब कोई त्रस्त होकर किसी महापुरुष के पास पहुँचता है, तो उसकी याचना कभी भी व्यर्थ नहीं होनी चाहिए।

तात्पर्य : दिति अच्छी तरह जानती थी कि असामयिक स्थिति के कारण उसकी विनती अस्वीकृत हो सकती है, किन्तु उसने याचना की कि जब आपातकाल हो या त्रासपूर्ण स्थिति आए तो काल या परिस्थिति पर विचार नहीं किया जाता।

इति तां वीर मारीचः कृपणां बहुभाषिणीम् ।
प्रत्याहानुनयन्वाचा प्रवृद्धानङ्गकश्मलाम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ताम्—उस; वीर—हे वीर; मारीचः—मरीचि पुत्र (कश्यप); कृपणाम्—निर्धन को; बहु-भाषिणीम्—अत्यधिक बातूनी को; प्रत्याह—उत्तर दिया; अनुनयन्—शान्त करते हुए; वाचा—शब्दों से; प्रवृद्ध—अत्यधिक उत्तेजित; अनङ्ग—कामवासना; कश्मलाम्—दूषित।

हे वीर (विदुर), इस तरह कामवासना के कल्मष से ग्रस्त, और इसलिए असहाय एवं बड़बड़ाती हुई दिति को मरीचिपुत्र ने समुचित शब्दों से शान्त किया।

तात्पर्य : जब कोई पुरुष या स्त्री कामवासना से ग्रस्त होता है, तो इसे पापपूर्ण कल्मष कहा जाता है। कश्यप अपने आध्यात्मिक कार्यों में संलग्न थे तो भी उनमें इतनी शक्ति न थी कि वे अपनी पत्नी को मना कर सकते जो इस तरह पीड़ित थी। वे कठोर शब्दों में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए इनकार कर सकते थे, किन्तु वे विदुर की तरह आध्यात्मिक रूप से बलवान् नहीं थे। विदुर को यहाँ वीर कहकर सम्बोधित किया गया है, क्योंकि भगवद्भक्त की अपेक्षा आत्मसंयम में कोई भी अधिक बलवान नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि कश्यप पहले से अपनी पत्नी के साथ सम्भोग-आनन्द के लिए उन्मुख थे और चूँकि वे दृढ़ व्यक्ति नहीं थे, अतएव उन्होंने केवल सान्त्वनाप्रद शब्दों से उसे विरत करने का प्रयास किया।

एष तेऽहं विधास्यामि प्रियं भीरु यदिच्छसि ।
तस्याः कामं न कः कुर्यात्सिद्धिस्त्रैवर्गिकी यतः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; ते—तुम्हारी विनती; अहम्—मैं; विधास्यामि—सम्पन्न करूँगा; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; भीरु—हे डरी हुई; यत्—जो; इच्छसि—तुम चाह रही हो; तस्याः—उसकी; कामम्—इच्छाएँ; न—नहीं; कः—कौन; कुर्यात्—करेगा; सिद्धिः—मुक्ति की सिद्धि; त्रैवर्गिकी—तीन; यतः—जिससे।

हे भीरु, तुम्हें जो भी इच्छा प्रिय हो उसे मैं तुरन्त तृप्त करूँगा, क्योंकि तुम्हारे अतिरिक्त मुक्ति की तीन सिद्धियों का स्रोत और कौन है?

तात्पर्य : मुक्ति की तीन सिद्धियाँ हैं—धर्म, अर्थ तथा काम। बद्धात्मा के लिए स्त्री को मुक्ति का स्रोत माना जाता है, क्योंकि वह अपने पति की चरम मुक्ति के लिए उसकी सेवा करती है। बद्ध भौतिक जगत इन्द्रियतृप्ति पर आधारित है और यदि सौभाग्यवश किसी को अच्छी पत्नी मिल जाती है, तो उसे सभी प्रकार से अपनी पत्नी की सहायता प्राप्त होती है। यदि वह अपने बद्धजीवन में विचलित होता रहता है, तो वह भौतिक कल्मष में अधिकाधिक फँसता जाता है। एक आज्ञाकारिणी पत्नी से उम्मीद की जाती है कि वह अपने पति की समस्त भौतिक इच्छाओं को पूरा करने में सहयोग करे जिससे वह सारे सुख जुटा सके और जीवनसिद्धि के लिए आध्यात्मिक कार्य सम्पन्न कर सके। किन्तु यदि पति आध्यात्मिक उन्नति में प्रगतिशील है, तो उसकी पत्नी निश्चय ही उसके कार्यों में हाथ बँटाती है और तब पति-पत्नी दोनों ही आध्यात्मिक सिद्धि से लाभ उठाते हैं। इसलिए यह अत्यावश्यक है कि बालिकाओं तथा बालकों को आध्यात्मिक कर्तव्य करने के लिए प्रशिक्षित किया जाय जिससे सहयोग की आवश्यकता उपस्थित होने पर दोनों लाभान्वित हो सकें। बालक का प्रशिक्षण *ब्रह्मचर्य* है और बालिका का कौमार्य। आज्ञाकारिणी पत्नी तथा अध्यात्मशिक्षित *ब्रह्मचारी* मानव उद्देश्य की प्रगति के लिए उत्तम संयोग है।

सर्वाश्रमानुपादाय स्वाश्रमेण कलत्रवान् ।
व्यसनार्णवमत्येति जलयानैर्यथार्णवम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सर्व—समस्त; आश्रमान्—सामाजिक व्यवस्थाओं, आश्रमों को; उपादाय—पूर्ण करके; स्व—अपने; आश्रमेण—आश्रमों के द्वारा; कलत्र-वान्—अपनी पत्नी के साथ रहने वाला व्यक्ति; व्यसन-अर्णवम्—संसार रूपी भयावह सागर; अत्येति—पार कर सकता है; जल-यानैः—समुद्री जहाजों द्वारा; यथा—जिस तरह; अर्णवम्—समुद्र को।

जिस तरह जहाजों के द्वारा समुद्र को पार किया जा सकता है उसी तरह मनुष्य पत्नी के साथ रहते हुए भवसागर की भयावह स्थिति से पार हो सकता है।

तात्पर्य : संसार से मोक्ष के प्रयास में सहयोग करने के लिए चार सामाजिक व्यवस्थाएँ अर्थात्

आश्रम हैं। ये हैं—ब्रह्मचर्य या पवित्र छात्र जीवन, पत्नी के साथ गृहस्थ जीवन, वानप्रस्थ तथा संन्यास—सफल प्रगति के लिए ये सभी उस गृहस्थ पर निर्भर करते हैं, जो अपनी पत्नी के साथ रहता है। यह सहयोग जीवन की चार सामाजिक व्यवस्थाओं तथा चार आध्यात्मिक व्यवस्थाओं के सुचारु रूप से कार्य करते रहने के लिए अति आवश्यक है। यह वैदिक वर्णाश्रम प्रणाली सामान्यतया जाति प्रथा कहलाती है। अपनी पत्नी के साथ रहने वाले पुरुष की सबसे बड़ी जिम्मेदारी होती है अन्य आश्रमों के सदस्यों—*ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थों तथा संन्यासियों*—के भरणपोषण की। गृहस्थों को छोड़ कर अन्य सबों से आशा की जाती है कि वे जीवन की आध्यात्मिक प्रगति में लगे रहें, अतएव *ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ* तथा *संन्यासी* को जीविका कमाने के लिए बहुत ही कम समय रहता है। इसलिए वे गृहस्थों से भिक्षा एकत्र करते हैं और इस तरह से जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करते हैं। समाज के अन्य तीन वर्गों को आध्यात्मिक मूल्यों का अनुशीलन करने में सहायता करके गृहस्थ भी आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करता है। अन्ततोगत्वा समाज का हर सदस्य स्वतः आध्यात्मिक रूप से उन्नत बनता है और अविद्या के सागर को सहज ही पार कर जाता है।

यामाहुरात्मनो ह्यर्धं श्रेयस्कामस्य मानिनि ।
यस्यां स्वधुरमध्यस्य पुमांश्चरति विज्वरः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

याम्—जिस पत्नी को; आहुः—कहा जाता है; आत्मनः—शरीर का; हि—इस प्रकार; अर्धम्—आधा; श्रेयः—कल्याण; कामस्य—सारी इच्छाओं का; मानिनि—हे आदरणीया; यस्याम्—जिसमें; स्व-धुरम्—सारे उत्तरदायित्व; अध्यस्य—सौंपकर; पुमान्—पुरुष; चरति—भ्रमण करता है; विज्वरः—निश्चिन्त।

हे आदरणीया, पत्नी इतनी सहायताप्रद होती है कि वह मनुष्य के शरीर की अर्धांगिनी कहलाती है, क्योंकि वह समस्त शुभ कार्यों में हाथ बँटाती है। पुरुष अपनी पत्नी पर जिम्मेदारियों का सारा भार डालकर निश्चिन्त होकर विचरण कर सकता है।

तात्पर्य : वैदिक आदेशानुसार पत्नी को पुरुष के शरीर की अर्धांगिनी माना जाता है, क्योंकि वह पति के आधे कार्यों को सम्पन्न करने के लिए उत्तरदायी मानी जाती है। पारिवारिक पुरुष पर पाँच प्रकार के यज्ञ, जिन्हें *पञ्चयज्ञ* कहते हैं, सम्पन्न करने का भार रहता है, जिससे उसे सभी प्रकार के

अनिवार्य पाप-कर्मों के फलों से छुटकारा मिल सके जो उसकी अपनी दिनचर्या के दौरान हो जाते हैं। जब मनुष्य गुणात्मक रीति से कुत्ते-बिल्लियों की तरह बन जाता है, तो वह आध्यात्मिक मूल्यों का अनुशीलन करने के अपने कर्तव्यों को भूल जाता है और तब वह अपनी पत्नी को इन्द्रियतृप्ति का साधन मान बैठता है। जब पत्नी को इन्द्रियतृप्ति का साधन माना जाता है, तो उसके पीछे व्यक्तिगत सौन्दर्य मुख्य उपादान रहता है और जैसे ही व्यक्तिगत इन्द्रियतृप्ति में कोई अवरोध आता है, तो सम्बन्धो में व्यवधान या तलाक हो जाता है। किन्तु जब पति-पत्नी पारस्परिक सहयोग द्वारा आध्यात्मिक प्रगति को लक्ष्य बनाते हैं, तो वैयक्तिक सौन्दर्य या तथाकथित प्रेम में व्यवधान पर ध्यान नहीं दिया जाता। भौतिक जगत में प्रेम का प्रश्न ही नहीं उठता। विवाह तो वास्तव में एक कर्तव्य है, जिसे आध्यात्मिक प्रगति के लिए प्रामाणिक शास्त्रों के निर्देशानुसार पारस्परिक सहयोग में सम्पन्न किया जाता है। अतएव कुत्तों तथा बिल्लियों के जीवन से बचने के लिए विवाह आवश्यक है, क्योंकि कुत्ते-बिल्ली आध्यात्मिक प्रबुद्धता के लिए नहीं हैं।

यामाश्रित्येन्द्रियारातीन्दुर्जयानितराश्रमैः ।
वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून्दुर्गपतिर्यथा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

याम्—जिसको; आश्रित्य—आश्रय बनाकर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अरातीन्—शत्रुगण; दुर्जयान्—जीत पाना कठिन; इतर—गृहस्थों के अतिरिक्त; आश्रमैः—आश्रमों द्वारा; वयम्—हम; जयेम—जीत सकते हैं; हेलाभिः—आसानी से; दस्यून्—आक्रमणकारी लुटेरों को; दुर्ग-पतिः—किले का सेनानायक; यथा—जिस तरह।

जिस तरह किले का सेनापति आक्रमणकारी लुटेरों को बहुत आसानी से जीत लेता है उसी तरह पत्नी का आश्रय लेकर मनुष्य उन इन्द्रियों को जीत सकता है, जो अन्य आश्रमों में अजेय होती हैं।

तात्पर्य : मानव-समाज के चार आश्रमों—*ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ* तथा *संन्यास* आश्रमों—में से गृहस्थ सुरक्षित है। शारीरिक इन्द्रियाँ शरीर रूपी किले की लुटेरी मानी जाती हैं। पत्नी को किले का सेनापति माना जाता है, अतएव जब कभी शरीर पर इन्द्रियों द्वारा आक्रमण किया जाता है, तो पत्नी ही शरीर को क्षत-विक्षत होने से बचाती है। यौन की भूख हर एक के लिए अपरिहार्य है, किन्तु जिसके पास स्थायी पत्नी होती है, वह इन्द्रिय-शत्रुओं के आक्रमण से बचा लिया जाता है। जिस व्यक्ति के

उत्तम पत्नी होती है, वह कुमारिकाओं को भ्रष्ट करके समाज में उत्पात नहीं मचाता। स्थायी पत्नी के बिना मनुष्य परले सिरे का व्यभिचारी बन जाता है और समाज के लिए अभिशाप होता है जब तक कि वह प्रशिक्षित ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासी न हो। जब तक दक्ष गुरु द्वारा ब्रह्मचारी का कठोर तथा नियमित प्रशिक्षण नहीं होगा और जब तक छात्र आज्ञाकारी नहीं होगा तब तक निश्चय ही तथाकथित ब्रह्मचारी यौन के आक्रमण का शिकार बनता रहेगा। पतन के अनेकानेक उदाहरण हैं—यहाँ तक कि विश्वामित्र जैसे महान् योगी का भी पतन हुआ। किन्तु गृहस्थ अपनी आज्ञाकारिणी पत्नी के कारण सुरक्षित बना रहता है। यौन जीवन भवबन्धन का कारण है इसीलिए इन तीन आश्रमों में इसका निषेध है और एकमात्र गृहस्थ आश्रम में इसकी अनुमति दी जाती है। गृहस्थ उत्तमकोटि के *ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थों* तथा *संन्यासियों* को उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी है।

न वयं प्रभवस्तां त्वामनुकर्तुं गृहेश्वरि ।
अप्यायुषा वा कार्त्स्न्येन ये चान्ये गुणगृध्नवः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; वयम्—हम; प्रभवः—समर्थ हैं; ताम्—उस; त्वाम्—तुमको; अनुकर्तुम्—वही करने के लिए; गृह-ईश्वरि—हे घर की रानी; अपि—के बावजूद; आयुषा—आयु के द्वारा; वा—अथवा (अगले जन्म में); कार्त्स्न्येन—सम्पूर्ण; ये—जो; च—भी; अन्ये—अन्य; गुण-गृध्नवः—गुणों को पहचानने वाले।

हे घर की रानी, हम न तो तुम्हारी तरह कार्य करने में सक्षम हैं, न ही तुमने जो कुछ किया है उससे उऋण हो सकते हैं, चाहे हम अपने जीवन भर या मृत्यु के बाद भी कार्य करते रहें। तुमसे उऋण हो पाना उन लोगों के लिए भी असम्भव है, जो निजी गुणों के प्रशंसक होते हैं।

तात्पर्य : पति द्वारा अपनी पत्नी का अत्यधिक गुण-गान संकेत करता है कि वह स्त्रीवश्य है या मजाक कर रहा है। कश्यप का आशय था कि पत्नियों के साथ रहने वाले गृहस्थ इन्द्रियभोग का स्वर्गिक आशीर्वाद भोगते हैं और साथ ही उनके पतन का भी कोई भय नहीं रहता। संन्यासी के पत्नी नहीं होती, अतः कामेच्छा से वह अन्य स्त्री को या अन्य की पत्नी को ढूँढने के लिए इच्छुक हो सकता है और इस तरह वह नरक जा सकता है। दूसरे शब्दों में, तथाकथित संन्यासी, जिसने घर तथा पत्नी को छोड़ दिया हो, नरक जाता है यदि वह जाने या अनजाने पुनः मैथुन-आनन्द की चाह करता है। इस दृष्टि से गृहस्थ सुरक्षित हैं। अतएव पतिवर्ग इस जीवन में या अगले जीवन में भी पत्नियों के ऋण से

उऋण नहीं हो सकता। यदि वे जीवनभर इसे चुकता करते रहें तो भी यह सम्भावना नहीं। किन्तु सभी पति अपनी पत्नियों के सद्गुणों की सराहना नहीं कर पाते, किन्तु यदि कोई इन गुणों की सराहना करने में समर्थ हो भी जाए तो भी पत्नी के ऋण से उऋण हो पाना सम्भव नहीं है। पति द्वारा अपनी पत्नी की ऐसी असाधारण प्रशंसा निश्चय ही परिहास की मुद्रा में है।

अथापि काममेतं ते प्रजात्यै करवाण्यलम् ।
यथा मां नातिरोचन्ति मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ २२॥

शब्दार्थ

अथ अपि—यद्यपि (यह सम्भव नहीं है); कामम्—यह कामेच्छा; एतम्—जैसी है; ते—तुम्हारा; प्रजात्यै—सन्तानों के लिए; करवाणि—मुझे करने दें; अलम्—बिना विलम्ब किये; यथा—जिस तरह; माम्—मुझको; न—नहीं; अतिरोचन्ति—निन्दा करें; मुहूर्तम्—कुछ क्षण; प्रतिपालय—प्रतीक्षा करो।

यद्यपि मैं तुम्हारे ऋण से उऋण नहीं हो सकता, किन्तु मैं सन्तान उत्पन्न करने के लिए तुम्हारी कामेच्छा को तुरन्त तुष्ट करूँगा। किन्तु तुम केवल कुछ क्षणों तक प्रतीक्षा करो जिससे अन्य लोग मेरी भर्त्सना न कर सकें।

तात्पर्य : भले ही स्त्रीवश्य पति अपनी पत्नी से प्राप्त होने वाले सारे लाभों का ऋण चुका पाने में समर्थ न हो, किन्तु जहाँ तक कामेच्छा की पूर्ति द्वारा सन्तान उत्पन्न करने की बात है, किसी भी पति के लिए यह तनिक भी कठिन नहीं है जब तक कि वह नितान्त नपुंसक न हो। सामान्य परिस्थितियों में पति के लिए यह बहुत ही आसान कार्य है। अत्यन्त उत्सुक होने पर भी कश्यप ने अपनी पत्नी से कुछ क्षणों तक प्रतीक्षा करने के लिए कहा जिससे अन्य लोग उसकी निन्दा न कर सकें। वे अपनी स्थिति की व्याख्या इस प्रकार करते हैं।

एषा घोरतमा वेला घोराणां घोरदर्शना ।
चरन्ति यस्यां भूतानि भूतेशानुचराणि ह ॥ २३॥

शब्दार्थ

एषा—यह समय; घोर-तमा—सर्वाधिक भयावनी; वेला—घड़ी; घोराणाम्—भयावने का; घोर-दर्शना—भयावनी लगनेवाली; चरन्ति—विचरण करते हैं; यस्याम्—जिसमें; भूतानि—भूत-प्रेत; भूत-ईश—भूतों के स्वामी; अनुचराणि—नित्यसंगी; ह—निस्सन्देह।

यह विशिष्ट वेला अतीव अशुभ है, क्योंकि इस वेला में भयावने दिखने वाले भूत तथा भूतों के स्वामी के नित्य संगी दृष्टिगोचर होते हैं।

तात्पर्य : कश्यप अपनी पत्नी दिति से पहले ही क्षण भर के लिए प्रतीक्षा करने के लिए कह चुके थे और अब वे उसे आगाह करते हैं कि यदि इस विशेष वेला पर ध्यान नहीं दिया गया तो इस वेला में अपने स्वामी रुद्र के साथ इधर-उधर विचरण करने वाले भूत-प्रेत अवश्य दण्ड देंगे।

एतस्यां साध्वि सन्ध्यायां भगवान्भूतभावनः ।
परीतो भूतपर्षद्भिर्वृषेणाटति भूतराट् ॥ २४॥

शब्दार्थ

एतस्याम्—इस वेला में; **साध्वि**—हे सती; **सन्ध्यायाम्**—दिन तथा रात के सन्धिकाल में (संध्या समय); **भगवान्**—भगवान्; **भूत-भावनः**—भूतों के हितैषी; **परीतः**—घिरे हुए; **भूत-पर्षद्भिः**—भूतों के संगियों से; **वृषेण**—बैल की पीठ पर; **अटति**—भ्रमण करता है; **भूत-राट्**—भूतों का राजा।

इस वेला में भूतों के राजा शिवजी, अपने वाहन बैल की पीठ पर बैठकर उन भूतों के साथ विचरण करते हैं, जो अपने कल्याण के लिए उनका अनुगमन करते हैं।

तात्पर्य : शिवजी या रुद्र भूतों के राजा हैं। भूतगण शिवजी की इसलिए पूजा करते हैं कि धीरे धीरे वे आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर अग्रसर हो सकें। मायावादी दार्शनिक अधिकांशतया शिवजी के पूजक होते हैं और श्रीपाद शंकराचार्य को शिवजी का अवतार मान लिया जाता है, जो मायावादी दार्शनिकों को ईशविहीनता (नास्तिकता) का उपदेश देते हैं। भूतों के भौतिक शरीर नहीं होते, क्योंकि वे आत्महत्या जैसा घोर पापकर्म किये रहते हैं। मानव समाज में भूतवत् पात्रों का अन्तिम गन्तव्य यह है कि वे भौतिक या आध्यात्मिक आत्महत्या की शरण लें। भौतिक आत्महत्या से भौतिक शरीर की और आध्यात्मिक आत्महत्या से व्यष्टि स्वरूप की हानि होती है। मायावादी दार्शनिक अपने व्यष्टित्व को खोकर निर्विशेष आध्यात्मिक *ब्रह्मज्योति* के अस्तित्व में लीन होना चाहते हैं। शिवजी भूतों पर अत्यधिक कृपालु होने के कारण इस ताक में रहते हैं कि निन्दित होने पर भी इन भूतों को भौतिक शरीर प्राप्त हों। वे उन्हें ऐसी स्त्रियों के गर्भ में स्थापित करते हैं, जो परिस्थिति तथा काल के प्रतिबन्धों की परवाह न करके संभोगरत होती हैं। कश्यप यह बात दिति को समझा देना चाहते थे जिससे वह कुछ क्षण तक प्रतीक्षा कर सके।

श्मशानचक्रानिलधूलिधूम्र
विकीर्णविद्योतजटाकलापः ।

भस्मावगुण्ठामलरुक्मदेहो
देवस्त्रिभिः पश्यति देवरस्ते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

श्मशान—श्मशान भूमि; चक्र-अनिल—बवंडर; धूलि—धूल; धूम्र—धुआँ; विकीर्ण-विद्योत—सौन्दर्य के ऊपर पुता हुआ; जटा-कलापः—जटाओं के गुच्छे; भस्म—राख; अवगुण्ठ—से ढका; अमल—निष्कलंक; रुक्म—लाल; देहः—शरीर; देवः—देवता; त्रिभिः—तीन आँखों वाला; पश्यति—देखता है; देवरः—पति का छोटा भाई; ते—तुम्हारा।

शिवजी का शरीर लालाभ है और वह निष्कलुष है, किन्तु वे उस पर राख पोते रहते हैं। उनकी जटा श्मशान भूमि की बवंडर की धूल से धूसरित रहती है। वे तुम्हारे पति के छोटे भाई हैं—और वे अपने तीन नेत्रों से देखते हैं।

तात्पर्य : शिवजी न तो सामान्य जीव हैं न ही वे विष्णु या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की कोटि में आते हैं। वे ब्रह्मा समेत किसी भी जीव से अधिक शक्तिमान हैं फिर भी वे विष्णु के समान-स्तर पर नहीं हैं। चूँकि शिव भगवान् विष्णु जैसे ही हैं, अतएव वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य देख सकते हैं। उनका एक नेत्र सूर्य के समान है, दूसरा चन्द्रमा के समान तथा उनका तीसरा नेत्र जो उनकी भौहों के बीच में स्थित है, अग्नि तुल्य है। वे अपने बीचवाले नेत्र से अग्नि उत्पन्न कर सकते हैं और वे ब्रह्मा समेत किसी भी जीव को विनष्ट कर सकते हैं फिर भी वे न तो किसी अच्छे घर में तड़क भड़क से रहते हैं, न ही उनके कोई भौतिक सम्पत्ति है यद्यपि वे भौतिक जगत के स्वामी हैं। वे अधिकांशतया श्मशान में रहते हैं जहाँ शव जलाये जाते हैं और श्मशान के बवंडर की धूल ही उनका वस्त्र है। वे भौतिक कल्मष से रंजित नहीं होते। कश्यप ने उन्हें अपना छोटा भाई माना है, क्योंकि दिति (कश्यप पत्नी) की सबसे छोटी बहिन शिवजी को ब्याही थी। बहिन का पति उसका भाई माना जाता है। उस समाजिक सम्बन्ध से शिवजी कश्यप के छोटे भाई ठहरे। कश्यप ने अपनी पत्नी को आगाह किया कि क्योंकि शिवजी उनको संभोगरत देख लेंगे इसलिए यह वेला उपयुक्त नहीं है। हो सकता है कि दिति तर्क करती कि वे किसी एकान्त स्थान में संभोग करेंगे, किन्तु कश्यप ने उसे स्मरण कराया कि शिवजी के तीन नेत्र हैं, जो सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि कहलाते हैं और कोई भी उनकी दृष्टि से बच नहीं सकता जिस तरह विष्णु की दृष्टि से भी कोई बच नहीं सकता। यद्यपि अपराधी को पुलिस देख लेती है, किन्तु कभी कभी उसे तुरन्त दण्ड नहीं मिलता। पुलिस उसे दण्ड दिलाने के लिए उचित समय की प्रतीक्षा करती है। संभोग के लिए निषिद्ध वेला शिवजी द्वारा देख ली जायेगी और दिति भूत जैसे चरित्र वाले

या ईशविहीन निर्विशेषवादी शिशु को जन्म देकर समुचित दण्ड प्राप्त करेगी। कश्यप ने इसे पहले ही देख लिया था इसलिए उन्होंने अपनी पत्नी दिति को आगाह किया।

न यस्य लोके स्वजन: परो वा
नात्यादृतो नोत कश्चिद्विगर्ह्य: ।
वयं व्रतैर्यच्चरणापविद्धा-
माशास्महेऽजां बत भुक्तभोगाम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; यस्य—जिसका; लोके—संसार में; स्व-जन:—अपना; पर:—पराया; वा—न तो; न—न ही; अति—अधिक; आदृत:—अनुकूल; न—नहीं; उत—अथवा; कश्चित्—कोई; विगर्ह्य:—अपराधी; वयम्—हम; व्रतै:—व्रतों के द्वारा; यत्—जिसके; चरण—पाँव; अपविद्धाम्—तिरस्कृत; आशास्महे—सादर पूजा करते हैं; अजाम्—महा-प्रसाद; बत—निश्चय ही; भुक्त-भोगाम्—उच्छिष्ट भोजन।

शिवजी किसी को भी अपना सम्बन्धी नहीं मानते फिर भी ऐसा कोई भी नहीं है, जो उनसे सम्बन्धित न हो। वे किसी को न तो अति अनुकूल, न ही निन्दनीय मानते हैं। हम उनके उच्छिष्ट भोजन की सादर पूजा करते हैं और वे जिसका तिरस्कार करते हैं उसको हम शीश झुका कर स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य : कश्यप ने अपनी पत्नी को बतलाया कि चूँकि शिवजी उनके साढ़ू लगते हैं इसलिए उसे उनके प्रति अपराध करने के लिए प्रोत्साहित नहीं होना चाहिए। कश्यप ने उसे आगाह किया कि वस्तुत: शिवजी न तो किसी से सम्बन्धित हैं न ही कोई उनका शत्रु है। चूँकि वे ब्रह्माण्ड के मामलों के तीन नियंत्रकों में से एक हैं, अतएव वे हर एक पर समदृष्टि रखते हैं। उनकी महानता अतुलनीय है, क्योंकि वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के महान् भक्त हैं। कहा जाता है कि भगवान् के समस्त भक्तों में शिवजी महानतम हैं। इसीलिए उनके द्वारा छोड़ा गया भोज्य पदार्थ अन्य भक्तों द्वारा *महाप्रसाद* के रूप में ग्रहण किया जाता है। भगवान् कृष्ण को अर्पित भोजन का उच्छिष्ट *प्रसाद* कहलाता है, किन्तु जब वही प्रसाद शिवजी जैसे महान् भक्त द्वारा खाया जाता है, तो वह *महाप्रसाद* कहलाता है। शिवजी इतने महान् हैं कि वे उस भौतिक सम्पत्ति की परवाह नहीं करते जिसके लिए हम सभी उत्सुक रहते हैं। पार्वती जी, जो कि साक्षात् शक्तिमयी भौतिक प्रकृति हैं, उनकी पत्नी के रूप में उनके पूर्ण नियंत्रण में हैं; फिर भी वे उनका उपयोग रिहायशी घर बनाने तक के लिए नहीं करते। वे बिना आश्रय के रहना पसन्द करते हैं और उनकी महान् पत्नी भी उनके साथ विनीत भाव से रहने के लिए राजी रहती है।

सामान्य जन शिवजी की पत्नी दुर्गादेवी की पूजा भौतिक सम्पन्नता के लिए करते हैं, किन्तु शिवजी बिना किसी भौतिक इच्छा के उन्हें अपनी सेवा में लगाये रहते हैं। वे अपनी महान् पत्नी को यही उपदेश देते हैं कि सभी प्रकार की पूजाओं में विष्णुपूजा सर्वोपरि है और उससे भी बढ़कर है महान् भक्त की या विष्णु से सम्बन्धित किसी भी वस्तु की पूजा।

यस्यानवद्याचरितं मनीषिणो
गृणन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः ।
निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत्स्वयं
पिशाचचर्यामचरद्गतिः सताम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अनवद्य—अनिंद्य; आचरितम्—चरित्र; मनीषिणः—बड़े बड़े मुनिगण; गृणन्ति—अनुगमन करते हैं; अविद्या—अज्ञान; पटलम्—पिंड; बिभित्सवः—उखाड़ फेंकने के लिए इच्छुक; निरस्त—निरस्त किया हुआ; साम्य—समता; अतिशयः—महानता; अपि—के बावजूद; यत्—क्योंकि; स्वयम्—स्वयं; पिशाच—पिशाच, शैतान; चर्याम्—कार्यकलाप; अचरत्—सम्पन्न किया; गतिः—गन्तव्य; सताम्—भगवद्भक्तों का।

यद्यपि भौतिक जगत में न तो कोई भगवान् शिव के बराबर है, न उनसे बढ़कर है और अविद्या के समूह को छिन्न-भिन्न करने के लिए उनके अनिंद्य चरित्र का महात्माओं द्वारा अनुसरण किया जाता है फिर भी वे सारे भगवद्भक्तों को मोक्ष प्रदान करने के लिए ऐसे बने रहते हैं जैसे कोई पिशाच हो।

तात्पर्य : शिवजी के असंस्कृत, पीशाचीय गुण कभी भी निन्दनीय नहीं होते, क्योंकि वे भगवान् के निष्ठावान भक्तों को सिखाते हैं कि भौतिक भोग से वैराग्य का अभ्यास कैसे किया जाय। वे महादेव कहलाते हैं और इस जगत में न तो कोई उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर। वे भगवान् विष्णु के लगभग तुल्य हैं। यद्यपि वे सदैव माया या दुर्गा के संग रहते हैं, किन्तु वे प्रकृति के तीन गुणों की प्रतिक्रिया अवस्था से ऊपर हैं। यद्यपि वे तमोगुणी पिशाचों के अधिकारी हैं, किन्तु वे ऐसी संगति से प्रभावित नहीं होते।

हसन्ति यस्याचरितं हि दुर्भगाः
स्वात्मन्रतस्याविदुषः समीहितम् ।
यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः
श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

हसन्ति—हँसते हैं; यस्य—जिसका; आचरितम्—कार्य; हि—निश्चय ही; दुर्भगाः—अभागे; स्व-आत्मन्—अपने में; रतस्य—संलग्न रहने वाले का; अविदुषः—न जानने वाला; समीहितम्—उसका उद्देश्य; यैः—जिसके द्वारा; वस्त्र—वस्त्र; माल्य—मालाएँ; आभरण—आभूषण; अनु—ऐसे विलासी; लेपनैः—लेप से; श्व-भोजनम्—कुत्तों का भोजन; स्व-आत्मतया—मानो स्वयं; उपलालितम्—लाड़-प्यार किया गया।.

अभागे मूर्ख व्यक्ति यह न जानते हुए कि वे अपने में मस्त रहते हैं उन पर हँसते हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्ति अपने उस शरीर को जो कुत्तों द्वारा खाये जाने योग्य है वस्त्र, आभूषण, माला तथा लेप से सजाने में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : शिवजी कभी भी विलासी वस्त्र, माला, आभूषण या लेप स्वीकार नहीं करते। किन्तु जिन लोगों को शरीर को सजाने की लत रहती है वे उसे आत्मा के रूप में विलासपूर्वक बनाये रखते हैं, यद्यपि अन्त में वह कुत्तों का भक्ष्य बनता है। ऐसे व्यक्ति शिवजी को नहीं समझ पाते, किन्तु वे विलासपूर्ण भौतिक सुविधाओं के लिए उनके पास पहुँचते रहते हैं। शिवजी के भक्तों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग नितान्त भौतिकतावादी होता है, जो शिवजी से केवल शारीरिक सुविधाओं की याचना करता है और दूसरा वर्ग उनसे तदाकार होना चाहता है। वे अधिकांशतया निर्विशेषवादी होते हैं और *शिवोऽहम्* अर्थात् "मैं शिव हूँ" का उच्चारण करते हैं जिसका अर्थ है कि, "मुक्ति के बाद मैं शिवजी से तदाकार हो जाऊँगा।" दूसरे शब्दों में, सामान्यतया कर्मी तथा ज्ञानीजन शिवजी के भक्त होते हैं, किन्तु वे उनके जीवन का वास्तविक उद्देश्य अच्छी तरह नहीं समझते। कभी-कभी शिवजी के तथाकथित भक्त विषैले मादक द्रव्यों का उपयोग करके उनकी नकल करते हैं। एक बार शिवजी ने विष का सागर निगल लिया था जिससे उनका गला नीला पड़ गया था। नकली शिव-गण विषों की लत लगाकर उनका अनुगमन करना चाहते हैं और इस तरह विनष्ट हो जाते हैं। शिवजी का असली उद्देश्य आत्मा के आत्मा अर्थात् भगवान् कृष्ण की सेवा करना है। वे चाहते हैं कि सारी विलास सामग्री यथा उत्तम वस्त्र, मालाएँ, आभूषण तथा प्रसाधन वस्तुएँ एकमात्र भगवान् कृष्ण को प्रदान की जाँय, क्योंकि वे ही असली भोक्ता हैं। वे स्वयं ऐसी विलास-सामग्री को अस्वीकार कर देते हैं, क्योंकि वे तो एकमात्र कृष्ण के निमित्त होती हैं। किन्तु मूर्ख-जन शिवजी के इस मन्तव्य को न जानने के कारण या तो उन पर हँसते हैं या व्यर्थ ही उनकी नकल करने का प्रयास करते हैं।

ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला
यत्कारणं विश्वमिदं च माया ।
आज्ञाकरी यस्य पिशाचचर्या
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा जैसे देवतागण; यत्—जिसका; कृत—कार्यकलाप; सेतु—धार्मिक अनुष्ठान; पालाः—पालने वाले; यत्—जो है; कारणम्—उद्गम; विश्वम्—ब्रह्माण्ड का; इदम्—इस; च—भी; माया—भौतिक शक्ति; आज्ञा-करी—आदेश पूरा करने वाला; यस्य—जिसका; पिशाच—शैतानवत्; चर्या—कर्म; अहो—हे प्रभु; विभूम्नः—महान् का; चरितम्—चरित्र; विडम्बनम्—केवल विडम्बना।

ब्रह्मा जैसे देवता भी उनके द्वारा अपनाये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करते हैं। वे उस भौतिक शक्ति के नियन्ता हैं, जो भौतिक जगत का सृजन करती है। वे महान् हैं, अतएव उनके पिशाचवत् गुण मात्र विडम्बना हैं।

तात्पर्य : शिवजी दुर्गा के पति हैं अर्थात् भौतिक शक्ति के नियन्ता हैं। दुर्गा साक्षात् भौतिक शक्ति हैं और उनके पति होने के कारण शिवजी भौतिक शक्ति के नियन्ता हैं। वे तमोगुण के अवतार भी हैं और भगवान् का प्रतिनिधित्व करने वाले तीन देवों में से एक हैं। भगवान् के प्रतिनिधि होने से शिवजी उनसे अभिन्न हैं। वे अति महान् हैं और उनके द्वारा समस्त भौतिक भोग का परित्याग इसका आदर्श उदाहरण है कि मनुष्य को किस तरह भौतिक रूप से अनासक्त रहना चाहिए। अतएव मनुष्य को उनके पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए और पदार्थ से अनासक्त रहना चाहिए। उसे गरलपान जैसे उनके असामान्य कार्यों की नकल नहीं करनी चाहिए।

मैत्रेय उवाच
सैवं संविदिते भर्त्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया ।
जग्राह वासो ब्रह्मर्षेर्वृषलीव गतत्रपा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सा—वह; एवम्—इस प्रकार; संविदिते—सूचित किए जाने पर भी; भर्त्रा—पति द्वारा; मन्मथ—कामदेव द्वारा; उन्मथित—विवश की गई; इन्द्रिया—इन्द्रियों के द्वारा; जग्राह—पकड़ लिया; वासः—वस्त्र; ब्रह्म-ऋषेः—उस महान् ब्राह्मण ऋषि का; वृषली—वेश्या; इव—सदृश; गत-त्रपा—लज्जारहित।

मैत्रेय ने कहा : इस तरह दिति अपने पति द्वारा सूचित की गई, किन्तु वह संभोग-तुष्टि हेतु कामदेव द्वारा विवश कर दी गई। उसने उस महान् ब्राह्मण ऋषि का वस्त्र पकड़ लिया जिस तरह एक निर्लज्ज वेश्या करती है।

तात्पर्य : एक विवाहित पत्नी तथा वेश्या में यही अन्तर है कि एक शास्त्रों के विधि-विधानों द्वारा

यौन जीवन में नियंत्रित रहती है, जबकि दूसरी अनियंत्रित और एकमात्र प्रबल कामवासना द्वारा संचालित होती है। यद्यपि महर्षि कश्यप अति प्रबुद्ध थे, किन्तु वे अपनी वेश्या पत्नी के शिकार हो गये। भौतिक शक्ति इतनी प्रबल होती है।

स विदित्वाथ भार्यायास्तं निर्बन्धं विकर्मणि ।
नत्वा दिष्टाय रहसि तयाथोपविवेश हि ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; विदित्वा—समझकर; अथ—तत्पश्चात्; भार्यायाः—पत्नी की; तम्—उस; निर्बन्धम्—जड़ता या दुराग्रह को; विकर्मणि—निषिद्ध कार्य में; नत्वा—नमस्कार करके; दिष्टाय—पूज्य भाग्य को; रहसि—एकान्त स्थान में; तया—उसके साथ; अथ—इस प्रकार; उपविवेश—लेट गया; हि—निश्चय ही।

अपनी पत्नी के मन्तव्य को समझकर उन्हें वह निषिद्ध कार्य करना पड़ा और तब पूज्य प्रारब्ध को नमस्कार करके वे उसके साथ एकान्त स्थान में लेट गये।

तात्पर्य : कश्यप की अपनी पत्नी के साथ बातों से ऐसा लगता है कि वे शिवजी के उपासक थे और यद्यपि वे जानते थे कि ऐसा निषिद्ध कार्य करने से शिवजी उन पर प्रसन्न नहीं होंगे, किन्तु अपनी पत्नी की इच्छा के कारण वे ऐसा करने के लिए बाध्य थे, अतएव उन्होंने प्रारब्ध को नमस्कार किया। वे जानते थे कि ऐसे असामयिक संभोग से जो सन्तान उत्पन्न होगी वह निश्चय ही अच्छी नहीं होगी, किन्तु वे अपने को बचा नहीं पाये, क्योंकि वे अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक कृतज्ञ थे। किन्तु ऐसी ही दशा में जब ठाकुर हरिदास एक वेश्या के द्वारा अर्धरात्रि में मोहित किये गये तो उन्होंने कृष्णभावनामृत में अपनी सिद्धि के कारण उस प्रलोभन से अपने को बचा लिया। एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति तथा अन्यों में यही अन्तर है। कश्यप मुनि महान् विद्वान तथा प्रबुद्ध थे और नियमित जीवन के सारे विधि-विधान जानते थे फिर भी वे अपने को कामेच्छा के आक्रमण से बचा नहीं पाये। ठाकुर हरिदास न तो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न थे न ही स्वयं ब्राह्मण थे फिर भी कृष्णभावनाभावित होने के कारण वे अपने को ऐसे आक्रमण से बचा सके। ठाकुर हरिदास प्रतिदिन तीन लाख भगवन्नाम् का जप करते थे।

अथोपस्पृश्य सलिलं प्राणानायम्य वाग्यतः ।
ध्यायञ्जजाप विरजं ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; उपस्पृश्य—जल का स्पर्श करके या जल में स्नान करके; सलिलम्—जल; प्राणान् आयम्य—समाधि का अभ्यास करके; वाक्-यतः—वाणी को नियंत्रित करते हुए; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; जजाप—मुख के भीतर जप किया; विरजम्—शुद्ध; ब्रह्म—गायत्री मंत्र; ज्योतिः—तेज; सनातनम्—नित्य।

तत्पश्चात् उस ब्राह्मण ने जल में स्नान किया और समाधि में नित्य तेज का ध्यान करते हुए तथा मुख के भीतर पवित्र गायत्री मंत्र का जप करते हुए अपनी वाणी को वश में किया।

तात्पर्य : जिस तरह शौच के बाद मनुष्य स्नान करता है उसी तरह विशेष रूप से निषिद्ध समय पर, संभोग करने के बाद मार्जन करना पड़ता है। कश्यप मुनि ने अपने मुख के भीतर गायत्री मंत्र का जाप करते हुए निर्विशेष ब्रह्मज्योति का ध्यान किया। जब वैदिक मंत्र का उच्चारण मुख के भीतर किया जाय ताकि केवल जापक ही सुन सके, तो इसे *जप* कहते हैं। किन्तु जब ऐसे मंत्रों का उच्चस्वर से उच्चारण किया जाता है, तो वह *कीर्तन* कहलाता है। हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—इस वैदिक मंत्र को अपने मन में धीमे धीमे अथवा जोर जोर से उच्चरति किया जा सकता है इसलिए यह *महामन्त्र* कहलाता है।

कश्यप मुनि निर्विशेषवादी प्रतीत होते हैं। जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है, ठाकुर हरिदास से उनके चरित्र की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक सगुणवादी इन्द्रियनिग्रह में निर्विशेषवादी से अधिक प्रबल होता है। *भगवद्गीता* में इसकी व्याख्या *परं दृष्ट्वा निवर्तते* से हुई है—उच्च पद पर स्थित होने पर मनुष्य निम्न कोटि की वस्तुएँ ग्रहण करना बन्द कर देता है। ऐसा माना जाता है कि स्नान करने तथा गायत्री जप करने के बाद मनुष्य शुद्ध हो जाता है, किन्तु *महामन्त्र* इतना शक्तिशाली होता है कि कोई इसे, किसी भी स्थिति में, चाहे धीरे धीरे जपे या जोर जोर से, वह संसार की सारी बुराइयों से बच जाता है।

दितिस्तु व्रीडिता तेन कर्मावद्येन भारत ।
उपसङ्गम्य विप्रर्षिमधोमुख्यभ्यभाषत ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

दितिः—कश्यप-पत्नी दिति ने; तु—लेकिन; व्रीडिता—लज्जित; तेन—उस; कर्म—कार्य से; अवद्येन—दोषपूर्ण; भारत—हे भरतवंश के पुत्र; उपसङ्गम्य—पास जाकर; विप्र-ऋषिम्—ब्राह्मण ऋषि के; अधः-मुखी—अपना मुख नीचे किये; अभ्यभाषत—विनम्र होकर कहा।

हे भारत, इसके बाद दिति अपने पति के और निकट गई। उसका मुख दोषपूर्ण कृत्य के कारण झुका हुआ था। उसने इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति निन्दनीय कार्य के लिए लज्जित होता है, तो वह स्वभावत: नत मुख हो जाता है। दिति को अपने पति के साथ निन्दनीय संभोग करने के बाद चेत हुआ। ऐसे संभोग की वेश्यावृत्ति की तरह भर्त्सना की जाती है। दूसरे शब्दों में, यदि नियमों का ठीक से पालन न हो तो अपनी पत्नी के साथ संभोग भी वेश्यावृत्ति के समान है।

दितिरुवाच
न मे गर्भमिमं ब्रह्मन्भूतानामृषभोऽवधीत् ।
रुद्रः पतिर्हि भूतानां यस्याकरवमंहसम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

दितिः उवाच—सुन्दरी दिति ने कहा; न—नहीं; मे—मेरा; गर्भम्—गर्भ; इमम्—यह; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भूतानाम्—सारे जीवों का; ऋषभः—सारे जीवों में सबसे नेक; अवधीत्—मार डाले; रुद्रः—शिवजी; पतिः—स्वामी; हि—निश्चय ही; भूतानाम्—सारे जीवों का; यस्य—जिसका; अकरवम्—मैंने किया है; अंहसम्—अपराध।

सुन्दरी दिति ने कहा : हे ब्राह्मण, कृपया ध्यान रखें कि समस्त जीवों के स्वामी भगवान् शिव द्वारा मेरा यह गर्भ नष्ट न किया जाय, क्योंकि मैंने उनके प्रति महान् अपराध किया है।

तात्पर्य : दिति को अपने अपराध का भान था और वह चाहती थी कि शिवजी उसे क्षमा कर दें। शिवजी के दो लोकप्रिय नाम हैं—रुद्र तथा आशुतोष। वे तुरन्त क्रुद्ध हो जाते हैं और क्षण भर में तुष्ट हो जाते हैं। दिति जानती थी कि तुरन्त क्रुद्ध होने के कारण वे उस गर्भ को नष्टकर सकते हैं जिसे उसने अवैध रीति से प्राप्त किया था। किन्तु वे आशुतोष भी हैं, अतएव उसने अपने ब्राह्मण पति से शिवजी को शान्त करने में सहायक बनने के लिए अनुनय-विनय की, क्योंकि उसका पति शिवजी का महान् भक्त था। दूसरे शब्दों में, हो सकता है कि शिवजी दिति पर क्रुद्ध हों, क्योंकि उसने अपने पति को नियम का उल्लंघन करने के लिए बाध्य किया था, किन्तु वे उसके पति की प्रार्थना को अस्वीकार नहीं कर सकते थे। इसलिए उसने अपने पति के माध्यम से क्षमायाचना के लिए निवेदन किया। उसने शिवजी से इस प्रकार प्रार्थना की।

नमो रुद्राय महते देवायोग्राय मीढुषे ।
शिवाय न्यस्तदण्डाय धृतदण्डाय मन्यवे ॥ ३५॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; रुद्राय—क्रुद्ध शिवजी को; महते—महान् को; देवाय—देवता को; उग्राय—उग्र को; मीढुषे—समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाले को; शिवाय—सर्व कल्याण-कर को; न्यस्त-दण्डाय—क्षमा करने वाले को; धृत-दण्डाय—तुरन्त दण्ड देने वाले को; मन्यवे—क्रुद्ध को।

मैं उन क्रुद्ध शिवजी को नमस्कार करती हूँ जो एक ही साथ अत्यन्त उग्र महादेव तथा समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं। वे सर्वकल्याणप्रद तथा क्षमाशील हैं, किन्तु उनका क्रोध उन्हें तुरन्त ही दण्ड देने के लिए चलायमान कर सकता है।

तात्पर्य : दिति ने बहुत ही चतुराई से शिवजी से कृपा के लिए प्रार्थना की। उसने प्रार्थना की: ''भगवान् मुझे रुला सकते हैं, किन्तु वे चाहें तो मेरा सदन बन्द करा सकते हैं, क्योंकि वे आशुतोष हैं। वे इतने महान् हैं कि यदि चाहें तो मेरे गर्भ को तुरन्त नष्ट कर सकते हैं, किन्तु अपनी कृपा द्वारा वे मेरी यह इच्छा भी पूरी कर सकते हैं कि मेरा गर्भ विनष्ट न हो। चूँकि वे सर्वमंगलकारी हैं, अतएव मुझे दण्ड देने की अपेक्षा क्षमा करना उनके लिए कठिन नहीं है, यद्यपि वे मुझे दण्ड देने को उद्यत हैं, क्योंकि मैंने उनके महान् क्रोध को जगाया है। वे मनुष्य की तरह प्रतीत होते हैं, किन्तु वे सभी मनुष्यों के स्वामी हैं।''

स नः प्रसीदतां भामो भगवानुर्वनुग्रहः ।
व्याधस्याप्यनुकम्प्यानां स्त्रीणां देवः सतीपतिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; नः—हम पर; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों; भामः—बहनोई; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों वाले व्यक्ति; उरु—अति महान्; अनुग्रहः—कृपालु; व्याधस्य—शिकारी का; अपि—भी; अनुकम्प्यानाम्—कृपा के पात्रों का; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; देवः—आराध्य स्वामी; सती-पतिः—सती (साध्वी) के पति।

वे हम पर प्रसन्न हों, क्योंकि वे मेरी बहिन सती के पति, मेरे बहनोई हैं। वे समस्त स्त्रियों के आराध्य देव भी हैं। वे समस्त ऐश्वर्यों के व्यक्ति हैं और उन स्त्रियों के प्रति कृपा प्रदर्शित कर सकते हैं, जिन्हें असभ्य शिकारी भी क्षमा कर देते हैं।

तात्पर्य : शिवजी दिति की एक बहिन सती के पति हैं। दिति ने अपनी बहिन सती की प्रसन्नता का आह्वान किया जिससे सती अपने पति से उसे क्षमा कर देने के लिए आग्रह कर सकें। इसके अतिरिक्त, शिवजी समस्त स्त्रियों के आराध्य स्वामी हैं। वे स्वभावत: स्त्रियों के प्रति अतीव दयालु हैं, जिन पर असभ्य शिकारी तक कृपा प्रदर्शित करते हैं। चूँकि शिवजी स्वयं स्त्रियों की संगति में रहते हैं, अतएव वे उनके दोषपूर्ण स्वभाव को भलीभाँति जानते हैं और वे दिति के अपरिहार्य अपराध को

गम्भीरता से नहीं भी लें जो उसके दोषपूर्ण स्वभाव के कारण हो गया था। प्रत्येक कुमारी शिवजी की भक्तिन समझी जाती है। दिति को अपने बाल्यकाल की शिवपूजा का स्मरण हो आया और उसने दया की भीख माँगी।

मैत्रेय उवाच
स्वसर्गस्याशिषं लोक्यामाशासानां प्रवेपतीम् ।
निवृत्तसन्ध्यानियमो भार्यामाह प्रजापतिः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; स्व-सर्गस्य—अपनी ही सन्तानों का; आशिषम्—कल्याण; लोक्याम्—संसार में; आशासानाम्—इच्छा करते हुए; प्रवेपतीम्—काँपते हुए; निवृत्त—टाल दिया; सन्ध्या-नियमः—संध्याकालीन विधि-विधान; भार्याम्—पत्नी से; आह—कहा; प्रजापतिः—जनक।

मैत्रेय ने कहा : तब महर्षि कश्यप ने अपनी पत्नी को सम्बोधित किया जो इस भय से काँप रही थी कि उसके पति का अपमान हुआ है। वह समझ गई कि उन्हें संध्याकालीन प्रार्थना करने के नैत्यिक कर्म से विरत होना पड़ा है, फिर भी वह संसार में अपनी सन्तानों का कल्याण चाहती थी।

कश्यप उवाच
अप्रायत्यादात्मनस्ते दोषान्मौहूर्तिकादुत ।
मन्निदेशातिचारेण देवानां चातिहेलनात् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

कश्यपः उवाच—विद्वान ब्राह्मण कश्यप ने कहा; अप्रायत्यात्—दूषण के कारण; आत्मनः—मन के; ते—तुम्हारे; दोषात्—अपवित्र होने; मौहूर्तिकात्—मुहूर्त भर में; उत—भी; मत्—मेरा; निदेश—निर्देश; अतिचारेण—अत्यधिक उपेक्षा करने से; देवानाम्—देवताओं का; च—भी; अतिहेलनात्—अत्यधिक अवहेलित होकर।

विद्वान कश्यप ने कहा : तुम्हारा मन दूषित होने, मुहूर्त विशेष के अपवित्र होने, मेरे निर्देशों की तुम्हारे द्वारा उपेक्षा किये जाने तथा तुम्हारे द्वारा देवताओं की अवहेलना होने से सारी बातें अशुभ थीं।

तात्पर्य : समाज में अच्छी सन्तान पाने के लिए शर्तें हैं कि पति धार्मिक तथा कर्मकाण्डीय नियमों में अनुशासित हो और पत्नी पतिपरायणा हो। *भगवद्गीता* (७.११) में कहा गया है कि धार्मिक नियमों के अनुसार संभोग कृष्णभावनामृत का स्वरूप है। संभोग करने के पूर्व पति तथा पत्नी दोनों को अपनी मानसिक स्थिति, काल विशेष, पति-निर्देश तथा देवताओं के प्रति आज्ञाकारिता पर विचार करना

चाहिए। वैदिक समाज के अनुसार यौन जीवन के लिए उपयुक्त शुभ समय होता है, जो *गर्भाधान* का समय कहलाता है। दिति ने शास्त्रीय आदेश के सभी नियमों का उल्लंघन किया। इसलिए शुभ संतानें पाने के हेतु अतीव उत्सुक होने पर भी उसे यह बताया गया कि उसकी सन्तानें ब्राह्मण के पुत्र होने के योग्य नहीं होंगी। यहाँ पर स्पष्ट संकेत है कि ब्राह्मण का पुत्र सदैव ब्राह्मण नहीं होता। रावण तथा हिरण्यकशिपु जैसे पुरुष वस्तुत: ब्राह्मणों से उत्पन्न थे, किन्तु उन्हें ब्राह्मण के रूप में स्वीकार नहीं किया गया, क्योंकि इनके पिताओं ने उनके जन्म के लिए विधि-विधानों का पालन नहीं किया था। ऐसी सन्तानें असुर या राक्षस कहलाती हैं। पूर्वकाल में अनुशासन विधियों की लापरवाही से केवल एक या दो राक्षस थे, किन्तु कलियुग में तो यौन जीवन पर कोई अनुशासन है ही नहीं। तब फिर कोई अच्छी सन्तान की आशा कैसे कर सकता है? निश्चय ही अवांछित सन्तानें समाज में सुख का स्रोत नहीं हो सकतीं, किन्तु कृष्णभावनामृत के माध्यम से ईश्वर के नाम का उच्चारण करने से वे मानव-स्तर तक ऊपर उठ सकते हैं। मानव समाज के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु का यह अद्वितीय योगदान है।

भविष्यतस्तवाभद्रावभद्रे जाठराधमौ ।
लोकान्सपालांस्त्रींश्चण्डि मुहुराक्रन्दयिष्यतः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

भविष्यतः—जन्म लेगा; तव—तुम्हारा; अभद्रौ—दो अभद्र पुत्र; अभद्रे—हे अभागिन; जाठर-अधमौ—निन्दनीय गर्भ से उत्पन्न; लोकान्—सारे लोकों; स-पालान्—उनके शासकों समेत; त्रीन्—तीन; चण्डि—गर्वीली; मुहुः—निरन्तर; आक्रन्-दयिष्यतः—शोक के कारण बनेंगे।

हे अभिमानी स्त्री! तुम्हारे निंदित गर्भ से दो अभद्र पुत्र उत्पन्न होंगे। अरी अभागिन! वे तीनों लोकों के लिए निरन्तर शोक का कारण बनेंगे।

तात्पर्य : अभद्र पुत्रों का जन्म उनकी माता के निन्दित गर्भ से होता है। *भगवद्गीता* (१.४०) में कहा गया है, " जब भी धार्मिक जीवन के विधि-विधानों की जानबूझकर उपेक्षा की जाती है, तो स्त्री जाति दूषित हो जाती है और इसके फलस्वरूप अवांछित सन्तानें उत्पन्न होती हैं।" यह बालकों पर विशेषरूप से लागू होता है। यदि माता अच्छी नहीं है, तो अच्छे पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकते। विद्वान् कश्यप मुनि पहले से ही उन पुत्रों के चरित्र को भाँप सके जो दिति के निन्दित गर्भ से जन्म लेंगे। गर्भ की निन्दा की गई थी, क्योंकि माता अत्यधिक कामोन्मुख थी और इस तरह वह शास्त्रों के सारे निमयों

तथा आदेशों का उल्लंघन कर रही थी। समाज में जहाँ ऐसी स्त्रियों की प्रधानता होती है, वहाँ अच्छी सन्तानों की उम्मीद नहीं करनी चाहिए।

प्राणिनां हन्यमानानां दीनानामकृतागसाम् ।
स्त्रीणां निगृह्यमाणानां कोपितेषु महात्मसु ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

प्राणिनाम्—जब जीवों का; हन्यमानानाम्—मारे जाते हुए; दीनानाम्—दीनों का; अकृत-आगसाम्—निर्दोषों का; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; निगृह्यमाणानाम्—सताये जाते हुओं का; कोपितेषु—क्रुद्ध हुओं का; महात्मसु—महात्माओं का।

वे दीन, निर्दोष जीवों का वध करेंगे, स्त्रियों को सताएँगे तथा महात्माओं को क्रोधित करेंगे।

तात्पर्य : जब दीन निर्दोष जीवों का वध किया जाता है, स्त्रियों को सताया जाता है तथा कृष्णभावनामृत में लगे महात्माओं को **क्रोधित** किया जाता है, तो आसुरी कार्यों की प्रधानता होती है। आसुरी समाज में जीभ की तुष्टि के लिए दीन पशुओं की हत्या की जाती है तथा स्त्रियों को अनावश्यक यौन लिप्तता द्वारा सताया जाता है। जहाँ पर स्त्रियाँ तथा मांस हों वहाँ पर सुरा तथा यौन लिप्तता भी अवश्य होगी। जब समाज में इनकी प्रधानता होती है, तो या तो स्वयं भगवान् या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि द्वारा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होने की अपेक्षा की जाती है।

तदा विश्वेश्वरः क्रुद्धो भगवाल्लोकभावनः ।
हनिष्यत्यवतीर्यासौ यथाद्रीन्शतपर्वधृक् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; विश्व-ईश्वरः—ब्रह्माण्ड के स्वामी; क्रुद्धः—अतीव क्रोध में; भगवान्—भगवान्; लोक-भावनः—सामान्य जनों का कल्याण चाहने वाले; हनिष्यति—वध करेगा; अवतीर्य—स्वयं अवतरित होकर; असौ—वह; यथा—मानो; अद्रीन्—पर्वतों को; शत-पर्व-धृक्—वज्र का नियन्ता (इन्द्र)।

उस समय ब्रह्माण्ड के स्वामी पुरुषोत्तम भगवान् जो कि समस्त जीवों के हितैषी हैं अवतरित होंगे और उनका इस तरह वध करेंगे जिस तरह इन्द्र अपने वज्र से पर्वतों को ध्वस्त कर देता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (४.८) में कहा गया है; भगवान् भक्तों का उद्धार करने तथा दुष्टों का वध करने के लिए अवतार रूप में आते हैं। ब्रह्माण्ड तथा सबों के स्वामी दिति के पुत्रों का वध करने के लिए प्रकट होंगे, क्योंकि वे भगवद्भक्तों का अपमान करेंगे। भगवान् के अनेक अभिकर्ता हैं यथा इन्द्र, चन्द्र, वरुण, देवी दुर्गा तथा काली जो संसार के किसी भी भयानक दुष्ट को दण्ड दे सकते

हैं। वज्र द्वारा पर्वतों के ध्वस्त किये जाने का दृष्टान्त अति उपयुक्त है। ब्रह्माण्ड में, पर्वत को सबसे सुदृढ़ निर्मित वस्तु माना जाता है फिर भी भगवान् की व्यवस्था द्वारा इसे आसानी से ध्वस्त किया जा सकता है। भगवान् को किसी सुदृढ़ निर्मित वस्तु का संहार करने के लिए अवतरित होने की आवश्यकता नहीं है, वे तो केवल अपने भक्तों के हेतु आते हैं। हर व्यक्ति को प्रकृति द्वारा प्रदत्त कष्टों को भोगना पड़ता है, किन्तु दुष्टों के कार्य यथा निर्दोष लोगों तथा पशुओं का वध या स्त्रियों का सताया जाना हर एक के लिए हानिकारक है, अत: वे भक्तों के लिए पीड़ा का स्रोत बनते हैं, इसलिए भगवान् अवतरित होते हैं। वे अपने उत्कट भक्तों को राहत देने के लिए ही अवतरित होते हैं। भगवान् द्वारा दुष्ट का वध भी उस दुष्ट के प्रति भगवान् की कृपा है यद्यपि बाह्यत: भगवान् भक्त का ही पक्ष लेते हैं। चूँकि भगवान् सर्वोच्च हैं, अतएव दुष्टों का वध करने तथा भक्तों का पक्ष लेने के उन के कार्यों में कोई भेद नहीं है।

दितिरुवाच
वधं भगवता साक्षात्सुनाभोदारबाहुना ।
आशासे पुत्रयोर्मह्यं मा क्रुद्धाद्ब्राह्मणाद्प्रभो ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

दितिः उवाच—दिति ने कहा; वधम्—मारा जाना; भगवता—भगवान् द्वारा; साक्षात्—प्रत्यक्ष रूप से; सुनाभ—अपने सुदर्शन चक्र द्वारा; उदार—अत्यन्त उदार; बाहुना—बाहों द्वारा; आशासे—मेरी इच्छा है; पुत्रयो:—पुत्रों की; मह्यम्—मेरे; मा—कभी ऐसा न हो; क्रुद्धात्—क्रोध से; ब्राह्मणात्—ब्राह्मण के; प्रभो—हे पति।

दिति ने कहा : यह तो अति उत्तम है कि मेरे पुत्र भगवान् द्वारा उनके सुदर्शन चक्र से उदारतापूर्वक मारे जायेंगे। हे मेरे पति, वे ब्राह्मण-भक्तों के क्रोध से कभी न मारे जाँय।

तात्पर्य : जब दिति ने अपने पति से यह सुना कि उसके पुत्रों के कार्यों से बड़े बड़े महात्मा क्रोधित होंगे तो वह अत्यधिक चिन्तित हो उठी। उसने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि उसके पुत्र ब्राह्मणों के क्रोध से मारे जाँए। जब ब्राह्मण किसी पर क्रुद्ध होते हैं, तो उस समय भगवान् प्रकट नहीं होते, क्योंकि ब्राह्मण-क्रोध अपने आप में पर्याप्त होता है। किन्तु वे तब अवश्य प्रकट होते हैं जब उनका भक्त केवल दुखी होता है। भक्त कभी भी दुष्टों द्वारा दिये जाने वाले कष्टों के कारण भगवान् से प्रकट होने की प्रार्थना नहीं करता और वह रक्षा करने के लिए याचना करके उन्हें कष्ट नहीं देता। प्रत्युत भगवान् ही भक्तों को संरक्षण प्रदान करने के लिए चिन्तित रहते हैं। दिति भलीभाँति जानती थी कि भगवान् द्वारा उसके पुत्रों का वध भी उनकी कृपा ही होगी, अतएव वह कहती है कि भगवान् का

चक्र तथा उनकी बाहें उदार हैं। यदि कोई भगवान् के चक्र द्वारा मारा जाता है और इस तरह वह भगवान् की बाहें देखने का भाग्यशाली होता है, तो यही उसकी मुक्ति के लिए पर्याप्त है। ऐसा सौभाग्य बड़े बड़े मुनियों को भी नहीं मिल पाता।

न ब्रह्मदण्डदग्धस्य न भूतभयदस्य च ।
नारकाश्चानुगृह्णन्ति यां यां योनिमसौ गतः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; ब्रह्म-दण्ड—ब्राह्मण द्वारा दिया गया दण्ड; दग्धस्य—इस तरह से दण्डित होने वाले का; न—न तो; भूत-भय-दस्य—उसका, जो जीवों को सदा डराता रहता है; च—भी; नारकाः—नरक जाने वाले; च—भी; अनुगृह्णन्ति—कोई अनुग्रह करते हैं; याम् याम्—जिस जिस को; योनिम्—जीव योनि को; असौ—अपराधी; गतः—जाता है।

जो व्यक्ति ब्राह्मण द्वारा तिरस्कृत किया जाता है या जो अन्य जीवों के लिए सदैव भयप्रद बना रहता है, उसका पक्ष न तो पहले से नरक में रहने वालों द्वारा, न ही उन योनियों में रहने वालों द्वारा लिया जाता है, जिसमें वह जन्म लेता है।

तात्पर्य : तिरस्कृत जीव योनि का व्यावहारिक उदाहरण कुत्ता है। कुत्ते इतने अधिक तिरस्कृत रहते हैं कि वे अपने ही बिरादरी वालों पर तनिक भी समवेदना नहीं दिखाते।

कश्यप उवाच

कृतशोकानुतापेन सद्यः प्रत्यवमर्शनात् ।
भगवत्युरुमानाच्च भवे मय्यपि चादरात् ॥ ४४ ॥
पुत्रस्यैव च पुत्राणां भवितैकः सतां मतः ।
गास्यन्ति यद्यशः शुद्धं भगवद्यशसा समम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

कश्यपः उवाच—विद्वान कश्यप ने कहा; कृत-शोक—शोक कर चुकने पर; अनुतापेन—पश्चात्ताप द्वारा; सद्यः—तुरन्त; प्रत्यवमर्शनात्—उचित विचार-विमर्श द्वारा; भगवति—भगवान् के प्रति; उरु—अत्यधिक; मानात्—प्रशंसा; च—तथा; भवे—शिव के प्रति; मयि अपि—मुझको भी; च—तथा; आदरात्—आदर से; पुत्रस्य—पुत्र का; एव—निश्चय ही; च—तथा; पुत्राणाम्—पुत्रों का; भविता—उत्पन्न होगा; एकः—एक; सताम्—भक्तों का; मतः—अनुमोदित; गास्यन्ति—प्रचार करेगा; यत्—जिसको; यशः—ख्याति; शुद्धम्—दिव्य; भगवत्—भगवान् को; यशसा—ख्याति से; समम्—समान रूप से।

विद्वान कश्यप ने कहा : तुम्हारे शोक, पश्चात्ताप तथा समुचित वार्तालाप के कारण तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में तुम्हारी अविचल श्रद्धा एवं शिवजी तथा मेरे प्रति तुम्हारी प्रशंसा के कारण भी तुम्हारे पुत्र (हिरण्यकशिपु) का एक पुत्र (प्रह्लाद) भगवान् द्वारा अनुमोदित भक्त होगा और उसकी ख्याति भगवान् के ही समान प्रचारित होगी।

योगैर्हेमेव दुर्वर्णं भावयिष्यन्ति साधवः ।
निर्वैरादिभिरात्मानं यच्छीलमनुवर्तितुम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

योगैः—शुद्धिकरण की विधि से; हेम—सोना; इव—सदृश; दुर्वर्णम्—निम्न गुण; भावयिष्यन्ति—शुद्ध कर देगा; साधवः—साधु पुरुष; निर्वैर-आदिभिः—शत्रुता इत्यादि से मुक्त होने के अभ्यास से.; आत्मानम्—आत्मा; यत्—जिसका; शीलम्—चरित्र; अनुवर्तितुम्—चरणचिह्नों का अनुगमन करना।.

उसके पदचिन्हों का अनुसरण करने के लिए सन्त पुरुष शत्रुता से मुक्त होने का अभ्यास करके उसके चरित्र को आत्मसात् करना चाहेंगे जिस तरह शुद्धिकरण की विधियाँ निम्न गुण वाले सोने को शुद्ध कर देती हैं।

तात्पर्य : योगाभ्यास जो कि अपने जीवन को शुद्ध करने की विधि है, वह मुख्यतः आत्मसंयम पर निर्भर है। आत्मसंयम के बिना शत्रुता से मुक्ति का अभ्यास नहीं किया जा सकता। बद्ध अवस्था में हर जीव अन्य जीव से ईर्ष्या करता है, किन्तु मुक्त अवस्था में शत्रुता का अभाव होता है। प्रह्लाद महाराज अनेकानेक प्रकारों से अपने पिता द्वारा सताये गये थे फिर भी अपने पिता की मृत्यु के बाद उन्होंने भगवान् से अपने पिता के मोक्ष हेतु प्रार्थना की। उन्होंने कोई और वर नहीं माँगा, अपितु उन्होंने यही प्रार्थना की कि उनका नास्तिक पिता मोक्ष पाए। उन्होंने कभी किसी भी ऐसे व्यक्ति को शाप नहीं दिया जो उनके पिता के कहने पर उन्हें सताता था।

यत्प्रसादादिदं विश्वं प्रसीदति यदात्मकम् ।
स स्वदृग्भगवान्यस्य तोष्यतेऽनन्यया दृशा ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; प्रसादात्—कृपा से; इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; प्रसीदति—सुखी बनता है; यत्—जिसके; आत्मकम्—सर्वव्यापक होने से; सः—वह; स्व-दृक्—अपने भक्तों की विशेष परवाह करने वाले; भगवान्—भगवान्; यस्य—जिसका; तोष्यते—प्रसन्न होता है; अनन्यया—बिना विचलन के; दृशा—बुद्धि से।.

हर व्यक्ति उनसे प्रसन्न रहेगा, क्योंकि ब्रह्माण्ड के परम नियन्ता भगवान् सदैव ऐसे भक्त से तुष्ट रहते हैं, जो उनके अतिरिक्त और किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता।

तात्पर्य : पुरुषोत्तम भगवान् सर्वत्र परमात्मा रूप में स्थित हैं और वे जिस किसी को भी चाहें उसे अपनी इच्छानुसार आदेश दे सकते हैं। दिति का होने वाला पौत्र, जिसके महान् भक्त होने की भविष्यवाणी की गई थी, सबों का यहाँ तक कि अपने पिता के शत्रुओं का भी प्रिय होगा, क्योंकि

उसके पास भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई दृष्टि नहीं होगी। शुद्ध भक्त अपने आराध्य ईश की उपस्थिति सर्वत्र देखता है। भगवान् इस प्रकार से आदान-प्रदान करते हैं कि वे सारे जीव भी जिनमें भगवान् परमात्मा रूप में निवास कर रहे होते हैं शुद्ध भक्त को चाहते हैं, क्योंकि भगवान् उनके हृदयों में उपस्थित रहता है और वे उन्हें अपने भक्त के साथ मैत्री भाव रखने के लिए आदेश दे सकते हैं। इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जिसमें उग्र से उग्र पशु भी भगवान् के शुद्ध भक्त के प्रति मित्रवत् बन गया।

स वै महाभागवतो महात्मा
महानुभावो महतां महिष्ठः ।
प्रवृद्धभक्त्या ह्यनुभाविताशये
निवेश्य वैकुण्ठमिमं विहास्यति ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; महा-भागवतः—सर्वोच्च भक्त; महा-आत्मा—विशाल बुद्धि; महा-अनुभावः—विशाल प्रभाव; महताम्—महात्माओं का; महिष्ठः—सर्वोच्च; प्रवृद्ध—पूर्णतया प्रौढ़; भक्त्या—भक्ति से; हि—निश्चय ही; अनुभावित—भाव की अनुभाव दशा को प्राप्त; आशये—मन में; निवेश्य—प्रवेश करके; वैकुण्ठम्—आध्यात्मिक आकाश में; इमम्—इसको (भौतिक जगत) को; विहास्यति—छोड़ देगा।.

भगवान् का सर्वोच्च भक्त विशाल बुद्धि तथा विशाल प्रभाव वाला होगा और महात्माओं में सबसे महान् होगा। परिपक्व भक्तियोग के कारण वह निश्चय ही दिव्य भाव में स्थित होगा और इस संसार को छोड़ने पर वैकुण्ठ में प्रवेश करेगा।

तात्पर्य : भक्तियोग में दिव्य प्रगति की तीन अवस्थाएँ हैं, जिन्हें *स्थायी भाव, अनुभाव* तथा *महाभाव* कहा जाता है। निरन्तर पूर्ण भगवत्प्रेम *स्थायी-भाव* कहलाता है और जब यह किसी विशेष दिव्य सम्बन्ध में सम्पन्न किया जाता है, तो *अनुभाव* कहलाता है। किन्तु *महाभाव* की अवस्था भगवान् की निजी ह्लादिनी शक्ति के मध्य ही दृष्टिगोचर होती है। ऐसा समझा जाता है कि दिति का पौत्र अर्थात् प्रह्लाद महाराज निरन्तर भगवान् का ध्यान करेगा और उनके कार्यकलापों का बारम्बार कथन करेगा। ध्यान में निरन्तर व्यस्त रहने के कारण वह अपना भौतिक शरीर त्याग कर वैकुण्ठलोक चला जायेगा। अब भी ऐसा ध्यान भगवान् के नाम के कीर्तन तथा श्रवण द्वारा अधिक सुविधापूर्वक सम्पन्न किया जाता है। इस कलियुग के लिए इसकी विशेष रूप से संस्तुति की जाती है।

अलम्पटः शीलधरो गुणाकरो
हृष्टः परर्द्ध्या व्यथितो दुःखितेषु ।
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता
नैदाघिकं तापमिवोडुराजः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

अलम्पटः—पुण्यशील; शील-धरः—योग्य; गुण-आकरः—समस्त सद्गुणों की खान; हृष्टः—प्रसन्न; पर-ऋद्ध्या—अन्य के सुख से; व्यथितः—दुखी; दुःखितेषु—अन्यों के दुख में; अभूत-शत्रुः—शत्रुरहित, अजातशत्रु; जगतः—सारे ब्रह्माण्डका; शोक-हर्ता—शोक का विनाशक; नैदाघिकम्—ग्रीष्मकालीन घाम से; तापम्—कष्ट; इव—सदृश; उडु-राजः—चन्द्रमा।

वह समस्त सद्गुणों का अतीव सुयोग्य आगार होगा, वह प्रसन्न रहेगा और अन्यों के सुख में सुखी, अन्यों के दुख में दुखी होगा तथा उसका एक भी शत्रु नहीं होगा। वह सारे ब्रह्माण्डों के शोक का उसी तरह नाश करने वाला होगा जिस तरह ग्रीष्मकालीन सूर्य के बाद सुहावना चन्द्रमा।

तात्पर्य : भगवान् के आदर्श भक्त प्रह्लाद महाराज में समस्त सम्भव मानवीय गुण विद्यमान थे। यद्यपि वे इस जगत के सम्राट थे, किन्तु वे लम्पट या व्यभिचारी न थे। वे बाल्यकाल से ही समस्त सद्गुणों के आगार थे। उन गुणों को गिनाये बिना सारांश रूप में यहाँ बताया गया है कि वे समस्त सद्गुणों से युक्त थे। यही शुद्ध भक्त का लक्षण है। शुद्ध भक्त का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि वह *लम्पट* नहीं होता और दूसरा गुण यह है कि वह कष्ट भोग रही मानवता के दुखों को दूर करने के लिए सदैव उत्सुक रहता है। जीव का सबसे घिनौना कष्ट है कृष्ण की विस्मृति। इसीलिए शुद्ध भक्त सदैव हर एक में कृष्णभावनामृत को जगाने का प्रयास करता रहता है। यह सारे कष्टों की रामबाण ओषधि है।

अन्तर्बहिश्चामलमब्जनेत्रं
स्वपूरुषेच्छानुगृहीतरूपम् ।
पौत्रस्तव श्रीललनाललामं
द्रष्टा स्फुरत्कुण्डलमण्डिताननम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

अन्तः—भीतर से; बहिः—बाहर से; च—भी; अमलम्—निर्मल; अब्ज-नेत्रम्—कमल नेत्र; स्व-पूरुष—अपना भक्त; इच्छा-अनुगृहीत-रूपम्—इच्छानुरूप शरीर धारण करके; पौत्रः—नाती; तव—तुम्हारा; श्री-ललना—सुन्दर लक्ष्मीजी; ललामम्—अलंकृत; द्रष्टा—देखेगा; स्फुरत्-कुण्डल—चमकीले कुंडलों से; मण्डित—सुशोभित; आननम्—मुख।

तुम्हारा पौत्र भीतर तथा बाहर से उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का दर्शन कर सकेगा जिन की

पत्नी सुन्दरी लक्ष्मीजी हैं। भगवान् भक्त द्वारा इच्छित रूप धारण कर सकते हैं और उनका मुखमण्डल सदैव कुण्डलों से सुन्दर ढंग से अलंकृत रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर यह भविष्यवाणी की गई है कि दिति के पौत्र प्रह्लाद महाराज ध्यान के द्वारा न केवल अपने भीतर भगवान् का दर्शन कर सकेंगे, अपितु वे उन्हें अपनी आँखों से साक्षात् भी देख सकेंगे। यह साक्षात् दर्शन केवल उसी के लिए सम्भव है, जो कृष्णभावनामृत में बहुत ही उच्चस्थ बढ़ा-चढ़ा हो, क्योंकि भगवान् को भौतिक आँखों से नहीं देखा जा सकता। भगवान् के नाना नित्य रूप हैं यथा कृष्ण, बलदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, वासुदेव, नारायण, राम, नृसिंह, वराह तथा वामन और भगवान् का भक्त इन सारे विष्णु रूपों को जानता है। शुद्ध भक्त भगवान् के किसी एक नित्य रूप से जुड़ जाता है और भगवान् उसके समक्ष इच्छित रूप में प्रकट होने के लिए प्रसन्न हो जाते हैं। भक्त भगवान् के रूप के बारे में न तो मनमानी कल्पना करता है, न ही वह कभी यह सोचता है कि भगवान् निर्विशेष हैं और अभक्त द्वारा चाहा गया कोई रूप धारण कर सकते हैं। अभक्त को भगवान् के रूप का कोई अनुमान नहीं होता, अतएव वह उपर्युक्त रूपों में से किसी के भी विषय में चिन्तन नहीं कर सकता। किन्तु जब भी कोई भक्त भगवान् का दर्शन करता है, तो वह उन्हें अत्यन्त सुन्दर ढंग से सजे तथा उनकी नित्य संगिनी तथा नित्य सुन्दरी लक्ष्मीजी के साथ देखता है।

मैत्रेय उवाच
श्रुत्वा भागवतं पौत्रममोदत दितिर्भृशम् ।
पुत्रयोश्च वधं कृष्णाद्विदित्वासीन्महामनाः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; श्रुत्वा—सुनकर; भागवतम्—भगवान् के महान् भक्त होने के लिए; पौत्रम्—पौत्र को; अमोदत—आनन्द का अनुभव किया; दितिः—दिति ने; भृशम्—अत्यधिक; पुत्रयोः—दोनों पुत्रों का; च—भी; वधम्—वध; कृष्णात्—कृष्ण द्वारा; विदित्वा—जानकर; आसीत्—हो गई; महा-मनाः—मन में अतीव हर्षित।

मैत्रेय मुनि ने कहा : यह सुनकर कि उसका पौत्र महान् भक्त होगा और उसके पुत्र भगवान् कृष्ण द्वारा मारे जायेंगे, दिति मन में अत्यधिक हर्षित हुई।

तात्पर्य : दिति यह जानकर अतीव खिन्न थी कि उसके असामयिक गर्भधारण से उसके पुत्र असुर होंगे और वे भगवान् से युद्ध करेंगे। किन्तु जब उसने सुना कि उसका पौत्र महान् भक्त होगा और उसके दोनों पुत्र भगवान् द्वारा मारे जायेंगे तो वह अतीव तुष्ट हो गई। एक महान ऋषि की पत्नी तथा महान्

प्रजापति दक्ष की पुत्री होने के नाते वह जानती थी कि भगवान् द्वारा मारा जाना परम सौभाग्य है। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव उनके हिंसा तथा अहिंसा दोनों कार्य परम स्तर पर होते हैं। भगवान् के ऐसे कार्यों में कोई अन्तर नहीं होता। संसारी हिंसा तथा अहिंसा का भगवान् के कार्यों से कोई सरोकार नहीं होता। उनके द्वारा मारा गया असुर वही फल प्राप्त करता है जितना वह भक्त जो अनेकानेक जन्मों की तपस्या के बाद मोक्ष प्राप्त करता है। यहाँ पर *भृशम्* शब्द सार्थक है, क्योंकि यह सूचित करता है कि दिति अपनी अपेक्षाओं से भी अधिक हर्षित थी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''संध्या समय दिति का गर्भधारण'' नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पन्द्रह

ईश्वर के साम्राज्य का वर्णन

मैत्रेय उवाच
प्राजापत्यं तु तत्तेजः परतेजोहनं दितिः ।
दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; प्राजापत्यम्—महान् प्रजापति का; तु—लेकिन; तत् तेजः—उसका बलशाली वीर्य; पर-तेजः—अन्यों का पराक्रम; हनम्—कष्ट देने वाला; दितिः—दिति (कश्यप पत्नी) ने; दधार—धारण किया; वर्षाणि—वर्षों तक; शतम्—एक सौ; शङ्कमाना—शंकालु; सुर-अर्दनात्—देवताओं को उद्विग्न करने वाले।.

श्री मैत्रेय ने कहा : हे विदुर, महर्षि कश्यप की पत्नी दिति यह समझ गई कि उसके गर्भ में स्थित पुत्र देवताओं के विक्षोभ के कारण बनेंगे। अतः वह कश्यप मुनि के तेजवान वीर्य को एक सौ वर्षों तक निरन्तर धारण किये रही, क्योंकि यह अन्यों को कष्ट देने वाला था।

तात्पर्य : महर्षि श्री मैत्रेय विदुर से ब्रह्मा समेत सारे देवताओं के कार्यों की विवेचना कर रहे थे। जब दिति ने अपने पति के मुख से सुना कि वह अपनी कोख में जो पुत्र धारण किए हुए हैं, वे देवताओं के लिए विक्षोभ के कारण बनेंगे तो वह बहुत प्रसन्न नहीं थी। मनुष्य दो तरह के होते हैं—भक्त तथा अभक्त। अभक्त-गण असुर कहलाते हैं और भक्तगण देवता कहलाते हैं। कोई भी विवेकवान पुरुष या स्त्री अभक्तों द्वारा भक्तों को कष्ट दिए जाना सहन नहीं कर सकता। इसलिए दिति पुत्रों को जन्म देने में हिचक रही थी। इसीलिए उसने सौ वर्षों तक प्रतीक्षा की जिससे कम से कम उस अवधि के लिए तो देवताओं को उत्पात से बचा सके

लोके तेनाहतालोके लोकपाला हतौजसः ।
न्यवेदयन्विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

लोके—इस ब्रह्माण्ड में; तेन—दिति के गर्भधारण के बल पर; आहत—विहीन होकर; आलोके—प्रकाश; लोक-पालाः—विभिन्न लोकों के देवता; हत-ओजसः—जिसका तेज मन्द हो चुका था; न्यवेदयन्—पूछा; विश्व-सृजे—ब्रह्मा से; ध्वान्त-व्यतिकरम्—अंधकार का विस्तार; दिशाम्—सारी दिशाओं में।.

दिति के गर्भधारण करने से सारे लोकों में सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश मंद हो गया और विभिन्न लोकों के देवताओं ने उस बल से विचलित होकर ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्मा से पूछा, ''सारी दिशाओं में अंधकार का यह विस्तार कैसा?''

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक से ऐसा लगता है कि सूर्य ब्रह्माण्ड के सारे लोकों के लिए प्रकाश के स्रोत का कार्य करता है। इस श्लोक से उस आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त का समर्थन नहीं होता जिसके अनुसार प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अनेक सूर्य होते हैं। ऐसा समझा जाता है कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड में केवल एक सूर्य है, जो सारे लोकों के प्रकाश की पूर्ति करता है। *भगवद्गीता* में चन्द्रमा को भी एक नक्षत्र कहा गया है। नक्षत्र अनेक हैं और जब हम उन्हें रात के समय चमकते देखते हैं, तो हम यह समझ सकते हैं कि वे प्रकाश का परावर्तन करने वाले हैं। जिस तरह चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य-प्रकाश का परावर्तन है उसी तरह अन्य लोक भी सूर्यप्रकाश को परावर्तित करते हैं और ऐसे अन्य अनेक लोक हैं, जिन्हें हम अपनी आँखों से नहीं देख सकते। दिति के गर्भ में स्थित पुत्रों के आसुरी प्रभाव से ब्रह्माण्ड भर में अंधकार फैल गया।

देवा ऊचुः
तम एतद्विभो वेत्थ संविग्ना यद्वयं भृशम् ।
न ह्यव्यक्तं भगवतः कालेनास्पृष्टवर्त्मनः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; तमः—अंधकार; एतत्—यह; विभो—हे महान्; वेत्थ—तुम जानो; संविग्नाः—अत्यन्त चिन्तित; यत्—क्योंकि; वयम्—हम; भृशम्—अत्यधिक; न—नहीं; हि—क्योंकि; अव्यक्तम्—अप्रकट; भगवतः—आपका (भगवान् का); कालेन—काल द्वारा; अस्पृष्ट—अछूता; वर्त्मनः—जिसका मार्ग।

भाग्यवान् देवताओं ने कहा : हे महान्, जरा इस अंधकार को तो देखो, जिसे आप अच्छी तरह जानते हैं और जिससे हमें चिन्ता हो रही है। चूँकि काल का प्रभाव आपको छू नहीं सकता, अतएव आपके समक्ष कुछ भी अप्रकट नहीं है।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्मा को *विभु* तथा भगवान् कहा गया है। वे भौतिक जगत में भगवान् के रजोगुणी अवतार हैं। प्रतिनिधि के रूप में वे भगवान् से अभिन्न हैं, अतएव उन पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता। काल का प्रभाव भूत, वर्तमान तथा भविष्य के रूप में प्रकट होता है। यह ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं जैसे महान् पुरुषों का स्पर्श नहीं कर पाता। कभी कभी देवता तथा महर्षिगण जिन्होंने ऐसी सिद्धि प्राप्त कर ली है *त्रिकालज्ञ* कहलाते हैं।

देवदेव जगद्धातर्लोकनाथशिखामणे ।

परेषामपरेषां त्वं भूतानामसि भाववित् ॥ ४॥

शब्दार्थ

देव-देव—हे देवताओं के स्वामी; जगत्-धातः—ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले; लोकनाथ-शिखामणे—हे अन्य लोकों के समस्त देवताओं के शिरो-मणि; परेषाम्—आध्यात्मिक जगत का; अपरेषाम्—भौतिक जगत का; त्वम्—तुम; भूतानाम्—सारे जीवों के; असि—हो; भाव-वित्—मनोभावों को जानने वाले।

हे देवताओं के देव, हे ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले, हे अन्यलोकों के समस्त देवताओं के शिरोमणि, आप आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही जगतों में सारे जीवों के मनोभावों को जानते हैं।

तात्पर्य : चूँकि ब्रह्मा भगवान् के ही तुल्यप्राय हैं इसीलिए उन्हें यहाँ पर *देवदेव* कहकर सम्बोधित किया गया है और चूँकि वे इस ब्रह्माण्ड के गौण स्रष्टा हैं इसलिए उन्हें ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला कहा गया है। वे सारे देवताओं के मुखिया हैं इसलिए उन्हें देवताओं का शिरोमणि कहा गया है। आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही जगतों में जो कुछ घटित हो रहा है उसे समझ पाना उनके लिए कठिन नहीं। वे हर एक के हृदय की बात तथा हर एक के मनोभाव को जानते हैं। इसीलिए उनसे इस घटना की व्याख्या करने के लिए अनुरोध किया गया कि आखिर दिति का गर्भ सारे ब्रह्माण्ड के लिए ऐसी चिन्ता का कारण क्यों बना है?

नमो विज्ञानवीर्याय माययेदमुपेयुषे ।
गृहीतगुणभेदाय नमस्तेऽव्यक्तयोनये ॥ ५॥

शब्दार्थ

नमः—सादर नमस्कार; विज्ञान-वीर्याय—हे बल तथा वैज्ञानिक ज्ञान के आदि स्रोत; मायया—बहिरंगा शक्ति द्वारा; इदम्—ब्रह्मा का यह शरीर; उपेयुषे—प्राप्त करके; गृहीत—स्वीकार करते हुए; गुण-भेदाय—विभेदित रजोगुण; नमः ते—आपको नमस्कार करते हुए; अव्यक्त—अप्रकट; योनये—स्रोत।

हे बल तथा विज्ञानमय ज्ञान के आदि स्रोत, आपको नमस्कार है। आपने भगवान् से पृथक्कृत रजोगुण स्वीकार किया है। आप बहिरंगा शक्ति की सहायता से अप्रकट स्रोत से उत्पन्न हैं। आपको नमस्कार।

तात्पर्य : वेद ज्ञान के सभी विभागों के लिए आदि विज्ञानमय ज्ञान हैं और वेदों का यही ज्ञान भगवान् द्वारा सर्वप्रथम ब्रह्मा के हृदय में स्थापित किया गया। अतएव ब्रह्मा समस्त विज्ञान-मय ज्ञान के आदि स्रोत हैं। वे उन गर्भोदकशायी विष्णु के दिव्य शरीर से प्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न हुए हैं, जिन्हें इस

भौतिक ब्रह्माण्ड का कोई प्राणी कभी नहीं देख पाता, अतएव वे सदैव अव्यक्त रहते हैं। यहाँ पर ब्रह्मा को अव्यक्त से उत्पन्न कहा गया है। वे उस भौतिक प्रकृति में रजोगुण के अवतार हैं, जो भगवान् की पृथक्कृत बहिरंगा शक्ति है।

ये त्वानन्येन भावेन भावयन्त्यात्मभावनम् ।
आत्मनि प्रोतभुवनं परं सदसदात्मकम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ये—वे जो; त्वा—तुम पर; अनन्येन—विचलित हुए बिना; भावेन—भक्तिपूर्वक; भावयन्ति—ध्यान करते हैं; आत्म-भावनम्—जो सारे जीवों को उत्पन्न करता है; आत्मनि—अपने भीतर; प्रोत—जुड़ा हुआ; भुवनम्—सारे लोक; परम्—परम; सत्—प्रभाव; असत्—कारण; आत्मकम्—जनक।

हे प्रभु, ये सारे लोक आपके भीतर विद्यमान हैं और सारे जीव आपसे उत्पन्न हुए हैं। अतएव आप इस ब्रह्माण्ड के कारण हैं और जो भी अनन्य भाव से आपका ध्यान करता है, वह भक्तियोग प्राप्त करता है।

तेषां सुपक्वयोगानां जितश्वासेन्द्रियात्मनाम् ।
लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित्पराभवः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनका; सु-पक्व-योगानाम्—जो प्रौढ़ योगी हैं; जित—संयमित; श्वास—साँस; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्मनाम्—मन; लब्ध—प्राप्त किया हुआ; युष्मत्—आपकी; प्रसादानाम्—कृपा; न—नहीं; कुतश्चित्—कहीं भी; पराभवः—हार।

जो लोग श्वास प्रक्रिया को साध कर मन तथा इन्द्रियों को वश में कर लेते हैं और इस प्रकार जो अनुभवी प्रौढ़ योगी हो जाते हैं उनकी इस जगत में पराजय नहीं होती। ऐसा इसलिए है, क्योंकि योग में ऐसी सिद्धि के कारण, उन्होंने आपकी कृपा प्राप्त कर ली है।

तात्पर्य : यहाँ पर योग क्रियाओं के प्रयोजन को समझाया गया है। ऐसा कहा जाता है कि अनुभवी योगी श्वास प्रक्रिया को वश में करके इन्द्रियों तथा मन पर पूरा नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। अतएव श्वास प्रक्रिया को वश में करना योग का चरम उद्देश्य नहीं है। योग-क्रियाओं का असली प्रयोजन मन तथा इन्द्रियों को वश में करना है। जिस किसी ने ऐसा नियंत्रण प्राप्त कर लिया है उसे अनुभवी प्रौढ़ योगी समझा जाना चाहिए। यहाँ यह इंगित किया गया है कि मन तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने वाले योगी को भगवान् का असली वर प्राप्त रहता है और उसे कोई भय नहीं रहता।

दूसरे शब्दों में, मनुष्य जब तक मन तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह भगवान् की कृपा तथा वर प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा तभी सम्भव है जब वह पूरी तरह कृष्णभावनामृत में संलग्न रहे। जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ तथा मन सदैव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं, उसके भौतिक कार्यों में लगे रहने की सम्भावना नहीं रहती। भगवान् के भक्त ब्रह्माण्ड में कहीं भी पराजित नहीं होते। कहा गया है *नारायण-परा: सर्वे* जो *नारायणपर* है, अर्थात् भगवान् का भक्त है, वह कहीं भी भयभीत नहीं होता चाहे उसे नरक भेजा जाय या कि स्वर्ग में भेज दिया जाय (*भागवत* ६.१७.२८)

यस्य वाचा प्रजा: सर्वा गावस्तन्त्येव यन्त्रिता: ।
हरन्ति बलिमायत्तास्तस्मै मुख्याय ते नम: ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; वाचा—वैदिक निर्देशों द्वारा; प्रजा:—जीव; सर्वा:—सारे; गाव:—बैल; तन्त्या—रस्सी से; इव—सदृश; यन्त्रिता:—निर्देशित हैं; हरन्ति—भेंट करते हैं, लेते हैं; बलिम्—भेंट, पूजा-सामग्री; आयत्ता:—नियंत्रण के अन्तर्गत; तस्मै—उसको; मुख्याय—मुख्य पुरुष को; ते—तुमको; नम:—सादर नमस्कार।

ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सारे जीव वैदिक आदेशों से उसी प्रकार संचालित होते हैं जिस तरह एक बैल अपनी नाक से बँधी रस्सी (नथुनी) से संचालित होता है। वैदिक ग्रंथों में निर्दिष्ट नियमों का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। उस प्रधान पुरुष को हम सादर नमस्कार करते हैं, जिसने हमें वेद दिये हैं।

तात्पर्य : वैदिक ग्रंथ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के नियम हैं। कोई भी व्यक्ति वैदिक ग्रन्थों में दिये गये आदेशों का उल्लंघन नहीं कर सकता जिस तरह कि कोई राजसत्ता के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। किसी भी सजीव प्राणी को जो जीवन में असली लाभ का इच्छुक है वैदिक वाङ्मय के आदेशानुसार कर्म करना चाहिए। इस जगत में भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए आये बद्धजीव वैदिक वाङ्मय के आदेशों द्वारा संचालित होते हैं। इन्द्रियतृप्ति तो नमक की तरह से है। भोज्य पदार्थ को सुस्वाद बनाने के लिए कुछ नमक मिलाया जाता है, किन्तु कोई न तो बहुत अधिक नमक ले सकता है न बहुत कम। इस भौतिक जगत में आये हुए बद्धात्माओं को वैदिक वाङ्मय के आदेशानुसार अपनी इन्द्रियों को काम में लाना चाहिए, अन्यथा वे अधिक कष्टमय जीवन में पड़ जाएँगे। कोई भी मनुष्य या देवता वैदिक वाङ्मय जैसे नियम नहीं बना सकता, क्योंकि सारे वैदिक विधान परम पुरुष द्वारा बनाए

गए हैं।

स त्वं विधत्स्व शं भूमंस्तमसा लुप्तकर्मणाम् ।
अदभ्रदयया दृष्ट्या आपन्नानर्हसीक्षितुम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—तुम; विधत्स्व—सम्पन्न करो; शम्—सौभाग्य; भूमन्—हे परमेश्वर; तमसा—अंधकार द्वारा; लुप्त—निलम्बित; कर्मणाम्—नियमित कार्यों का; अदभ्र—उदार, बिना भेदभाव के; दयया—दया के द्वारा; दृष्ट्या—आपकी दृष्टि द्वारा; आपन्नान्—हम शरणागत; अर्हसि—समर्थ हैं; ईक्षितुम्—देख पाने के लिए।

देवताओं ने ब्रह्मा की स्तुति की: कृपया हम पर कृपादृष्टि रखें, क्योंकि हम कष्टप्रद स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं; अंधकार के कारण हमारा सारा काम रुक गया है।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड भर में पूर्ण अंधकार के कारण विभिन्न लोकों के नियमित कार्य तथा धंधे रुक गये थे। कभी-कभी इस लोक के उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों में दिन-रात का विभाजन नहीं होता। इसी तरह जब सूर्य प्रकाश इस ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों तक नहीं पहुँचता तो दिन तथा रात में कोई अन्तर नहीं रहता।

एष देव दितेर्गर्भ ओजः काश्यपमर्पितम् ।
दिशस्तिमिरयन्सर्वा वर्धतेऽग्निरिवैधसि ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; देव—हे प्रभु; दितेः—दिति का; गर्भः—गर्भ; ओजः—वीर्य; काश्यपम्—कश्यप का; अर्पितम्—स्थापित किया गया; दिशः—दिशाएँ; तिमिरयन्—पूर्ण अंधकार उत्पन्न करते हुए; सर्वाः—सारे; वर्धते—बढ़ाता है; अग्निः—आग; इव—सदृश; एधसि—ईंधन ।

जिस तरह ईंधन अग्नि को वर्धित करता है उसी तरह दिति के गर्भ में कश्यप के वीर्य से उत्पन्न भ्रूण ने सारे ब्रह्माण्ड में पूर्ण अंधकार उत्पन्न कर दिया है।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड भर में फैले अंधकार को यहाँ पर उस भ्रूण द्वारा उत्पन्न बताया गया है, जो कश्यप के वीर्य से दिति के गर्भ में स्थापित किया गया था।

मैत्रेय उवाच
स प्रहस्य महाबाहो भगवान्शब्दगोचरः ।
प्रत्याचष्टात्मभूर्देवान्प्रीणन्रुचिरया गिरा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सः—वह; प्रहस्य—हँसते हुए; महा-बाहो—हे शक्तिशाली भुजाओं वाले (विदुर); भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; शब्द-गोचरः—दिव्य ध्वनि के द्वारा समझा जाने वाला; प्रत्याचष्ट—उत्तर दिया; आत्म-भूः—ब्रह्मा ने; देवान्—देवताओं को; प्रीणन्—तुष्ट करते हुए; रुचिरया—मधुर; गिरा—शब्दों से।

श्रीमैत्रेय ने कहा : इस तरह दिव्य ध्वनि से समझे जाने वाले ब्रह्मा ने देवताओं की स्तुतियों से प्रसन्न होकर उन्हें तुष्ट करने का प्रयास किया।

तात्पर्य : ब्रह्मा दिति के दुष्कर्मों को समझ गये, अत: वे सारी स्थिति पर हँसे। उन्होंने वहाँ पर उपस्थित देवताओं को ऐसे शब्दों में उत्तर दिया जिन्हें वे समझ सकें।

ब्रह्मोवाच
मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः ।
चेरुर्विहायसा लोकाल्लोकेषु विगतस्पृहाः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; मानसाः—मन से उत्पन्न; मे—मेरे; सुताः—पुत्र; युष्मत्—तुम्हारी अपेक्षा; पूर्व-जाः—पहले उत्पन्न; सनक-आदयः—सनक इत्यादि ने; चेरुः—यात्रा की; विहायसा—अन्तरिक्ष में यान द्वारा या आकाश में उड़कर; लोकान्—भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों तक; लोकेषु—लोगों के बीच; विगत-स्पृहाः—किसी इच्छा से रहित।

ब्रह्माजी ने कहा : मेरे मन से उत्पन्न चार पुत्र सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार तुम्हारे पूर्वज हैं। कभी कभी वे बिना किसी विशेष इच्छा के भौतिक तथा आध्यात्मिक आकाशों से होकर यात्रा करते हैं।

तात्पर्य : जब हम इच्छा की बात करते हैं, तो हमारा अभिप्राय भौतिक इन्द्रियतृप्ति से होता है। सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार जैसे सन्तपुरुषों में कोई भौतिक इच्छा नहीं है, अपितु वे कभी कभी सारे ब्रह्माण्ड में स्वेच्छा से भक्ति का प्रचार करने के लिए यात्रा करते हैं।

त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः ।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एकदा—एक बार; भगवतः—भगवान् के; वैकुण्ठस्य—भगवान् विष्णु का; अमल-आत्मनः—समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हुए; ययुः—प्रविष्ट हुए; वैकुण्ठ-निलयम्—वैकुण्ठ नामक धाम; सर्व-लोक—समस्त भौतिक लोकों के निवासियों के द्वारा; नमस्कृतम्—पूजित।

इस तरह सारे ब्रह्माण्डों का भ्रमण करने के बाद वे आध्यात्मिक आकाश में भी प्रविष्ट हुए, क्योंकि वे समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त थे। आध्यात्मिक आकाश में अनेक आध्यात्मिक लोक हैं, जो वैकुण्ठ कहलाते हैं, जो पुरुषोत्तम भगवान् तथा उनके शुद्धभक्तों के निवास-स्थान हैं

और समस्त भौतिक लोकों के निवासियों द्वारा पूजे जाते हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत चिन्ताओं से पूर्ण है। सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम लोक पाताल तक के सारे लोकों में सारे सजीव प्राणी चिन्ताओं और व्यग्रताओं से पूर्ण रहते हैं, क्योंकि भौतिक जगत में कोई भी प्राणी शाश्वत निवास नहीं कर सकता। किन्तु जीव वास्तव में शाश्वत हैं। उन्हें शाश्वतघर, शाश्वत धाम चाहिए, किन्तु भौतिक जगत में अस्थायी धाम स्वीकार करने के कारण वे स्वभावत: चिन्ता से ओतप्रोत रहते हैं। आध्यात्मिक आकाश में सारे लोक वैकुण्ठ कहलाते हैं, क्योंकि इन लोकों के निवासी सारी चिन्ताओं से मुक्त होते हैं। उनके लिए जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग का प्रश्न ही नहीं उठता, अतएव वे चिन्ताग्रस्त नहीं रहते। दूसरी ओर, भौतिक जगत के निवासी सदैव जन्म, मृत्यु, रोग तथा वृद्धावस्था से भयभीत रहते हैं, अतएव वे चिन्ताओं से ओतप्रोत रहते हैं।

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः ।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन्हरिम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

वसन्ति—निवास करते हैं; यत्र—जहाँ; पुरुषाः—व्यक्ति; सर्वे—सारे; वैकुण्ठ-मूर्तयः—भगवान् विष्णु की ही तरह चार भुजाओं वाले; ये—वे वैकुण्ठ पुरुष; अनिमित्त—इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से रहित; निमित्तेन—उत्पन्न; धर्मेण—भक्ति द्वारा; आराधयन्—निरन्तर पूजा करते हुए; हरिम्—भगवान् की।

वैकुण्ठ लोकों में सारे निवासी पुरुषोत्तम भगवान् के समान आकृतिवाले होते हैं। वे सभी इन्द्रिय-तृप्ति की इच्छाओं से रहित होकर भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में वैकुण्ठ के निवासियों तथा रहन-सहन के स्वरूप का वर्णन हुआ है। उसके निवासी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण जैसे होते हैं। वैकुण्ठ लोकों में कृष्ण का स्वांश नारायण के चतुर्भुजी रूप में प्रधान देव होता है और वैकुण्ठलोक के निवासी भी चतुर्भुजी होते हैं, जो भौतिक जगत की हमारी अवधारणा से सर्वथा विपरीत हैं। भौतिक जगत में कहीं भी हमें चार हाथों वाला मनुष्य नहीं मिलता। वैकुण्ठलोक में भगवान् की सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई वृत्ति नहीं होती है और यह सेवा सोद्देश्य नहीं सम्पन्न की जाती। यद्यपि प्रत्येक सेवा का विशेष फल होता है, किन्तु भक्तगण कभी भी अपनी निजी इच्छाओं की पूर्ति की कामना नहीं करते। उनकी इच्छाएँ भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने से ही पूर्ण हो जाती हैं।

यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवाञ्शब्दगोचरः ।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन्वृषः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्र—वैकुण्ठ लोकों में; च—तथा; आद्यः—आदि; पुमान्—पुरुष; आस्ते—है; भगवान्—भगवान्; शब्द-गोचरः—वैदिक वाङ्मय के माध्यम से समझा गया; सत्त्वम्—सतोगुण; विष्टभ्य—स्वीकार करते; विरजम्—अकलुषित, निर्मल; स्वानाम्—अपने संगियों का; नः—हमको; मृडयन्—सुख को बढ़ाते हुए; वृषः—साक्षात् धर्म।

वैकुण्ठलोकों में भगवान् रहते हैं, जो आदि पुरुष हैं और जिन्हें वैदिक वाङ्मय के माध्यम से समझा जा सकता है। वे कल्मषरहित सतोगुण से ओतप्रोत हैं, जिसमें रजो या तमो गुणों के लिए कोई स्थान नहीं है। वे भक्तों की धार्मिक प्रगति में योगदान करते हैं।

तात्पर्य : आध्यात्मिक आकाश में भगवान् के साम्राज्य (धाम) को वेदों के वर्णनों से सुनने के अलावा किसी अन्य विधि से नहीं समझा जा सकता। कोई जाकर इसे देख नहीं सकता। इस भौतिक जगत में भी जो व्यक्ति किसी दूरस्थ स्थान पर मोटरवाहन द्वारा जाने का खर्च उठाने में असमर्थ हैं, वे उस स्थान के बारे में प्रामाणिक पुस्तकों के द्वारा ही जान सकते हैं। इसी तरह आध्यात्मिक आकाश में जो वैकुण्ठलोक हैं, वे इस भौतिक आकाश से परे हैं। आधुनिक विज्ञानी, जो अन्तरिक्ष में यात्रा करने का प्रयास कर रहे हैं, निकटतम लोक, चन्द्रमा तक भी जाने में कठिनाई का अनुभव कर रहे हैं, ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोकों की बात तो दूर रही। इसकी कोई सम्भावना नहीं है कि वे भौतिक आकाश से परे आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश करके स्वयं इन आध्यात्मिक वैकुण्ठ लोकों को देख सकेंगे। अत: आध्यात्मिक आकाश में ईश्वर के साम्राज्य को वेदों तथा पुराणों के प्रामाणिक विवरणों के माध्यम से ही समझा जा सकता है।

भौतिक जगत में तीन प्रकार के भौतिक गुण होते हैं—सतो, रजो तथा तमोगुण—किन्तु आध्यात्मिक जगत में रजो तथा तमोगुणों का नामोनिशान भी नहीं है। वहाँ केवल सतोगुण होता है, जो तमो या रजोगुणों के कल्मष से सर्वथा मुक्त होता है। भौतिक जगत में चाहे कोई व्यक्ति पूर्णतया सतोगुणी ही क्यों न हो वह भी तमो तथा रजोगुणों से कभी कभी प्रदूषित हो सकता है। किन्तु वैकुण्ठ जगत में, अर्थात् आध्यात्मिक आकाश में एकमात्र सतोगुण अपने शुद्धरूप में विद्यमान रहता है। भगवान् तथा उनके भक्तगण वैकुण्ठलोकों में निवास करते हैं और वे उसी दिव्यगुण अर्थात् *शुद्ध सत्त्व*

वाले होते हैं। वैकुण्ठलोक वैष्णवों को अत्यन्त प्रिय हैं और वैष्णवों के भगवद्धाम की ओर निरन्तर अग्रसर होने में भगवान् स्वयं अपने भक्तों की सहायता करते हैं।

यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः ।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत्कैवल्यमिव मूर्तिमत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यत्र—वैकुण्ठलोकों में; नैःश्रेयसम्—शुभ; नाम—नामक; वनम्—जंगल; काम-दुघैः—इच्छा पूरी करने वाले; द्रुमैः—वृक्षों समेत; सर्व—समस्त; ऋतु—ऋतुएँ; श्रीभिः—फूलों-फलों से; विभ्राजत्—शोभायमान; कैवल्यम्—आध्यात्मिक; इव—सदृश; मूर्तिमत्—साकार।

उन वैकुण्ठ लोकों में अनेक वन हैं, जो अत्यन्त शुभ हैं। उन वनों के वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, जो सभी ऋतुओं में फूलों तथा फलों से लदे रहते हैं, क्योंकि वैकुण्ठलोकों में हर वस्तु आध्यात्मिक तथा साकार होती है।

तात्पर्य : वैकुण्ठलोकों में भूमि, वृक्ष, फल-फूल तथा गौवें—हर वस्तु—पूर्णतया आध्यात्मिक तथा साकार होती है। वहाँ के वृक्ष कल्पवृक्ष हैं। इस भौतिक लोक में वृक्ष भौतिक शक्ति के आदेशानुसार ही फूल-फल उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु वैकुण्ठलोकों में वृक्ष, भूमि, निवासी तथा पशु—सभी आध्यात्मिक होते हैं। वहाँ वृक्ष तथा पशु या पशु तथा मनुष्य में कोई अन्तर नहीं होता। यहाँ पर *मूर्तिमत्* शब्द सूचित करता है कि हर वस्तु का आध्यात्मिक स्वरूप होता है। इस श्लोक में निर्विशेषवादियों द्वारा कल्पित रूपविहीनता (निराकारता) का खण्डन किया गया है। वैकुण्ठलोकों में यद्यपि हर वस्तु आध्यात्मिक है, किन्तु उसका एक विशेष रूप रहता है। वृक्षों तथा मनुष्यों का रूप होता है और चूँकि वे भिन्न भिन्न रूप से निर्मित होते हुए भी सभी आध्यात्मिक हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं होता है।

वैमानिकाः सललनाश्चरितानि शश्वद्
गायन्ति यत्र शमलक्षपणानि भर्तुः ।
अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां
गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः ॥ १७॥

शब्दार्थ

वैमानिकाः—अपने विमानों में उड़ते हुए; स-ललनाः—अपनी अपनी पत्नियों समेत; चरितानि—कार्यकलाप; शश्वत्—नित्य रूप से; गायन्ति—गाते हैं; यत्र—जिन वैकुण्ठलोकों में; शमल—समस्त अशुभ गुणों से; क्षपणानि—विहीन; भर्तुः—परमेश्वर

का; अन्तः-जले—जल के बीच में; अनुविकसत्—खिलते हुए; मधु—सुगन्धित, शहद से पूर्ण; माधवीनाम्—माधवी फूलों की; गन्धेन—सुगन्ध से; खण्डित—विचलित; धियः—मन; अपि—यद्यपि; अनिलम्—मन्द पवन; क्षिपन्तः—उपहास करते हुए।

वैकुण्ठलोकों के निवासी अपने विमानों में अपनी पत्नियों तथा प्रेयसियों के साथ उड़ानें भरते हैं और भगवान् के चरित्र तथा उन कार्यों का शाश्वत गुणगान करते हैं, जो समस्त अशुभ गुणों से सदैव विहीन होते हैं। भगवान् के यश का गान करते समय वे सुगन्धित तथा मधु से भरे हुए पुष्पित माधवी फूलों की उपस्थिति तक का उपहास करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि वैकुण्ठलोक समस्त ऐश्वर्यों से परिपूर्ण हैं। वहाँ विमान हैं जिनमें वहाँ के निवासी अपनी प्रेयसियों के साथ बैठकर आध्यात्मिक आकाश में विचरण करते हैं। वहाँ पुष्पित फूलों की सुगन्ध को ले जाने वाली मन्द वायु है और यह वायु इतनी उत्तम है कि यह अपने साथ फूलों का मधु भी वहन करती है। किन्तु वैकुण्ठ के निवासी भगवान् का गुणगान करने में इतनी रुचि रखते हैं कि भगवान् के यश का उच्चारण करते समय वे ऐसी उत्तम वायु द्वारा उत्पन्न व्यवधान को पसन्द नहीं करते। दूसरे शब्दों में, वे शुद्ध भक्त होते हैं। वे भगवान् के महिमागान को अपनी इन्द्रियतृप्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं। वैकुण्ठलोकों में इन्द्रियतृप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। पुष्पित फूल की सुगन्ध को सूँघना निश्चित रूप से अति उत्तम है, किन्तु यह एकमात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए होता है। वैकुण्ठवासी भगवान् की सेवा को सर्वोच्च वरीयता प्रदान करते हैं, अपनी इन्द्रियतृप्ति को नहीं। दिव्य प्रेम में भगवान् की सेवा करने से ऐसा दिव्य आनन्द मिलता है, जिसकी तुलना में इन्द्रियतृप्ति नगण्य मानी जाती है।

पारावतान्यभृतसारसचक्रवाक-
दात्यूहहंसशुकतित्तिरिबर्हिणां यः ।
कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चै-
र्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

पारावत—कबूतर; अन्यभृत—कोयल; सारस—सारस; चक्रवाक—चकई चकवा; दात्यूह—चातक; हंस—हंस; शुक—तोता; तित्तिरि—तीतर; बर्हिणाम्—मोर का; यः—जो; कोलाहलः—कोलाहल; विरमते—रुकता है; अचिर-मात्रम्—अस्थायी रूप से; उच्चैः—तेज स्वर से; भृङ्ग-अधिपे—भौंरे का राजा; हरि-कथाम्—भगवान् की महिमा; इव—सदृश; गायमाने—गाये जाते समय।

जब भौंरों का राजा भगवान् की महिमा का गायन करते हुए उच्च स्वर से गुनगुनाता है, तो

कबूतर, कोयल, सारस, चक्रवाक, हंस, तोता, तीतर तथा मोर का शोर अस्थायी रूप से बन्द पड़ जाता है। ऐसे दिव्य पक्षी केवल भगवान् की महिमा सुनने के लिए अपना गाना बन्द कर देते हैं।

तात्पर्य : यह श्लोक वैकुण्ठ के परम स्वभाव का उद्घाटन करता है। वहाँ पर पक्षियों तथा मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं है। आध्यात्मिक आकाश की स्थिति ऐसी है कि हर वस्तु आध्यात्मिक तथा चित्र-विचित्र है। आध्यात्मिक चित्र-वैचित्र्य का अर्थ है कि हर वस्तु चर है। कुछ भी अचर नहीं है। यहाँ तक कि वृक्ष, भूमि, पौधे, फूल, पक्षी तथा पशु सारे के सारे कृष्णभावनामृत के स्तर पर होते हैं। वैकुण्ठलोक की विशेषता यह है कि वहाँ इन्द्रियतृप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। भौतिक जगत में गधा तक अपनी ध्वनि का आनन्द लेता है, किन्तु वैकुण्ठलोकों में मोर, चक्रवाक तथा कोयल जैसे उत्तम पक्षी भी भौंरों से भगवान् की महिमा की ध्वनि को सुनना अधिक पसन्द करते हैं। वैकुण्ठलोक में श्रवण-कीर्तन इत्यादि से आरम्भ होने वाले भक्ति के सिद्धान्त अधिक प्रमुख हैं।

मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्ण-
पुन्नागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः ।
गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेन तस्या
यस्मिंस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति ॥ १९॥

शब्दार्थ

मन्दार—मन्दार; कुन्द—कुन्द; कुरब—कुरबक; उत्पल—उत्पल; चम्पक—चम्पक; अर्ण—अर्ण फूल; पुन्नाग—पुन्नाग; नाग—नागकेशर; बकुल—बकुल; अम्बुज—कुमुदिनी; पारिजाताः—पारिजात; गन्धे—सुगन्ध; अर्चिते—पूजित होकर; तुलसिका—तुलसी; आभरणेन—माला से; तस्याः—उसकी; यस्मिन्—जिस वैकुण्ठ में; तपः—तपस्या; सु-मनसः—अच्छे मन वाले, वैकुण्ठ मन वाले; बहु—अत्यधिक; मानयन्ति—गुणगान करते हैं।

यद्यपि मन्दार, कुन्द, कुरबक, उत्पल, चम्पक, अर्ण, पुन्नाग, नागकेशर, बकुल, कुमुदिनी तथा पारिजात जैसे फूलने वाले पौधे दिव्य सुगन्ध से पूरित हैं फिर भी वे तुलसी द्वारा की गई तपस्या से सचेत हैं, क्योंकि भगवान् तुलसी को विशेष वरीयता प्रदान करते हैं और स्वयं तुलसी की पत्तियों की माला पहनते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर तुलसी की पत्तियों की महत्ता का स्पष्ट उल्लेख है। भक्तिमय सेवा में तुलसी के पौधे तथा उनकी पत्तियाँ अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। भक्तों के लिए संस्तुति की गई है कि वे प्रति दिन तुलसी के पौधे को सींचें तथा भगवान् की पूजा के लिए उसकी पत्तियाँ एकत्र करें। एक बार एक नास्तिक

स्वामी ने कहा, ''तुलसी के पौधे को सींचने से क्या लाभ? इससे अच्छा तो बैंगन का सींचना होगा; बैंगन सींचने से कुछ फल मिल सकेंगे, किन्तु तुलसी को सींचने से क्या लाभ?'' ये मूर्ख प्राणी भक्ति से अपरिचित होने के कारण कभी कभी सामान्य लोगों की शिक्षा के साथ उत्पात मचातें हैं।

आध्यात्मिक जगत की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वहाँ भक्तों के मध्य ईर्ष्या-द्वेष नहीं होता। यह बात फूलों तक में लागू होती है, जो तुलसी की महानता से परिचित होते हैं। चारों कुमारों ने जिस वैकुण्ठ जगत में प्रवेश किया वहाँ के पक्षी तथा फूल तक भगवान् की सेवा के प्रति सचेष्ट हैं।

यत्सङ्कुलं हरिपदानतिमात्रदृष्टै-
वैंदूर्यमारकतहेममयैर्विमानैः ।
येषां बृहत्कटितटाः स्मितशोभिमुख्यः
कृष्णात्मनां न रज आदधुरुत्स्मयाद्यैः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यत्—वह वैकुण्ठधाम; सङ्कुलम्—से पूरित; हरि-पद—भगवान् हरि के दोनों चरण कमलों पर; आनति—नमस्कार द्वारा; मात्र—केवल; दृष्टैः—प्राप्त किये जाते हैं; वैदूर्य—वैदूर्य मणि; मारकत—मरकत; हेम—स्वर्ण; मयैः—से निर्मित; विमानैः—विमानों से; येषाम्—उन यात्रियों का; बृहत्—विशाल; कटि-तटाः—कूल्हे; स्मित—हँसते हुए; शोभि—सुन्दर; मुख्यः—मुख-मण्डल; कृष्ण—कृष्ण में; आत्मनाम्—जिनके मन लीन हैं; न—नहीं; रजः—यौन इच्छा; आदधुः—उत्तेजित करती है; उत्स्मय-आद्यैः—घनिष्ठ मित्रवत् व्यवहार, हँसी मजाक द्वारा।

वैकुण्ठनिवासी वैदूर्य, मरकत तथा स्वर्ण के बने हुए अपने अपने विमानों में यात्रा करते हैं। यद्यपि वे विशाल नितम्बों तथा सुन्दर हँसीले मुखों वाली अपनी-अपनी प्रेयसियों के साथ सटे रहते हैं, किन्तु वे उनके हँसी मजाक तथा उनके सुन्दर मोहकता से कामोत्तेजित नहीं होते।

तात्पर्य : भौतिक जगत में भौतिकतावादी व्यक्तियों द्वारा अपने कठिन श्रम से ऐश्वर्यों की प्राप्ति की जाती है। कोई तब तक भौतिक सम्पन्नता का भोग नहीं कर सकता जब तक उसे प्राप्त करने के लिए वह कठोर श्रम न करे। किन्तु भगवद्भक्तों को जो वैकुण्ठनिवासी हैं मणियों तथा मरकतों की दिव्य स्थिति को भोगने का अवसर प्राप्त होता है। मणिजटित स्वर्ण के आभूषण कठिन श्रम करने से नहीं, अपितु भगवान् के आशीष से प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, भक्तगण चाहे वैकुण्ठ जगत के हों या इस जगत के, वे कभी दरिद्र नहीं हो सकते, जैसाकि कभी-कभी मान लिया जाता है। उनके पास भोग के लिए पर्याप्त ऐश्वर्य होते हैं, किन्तु उन्हें पाने के लिए उन्हें श्रम नहीं करना पड़ता। यहाँ यह भी कहा गया है कि वैकुण्ठलोक के निवासियों की प्रेयसियाँ इस भौतिक जगत में ही नहीं प्रत्युत उच्च लोकों में

जाने वाली प्रेयसियों से भी कई गुना अधिक सुन्दर हैं। यहाँ इसका विशेष उल्लेख हुआ है कि स्त्री के चौड़े नितम्ब अतीव आकर्षक हैं और वे मनुष्य की कामवासना को उत्तेजित करते हैं, किन्तु वैकुण्ठ का अद्भुत गुण यह है कि यद्यपि स्त्रियों के नितम्ब चौड़े हैं और मुखमण्डल सुन्दर हैं और वे मरकत तथा मणियों के आभूषणों से सुसज्जित रहती हैं, फिर भी पुरुषगण कृष्णभावनाभामृत में इस कदर निमग्न रहते हैं कि स्त्रियों के सुन्दर शरीर उन्हें आकृष्ट नहीं कर पाते। दूसरे शब्दों में, स्त्रियों की संगति का आनन्द तो है, किन्तु उनके साथ यौन-सम्बन्ध नहीं होता। वैकुण्ठवासियों में आनन्द का श्रेष्ठतर मानदण्ड होता है, अतएव यौन आनन्द की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

श्री रूपिणी क्वणयती चरणारविन्दं
लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा ।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि
सम्मार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री—लक्ष्मीजी; रूपिणी—सुन्दर रूप धारण करने वाली; क्वणयती—शब्द करती; चरण-अरविन्दम्—चरणकमल; लीला-अम्बुजेन—कमल के फूल के साथ क्रीड़ा करती; हरि-सद्मनि—भगवान् के घर में; मुक्त-दोषा—समस्त दोषों से मुक्त हुई; संलक्ष्यते—दृष्टिगोचर होती है; स्फटिक—संगमरमर; कुड्ये—दीवालों में; उपेत—मिली-जुली; हेम्नि—स्वर्ण; सम्मार्जती इव—बुहारने वाली की तरह लगने वाली; यत्-अनुग्रहणे—उसकी कृपा पाने के लिए; अन्य—दूसरे; यत्नः—अत्यधिक सतर्क।

वैकुण्ठलोकों की महिलाएँ इतनी सुन्दर हैं कि जैसे देवी लक्ष्मी स्वयं है। ऐसी दिव्य सुन्दरियाँ जिनके हाथ कमलों के साथ क्रीड़ा करते हैं तथा पाँवों के नुपूर झंकार करते हैं कभी कभी उन संगमरमर की दीवालों को जो थोड़ी थोड़ी दूरी पर सुनहले किनारों से अलंकृत हैं, इसलिए बुहारती देखी जाती है कि उन्हें भगवान् की कृपा प्राप्त हो सके।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में यह कहा गया है कि भगवान् गोविन्द के धाम में सदैव करोड़ों लक्ष्मियाँ उनकी सेवा करती हैं। *लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्*। ये करोड़ों-अरबों लक्ष्मियाँ जो वैकुण्ठलोकों में निवास करती हैं पुरुषोत्तम भगवान् की वास्तविक प्रेमिकाएँ नहीं हैं, अपितु भगवद्भक्तों की पत्नियाँ हैं और वे भगवान् की सेवा भी करती हैं। यहाँ यह कहा गया है कि वैकुण्ठलोकों में संगमरमर के घर बने होते हैं। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि वैकुण्ठलोकों की फर्श स्पर्शमणि की बनी हुई है। इसलिए वैकुण्ठ में पत्थर को बुहारने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि उस पर रंचमात्र भी धूल नहीं है; फिर भी भगवान् को तुष्ट करने हेतु स्त्रियाँ सदैव संगमरमर की दीवालों को झाड़ती रहती हैं।

क्यों? इसलिए कि वे ऐसा करके भगवान् की कृपा पाने के लिए उत्सुक रहती हैं।

यहाँ यह भी कहा गया है कि वैकुण्ठलोकों में लक्ष्मियाँ दोषरहित होती हैं। सामान्यतया लक्ष्मीजी एक स्थान पर स्थायी रूप से नहीं रहतीं। उनका नाम *चञ्चला* है, जिसका अर्थ है, "जो स्थिर न हो।" अतएव हम देखते हैं कि जो व्यक्ति बहुत ही धनवान है, वह अतीव निर्धन बन सकता है। एक और उदाहरण रावण का है। रावण लक्ष्मी अर्थात् सीता जी को अपने साम्राज्य में ले गया, किन्तु लक्ष्मी की कृपा द्वारा सुखी होने के बजाय उसका परिवार तथा सारा साम्राज्य विनष्ट हो गया। इस तरह रावण के घर में लक्ष्मी चञ्चला अर्थात् अस्थिर हैं। रावण की श्रेणी के लोग केवल लक्ष्मी को उनके पति नारायण के बिना चाहते हैं, अतएव लक्ष्मीजी के कारण वे चंचल हो उठते हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति लक्ष्मीजी में दोष ढूँढते हैं, किन्तु वैकुण्ठ में लक्ष्मीजी भगवान् की सेवा में जुटी रहती हैं। भाग्य की देवी होते हुए भी लक्ष्मीजी भगवान् की कृपा के बिना सुखी नहीं रह सकतीं। लक्ष्मी जी को भी सुखी होने के लिए भगवान् की कृपा की आवश्यकता पड़ती है; फिर भी भौतिक जगत में सर्वोच्च प्राणी ब्रह्माजी भी सुख के निमित्त लक्ष्मी की कृपा के लिए उनका मुँह जोहते रहते हैं।

वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु
प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम् ।
अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्त्र-
मुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग यच्छ्रीः ॥ २२॥

शब्दार्थ

वापीषु—तालाबों में; विद्रुम—मूँगे के बने; तटासु—किनारे; अमल—पारदर्शी; अमृत—अमृत जैसे; अप्सु—जल; प्रेष्या-अन्विता—दासियों से घिरी; निज-वने—अपने बगीचे में; तुलसीभिः—तुलसी से; ईशम्—परमेश्वर को; अभ्यर्चती—पूजा करती हैं; सु-अलकम्—तिलक से विभूषित मुखवाली; उन्नसम्—उठी नाक; ईक्ष्य—देखकर; वक्त्रम्—मुख; उच्छेषितम्—चुम्बित होकर; भगवता—भगवान् द्वारा; इति—इस प्रकार; अमत—सोचा; अङ्ग—हे देवताओ; यत्-श्रीः—जिसकी सुन्दरता।

लक्ष्मियाँ अपने उद्यानों में दिव्य जलाशयों के मूँगे से जड़े किनारों पर तुलसीदल अर्पित करके भगवान् की पूजा करती हैं। भगवान् की पूजा करते समय वे उभरे हुए नाकों से युक्त अपने अपने सुन्दर मुखों के प्रतिबिम्ब को जल में देख सकती हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानो भगवान् द्वारा मुख चुम्बित होने से वे और भी अधिक सुन्दर बन गई हैं।

तात्पर्य : सामान्यतया जब किसी स्त्री का पति उसका चुम्बन करता है, तो उसका मुख अधिक सुन्दर हो जाता है। वैकुण्ठलोक में भी, यद्यपि लक्ष्मीजी उतनी ही सुन्दर हैं जितनी कि कल्पना की जा

सकती है, तो भी वे भगवान् द्वारा चुम्बित होने के लिए प्रतीक्षित रहती हैं जिससे उनका मुख और अधिक सुन्दर लगे। जब लक्ष्मीजी अपने उद्यान में तुलसी दलों से भगवान् की पूजा करती हैं, तो दिव्य निर्मल जल वाले तालाबों में उनका सुन्दर मुख दिखता है।

यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा-
च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः ।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा-
स्तांस्तान्क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यत्—वैकुण्ठ; न—कभी नहीं; व्रजन्ति—पहुँचते हैं; अघ-भिदः—सभी प्रकार के पापों के विनाशक; रचना—सृष्टि का; अनुवादात्—कथन की अपेक्षा; शृण्वन्ति—सुनते हैं; ये—जो; अन्य—दूसरों; विषयाः—विषय; कु-कथाः—बुरे शब्द; मति-घ्नीः—बुद्धि को मारने वाली; याः—जो; तु—लेकिन; श्रुताः—सुना जाता है; हत-भगैः—अभागे; नृभिः—मनुष्यों द्वारा; आत्त—छीना हुआ; साराः—जीवन मूल्य; तान् तान्—ऐसे व्यक्ति; क्षिपन्ति—फेंके जाते हैं; अशरणेषु—समस्त आश्रय से विहीन; तमःसु—संसार के सबसे अँधेरे भाग में; हन्त—हाय।

यह अतीव शोचनीय है कि अभागे लोग वैकुण्ठलोकों के विषय में चर्चा नहीं करते, अपितु ऐसे विषयों में लगे रहते हैं, जो सुनने के लायक नहीं होते तथा मनुष्य की बुद्धि को संभ्रमित करते हैं। जो लोग वैकुण्ठ के प्रसंगों का त्याग करते हैं, तथा भौतिक जगत की बातें चलाते हैं, वे अज्ञान के गहनतम अंधकार में फेंक दिये जाते हैं।

तात्पर्य : सबसे अभागे तो निर्विशेषवादी हैं, जो आध्यात्मिक जगत के चित्र-वैचित्र्य को नहीं समझ पाते। वे वैकुण्ठलोकों के सौन्दर्य की बात चलाते भयभीत होते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि ऐसा वैचित्र्य अवश्य ही भौतिक होगा। ऐसे निर्विशेषवादी सोचते हैं कि आध्यात्मिक जगत पूर्णतया शून्य है अथवा दूसरे शब्दों में, वहाँ कोई चित्र-वैचित्र्य नहीं है। इस मनोवृत्ति को यहाँ पर *कुकथा मतिघ्नी:* अर्थात् ''अयोग्य शब्दों द्वारा मोहग्रस्त बुद्धि'' कहा गया है। यहाँ पर शून्यवाद तथा आध्यात्मिक जगत की निर्विशेष स्थिति की भर्त्सना की गई है, क्योंकि इनसे मनुष्य की बुद्धि मोहग्रस्त होती है। निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी किस तरह इस जगत के विषय में, जो चित्र-वैचित्र्य पूर्ण है, सोच सकते हैं और तब कह सकते हैं कि आध्यात्मिक जगत में चित्र-वैचित्र्य नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि यह भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत का विकृत प्रतिबिम्ब है, अतएव जब तक आध्यात्मिक जगत में चित्र-वैचित्र्य नहीं होगा तब तक इस भौतिक जगत में क्षणिक चित्र-वैचित्र्य कैसे हो सकता है? इस

बात का कि कोई इस भौतिक जगत को पार कर सकता है अर्थ यह नहीं है कि यहाँ दिव्य चित्र-वैचित्र्य नहीं है।

भागवत में और विशेष रूप से इस श्लोक में इस बात पर बल दिया गया है कि जो लोग आध्यात्मिक आकाश तथा वैकुण्ठलोकों के वास्तविक दिव्य रूप के विषय में विचार-विमर्श करने तथा समझने का प्रयास करते हैं, वे भाग्यवान हैं। वैकुण्ठलोकों का चित्र-वैचित्र्य भगवान् की दिव्य लीलाओं के सम्बन्ध में वर्णित है। किन्तु लोग आध्यात्मिक धाम तथा भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को समझने का प्रयास करने के बजाय राजनीति तथा आर्थिक विकास में अधिक रुचि दिखाते हैं। वे इस जगत की जहाँ उन्हें कुछ वर्षों तक ही रहना है स्थिति से सम्बन्धित समस्याओं को हल करने के लिए अनेकानेक सम्मेलनों, गोष्ठियों तथा चर्चाओं का आयोजन करते हैं, किन्तु वे वैकुण्ठलोक की आध्यात्मिक स्थिति को समझने में रुचि नहीं दिखाते। यदि वे तनिक भी भाग्यशाली हुए तो वे भगवद्धाम वापस जाने में रुचि दिखाते हैं, किन्तु जब तक वे आध्यात्मिक जगत को समझ नहीं लेते वे इस भौतिक अंधकार में लगातार सड़ते रहते हैं।

येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना
ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्म यत्र ।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य
सम्मोहिता विततया बत मायया ते ॥ २४॥

शब्दार्थ

ये—वे व्यक्ति; अभ्यर्थिताम्—वांछित; अपि—निश्चय ही; च—तथा; नः—हमारे (ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं) द्वारा; नृ-गतिम्—मनुष्य योनि; प्रपन्नाः—प्राप्त किया है; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; तत्त्व-विषयम्—परब्रह्म का विषय; सह-धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्तों सहित; यत्र—जहाँ; न—नहीं; आराधनम्—पूजा; भगवतः—भगवान् की; वितरन्ति—सम्पन्न करते हैं; अमुष्य—परमेश्वर का; सम्मोहिताः—मोहग्रस्त; विततया—सर्वव्यापी; बत—हाय; मायया—माया के प्रभाव से; ते—वे।

ब्रह्माजी ने कहा : हे प्रिय देवताओ, मनुष्य जीवन इतना महत्वपूर्ण है कि हमें भी ऐसे जीवन को पाने की इच्छा होती है, क्योंकि मनुष्य रूप में पूर्ण धार्मिक सत्य तथा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यदि इस मनुष्य जीवन में कोई व्यक्ति भगवान् तथा उनके धाम को नहीं समझ पाता तो यह समझना होगा कि वह बाह्य प्रकृति के प्रभाव से अत्यधिक ग्रस्त है।

तात्पर्य : ब्रह्माजी मनुष्य की दशा की अत्यधिक निन्दा करते हैं, जो भगवान् तथा उनके दिव्य धाम वैकुण्ठ में रुचि नहीं लेता। ब्रह्माजी तक मनुष्य जीवन की कामना करते हैं। ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं

को मनुष्यों की अपेक्षा अधिक उत्तम शरीर प्राप्त हैं फिर भी ब्रह्मा समेत सारे देवता मनुष्य जीवन प्राप्त करना चाहते हैं, क्योंकि यह विशेष रूप से उसी जीव के लिए होता है, जो दिव्य ज्ञान तथा धार्मिक सिद्धि प्राप्त कर सके। एक जीवन में भगवद्धाम वापस जाना सम्भव नहीं है, किन्तु कम से कम मनुष्य जीवन में जीव को जीवन-लक्ष्य को समझकर कृष्णभावनामृत शुरू कर देना चाहिए। कहा जाता है कि मनुष्य जीवन महान् वरदान है, क्योंकि अविद्या के सागर को पार करने के लिए यह सर्वोपयुक्त नाव है। आध्यात्मिक गुरु को उस नाव का सबसे समर्थ कप्तान (नाविक) माना जाता है और शास्त्रों से प्राप्त जानकारी अविद्या के सागर पर तैरने के लिए अनुकूल वायु है। जो मनुष्य इस जीवन में इन सभी सुविधाओं का लाभ नहीं उठाता वह आत्महत्या करता है। अतएव जो व्यक्ति मनुष्य जीवन में आकर कृष्णभावनामृत शुरू नहीं करता वह माया के वशीभूत होकर अपना जीवन गँवा बैठता है। ब्रह्माजी ऐसे मनुष्य की स्थिति पर शोक व्यक्त करते हैं।

यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या
दूरे यमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः ।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग-
वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यत्—वैकुण्ठ; च—तथा; व्रजन्ति—जाते हैं; अनिमिषाम्—देवताओं का; ऋषभ—मुखिया; अनुवृत्त्या—चरणचिह्नों का अनुसरण करके; दूरे—दूर रहते हुए; यमाः—विधि-विधान; हि—निश्चय ही; उपरि—ऊपर; नः—हमको; स्पृहणीय—वांछनीय; शीलाः—सद्गुण; भर्तुः—भगवान् के; मिथः—एक दूसरे के लिए; सुयशसः—ख्याति; कथन—विचार विमर्श या वार्ताओं द्वारा; अनुराग—आकर्षण; वैक्लव्य—भाव, आनन्द; बाष्प-कलया—आँखों में अश्रु; पुलकी-कृत—काँपते हुए; अङ्गाः—शरीर।

आनन्दभाव में जिन व्यक्तियों के शारीरिक लक्षण परिवर्तित होते हैं और जो भगवान् की महिमा का श्रवण करने पर गहरी-गहरी साँस लेने लगते हैं तथा प्रस्वेदित हो उठते हैं, वे भगवद्धाम को जाते हैं भले ही वे ध्यान तथा अन्य अनुष्ठानों की तनिक भी परवाह न करते हों। भगवद्धाम भौतिक ब्रह्माण्डों के ऊपर है और ब्रह्मा तथा अन्य देवतागण तक इसकी इच्छा करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर यह स्पष्ट कथन है कि भगवद्धाम भौतिक ब्रह्माण्डों के ऊपर है। जिस प्रकार इस पृथ्वी के ऊपर लाखों उच्चतर लोक हैं उसी तरह आध्यात्मिक आकाश से सम्बन्धित लाखों करोड़ों

आध्यात्मिक लोक हैं। ब्रह्माजी यहाँ कहते हैं कि आध्यात्मिक जगत देवताओं के लोक के ऊपर है। मनुष्य भगवद्धाम में तभी प्रवेश कर सकता है जब उसमें वांछनीय गुण अत्यधिक विकसित हों। भक्त में सारे सद्गुण विकसित हो जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* (५.१८.१२) में कहा गया है कि जो कृष्णभावनाभावित होता है, वह देवताओं के सभी सद्गुणों से समन्वित होता है। भौतिक जगत में देवताओं के सद्गुणों की अत्यधिक सराहना की जाती है, जिस तरह, जैसा हमारा अनुभव है, भद्रपुरुष के गुणों की सराहना अज्ञानी व्यक्ति या निम्न जीवन में रहने वाले की तुलना में अधिक की जाती है। उच्चतर लोकों के देवताओं के गुण इस पृथ्वी के निवासियों के गुणों की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ हैं।

यहाँ पर ब्रह्माजी पुष्टि करते हैं कि केवल वे ही व्यक्ति भगवद्धाम में प्रवेश कर सकते हैं जिन्होंने वांछनीय गुण विकसित कर लिये हैं। *चैतन्य–चरितामृत* में भक्त के वांछनीय गुणों की संख्या २६ बतलाई गई है। वे इस प्रकार हैं: वह अत्यन्त दयालु होता है; वह किसी से झगड़ता नहीं; वह कृष्णभावनामृत को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य स्वीकार करता है; वह सबों पर समभाव रखता है; उसके चरित्र में दोष नहीं निकाला जा सकता; वह उदार, मृदु तथा सदैव भीतर–बाहर से स्वच्छ रहता है; वह इस जगत में किसी वस्तु पर अपना दावा नहीं करता; वह सारे जीवों का उपकारी होता है; वह शान्त रहता है और पूर्णतया कृष्ण के शरणागत होता है; वह निष्काम होता है; वह दीन, विनीत, सदैव स्थिर रहता है और उसने इन्द्रियों के कार्यकलापों को जीत लिया होता है; वह शरीर के निर्वाह से अधिक भोजन नहीं करता; वह भौतिक पहचान के पीछे पागल नहीं रहता; वह अन्यों को आदर देता (मानप्रद) है, किन्तु अपने आदर का भूखा नहीं रहता (अमानी); वह अत्यन्त गम्भीर, अत्यन्त दयालु तथा सौहार्दपूर्ण होता है; वह कवित्वमय होता है; वह सारे कार्यों में दक्ष होता है और व्यर्थ चर्चा के समय मौन रहता है। इसी तरह *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२१) में सन्त पुरुष के गुणों का उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि भगवद्धाम जाने का पात्र सन्त पुरुष अत्यन्त सहिष्णु तथा समस्त जीवों पर अतीव दयालु होता है। वह पक्षपात नहीं करता; वह मनुष्यों तथा पशुओं दोनों ही के प्रति दयालु होता है। वह ऐसा मूर्ख नहीं होता कि मनुष्य नारायण या दरिद्रनारायण को खिलाने के लिए बकरा–नारायण की हत्या करे। वह सारे जीवों के प्रति अत्यन्त दयालु होता है, अतएव उसका कोई शत्रु नहीं होता। वह अत्यन्त शान्त रहता है। ये गुण उन पुरुषों के हैं, जो भगवद्धाम में प्रवेश करने के योग्य हैं। ऐसा व्यक्ति धीरे

धीरे मुक्त होकर भगवद्धाम में प्रवेश करता है। इस बात की पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (५.५.२) में की गई है। *श्रीमद्भागवत* में ही (२.३.२४) अन्यत्र कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति निरपराध भाव से भगवन्नाम का कीर्तन करने के बाद क्रन्दन या शारीरिक परिवर्तन प्रदर्शित नहीं करता (नामापराध) तो समझना चाहिए कि वह कठोर हृदय है, जिससे उसका हृदय भगवन्नाम का, अर्थात् हरे कृष्ण का उच्चारण करने के बाद भी नहीं बदलता। ये शारीरिक परिवर्तन भाव के कारण हो सकते हैं जब हम निरपराध भाव से भगवन्नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन करते हैं।

यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि हमें दस अपराधों से बचना चाहिए। पहला अपराध है उन लोगों की बुराई करना जो अपने जीवन में भगवान् की महिमा का प्रसार करना चाहते हैं। लोगों को परम पुरुष की महिमा समझने में शिक्षित किया जाना चाहिए, अत: जो भक्तगण भगवान् की महिमा का प्रचार करने में लगे रहते हैं उनकी बुराई कभी भी नहीं करनी चाहिए। यह सबसे भारी अपराध है। इसके अतिरिक्त विष्णु का पवित्र नाम सबसे अधिक शुभ (मंगलमय) नाम है और उनकी लीलाएँ भी उनके पवित्र नाम से अभिन्न हैं। ऐसे अनेक मूर्ख हैं, जो यह कहते हैं कि चाहे कोई हरे कृष्ण का कीर्तन करे चाहे काली, दुर्गा या शिव के नामों का कीर्तन करे, क्योंकि ये सभी समान हैं। यदि कोई यह सोचता है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का नाम तथा देवताओं के नाम एवं कार्य-कलाप एकसमान हैं या यदि कोई व्यक्ति विष्णु के पवित्र नाम को भौतिक ध्वनि मानता है, तो यह भी एक अपराध है। तीसरा अपराध है भगवान् की महिमा का प्रसार करने वाले गुरु को सामान्य मनुष्य समझना। चौथा अपराध है वैदिक ग्रंथों को यथा पुराणों या अन्य दिव्य शास्त्रों को सामान्य ज्ञान की पुस्तकों के रूप में मानना। पाँचवा अपराध यह सोचना है कि भक्तों ने भगवान् के पवित्र नाम को कृत्रिम महत्ता प्रदान की हुई है। असलर तथ्य तो यह है कि भगवान् अपने नाम से अभिन्न हैं। सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति तो भगवन्नाम का कीर्तन—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—है, जो इस युग के लिए संस्तुत है। छठा अपराध है भगवान के पवित्र नाम पर किसी प्रकार की व्याख्या करना। सातवाँ अपराध है भगवन्नाम के कीर्तन के बल पर पापकर्म करना। यह ज्ञात है कि मनुष्य एकमात्र भगवन्नाम का कीर्तन करने से समस्त पापों से मुक्त किया जा सकता है, किन्तु इसीलिए

यदि कोई यह सोचे कि वह सभी तरह के पापकर्म करने के लिए स्वतंत्र है, तो यह अपराध का लक्षण है। आठवाँ अपराध है हरे कृष्ण कीर्तन की समता अन्य आध्यात्मिक कार्यों यथा ध्यान, तपस्या या यज्ञ से करना। इन्हें किसी भी स्तर पर समान नहीं बतलाया जा सकता। नौवाँ अपराध है ऐसे व्यक्तियों के समक्ष पवित्र नाम की महत्ता का गुणगान करना जिन्हें उसमें कोई रुचि न हो। दसवाँ अपराध है, आध्यात्मिक अनुशीलन की प्रक्रिया को करते समय किसी वस्तु का स्वामी होने की भ्रान्त धारणा के प्रति अनुरक्ति रखना या शरीर को आत्मा मानना।

जब मनुष्य भगवन्नाम का कीर्तन करते समय इन दसों अपराधों से मुक्त होता है, तो उसमें शारीरिक भावलक्षण उत्पन्न होते हैं, जो *पुलकाश्रु* कहलाते हैं। *पुलक* का अर्थ है ''सुख का लक्षण'' तथा *अश्रु* का अर्थ है ''आँखों में आँसू।'' जिस व्यक्ति ने पवित्र नाम का कीर्तन निरपराध भाव से किया हो उसमें सुख तथा अश्रु के लक्षण प्रकट होने चाहिए। इस श्लोक में बतलाया गया है कि जिन लोगों ने भगवान् की महिमा के कीर्तन द्वारा सुख तथा अश्रु के लक्षण वास्तव में विकसित कर लिये हैं, वे भगवद्धाम में प्रवेश करने के पात्र हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि यदि हरे कृष्ण कीर्तन करते समय किसी पुरुष में ये लक्षण विकसित नहीं होते तो समझना चाहिए कि अब भी वह अपराधपूर्ण है। इस सन्दर्भ में *चैतन्य-चरितामृत* में एक सुन्दर उपचार का प्रस्ताव है। *आदि लीला* (८.३१) में कहा गया है कि यदि कोई श्री चैतन्य महाप्रभु की शरण ग्रहण करता है और केवल भगवन्नाम, हरे कृष्ण, का कीर्तन करता है, तो वह सारे अपराधों से मुक्त हो जाता है।

तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं
दिव्यं विचित्रविबुधाछ्यविमानशोचिः ।
आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योग-
मायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्—तब; विश्व-गुरु—ब्रह्माण्ड के गुरु अर्थात् परमेश्वर द्वारा; अधिकृतम्—अधिकृत; भुवन—लोकों का; एक—एकमात्र; वन्द्यम्—पूजा जाने योग्य; दिव्यम्—आध्यात्मिक; विचित्र—अत्यधिक अलंकृत; विबुध-अछ्य—भक्तों का (जो विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ हैं); विमान—वायुयानों का; शोचिः—प्रकाशित; आपुः—प्राप्त किया; पराम्—सर्वोच्च; मुदम्—सुख; अपूर्वम्—अभूतपूर्व; उपेत्य—प्राप्त करके; योग-माया—आध्यात्मिक शक्ति द्वारा; बलेन—प्रभाव द्वारा; मुनयः—मुनिगण; तत्—वैकुण्ठ; अथो—वह; विकुण्ठम्—विष्णु।

इस तरह सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार नामक महर्षियों ने अपने योग बल से

आध्यात्मिक जगत के उपर्युक्त वैकुण्ठ में पहुँच कर अभूतपूर्व सुख का अनुभव किया। उन्होंने पाया कि आध्यात्मिक आकाश अत्यधिक अलंकृत विमानों से, जो वैकुण्ठ के सर्वश्रेष्ठ भक्तों द्वारा चालित थे, प्रकाशमान था और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा अधिशासित था।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अद्वितीय हैं। वे सबों के ऊपर हैं। न तो कोई उनके समान है, न उनसे बड़ा। अतएव उन्हें यहाँ *विश्व गुरु* कहा गया है। वे सम्पूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक सृष्टि के आदि पुरुष हैं और *भुवनैकवन्द्यम्* अर्थात् तीनों लोकों में एकमात्र पूज्य व्यक्ति हैं। आध्यात्मिक आकाश के विमान स्वत: प्रकाशित रहते हैं और भगवान् के महान् भक्तों के द्वारा संचालित होते हैं। दूसरे शब्दों में, वैकुण्ठलोकों में भौतिक जगत में उपलब्ध वस्तुओं की कोई कमी नहीं है—वे उपलब्ध हैं, किन्तु वे अधिक मूल्यवान हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक हैं, अत: शाश्वत तथा आनन्दमय हैं। मुनियों को अभूतपूर्व सुख का अनुभव इसलिए हुआ क्योंकि वैकुण्ठ किसी सामान्य व्यक्ति द्वारा अधिशासित न था। वैकुण्ठलोक कृष्ण के अंशों द्वारा अधिशासित हैं, जो मधुसूदन... जाने जाते हैं। ये दिव्य लोक इसलिए पूजनीय हैं, क्योंकि इनमें स्वयं भगवान् शासन करते हैं। कहा जाता है कि चारों मुनि अपने योग बल से दिव्य आध्यात्मिक आकाश में पहुँचे। यही योग पद्धति की सिद्धि है। प्राणायाम तथा अच्छा स्वास्थ्य बनाने के लिए अनुशासन ही योग सिद्धि के अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं। योग प्रणाली सामान्य रूप से *अष्टांग योग* या *सिद्धि* के रूप में जानी जाती है। *योग सिद्धि* के बल से मनुष्य हल्के से हल्का और भारी से भारी हो सकता है। वह जहाँ चाहे जा सकता है और इच्छानुसार ऐश्वर्य प्राप्त कर सकता है। ऐसी आठ सिद्धियाँ हैं। चारों कुमार ऋषि-गण हल्के से हल्का होकर वैकुण्ठ पहुँचे और इस तरह उन्होंने भौतिक जगत के अन्तरिक्ष को पार किया। आधुनिक यांत्रिक अन्तरिक्ष यान इसलिए असफल हैं, क्योंकि वे इस भौतिक सृष्टि के सर्वोच्च क्षेत्र में नहीं पहुँचे सकते और आध्यात्मिक आकाश में तो प्रवेश कर ही नहीं सकते। किन्तु *योग* सिद्धि से मनुष्य न केवल भौतिक अन्तरिक्ष में यात्रा कर सकता है, अपितु भौतिक अन्तरिक्ष को पार करके आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश कर सकता है। हम इस तथ्य को दुर्वासा मुनि तथा महाराज अम्बरीष विषयक घटना से भी जानते हैं। ऐसा समझा जाता है कि दुर्वासा मुनि ने एक वर्ष तक सर्वत्र यात्रा की और वे आध्यात्मिक आकाश में भगवान् नारायण से भेंट करने गये। वर्तमान मानदण्ड के अनुसार विज्ञानियों की गणना है कि यदि कोई प्रकाश की गति से यात्रा कर सके तो इस

भौतिक जगत के सर्वोच्च लोक तक पहुँचने में चालीस हजार वर्ष लग जायेंगे। किन्तु योगपद्धति मनुष्य को बिना सीमा या कठिनाई के उठा ले जा सकती है। इस श्लोक में *योगमाया* शब्द आया है। *योगमायाबलेन विकुण्ठम्*। आध्यात्मिक जगत तथा अन्य समस्त आध्यात्मिक प्राकट्यों में प्रदर्शित दिव्य सुख *योगमाया* के बल से सम्भव बन पाते हैं।

तस्मिन्नतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः
कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम् ।
देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्ध्य-
केयूरकुण्डलकिरीटविटङ्कवेषौ ॥ २७॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस वैकुण्ठ में; अतीत्य—पार कर लेने पर; मुनयः—मुनियों ने; षट्—छह; असज्ज मानाः—बिना आकृष्ट हुए; कक्षाः—द्वार; समान—बराबर; वयसौ—आयु; अथ—तत्पश्चात्; सप्तमायाम्—सातवें द्वार पर; देवौ—वैकुण्ठ के दो द्वारपालों; अचक्षत—देखा; गृहीत—लिये हुए; गदौ—गदाएँ; पर-अर्ध्य—सर्वाधिक मूल्यवान; केयूर—बाजूबन्द; कुण्डल—कान के आभूषण; किरीट—मुकुट; विटङ्क—सुन्दर; वेषौ—वस्त्र।

भगवान् के आवास वैकुण्ठपुरी के छः द्वारों को पार करने के बाद और सजावट से तनिक भी आश्चर्यचकित हुए बिना, उन्होंने सातवें द्वार पर एक ही आयु के दो चमचमाते प्राणियों को देखा जो गदाएँ लिए हुए थे और अत्यन्त मूल्यवान आभूषणों, कुण्डलों, हीरों, मुकुटों, वस्त्रों इत्यादि से अलंकृत थे।

तात्पर्य : ये ऋषि वैकुण्ठपुरी में भगवान् को देखने के लिए इतने उत्सुक थे कि उन्होंने उन छह द्वारों की दिव्य सजावट को देखने की परवाह नहीं की जिनसे वे एक एक करके गुजरे थे। किन्तु सातवें द्वार पर उन्हें एक ही आयु के दो द्वारपाल मिले। द्वारपालों के एक ही आयु के होने का महत्त्व यह है कि वैकुण्ठलोकों में वृद्धावस्था नहीं होती, अतएव कोई यह अन्तर नहीं कर सकता कि कौन किससे अधिक आयु का है। वैकुण्ठवासीगण भगवान् नारायण की ही तरह *शंख, चक्र, गदा* तथा *पद्म* से अलंकृत रहते हैं।

मत्तद्विरेफवनमालिकया निवीतौ
विन्यस्तयासितचतुष्टयबाहुमध्ये ।
वक्त्रं भ्रुवा कुटिलया स्फुटनिर्गमाभ्यां
रक्तेक्षणेन च मनाग्रभसं दधानौ ॥ २८॥

शब्दार्थ

मत्त—उन्मत्त; द्वि-रेफ—भौंरे; वन-मालिकया—ताजे फूलों की माला से; निवीतौ—गर्दन पर लटकते; विन्यस्तया—चारों ओर रखे हुए; असित—नीला; चतुष्टय—चार; बाहु—हाथ; मध्ये—बीच में; वक्त्रम्—मुखमण्डल; भ्रुवा—भौहों से; कुटिलया—टेढ़ी; स्फुट—हुँकारते हुए; निर्गमाभ्याम्—श्वास; रक्त—लालाभ; ईक्षणेन—आँखों से; च—तथा; मनाक्—कुछ कुछ; रभसम्—चंचल, क्षुब्ध; दधानौ—दृष्टि फेरी।

दोनों द्वारपाल ताजे फूलों की माला पहने थे, जो मदोन्मत्त भौंरों को आकृष्ट कर रही थीं और उनके गले के चारों ओर तथा उनकी चार नीली बाहों के बीच में पड़ी हुई थीं। अपनी कुटिल भौहों, अतृप्त नथनों तथा लाल लाल आँखों से वे कुछ कुछ क्षुब्ध प्रतीत हो रहे थे।

तात्पर्य : उनकी मालाएँ भौरों के झुंडों को आकृष्ट कर रही थीं, क्योंकि ये मालाएँ ताजे फूलों की थीं। वैकुण्ठलोक में हर वस्तु ताजी, नवीन तथा दिव्य होती है। वैकुण्ठ के निवासियों के शरीर नीलाभ रंग के होते हैं और नारायण के ही समान उनके चार हाथ होते हैं।

द्वार्येतयोर्निविविशुर्मिषतोरपृष्ट्वा
पूर्वा यथा पुरटवज्रकपाटिका याः ।
सर्वत्र तेऽविषमया मुनयः स्वदृष्ट्या
ये सञ्चरन्त्यविहता विगताभिशङ्काः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

द्वारि—द्वार पर; एतयोः—दोनों द्वारपाल; निविविशुः—प्रवेश किया; मिषतोः—देखते देखते; अपृष्ट्वा—बिना पूछे; पूर्वाः—पहले की तरह; यथा—जिस तरह; पुरट—स्वर्ण; वज्र—तथा हीरों से बना; कपाटिकाः—दरवाजे; याः—जो; सर्वत्र—सभी जगह; ते—वे; अविष-मया—बिना भेदभाव के; मुनयः—मुनिगण; स्व-दृष्ट्या—स्वेच्छा से; ये—जो; सञ्चरन्ति—विचरण करते हैं; अविहताः—बिना रोक टोक के; विगत—बिना; अभिशङ्काः—सन्देह।

सनक इत्यादि मुनियों ने सभी जगहों के दरवाजों को खोला। उन्हें अपने पराये का कोई विचार नहीं था। उन्होंने खुले मन से स्वेच्छा से उसी तरह सातवें द्वार में प्रवेश किया जिस तरह वे अन्य छह दरवाजों से होकर आये थे, जो सोने तथा हीरों से बने हुए थे।

तात्पर्य : सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार महर्षि यद्यपि काफी उम्र के थे, किन्तु अपने को शाश्वत रुप से छोटे बच्चों की तरह बनाए हुए थे। वे दुविधारहित थे और वे दरवाजों में उसी तरह प्रविष्ट हुए जिस तरह छोटे बच्चे अतिक्रमण क्या होता है, उस पर बिना किसी विचार के प्रवेश करते हैं। यह बच्चे का स्वभाव होता है। बच्चा किसी भी स्थान में प्रवेश कर सकता है और उसे कोई नहीं रोकता। निस्सन्देह कि सामान्यतया किसी भी स्थान में जाने के प्रयास के लिए बच्चे का स्वागत होता है, किन्तु यदि बच्चे को दरवाजे में प्रविष्ट होने से रोका जाता है, तो वह बहुत दुखी और क्रुद्ध होता है।

यह बालक का स्वभाव है। यहाँ पर वही बात हुई। बच्चों जैसे साधु पुरुष राजमहल के छहों द्वारों में घुसते गये और उन्हें किसी ने नहीं रोका, अतएव जब उन्होंने सातवें द्वार में प्रविष्ट होने का प्रयास किया और उन्हें द्वारपालों द्वारा मना किया गया जिन्होंने अपनी लाठियों से रोका तो स्वभावत: वे अत्यधिक क्रुद्ध तथा दुखी हुए। कोई सामान्य बालक तो चिल्लाया होता, किन्तु ये सामान्य बालक न थे, अत: इन्होंने तुरन्त द्वारपालों को दण्ड देने की तैयारी कर ली, क्योंकि इन द्वारपालों ने बहुत बड़ा अपराध किया था। भारत में आज भी किसी सन्तपुरुष को किसी के द्वार में घुसने से कभी नहीं रोका जाता।

तान्वीक्ष्य वातरशनांश्चतुरः कुमारान्
वृद्धान्दशार्धवयसो विदितात्मतत्त्वान् ।
वेत्रेण चास्खलयतामतदर्हणांस्तौ
तेजो विहस्य भगवत्प्रतिकूलशीलौ ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; वीक्ष्य—देखकर; वात-रशनान्—नग्न; चतुरः—चार; कुमारान्—बालकों को; वृद्धान्—काफी आयु वाले; दश-अर्ध—पांच वर्ष; वयसः—आयु के लगने वाले; विदित—अनुभव कर चुके थे; आत्म-तत्त्वान्—आत्मा के सत्य को; वेत्रेण—अपने डंडों से; च—भी; अस्खलयताम्—मना किया; अ-तत्-अर्हणान्—उनसे ऐसी आशा न करते हुए; तौ—वे दोनों द्वारपाल; तेजः—यश; विहस्य—शिष्टाचार की परवाह न करके; भगवत्-प्रतिकूल-शीलौ—भगवान् को नाराज करने वाले स्वभाव वाले।

चारों बालक मुनि, जिनके पास अपने शरीरों को ढकने के लिए वायुमण्डल के अतिरिक्त कुछ नहीं था, पाँच वर्ष की आयु के लग रहे थे यद्यपि वे समस्त जीवों में सबसे वृद्ध थे और उन्होंने आत्मा के सत्य की अनुभूति प्राप्त कर ली थी। किन्तु जब द्वारपालों ने, जिनके स्वभाव भगवान् को तनिक भी रुचिकर न थे, इन मुनियों को देखा तो उन्होंने उनके यश का उपहास करते हुए अपने डंडों से उनका रास्ता रोक दिया, यद्यपि ये मुनि उनके हाथों ऐसा बर्ताव पाने के योग्य न थे।

तात्पर्य : चारों मुनि ब्रह्मा के सर्वप्रथम उत्पन्न पुत्र थे। अत: शिवजी समेत अन्य सारे जीव बाद में उत्पन्न हुए जीव हैं, अतएव वे चारों कुमारों से छोटे हैं। यद्यपि वे पाँच वर्षीय बालकों जैसे लग रहे थे और नंगे विचरण कर रहे थे, किन्तु वे अन्य सारे जीवों से अधिक वय के थे और उन्होंने आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर लिया था। ऐसे सन्तों को वैकुण्ठलोक के साम्राज्य में प्रविष्ट होने से मना नहीं किया जाना था, किन्तु संयोगवश द्वारपालों ने उनके प्रवेश पर आपत्ति की। यह उचित नहीं था। भगवान्

कुमारों जैसे मुनियों की सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं, किन्तु यह बात जानते हुए भी द्वारपालों ने आश्चर्यजनक रूप से तथा क्रोधवश उन्हें प्रवेश करने से मना किया।

ताभ्यां मिषत्स्वनिमिषेषु निषिध्यमानाः
स्वर्हत्तमा ह्यपि हरेः प्रतिहारपाभ्याम् ।
ऊचुः सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग ईष-
त्कामानुजेन सहसा त उपप्लुताक्षाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ताभ्याम्—उन दोनों द्वारपालों द्वारा; मिषत्सु—इधर उधर देखते हुए; अनिमिषेषु—वैकुण्ठ में रहने वाले देवताओं; निषिध्यमानाः—मना किये जाने पर; सु-अर्हत्तमाः—सर्वोपयुक्त व्यक्तियों द्वारा; हि अपि—यद्यपि; हरेः—भगवान् हरि का; प्रतिहार-पाभ्याम्—दो द्वारपालों द्वारा; ऊचुः—कहा; सुहृत्-तम—अत्यधिक प्रिय; दिदृक्षित—देखने की उत्सुकता; भङ्गे—अवरोध; ईषत्—कुछ कुछ; काम-अनुजेन—काम के छोटे भाई (क्रोध) द्वारा; सहसा—अचानक; ते—वे ऋषि; उपप्लुत—विक्षुब्ध; अक्षाः—आँखें।

इस तरह सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति होते हुए भी जब चारों कुमार अन्य देवताओं के देखते देखते श्री हरि के दो प्रमुख द्वारपालों द्वारा प्रवेश करने से रोक दिये गये तो अपने सर्वाधिक प्रिय स्वामी श्रीहरि को देखने की परम उत्सुकता के कारण उनके नेत्र क्रोधवश सहसा लाल हो गये।

तात्पर्य : वैदिक प्रणाली के अनुसार संन्यासी गेरुवे वस्त्र धारण किये रहता है। यह गेरुवा वेश एक तरह से संन्यासी तथा साधु के लिए कहीं भी जाने के लिए व्यावसायिक दृष्टि से एक पारपत्र (पासपोर्ट) होता है। संन्यासी का कर्तव्य लोगों को कृष्णभावनामृत से प्रबुद्ध करना है। संन्यास आश्रम बितानेवाले लोगों के पास पुरुषोत्तम भगवान् की महिमा तथा श्रेष्ठता का प्रचार करने के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं रहता। अतएव वैदिक समाजशास्त्रीय धारणा यह है कि संन्यासी पर प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। वह जहाँ भी जाना चाहे उसे जाने देना चाहिए और गृहस्थ से जो भेंट माँगे, उससे उसे इनकार नहीं करना चाहिए। चारों कुमार भगवान् नारायण का दर्शन करने आये थे। *सुहृत्तमम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है "समस्त मित्रों में श्रेष्ठ।" जैसाकि *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं *सुहृदं सर्वभूतानाम्*—वे सारे जीवों के सर्वोत्तम मित्र हैं। जीवों का भगवान् से बढ़कर जीवों का हितैषी मित्र कोई नहीं हो सकता। वे सबों के प्रति इतने दयालु रहते हैं कि हमारे द्वारा भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भुला दिये जाने पर भी वे स्वयं आते हैं—कभी सशरीर जिस तरह कि इस पृथ्वी पर भगवान् कृष्ण प्रकट हुए थे तथा कभी कभी अपने भक्त के रूप में जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया

और कभी कभी वे समस्त पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए अपने प्रामाणिक भक्तों को भेजते हैं। अत: वे सबों के सबसे बड़े हितैषी मित्र हैं और कुमारगण उनसे मिलना चाहते थे। द्वारपालों को यह जान लेना चाहिए था कि चारों मुनियों के पास कोई अन्य कार्य नहीं था, अतएव उन्हें महल में प्रविष्ट होने से रोकना उचित नहीं था।

इस श्लोक में अलंकारिक रूप में कहा गया है कि जब मुनियों को प्रियतम भगवान् से मिलने के लिए रोका गया तो सहसा उनमें काम का छोटा भाई प्रकट हुआ। काम का छोटा भाई क्रोध है। यदि किसी की कामना या इच्छा पूरी नहीं होती, तो छोटा भाई क्रोध पीछे-पीछे चला आता है। यहाँ हम यह देख सकते है कि कुमारों जैसे सन्तपुरुष भी क्रुद्ध थे, किन्तु वे अपने स्वार्थ के लिए क्रुद्ध न थे। वे इसलिए क्रुद्ध थे, क्योंकि उन्हें भगवान् से मिलने के लिए महल के भीतर प्रवेश करने से रोका गया था। अतएव इस श्लोक में इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती कि सिद्धावस्था में मनुष्य को क्रोध नहीं आना चाहिए। क्रोध मुक्तावस्था में भी आता रहता है। ये चारों साधु भाई, कुमारगण, मुक्त पुरुष माने जाते थे; फिर भी वे क्रुद्ध थे, क्योंकि उन्हें भगवान् की सेवा करने से रोका गया था। एक सामान्य व्यक्ति तथा एक मुक्त पुरुष के क्रोध में यह अन्तर है कि सामान्य व्यक्ति इसलिए क्रुद्ध होता है कि उसकी इन्द्रिय-इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं, किन्तु कुमारगण जैसे व्यक्ति तब क्रुद्ध होते हैं जब उन्हें भगवान् की सेवा करने से रोका जाता है।

पिछले श्लोक में स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि कुमारगण मुक्त पुरुष थे। *विदितात्म-तत्त्व* का अर्थ है "जो आत्म-साक्षात्कार के सत्य को समझता है।" जो आत्म-साक्षात्कार के सत्य को नहीं समझता वह अज्ञानी कहलाता है, किन्तु जो आत्मा, परमात्मा, उनके अन्त:सम्बन्ध तथा आत्म-साक्षात्कार में कार्यकलापों को जानता है, वह *विदितात्म-तत्त्व* कहलाता है। यद्यपि कुमारगण पहले से मुक्त पुरुष थे फिर भी वे क्रुद्ध हुए। यह बिन्दु बहुत महत्त्वपूर्ण है। मुक्त होने पर यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने इन्द्रिय-कार्यकलापों को छोड़ दें। इन्द्रिय-कार्यकलाप मुक्तावस्था में भी चलते रहते हैं। किन्तु अन्तर इतना ही होता है कि मुक्तावस्था में इन्द्रिय कार्यकलापों को केवल कृष्णभावनामृत के सन्दर्भ में स्वीकार किया जाता है, जबकि बद्धावस्था में इन्द्रिय कार्यकलाप निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए सम्पन्न किये जाते हैं।

मुनय ऊचुः

को वामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोच्चै-
स्तद्धर्मिणां निवसतां विषमः स्वभावः ।
तस्मिन्प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे वां
को वात्मवत्कुहकयोः परिशङ्कनीयः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मुनयः—मुनियों ने; ऊचुः—कहा; कः—कौन; वाम्—तुम दोनों; इह—वैकुण्ठ में; एत्य—प्राप्त करके; भगवत्—भगवान् को; परिचर्यया—सेवा द्वारा; उच्चैः—विगत पुण्यकर्मों के द्वारा उन्नति करके; तत्-धर्मिणाम्—भक्तों के; निवसताम्—वैकुण्ठ में रहते हुए; विषमः—विरोधी; स्वभावः—मनोवृत्ति; तस्मिन्—भगवान् में; प्रशान्त-पुरुषे—निश्चिन्त, चिन्तारहित; गत-विग्रहे—शत्रुविहीन; वाम्—तुम दोनों का; कः—कौन; वा—अथवा; आत्म-वत्—अपने समान; कुहकयोः—द्वैतभाव रखने वाले; परिशङ्कनीयः—विश्वासपात्र न होना।

मुनियों ने कहा : ये दोनों व्यक्ति कौन हैं जिन्होंने ऐसी विरोधात्मक मनोवृत्ति विकसित कर रखी है। ये भगवान् की सेवा करने के उच्चतम पद पर नियुक्त हैं और इनसे यह उम्मीद की जाती है कि इन्होंने भगवान् जैसे ही गुण विकसित कर रखे होंगे? ये दोनों व्यक्ति वैकुण्ठ में किस तरह रह रहे हैं? इस भगवद्धाम में किसी शत्रु के आने की सम्भावना कहाँ है? पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का कोई शत्रु नहीं है। भला उनका कौन ईर्ष्यालु हो सकता है? शायद ये दोनों व्यक्ति कपटी हैं, अतएव अपनी ही तरह होने की अन्यों पर शंका करते हैं।

तात्पर्य : वैकुण्ठलोक के वासियों तथा भौतिक लोक के वासियों में अन्तर यह है कि वैकुण्ठ में सारे निवासी भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं और उनके समस्त सद्गुणों से युक्त होते हैं। महापुरुषों ने यह विश्लेषण किया है कि जब कोई बद्धजीव मुक्त होता है और भक्त बनता है, तो भगवान् के लगभग ७९ प्रतिशत सद्गुण उसमें आ जाते हैं। अतएव वैकुण्ठलोक में भगवान् तथा निवासियों के बीच शत्रुता का प्रश्न ही नहीं उठता। इस भौतिक जगत में नागरिक मुख्य प्रशासकों या राज्याध्यक्षों के प्रति शत्रुता रख सकते हैं, किन्तु वैकुण्ठ में ऐसी कोई मनोवृत्ति नहीं होती। जब तक मनुष्य पूरी तरह सद्गुण विकसित नहीं कर लेता तब तक उसे वैकुण्ठ में प्रविष्ट नहीं होने दिया जाता। अच्छाई या सद्गुणशीलता का मूल सिद्धान्त है भगवान् की अधीनता स्वीकार करना। इसीलिए मुनिगण चकित थे कि उन्हें महल में प्रविष्ट होने से रोकने वाले दोनों द्वारपाल वैकुण्ठलोक के वासियों जैसे नहीं थे। कहा जा सकता है कि द्वारपाल का कर्तव्य यह निश्चित करना है कि किसे महल में प्रवेश करने दिया जाय और किसे नहीं। किन्तु इस सन्दर्भ में यह प्रासंगिक नहीं है, क्योंकि वैकुण्ठ में किसी को तब तक

प्रविष्ट नहीं होने दिया जाता जब तक वह भगवान् की भक्ति में शतप्रतिशत उन्मुख नहीं हो लेता। वैकुण्ठलोकों में भगवान् का कोई शत्रु प्रवेश नहीं कर सकता। कुमारों ने यह निष्कर्ष निकाला कि द्वारपाल उन्हें केवल इसलिए रोक रहे थे, क्योंकि वे स्वयं कपटी थे।

न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षा-
वात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः ।
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं
व्युत्पादितं ह्युदरभेदि भयं यतोऽस्य ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—क्योंकि; अन्तरम्—भेद, अन्तर; भगवति—भगवान् में; इह—यहाँ; समस्त-कुक्षौ—हर वस्तु उदर के भीतर है; आत्मानम्—जीव; आत्मनि—परमात्मा में; नभः—वायु की अल्प मात्रा; नभसि—सम्पूर्ण वायु के भीतर; इव—सदृश; धीराः—विद्वान; पश्यन्ति—देखते हैं; यत्र—जिसमें; युवयोः—तुम दोनों का; सुर-लिङ्गिनोः—वैकुण्ठ वासियों की तरह वेश बनाएँ; किम्—कैसे; व्युत्पादितम्—विकसित, जागृत; हि—निश्चय ही; उदर-भेदि—शरीर तथा आत्मा में अन्तर; भयम्—डर; यतः—जहाँ से; अस्य—परमेश्वर का।

वैकुण्ठलोक में वहाँ के निवासियों तथा भगवान् में उसी तरह पूर्ण सामञ्जस्य है, जिस तरह अन्तरिक्ष में वृहत् तथा लघु आकाशों में पूर्ण सामञ्जस्य रहता है। तो इस सामञ्जस्य के क्षेत्र में भय का बीज क्यों है? ये दोनों व्यक्ति वैकुण्ठवासियों की तरह वेश धारण किये हैं, किन्तु उनका यह असामञ्जस्य कहाँ से उत्पन्न हुआ?

तात्पर्य : जिस तरह इस भौतिक जगत में हर राज्य में विभिन्न विभाग होते हैं—यथा नागरिक विभाग तथा अपराधी विभाग—उसी तरह ईश्वर की सृष्टि में भी दो विभाग हैं। जिस तरह भौतिक जगत में हम देखते हैं कि अपराध विभाग नागरिक विभाग की अपेक्षा बहुत ही छोटा होता है उसी तरह यह भौतिक जगत, जो कि अपराध विभाग माना जाता है, भगवान् की सम्पूर्ण सृष्टि का एक चतुर्थांश है। सारे जीव जो कि भौतिक ब्रह्माण्डों के निवासी हैं, न्यूनाधिक रूप में अपराधी माने जाते हैं, क्योंकि वे भगवान् के आदेशों का पालन नहीं करना चाहते या ईश्वर की इच्छा वाले सामंजस्यपूर्ण कार्यों के विरुद्ध रहते हैं। सृष्टि का सिद्धान्त यह है कि भगवान् स्वभाव से प्रसन्नचित्त हैं और अपनी दिव्य प्रसन्नता को बढ़ाने के लिए ही वे अनेक बनते हैं। हमारे जैसे जीव, भगवान् के अंश होने के कारण, भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करने के निमित्त हैं। अत: जब भी उस सामञ्जस्य में कोई विसंगति आती है, तो जीव तुरन्त ही माया की पकड़ में आ जाता है।

भगवान् की बहिरंगा शक्ति भौतिक जगत कहलाती है और भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का साम्राज्य वैकुण्ठ या भगवद्धाम कहलाता है। वैकुण्ठलोक में भगवान् तथा उसके निवासियों के मध्य कोई असामञ्जस्य नहीं रहता। अतएव वैकुण्ठ लोक में ईश्वर की सृष्टि पूर्ण है। वहाँ भय का कोई कारण नहीं है। सम्पूर्ण भगवद्धाम एक ऐसी पूर्णतया सामञ्जस्ययुक्त इकाई है कि उसमें शत्रुता की कोई सम्भावना नहीं है। वहाँ की हर वस्तु परम पूर्ण है। जिस तरह शरीर के भीतर बहुत सी शारीरिक संरचनाएँ होती हैं, किन्तु तो भी वे उदर की तुष्टि हेतु एक क्रम में कार्य करती हैं और जिस तरह किसी मशीन में हजारों पुर्जे होते हैं फिर भी मशीन के कार्य को पूरा करने के लिए सामञ्जस्यपूर्वक काम करते हैं उसी तरह वैकुण्ठ लोकों में भगवान् पूर्ण हैं तथा निवासी भी भगवान् की सेवाओं में पूर्णतया संलग्न रहते हैं।

मायावादी दार्शनिक अर्थात् निर्विशेषवादी *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक की व्याख्या से यह अर्थ लगाते हैं कि छोटा आकाश तथा बृहत् आकाश एक हैं, किन्तु यह भाव युक्तियुक्त नहीं लगता। बृहद् आकाश तथा लघु आकाश का उदाहरण मनुष्य के शरीर के भीतर भी लागू होता है। बृहद् आकाश स्वयं शरीर है और आँतें तथा शरीर के अन्य अंग लघु आकाश में स्थान पाते हैं। शरीर के प्रत्येक अंश का अपना अपना महत्त्व है यद्यपि वे सम्पूर्ण शरीर के लघु अंश में रहते हैं। इसी तरह सम्पूर्ण सृष्टि भगवान् का शरीर है और हम सृजित जीव या सृजित कोई भी वस्तु उस शरीर के केवल लघु अंश हैं। शरीर के अंग कभी भी सम्पूर्ण शरीर के तुल्य नहीं होते। यह कभी भी सम्भव नहीं है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि सारे जीव जो कि भगवान् के भिन्नांश है शाश्वत तौर पर भिन्नांश रहते हैं। मायावादी दार्शनिकों के अनुसार मोहग्रस्त जीव अपने को भिन्नांश मानता है, यद्यपि वस्तुत: वह परम पूर्ण से तदाकार होता है। यह सिद्धान्त वैध नहीं हैं। सम्पूर्ण तथा अंश का एकत्व (ऐक्य) उनकी गुणता में हैं। आकाश के लघु तथा बृहद् अंशों के एकत्व का यह अर्थ नहीं है कि लघु आकाश बृहद् (महत्) आकाश बन जाता है।

वैकुण्ठलोकों में 'फूट डालो और राज्य करो' की राजनीति के लिए कोई अवकाश नहीं है, क्योंकि भगवान् तथा निवासियों के स्वार्थ एक हैं। *माया* का अर्थ है जीवों तथा भगवान् के बीच असामञ्जस्य और *वैकुण्ठ* का अर्थ है उनके बीच सामञ्जस्य। वस्तुत: सारे जीवों का पालनपोषण

भगवान् द्वारा होता है, क्योंकि वे परम पुरुष हैं। किन्तु मूर्ख प्राणी, वास्तव में परम पुरुष के वश में होते हुए भी, उनके अस्तित्व की अवमानना करते हैं और वह स्थिति माया कहलाती है। कभी कभी वे इस बात से इनकार करते है कि ईश्वर जैसा कोई व्यक्तित्व भी है। उनका कहना है "हर वस्तु शून्य है," और कभी कभी वे ईश्वर के होने से भिन्न प्रकार से इनकार करते हैं, जैसे "हो सकता है कि ईश्वर हो, किन्तु उनका कोई स्वरूप नहीं है।" ये दोनों धारणाएँ जीव की विद्रोही स्थिति के कारण उत्पन्न होती हैं। जब तक यह विद्रोही अवस्था बनी रहती है तब तक भौतिक जगत में असामञ्जस्य बना रहेगा।

सामञ्जस्य या असामञ्जस्य की अनुभूति किसी विशेष स्थान के कानून तथा व्यवस्था के कारण होती है। धर्म भगवान् का कानून तथा व्यवस्था है। *श्रीमद्‌भगवद्‌गीता* में धर्म का अर्थ भक्तिमय सेवा या कृष्णभावनामृत पाया जाता है। कृष्ण कहते हैं, "सारे धर्मों को त्याग दो और एकमात्र मेरे शरणागत बनो।" यह है धर्म। जब मनुष्य को इसका पूरा-पूरा भान रहता है कि कृष्ण परम भोक्ता तथा परमेश्वर हैं और वह उसी के अनुसार कर्म करता है, तो वही असली धर्म है। जो भी वस्तु इस सिद्धान्त के विरुद्ध जाती है, वह धर्म नहीं है। इसलिए कृष्ण कहते हैं, "अन्य सारे धर्मों को त्याग दो।" आध्यात्मिक जगत में कृष्णभावनामृत का यह धार्मिक सिद्धान्त सामञ्जस्य में बना रहता है, इसीलिए वह लोक वैकुण्ठ कहलाता है। यदि उन्हीं सिद्धान्तों को पूर्णतया या अंशत: यहाँ पर अपनाया जा सके तो यह भी वैकुण्ठ बन जाय। ऐसा किसी संघ या समिति के साथ भी होता है, यथा अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के सदस्य कृष्ण पर अपनी श्रद्धा केंन्द्रित करते हुए *भगवद्‌गीता* के आदेश तथा सिद्धान्तों के अनुसार सामञ्जस्यपूर्वक रहें तब तो वे वैकुण्ठ में रहते हैं, इस भौतिक जगत में नहीं।

तद्वाममुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः
कर्तुं प्रकृष्टमिह धीमहि मन्दधीभ्याम् ।
लोकानितो व्रजतमन्तरभावदृष्ट्या
पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; वाम्—इन दोनों को; अमुष्य—उस; परमस्य—परम का; विकुण्ठ-भर्तुः—वैकुण्ठ के स्वामी; कर्तुम्—प्रदान करने के लिए; प्रकृष्टम्—लाभ; इह—इस अपराध के विषय में; धीमहि—हम विचार करें; मन्द-धीभ्याम्—मन्द बुद्धि वाले;

लोकान्—भौतिक जगत को; इतः—इस स्थान (वैकुण्ठ) से; व्रजतम्—चले जाओ; अन्तर-भाव—द्विधा; दृष्ट्या—देखने के कारण; पापीयसः—पापी; त्रयः—तीन; इमे—ये; रिपवः—शत्रु; अस्य—जीव के; यत्र—जहाँ।

अतएव हम विचार करें कि इन दो संदूषित व्यक्तियों को किस तरह दण्ड दिया जाय। जो दण्ड दिया जाय वह उपयुक्त हो क्योंकि इस तरह से अन्ततः उन्हें लाभ दिया जा सकता है। चूँकि वे वैकुण्ठ जीवन के अस्तित्व में द्वैध पाते हैं, अतः वे संदूषित हैं और इन्हें इस स्थान से भौतिक जगत में भेज दिया जाना चाहिए जहाँ जीवों के तीन प्रकार के शत्रु होते हैं।

तात्पर्य : शुद्ध आत्माएँ भौतिक जगत की अस्तित्वपरक परिस्थितियों में, जो कि परमेश्वर का अपराध विभाग है, क्यों आती हैं? इसका वर्णन *भगवद्गीता* (७.२७) में हुआ है। यह कहा गया है कि जब तक जीव शुद्ध रहता है, वह परमेश्वर की इच्छाओं से सामञ्जस्य रखता है, किन्तु अशुद्ध होते ही वह परमेश्वर की इच्छाओं से असामञ्जस्य रखने लगता है। संदूषण के कारण उसे इस भौतिक जगत में स्थानान्तरित होने पर विवश किया जाता है जहाँ जीवों के तीन शत्रु होते हैं। ये हैं इच्छा, क्रोध तथा कामवासना। ये तीन शत्रु जीवों को भौतिक जगत में रहते रहने के लिए बाध्य करते हैं और जब कोई उनसे मुक्त हो जाता है, तो वह भगवद्धाम में प्रविष्ट होने का पात्र बन जाता है। इसलिए इन्द्रियतृप्ति का अवसर न मिलने पर मनुष्य को क्रुद्ध नहीं होना चाहिए और उसे आवश्यकता से अधिक पाने के लिए वासनापूर्ण नहीं होना चाहिए। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि दोनों द्वारपालों को भौतिक जगत में भेज दिया जाना चाहिए जहाँ अपराधियों को रहने की अनुमति रहती है। चूँकि अपराध भावना के मूल सिद्धान्त इन्द्रियतृप्ति, क्रोध तथा अनावश्यक कामवासना हैं, अतः जो लोग जीव के इन तीन शत्रुओं द्वारा संचालित होते हैं, वे कभी भी वैकुण्ठलोक नहीं भेजे जाते। लोगों को *भगवद्गीता* पढ़ कर समझना चाहिए और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण को सारी वस्तुओं का स्वामी स्वीकार करना चाहिए। उन्हें अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रयास न करके परम पुरुष की इन्द्रियों को तुष्ट करने का अभ्यास करना चाहिए। कृष्णभावनामृत में प्रशिक्षण से मनुष्य को वैकुण्ठलोक जाने में सहायता मिलेगी।

तेषामितीरितमुभाववधार्य घोरं
तं ब्रह्मदण्डमनिवारणमस्त्रपूगैः ।
सद्यो हरेरनुचरावुरु बिभ्यतस्तत्-
पादग्रहावपततामतिकातरेण ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—चारों कुमारों के; इति—इस प्रकार; ईरितम्—उच्चरित; उभौ—दोनों द्वारपाल; अवधार्य—समझ करके; घोरम्—भयंकर; तम्—उस; ब्रह्म-दण्डम्—ब्राह्मण के शाप को; अनिवारणम्—जिसका निवारण न किया जा सके; अस्त्र-पूगैः—किसी प्रकार के हथियार द्वारा; सद्यः—तुरन्त; हरेः—भगवान् के; अनुचरौ—भक्तगण; उरु—अत्यधिक; बिभ्यतः—भयभीत हो उठे; तत्-पाद-ग्रहौ—उनके पाँव पकड़ कर; अपतताम्—गिर पड़े; अति-कातरेण—अत्यधिक चिन्ता में।

जब वैकुण्ठलोक के द्वारपालों ने, जो कि सचमुच ही भगवद्भक्त थे, यह देखा कि वे ब्राह्मणों द्वारा शापित होने वाले हैं, तो वे तुरन्त बहुत भयभीत हो उठे और अत्यधिक चिन्तावश ब्राह्मणों के चरणों पर गिर पड़े, क्योंकि ब्राह्मण के शाप का निवारण किसी भी प्रकार के हथियार से नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : यद्यपि संयोगवश द्वारपालों ने ब्राह्मणों को वैकुण्ठ के द्वार में प्रवेश करने से रोक कर भूल की थी, किन्तु उन्हें तुरन्त ही शाप की गम्भीरता का भान हो गया। अपराध कई प्रकार के होते हैं, किन्तु सबसे बड़ा अपराध है भगवद्भक्त का अपमान करना। चूँकि द्वारपाल भी भगवद्भक्त थे, अतएव उन्हें अपनी भूल समझ में आ गई और जब चारों कुमार उन्हें शाप देने जा रहे थे तो वे भयभीत हो उठे।

भूयादघोनि भगवद्भिरकारि दण्डो
यो नौ हरेत सुरहेलनमप्यशेषम् ।
मा वोऽनुतापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो
मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

भूयात्—ऐसा ही हो; अघोनि—पापी के लिए; भगवद्भिः—आपके द्वारा; अकारि—किया गया; दण्डः—दण्ड; यः—जो; नौ—हमारे सम्बन्ध में; हरेत—नष्ट करे; सुर-हेलनम्—महान् देवताओं की आज्ञा का उल्लंघन करते हुए; अपि—निश्चय ही; अशेषम्—असीम; मा—नहीं; वः—तुम्हारा; अनुताप—पछतावा; कलया—थोड़ा थोड़ा करके; भगवत्—भगवान् का; स्मृति-घ्नः—स्मरण शक्ति का विनाश करते हुए; मोहः—मोह; भवेत्—हो; इह—मूर्ख जीवयोनि में; तु—लेकिन; नौ—हम दोनों का; व्रजतोः—जा रहे; अधः अधः—नीचे भौतिक जगत को।

मुनियों द्वारा शापित होने के बाद द्वारपालों ने कहा : यह ठीक ही हुआ कि आपने हमें आप जैसे मुनियों का अनादर करने के लिए दण्ड दिया है। किन्तु हमारी प्रार्थना है कि हमारे पछतावे पर आपकी दया के कारण हमें उस समय भगवान् की विस्मृति का मोह न आए जब हम नीचे-नीचे जा रहे हों।

तात्पर्य : दण्ड कितना ही कठोर क्यों न हो भक्त को सहन है, किन्तु भगवान् की विस्मृति कराने

वाला दण्ड सहन नहीं होता। द्वारपाल, जो स्वयं भी भक्त थे, समझ गये कि उन्हें कौन सा दण्ड दिया जाने वाला है, क्योंकि उन्होंने मुनियों को वैकुण्ठलोक में प्रविष्ट न होने देकर जो महान् अपराध किया था उससे वे सचेष्ट थे। निम्नतम जीव योनियों में जिनमें पशुयोनि भी सम्मिलित हैं, ईश्वर की विस्मृति प्रमुख है। द्वारपाल इससे अवगत थे कि वे भौतिक जगत के अपराध विभाग में जा रहे हैं और उन्हें आशंका थी कि वे निम्नतम योनि में डाले जा सकते हैं जिससे वे परमेश्वर को भूल जाँय। इसलिए उन्होंने प्रार्थना की कि शाप के कारण उन्हें जो जीवन मिलने जा रहा है उसमें ऐसा घटित न हो। *भगवद्गीता* (१६.१९, २०) में कहा गया है कि जो लोग भगवान् तथा उनके भक्तों से ईर्ष्या करते हैं, वे जीवन की अतीव गर्हित योनियों में डाल दिये जाते हैं; ऐसे मूर्ख जन्म-जन्मांतर भगवान् का स्मरण नहीं कर पाते और इस तरह वे अधोगति को प्राप्त होते रहते हैं।

एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः
स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः ।
तस्मिन्ययौ परमहंसमहामुनीना-
मन्वेषणीयचरणौ चलयन्सहश्रीः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; तदा एव—उसी क्षण; भगवान्—भगवान्; अरविन्द-नाभः—जिसकी नाभि से कमल निकला है; स्वानाम्—अपने दासों के विषय में; विबुध्य—जानकर; सत्—मुनियों को; अतिक्रमम्—अपमान; आर्य—सदाचारियों की; हृद्यः—प्रसन्नता; तस्मिन्—वहाँ; ययौ—गये; परमहंस—परमहंस; महा-मुनीनाम्—महामुनियों द्वारा; अन्वेषणीय—जो खोजे जाने योग्य हैं; चरणौ—चरणकमल; चलयन्—विचरण करते हुए; सह-श्रीः—लक्ष्मीजी सहित।

नाभि से उगे कमल के कारण पद्मनाभ कहलाने वाले तथा सदाचारियों की प्रसन्नता के रूप भगवान् को उन सन्तों के प्रति अपने ही दासों के द्वारा किये गये अपमान का उसी क्षण पता चल गया। वे अपनी प्रेयसी लक्ष्मी सहित उस स्थान पर उन चरणों से चलकर गये जिनकी खोज संन्यासी तथा महामुनि करते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् जोर देकर घोषणा करते हैं कि उनके भक्त कभी भी विनष्ट नहीं हो सकते। भगवान् समझ गये कि द्वारपालों तथा मुनियों के बीच का झगड़ा एक नया मोड़ ले रहा है, अतएव वे तुरन्त अपने धाम से निकल आये और झगड़े को आगे बढ़ने से रोकने के लिए उस स्थान पर गये जिससे उनके भक्त द्वारपाल सदा सदा के लिए विनष्ट न हों।

तं त्वागतं प्रतिहृतौपयिकं स्वपुम्भि-
स्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम् ।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोल-
च्छुभ्रातपत्रशशिकेसरशीकराम्बुम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उन्हें; तु—लेकिन; आगतम्—आगे आए हुए; प्रतिहृत—ले गया; औपयिकम्—साज-सामग्री; स्व-पुम्भिः—अपने संगियों द्वारा; ते—उन महामुनियों (कुमारगण) ने; अचक्षत—देखा; अक्ष-विषयम्—अब देखने का विषय; स्व-समाधि-भाग्यम्—भावमय समाधि द्वारा ही दृश्य; हंस-श्रियोः—श्वेत हंसों के समान सुन्दर; व्यजनयोः—चामर (श्वेत बालों के गुच्छे); शिव-वायु—अनुकलू वायु; लोलत्—हिलती हुई; शुभ्र-आतपत्र—श्वेत छाता; शशि—चन्द्रमा; केसर—मोतियों; शीकर—बूँदें; अम्बुम्—जल की।

सनक इत्यादि मुनियों ने देखा कि भगवान् विष्णु जो भावमय समाधि में पहले उनके हृदयों के ही भीतर दृष्टिगोचर होते थे अब वे साकार रूप में उनके नेत्रों के सामने दृष्टिगोचर हो रहे हैं। जब वे छाता तथा चामर जैसी साज-सामग्री सहित अपने संगियों के साथ आगे आये तो श्वेत चामर के बालों के गुच्छे धीमे धीमे हिल रहे थे, मानो दो श्वेत हंस हों तथा अनुकूल हवा से छाते से लटक रही मोतियों की झालरें भी हिल रही थीं मानो श्वेत पूर्णचन्द्रमा से अमृत की बूँदें टपक रही हों, अथवा हवा के झोंके से बर्फ पिघल रही हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अचक्षताक्षविषयम्* शब्द आया है। भगवान् सामान्य नेत्रों से नहीं दिखते, किन्तु अब वे कुमारों के नेत्रों को दृष्टिगोचर हो रहे थे। अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *समाधिभाग्यम्* है। जो ध्यानकर्ता अत्यन्त भाग्यशाली होते हैं, वे योग विधि द्वारा भगवान् के विष्णु रूप को अपने हृदयों के भीतर देख सकते हैं। किन्तु उन्हें साक्षात् देखना दूसरी बात है। यह केवल शुद्ध भक्तों के लिए ही सम्भव है। अतएव कुमारों ने जब देखा कि भगवान् अपने संगियों सहित आ रहे हैं, जो छाता तथा चामर लिये हुए हैं, तो वे आश्चर्यचकित रह गये कि वे तो भगवान् का साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि ईश्वर प्रेम में उच्चस्थ भक्तगण अपने हृदयों के भीतर सदैव भगवान् श्यामसुन्दर का दर्शन करते हैं। किन्तु जब वे परिपक्व हो जाते हैं, तो वही भगवान् साक्षात् उनके समक्ष दिखते हैं। सामान्यजनों को भगवान् दृश्य नहीं हैं, किन्तु जब कोई भगवान् के पवित्र नाम की महत्ता को समझ सकता है और कीर्तन तथा *प्रसाद-आस्वादन* द्वारा जीभ से आरम्भ करके भगवद्भक्ति में अपने को लगाता है, तो धीरे-धीरे भगवान् स्वयं उसमें प्रकट होते हैं। इस तरह भक्त निरन्तर भगवान् को अपने हृदय में देखता है और अधिक परिपक्व अवस्था में वह उन्हीं भगवान् का साक्षात् दर्शन उसी

तरह कर सकता है, जिस तरह हम अन्य वस्तुओं को देखते हैं।

कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम
स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम् ।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्व-
श्चूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्यम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

कृत्स्न-प्रसाद—हर एक को आशीर्वाद देते हुए; सु-मुखम्—शुभ मुखमण्डल; स्पृहणीय—वांछनीय; धाम—आश्रय; स्नेह—स्नेह; अवलोक—देखते हुए; कलया—अंश द्वारा; हृदि—हृदय में; संस्पृशन्तम्—स्पर्श करते हुए; श्यामे—साँवले रंग वाले भगवान् के प्रति; पृथौ—चौड़ी; उरसि—छाती पर; शोभितया—सुसज्जित होकर; श्रिया—लक्ष्मी द्वारा; स्वः—स्वर्गलोक; चूडा-मणिम्—चोटी; सुभगयन्तम्—सौभाग्य का विस्तार करते हुए; इव—सदृश; आत्म—भगवान्; धिष्ण्यम्—धाम।

भगवान् सारे आनन्द के आगार हैं। उनकी शुभ उपस्थिति हर एक के आशीष के लिए है और उनकी स्नेहमयी मुस्कान तथा चितवन हृदय के अन्तरतम को छू लेती है। भगवान् के सुन्दर शरीर का रंग श्यामल है और उनका चौा वक्षस्थल लक्ष्मीजी का विश्रामस्थल है, जो समस्त स्वर्गलोकों के शिखर रूपी सम्पूर्ण आध्यात्मिक जगत को महिमामंडित करने वाली हैं। इस तरह ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो भगवान् स्वयं ही आध्यात्मिक जगत के सौन्दर्य तथा सौभाग्य का विस्तार कर रहे हों।

तात्पर्य : जब भगवान् आये तो वे सबों से प्रसन्न हुए; इसीलिए यहाँ पर कहा गया है कि *कृत्स्न-प्रसाद-सुमुखम्*। भगवान् जानते थे कि दोषी द्वारपाल भी उनके शुद्ध भक्त थे यद्यपि संयोगवश उन्होंने अन्य भक्तों के चरणों पर अपराध किया था। भक्ति में किसी भक्त के प्रति अपराध करना अतीव घातक होता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि भक्त के प्रति किया गया अपराध उस मत्त हाथी की तरह है, जो इधर उधर दौड़ता है। जब कोई मत्त हाथी किसी बगीचे में घुसता है, तो वह सारे पौधों को कुचल डालता है। उसी तरह शुद्ध भक्त के चरणों पर किया गया अपराध भक्ति में उसके पद की हत्या कर देता है। जहाँ तक भगवान् की बात है वे तनिक भी अपमानित मुद्रा में न थे, क्योंकि वे अपने निष्ठावान भक्त द्वारा किये गये किसी अपराध को स्वीकार नहीं करते। किन्तु भक्त को अन्य भक्त के चरणों पर अपराध करने के प्रति अति सतर्क रहना चाहिए। सबों पर समभाव रखने तथा अपने भक्तों के प्रति विशेष रूप से उन्मुख होने वाले भगवान् ने अपराध करने वालों पर उतनी ही दयादृष्टि से देखा जितनी कि अपराध किये जाने वालों पर। भगवान् की यह प्रवृत्ति दिव्यगुणों के अपार आगार होने के

कारण है। भक्तों के प्रति उनकी प्रसन्न मुद्रा इतनी मोहक तथा हृदयस्पर्शी थी कि उनकी मुस्कान तक उनके लिए आकर्षक हो गई। वह आकर्षण न केवल इस भौतिक जगत के समस्त उच्च लोकों के लिए दिव्य था, अपितु उससे परे आध्यात्मिक जगत के लिए भी था। सामान्यतया लोगों को इसका अनुमान नहीं हो पाता कि उन उच्चतर लोकों में स्वाभाविक स्थिति क्या है, जो सारी साज-सामग्री की दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न हैं फिर भी वैकुण्ठलोक इतना सुहावना है तथा इतना दैवी है कि इसकी उपमा मणियों के हार के मध्य मणि या लाकेट से दी जाती है।

इस श्लोक में *स्पृहणीय-धाम* शब्द सूचित करता है कि भगवान् समस्त आनन्द के आगार हैं, क्योंकि उनमें सारे दिव्य गुण पाये जाते हैं। यद्यपि जो लोग निर्विशेष ब्रह्म में तदाकार होने के आनन्द के लिए लालायित रहते हैं, वे इनमें से केवल कुछ ही गुणों की कामना करते हैं, किन्तु ऐसे भी कुछ इच्छुक हैं, जो भगवान् के दासों के रूप में उनका साक्षात् सान्निध्य चाहते हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे हर एक को शरण देते हैं, चाहे वह निर्विशेषवादी हो या भक्त हो। वे निर्विशेषवादियों को अपने निर्विशेष ब्रह्म तेज के रूप में शरण देते हैं जबकि भक्तों को वे अपने निजी धाम वैकुण्ठलोकों में आश्रय प्रदान करते हैं। वे अपने भक्तों के प्रति विशेषरूप से उन्मुख रहते हैं। वे अपनी मुसकान तथा उन पर अपनी चितवन से ही भक्तों के हृदय के अन्तस्तल को छू लेते हैं। वैकुण्ठलोक में भगवान् सदा ही सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियों द्वारा सेवित होते हैं जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है। (*लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्*) इस भौतिक जगत में यदि किसी पर लक्ष्मीजी रंचभर भी कृपा करती हैं, तो वह महिमामंडित हो उठता है, अत: हम इसीसे अनुमान लगा सकते हैं कि आध्यात्मिक जगत में भगवान् का साम्राज्य कितना महिमामंडित है जहाँ सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियाँ भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं। इस श्लोक की अन्य विशेषता यह है कि इसमें स्पष्ट बतलाया गया है कि वैकुण्ठलोक कहाँ स्थित हैं। वे समस्त स्वर्गलोकों की चोटी पर स्थित हैं, जो कि ब्रह्माण्ड की ऊपरी सीमा सूर्यमंडल के ऊपर हैं और सत्यलोक या ब्रह्मलोक कहलाते हैं। आध्यात्मिक जगत ब्रह्माण्ड के परे स्थित है। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि आध्यात्मिक जगत या वैकुण्ठलोक सारे लोकों का शीर्ष है।

पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या
काञ्च्यालिभिर्विरुतया वनमालया च ।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पीत-अंशुके—पीले वस्त्र से ढका; पृथु-नितम्बिनि—अपने विशाल कूल्हों पर; विस्फुरन्त्या—चमचमाती; काञ्च्या—करधनी से; अलिभिः—भौरों द्वारा; विरुतया—गुंजार करती; वन-मालया—ताजे फूलों की माला से; च—तथा; वल्गु—सुन्दर; प्रकोष्ठ—कलाइयाँ; वलयम्—कंगन; विनता-सुत—विनता पुत्र गरुड़ के; अंसे—कन्धे पर; विन्यस्त—टिकाये; हस्तम्—एक हाथ; इतरेण—दूसरे हाथ से; धुनानम्—घुमाते हुए; अब्जम्—कमल का फूल।

वे करधनी से अलंकृत थे, जो उनके विशाल कूल्हों को आवृत्त किये हुए पीत वस्त्र पर चमचमा रही थी। वे ताजे फूलों की माला पहने थे, जो गुंजरित भौरों से लक्षित थी। उनकी सुन्दर कलाइयों पर कंगन सुशोभित थे और वे अपना एक हाथ अपने वाहन गरुड़ के कन्धे पर रखे थे तथा दूसरे हाथ से कमल का फूल घुमा रहे थे।

तात्पर्य : यहाँ पर मुनियों द्वारा स्वयं अनुभव किया गया भगवान् का पूर्ण विवरण है, भगवान् का शरीर पीले वस्त्रों से आच्छादित था और उनकी कमर पतली थी। वैकुण्ठ में जब भी भगवान् के या उनके किसी पार्षद के वक्षस्थल पर फूल की माला पड़ी हुई होती है, तो यह वर्णन रहता है कि उस पर भौंरे गुंजार कर रहे हैं। ये सारे स्वरूप अत्यन्त सुन्दर तथा भक्तों को आकृष्ट करने वाले थे। भगवान् का एक हाथ उनके वाहन गरुड़ पर था और दूसरे हाथ में वे एक कमल का फूल घुमा रहे थे। ये भगवान् नारायण के वैयक्तिक गुण हैं।

विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्ह-
गण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत्किरीटम् ।
दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्ध्य-
हारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

विद्युत्—बिजली; क्षिपत्—प्रकाश करते; मकर—मगर के आकार के; कुण्डल—कान के आभूषण; मण्डन—अलंकरण; अर्ह—जैसाकि उचित है; गण्ड-स्थल—गाल; उन्नस—उठी नाक; मुखम्—मुखमण्डल; मणि-मत्—मणियों से जटित; किरीटम्—मुकुट; दोः-दण्ड—चार बलिष्ट भुजाएँ; षण्ड—समूह; विवरे—बीच में; हरता—मोहने वाला; पर-अर्ध्य—अत्यन्त मूल्यवान; हारेण—हार के द्वारा; कन्धर-गतेन—गर्दन को अलंकृत करते हुए; च—तथा; कौस्तुभेन—कौस्तुभ मणि द्वारा।

उनका मुखमण्डल गालों से सुस्पष्ट हो रहा था, जो उनके बिजली को मात करने वाले मकराकृत कुण्डलों की शोभा को बढ़ा रहे थे। उनकी नाक उन्नत थी और उनका सिर रत्नजटित

मुकुट से आवृत था। उनकी बलिष्ठ भुजाओं के मध्य एक मोहक हार लटक रहा था और उनकी गर्दन कौस्तुभ मणि से विभूषित थी।

अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः
स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम् ।
मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्गं
नेमुर्निरीक्ष्य न वितृप्तदृशो मुदा कैः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ, सौन्दर्य के मामले में; उपसृष्टम्—पराजित; इति—इस प्रकार; च—तथा; उत्स्मितम्—उसकी सुन्दरता का गर्व; इन्दिरायाः—लक्ष्मीजी का; स्वानाम्—अपने भक्तों का; धिया—बुद्धि द्वारा; विरचितम्—ध्यायित; बहु-सौष्ठव-आढ्यम्—अत्यधिक सुंदर ढंग से अलंकृत किया गया; मह्यम्—मेरा; भवस्य—शिवजी का; भवताम्—तुम सबों का; च—तथा; भजन्तम्—पूजित; अङ्गम्—श्रीविग्रह, स्वरूप; नेमुः—नमस्कार किया; निरीक्ष्य—देखकर; न—नहीं; वितृप्त—तृप्त; दृशः—आँखें; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; कैः—उनके सिरों से।

नारायण का अनुपम सौन्दर्य उनके भक्तों की बुद्धि द्वारा कई गुना वर्धित होने से इतना आकर्षक था कि वह अतीव सुन्दरी लक्ष्मी देवी के गर्व को भी पराजित कर रहा था। हे देवताओ, इस तरह प्रकट हुए भगवान् मेरे द्वारा, शिव जी द्वारा तथा तुम सबों के द्वारा पूजनीय हैं। मुनियों ने उन्हें अतृप्त आँखों से आदर अर्पित किया और प्रसन्नतापूर्वक उनके चरणकमलों पर अपना अपना सिर झुकाया।

तात्पर्य : भगवान् का सौन्दर्य इतना विमोहक था कि इसका ठीक से वर्णन नहीं किया जा सकता। लक्ष्मीजी भगवान् की आध्यात्मिक तथा भौतिक सृष्टियों में सर्वाधिक सुन्दर झाँकी मानी जाती हैं। उन्हें अपने सर्वाधिक सुन्दर होने का अनुभव है फिर भी जब भगवान् वहाँ प्रकट हुए तो उनका सौन्दर्य परास्त हो गया। दूसरे शब्दों में, लक्ष्मीजी का सौन्दर्य भगवान् की उपस्थिति में गौण है। वैष्णव कवियों के शब्दों में यह कहा जाता है कि भगवान् का सौन्दर्य इतना मोहक है कि वह लाखों कामदेवों को परास्त कर देता है। इसीलिए वे मदनमोहन कहलाते हैं। यह भी वर्णन हुआ है कि कभी कभी भगवान् राधारानी के सौन्दर्य के पीछे पागल हो जाते हैं। कविगण वर्णन करते हैं कि ऐसी परिस्थितियों में भगवान् कृष्ण मदनमोहन होते हुए भी मदन-दाह या राधारानी के सौन्दर्य से विमुग्ध हो जाते हैं। वस्तुतः भगवान् का सौन्दर्य अति उत्तम है और वह वैकुण्ठ में लक्ष्मीजी के सौन्दर्य को भी मात करता है। वैकुण्ठलोकों में भगवान् के भक्तगण उन्हें सर्वाधिक सुन्दर रूप में देखना चाहते हैं, किन्तु गोकुल

या कृष्णलोक में भक्तगण राधारानी को कृष्ण से भी बढ़कर सुन्दर देखना चाहते हैं। इसका समंजन इस तरह होता है कि *भक्तवत्सल* होने के नाते भगवान् ऐसे स्वरूप धारण करते हैं जिससे ब्रह्मा, शिव जैसे भक्त तथा अन्य देवतागण प्रसन्न हो जाँए। यहाँ भी, भक्त मुनिकुमारों के लिए भगवान् अपने सर्वाधिक सुन्दर रूप में प्रकट हुए और वे बिना तृप्त हुए उन्हें देखते रहे तथा उन्हें अधिकाधिक देखते रहना चाह रहे थे

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अरविन्द-नयनस्य—कमलनेत्र भगवान् का; पद-अरविन्द—चरणकमलों का; किञ्जल्क—अँगूठों समेत; मिश्र—मिश्रित; तुलसी—तुलसी दल; मकरन्द—सुगन्धि; वायुः—मन्द पवन; अन्तः-गतः—भीतर प्रविष्ट हुए; स्व-विवरेण—अपने नथुनों से होकर; चकार—बना दिया; तेषाम्—कुमारों के; सङ्क्षोभम्—परिवर्तन के लिए क्षोभ; अक्षर-जुषाम्—निर्विशेष ब्रह्म-साक्षात्कार के प्रति अनुरक्त; अपि—यद्यपि; चित्त-तन्वोः—मन तथा शरीर दोनों में।

जब भगवान् के चरणकमलों के अँगूठों से तुलसीदल की सुगन्ध ले जाने वाली मन्द वायु उन मुनियों के नथुनों में प्रविष्ट हुई तो उन्हें शरीर तथा मन दोनों में परिवर्तन का अनुभव हुआ यद्यपि वे निर्विशेष ब्रह्म ज्ञान के प्रति अनुरक्त थे।

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि चारों कुमार निर्विशेषवादी अथवा एकेश्वरवाद दर्शन के समर्थक थे और भगवान् से तदाकार होने की सोच रहे थे। किन्तु ज्योंही उन्होंने भगवान् के स्वरूप को देखा, उनके मन परिवर्तित हो गये। दूसरे शब्दों में, जो निर्विशेषवादी भगवान् से तदाकार होने के प्रयास में दिव्य आनन्द का अनुभव करता है, वह भगवान् के सुन्दर दिव्य स्वरूप को देखते ही परास्त हो जाता है। भगवान् के चरणकमलों की सुगन्ध ने, जो वायु द्वारा ले जाई गई थी और जो तुलसी की सुगन्धि से मिश्रित थी, उनके मनन को बदल डाला। उन्होंने परमेश्वर से एकाकार होने के बजाय भक्त बनना श्रेष्ठतर समझा। भगवान् के चरणकमलों का सेवक बनना भगवान् से तदाकार होने से श्रेष्ठतर है।

ते वा अमुष्य वदनासितपद्मकोश-

मुद्वीक्ष्य सुन्दरतराधरकुन्दहासम् ।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयमङ्घ्रि-
द्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्युः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

ते—वे मुनि; वै—निश्चय ही; अमुष्य—भगवान् का; वदन—मुख; असित—नीला; पद्म—कमल का; कोशम्—भीतरी भाग; उद्वीक्ष्य—ऊपर देखकर; सुन्दर-तर—अधिक सुन्दर; अधर—होठ; कुन्द—चमेली का फूल; हासम्—हँसी; लब्ध—प्राप्त किया; आशिषः—जीवन के लक्ष्य; पुनः—फिर; अवेक्ष्य—नीचे देखकर; तदीयम्—उसका; अङ्घ्रि-द्वन्द्वम्—चरणकमलों की जोड़ी; नख—नाखून; अरुण—लाल; मणि—पन्ना; श्रयणम्—आश्रय; निदध्युः—ध्यान किया।

उन्हें भगवान् का सुन्दर मुख नीले कमल के भीतरी भाग जैसा प्रतीत हुआ और भगवान् की मुसकान खिले हुए चमेली के फूल सी प्रतीत हुई। मुनिगण भगवान् का मुख देखकर पूर्णतया सन्तुष्ट थे और जब उन्होंने उनको अधिक देखना चाहा तो उन्होंने उनके चरणकमलों के नाखूनों को देखा जो पन्ना जैसे थे। इस तरह वे भगवान् के शरीर को बारम्बार निहार रहे थे, अतः उन्होंने अन्त में भगवान् के साकार रूप का ध्यान किया।

पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गै-
र्ध्यानास्पदं बहुमतं नयनाभिरामम् ।
पौंस्नं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धै-
रौत्पत्तिकैः समगृणन्युतमष्टभोगैः ॥ ४५॥

शब्दार्थ

पुंसाम्—उन पुरुषों की; गतिम्—मुक्ति; मृगयताम्—ढूँढ रहे; इह—इस जगत में; योग-मार्गैः—अष्टांग योग विधि के द्वारा; ध्यान-आस्पदम्—ध्यान का विषय; बहु—महान् योगियों द्वारा; मतम्—संस्तुत; नयन—नेत्र; अभिरामम्—सुहावने; पौंस्नम्—मानव; वपुः—रूप; दर्शयानम्—प्रदर्शित करते हुए; अनन्य—अन्यों द्वारा नहीं; सिद्धैः—सिद्ध; औत्पत्तिकैः—शाश्वत उपस्थित; समगृणन्—प्रशंसित; युतम्—भगवान्, जो समन्वित है; अष्ट-भोगैः—आठ प्रकार की सिद्धियों से।

यही भगवान् का वह रूप है, जिसका ध्यान योगविधि के अनुयायी करते हैं और ध्यान में यह योगियों को मनोहर लगता है। यह काल्पनिक नहीं, अपितु वास्तविक है जैसा कि महान् योगियों ने सिद्ध किया है। भगवान् आठ प्रकार की सिद्धियों से पूर्ण हैं, किन्तु अन्यों के लिए ये पूर्णरूप में सम्भव नहीं हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर योगविधि की सफलता का अति सुन्दर ढंग से वर्णन हुआ है। यह विशेष उल्लेख है कि चतुर्भुजी नारायण के रूप में भगवान् का रूप योगमार्ग के अनुयायियों के लिए ध्यान का लक्ष्य है। आधुनिक युग में ऐसे अनेक तथाकथित योगी हैं, जो चतुर्भुजी नारायण रूप को अपने ध्यान का लक्ष्य नहीं बनाते। उनमें से कुछ तो किसी निर्विशेष या शून्य का ध्यान करने का प्रयास करते हैं,

किन्तु यह उन महान् योगियों द्वारा अनुमोदित नहीं है, जो आदर्श विधि का पालन करते हैं। असली योगमार्ग विधि तो इन्द्रियों को वश में करना, एकान्त तथा पवित्र स्थान में बैठना और नारायण के उस चतुर्भुजी रूप का ध्यान करना है, जो इस अध्याय में वर्णित विधि से अलंकृत रहता है और जिस रूप में वे चारों मुनियों के समक्ष प्रकट हुए थे। यह नारायण रूप कृष्ण का अंश है, अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन, जो अब विस्तार पा रहा है, योगाभ्यास की असली सर्वोच्च विधि है।

कृष्णभावनामृत तो प्रशिक्षित भक्तिमय योगियों द्वारा सर्वोच्च योग का निष्पादन है। योगाभ्यास के सारे आकर्षणों के बावजूद आठ प्रकार की योग सिद्धियाँ सामान्य व्यक्ति को नहीं प्राप्त हो पाती हैं। किन्तु यहाँ यह वर्णन किया गया है कि चारों मुनियों के समक्ष प्रकट होने वाले भगवान् स्वयं सभी आठ सिद्धियों से पूर्ण हैं। सर्वोच्च योग मार्ग विधि चौबीसों घण्टे कृष्ण पर मन को केन्द्रित करना है। यह कृष्णभावनामृत कहलाती है। *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* में वर्णित योग पद्धति या पतञ्जलि द्वारा संस्तुत योग पद्धति आजकल अभ्यास किये जाने वाले *हठयोग* से भिन्न है जैसाकि आजकल पाश्चात्य देशों में समझा जाता है। असली योगाभ्यास तो इन्द्रियों को वश में करना है और ऐसा वशीकरण हो जाने के पश्चात् मन को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के नारायण रूप में एकाग्र करना है। भगवान् कृष्ण आदि भगवान् हैं और अन्य सारे विष्णु रूप, जिनमें उन्हें शंख, चक्र, गदा तथा पद्म से सजे हुए उनका वर्णन किया गया है कृष्ण के स्वांश हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् के स्वरूप का ध्यान करने की संस्तुति की गई है। मन की एकाग्रता का अभ्यास करने के लिए मनुष्य को सिर तथा पीठ को सीधी रेखा में रखते हुए बैठना होता है और पवित्र वातावरण द्वारा शुद्ध किये हुए एकान्त स्थान में अभ्यास करना होता है। योगी को ब्रह्मचर्य के विधि-विधानों का पालन करना होता है, अर्थात् आत्मसंयम तथा कौमार्यपूर्ण जीवन बिताने का दृढ़ प्रयास करना होता है। किसी घनी आबादी वाले शहर में, अपव्ययी जीवन बिताते हुए, और अनियंत्रित यौन तथा जीभ के व्यभिचार में लगे रहकर, कोई योगाभ्यास नहीं कर सकता। योगाभ्यास के लिए इन्द्रियों का नियंत्रण आवश्यक है और इन्द्रिय नियंत्रण का शुभारम्भ जीभ को नियंत्रित करने से होता है। जो व्यक्ति जीभ पर नियंत्रण रख सकता है, वह अन्य इन्द्रियों पर भी नियंत्रण कर सकता है। मनुष्य अपनी जीभ को सभी प्रकार के वर्जित भोज्य तथा पेय पदार्थों को ग्रहण करने की अनुमति देकर उसी के साथ योगाभ्यास में प्रगति नहीं कर सकता।

यह अत्यन्त शोचनीय बात है कि अनेक अवैध तथाकथित योगी पाश्चात्य देशों में आते हैं और लोगों की योगाभ्यास के प्रति उन्मुखता का अवांछनीय लाभ उठाते हैं। ऐसे अवैध योगी सार्वजनिक रूप से यह घोषित करने का दुस्साहस तक करते हैं कि मनुष्य सुरा-पान की आदत में लिप्त रहते हुए भी ध्यान का अभ्यास कर सकता है।

पाँच हजार वर्ष पूर्व भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के लिए योगाभ्यास की संस्तुति की थी, किन्तु अर्जुन ने स्पष्ट रूप से योग पद्धति के कठोर यम-नियमों का पालन करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की थी। मनुष्य को कर्म के हर क्षेत्र में अत्यन्त व्यावहारिक होना चाहिए और उसे योग के नाम पर व्यर्थ के योगासनों का अभ्यास करने में अपना बहुमूल्य समय नहीं गँवाना चाहिए। असली योग तो अपने हृदय के भीतर चतुर्भुजी परमात्मा को खोजना तथा ध्यान में उनका निरन्तर दर्शन करना है। ऐसा निरन्तर ध्यान *समाधि* कहलाता है और इस ध्यान का लक्ष्य तो अलंकृत शरीर वाला चतुर्भुजी नारायण होता है जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के इस अध्याय में वर्णन हुआ है। किन्तु यदि कोई शून्य या निर्विशेष वस्तु का ध्यान करना चाहता है, तो योगाभ्यास में सफलता प्राप्त करने में काफी समय लगता है। हम अपने मन को किसी शून्य या निर्विशेषवादी वस्तु पर एकाग्र नहीं कर सकते। असली योग तो भगवान् के चतुर्भुजी नारायण रूप पर मन को स्थिर करना है, जो हर व्यक्ति के हृदय में आसीन हैं।

ध्यान के द्वारा मनुष्य यह समझ सकता है कि ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आसीन हैं। यदि कोई इसे न भी जानता हो तो भी ईश्वर हर एक के हृदय में स्थित रहते हैं। वे न केवल मनुष्य के हृदय में स्थित रहते हैं, अपितु वे कुत्ते-बिल्लियों के हृदयों के भीतर भी स्थित हैं। *भगवद्गीता* इस तथ्य को भगवान् की इस घोषणा द्वारा प्रमाणित करती है—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे*। जगत के परम नियन्ता ईश्वर हर एक के हृदय में आसीन हैं। वे न केवल हर एक के हृदय में रहते हैं, अपितु वे परमाणु तक के भीतर उपस्थित हैं। ईश्वर की उपस्थिति से कोई भी स्थान शून्य या रहित नहीं है। यह *ईशोपनिषद्* का कथन है। ईश्वर सर्वत्र उपस्थित हैं और उनके स्वामित्व का अधिकार हर वस्तु पर लागू होता है। भगवान् जिस स्वरूप में सर्वत्र उपस्थित रहते हैं वह परमात्मा कहलाता है। आत्मा का अर्थ है व्यष्टि आत्मा और परमात्मा का अर्थ है व्यष्टि परमात्मा। आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही व्यष्टि पुरुष हैं। आत्मा तथा परमात्मा में यही अन्तर है कि आत्मा किसी विशेष शरीर में ही उपस्थित रहता है, जबकि

परमात्मा सर्वत्र उपस्थित रहता है। इस सन्दर्भ में सूर्य का दृष्टान्त अति उत्तम है। कोई व्यष्टि व्यक्ति किसी एक स्थान पर स्थित रहता है, किन्तु सूर्य इसी प्रकार की व्यष्टि सत्ता होते हुए भी हर व्यक्ति के सिर के ऊपर उपस्थित रहता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में की गई है। इसलिए यद्यपि सारे जीवों के, जिनमें भगवान् भी सम्मिलित हैं, गुण समान हैं, तो भी परमात्मा अपने विस्तार करने की मात्रा-युक्त शक्ति के कारण व्यष्टि आत्मा से भिन्न हैं। भगवान् या परमात्मा अपना विस्तार लाखों रूपों में कर सकते हैं, किन्तु व्यष्टि आत्मा ऐसा नहीं कर सकता।

हर एक के हृदय में स्थित होने से परमात्मा हर एक के कार्यों का अवलोकन कर सकता है—चाहे वह भूत, वर्तमान अथवा भविष्य हो। उपनिषदों में परमात्मा को व्यष्टि आत्मा के साथ मित्र तथा साक्षी रूप में आसीन बतलाया गया है। मित्र रूप में भगवान् अपने मित्र व्यष्टि आत्मा को पा लेने तथा उसे भगवद्धाम वापस ले जाने के लिए उत्सुक रहते हैं। साक्षी के रूप में वे सारे वरों के प्रदाता हैं और वे प्रत्येक व्यष्टि आत्मा को उसके कर्मों का फल देते हैं। परमात्मा हर व्यष्टि आत्मा को वे सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं, जिन्हें इस भौतिक जगत में वह भोगना चाहता है। दुख तो भौतिक जगत पर प्रभुत्व जताने की जीव की लालसा का प्रतिफल होता है। किन्तु भगवान् अपने मित्र व्यष्टि आत्मा को, जो कि उसका पुत्र भी है, अन्य सारे कार्यों को त्याग कर नित्य आनन्दमय तथा ज्ञानमय जीवन के लिए उनकी शरण में जाने का आदेश देते हैं। सभी प्रकार के योग पर अत्यन्त प्रामाणिक तथा सर्वाधिक पढ़ी जानेवाली पुस्तक *भगवद्गीता* की यह अन्तिम शिक्षा है। इस तरह *भगवद्गीता* का अन्तिम शब्द योग की सिद्धि में अन्तिम शब्द है।

भगवद्गीता में कहा गया है कि जो व्यक्ति सदैव कृष्णभावनामृत में लीन रहता है, वह सर्वोच्च योगी है। कृष्णभावनामृत क्या है? जिस तरह व्यष्टि आत्मा अपनी चेतना के द्वारा उसके सारे शरीर में उपस्थित रहता है उसी तरह अतिचेतना द्वारा परमात्मा सारी सृष्टि में उपस्थित रहते हैं। यह अतिचेतना शक्ति व्यष्टि आत्मा द्वारा जिस की चेतना सीमित है, नकल की जाती है। मैं यह तो समझ सकता हूँ कि मेरे सीमित शरीर में क्या हो रहा है, किन्तु मैं इसका अनुभव नहीं कर सकता कि दूसरे के शरीर में क्या हो रहा है। मैं अपनी चेतना के द्वारा अपने सारे शरीर में उपस्थित हूँ, लेकिन मेरी चेतना अन्य के शरीर में उपस्थित नहीं है। किन्तु परमात्मा सर्वत्र तथा सबों के भीतर उपस्थित होने से हर व्यक्ति के शरीर के

विषय में भी सचेत रहते हैं। यह सिद्धान्त कि आत्मा तथा परमात्मा एक हैं स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि इसकी पुष्टि प्रामाणिक वैदिक वाङ्मय से नहीं होती। व्यष्टि आत्मा की चेतना अतिचेतना में कार्य नहीं कर सकती। किन्तु यह अतिचेतना ब्रह्म की चेतना के साथ व्यष्टि चेतना को जोड़कर प्राप्त की जा सकती है। यह जुड़ने की प्रक्रिया, शरणागति या कृष्णभावनामृत कहलाती है। *भगवद्गीता* की शिक्षाओं से यह स्पष्ट है कि अर्जुन प्रारम्भ में अपने भाइयों तथा सम्बन्धियों से युद्ध नहीं करना चाहता था, किन्तु *भगवद्गीता* समझ लेने पर उसने अपनी चेतना को कृष्ण की अतिचेतना से संयुक्त कर दिया। तब वह कृष्णभावनामृत में था।

पूर्ण कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण के आदेश से कर्म करता है। कृष्णभावनामृत की शुरुआत में गुरु के पारदर्शी माध्यम से आदेश प्राप्त किया जाता है। जब कोई व्यक्ति पर्याप्त प्रशिक्षित हो लेता है और कृष्ण के प्रति विनीत श्रद्धा तथा प्रेम से प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में कार्य करता है, तो संयुक्त होने की विधि अधिक दृढ तथा सही बन जाती है। कृष्णभावनामृत में भक्ति की यह अवस्था योग प्रणाली की सबसे पूर्ण अवस्था है। इस अवस्था में कृष्ण या परमात्मा भीतर से आदेश देते हैं जबकि बाहर से भक्त की सहायता गुरु द्वारा की जाती है, जो कृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है। भीतर से परमात्मा *चैत्य* के रूप में भक्त की सहायता करते हैं, क्योंकि वे प्रत्येक के हृदय के भीतर आसीन रहते हैं। किन्तु केवल इतना समझना कि ईश्वर सबके हृदय में आसीन हैं पर्याप्त नहीं है। मनुष्य को भीतर तथा बाहर दोनों तरह से ईश्वर से परिचित होना होता है और कृष्णभावनामृत में कर्म करने के लिए उसे भीतर तथा बाहर से आदेश प्राप्त करना चाहिए। यही मनुष्य-जीवन की सर्वोच्च सिद्धावस्था तथा समस्त योग की सर्वोच्च सिद्धि है।

पूर्ण योगी के लिए आठ प्रकार की चरम सिद्धियाँ हैं—वायु से भी हल्का, परमाणु से भी छोटा, पर्वत से भी बड़ा, जो भी इच्छा करे उसे पा सकना, ईश्वर की तरह नियंत्रण करना इत्यादि—किन्तु जब वह भगवान् से आदेश पाने की सिद्धावस्था तक पहुँच जाता है, तो वह उपर्युक्त भौतिक उपलब्धियों की किसी भी अवस्था से बढ़कर होता है। योग प्रणाली का प्राणायाम, जिसका सामान्य तौर पर अभ्यास किया जाता है, मात्र शुरुआत है। परमात्मा का ध्यान अगला कदम है। किन्तु परमात्मा से सीधा सम्पर्क प्राप्त करना और उनसे आदेश लेना सर्वोच्च सिद्धि की अवस्था है। ध्यान की प्राणायाम विधि पाँच

हजार वर्ष पूर्व भी अति कठिन थी अन्यथा अर्जुन ने इस प्रणाली को अपनाने के कृष्ण के प्रस्ताव को अस्वीकार न किया होता। यह कलियुग पतित युग कहलाता है। इस युग में लोग सामान्यतया अल्पायु तथा आत्म-साक्षात्कार या आध्यात्मिक जीवन को समझने में अत्यन्त मन्द होते हैं, वे प्राय: अभागे होते हैं, अत: यदि कोई आत्म-साक्षात्कार में तनिक भी रुचि रखता है, तो वह कई षड्यंत्रों द्वारा गुमराह किया जा सकता है। योग की पूर्ण अवस्था प्राप्त करने का एकमात्र साधन *भगवद्गीता* के सिद्धान्तों का पालन करना है, जिसका अभ्यास श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया। यह योगाभ्यास की सरलतम तथा सर्वोच्च सिद्धि है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस कृष्णभावनामृत योग प्रणाली का प्रदर्शन व्यावहारिक रूप में कृष्ण के पवित्र नाम का केवल कीर्तन करके किया जैसी कि *वेदान्त, श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा कई महत्त्वपूर्ण पुराणों में संस्तुति की गई है।

भारतीय सबसे अधिक संख्या में इसी योग विधि का पालन करते हैं और यह धीरे धीरे संयुक्त राज्य के अनेक शहरों में फैल रही है। यह इस युग के लिए अतीव सरल तथा व्यावहारिक है, विशेष रूप से उनके लिए जो योग में सफलता के प्रति गम्भीर हैं। इस युग में कोई अन्य विधि सफल नहीं हो सकती। ध्यान की विधि स्वर्णयुग या सत्ययुग में सम्भव थी, क्योंकि उस युग के लोग लाखों वर्षों तक जीवित रहते थे। जो व्यक्ति व्यावहारिक योगाभ्यास में सफलता चाहता है उसे सलाह दी जाती है कि वह हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे; हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का कीर्तन करे और तब उसे स्वयं अनुभव होने लगेगा कि वह प्रगति कर रहा है। *भगवद्गीता* में कृष्णभावनामृत का यह अभ्यास राजविद्या कहलाता है।

जिन्होंने *भक्तियोग* की इस सर्वाधिक उदात्त विधि को अपनाया है और जो कृष्ण के दिव्य प्रेम में भक्ति का अभ्यास करते हैं, वे इसकी सुखमय तथा सरल सम्पन्नता को प्रमाणित कर सकते हैं। सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार नामक चारों मुनि भी भगवान् के स्वरूप एवं उनके चरणकमलों की धूल की दिव्य सुगन्ध के प्रति आकृष्ट हो गये, जैसाकि श्लोक ४३ में बतलाया जा चुका है।

योग के लिए इन्द्रियों का नियंत्रण आवश्यक है तथा *भक्तियोग* या कृष्णभावनामृत इन्द्रियों को शुद्ध करने की विधि है। जब इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तो वे स्वत: नियंत्रित हो जाती हैं। कृत्रिम साधनों से इन्द्रियों के कार्यों को नहीं रोका जा सकता, किन्तु यदि कोई इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाकर

शुद्ध कर ले तो इन्द्रियाँ न केवल रद्दी कार्य से नियंत्रित की जा सकती है, अपितु उन्हें भगवान् की दिव्य सेवा में लगाया जा सकता है, जैसाकि चारों मुनियों—सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार ने कामना की थी। इसलिए कृष्णभावनामृत चिन्तनशील मन द्वारा बनाई गई धारणा नहीं है। इस विधि का आदेश *भगवद्गीता* (९.३४) में हुआ है—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*।

कुमारा ऊचुः
योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं
सोऽद्यैव नो नयनमूलमनन्त राद्धः ।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः
पित्रानुवर्णितरहा भवदुद्भवेन ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

कुमाराः ऊचुः—कुमारों ने कहा; यः—जो; अन्तर्हितः—अव्यक्त; हृदि—हृदय में; गतः—आसीन है; अपि—यद्यपि; दुरात्मनाम्—धूर्तों को; त्वम्—तुम; सः—वह; अद्य—आज; एव—निश्चय ही; नः—हमारा; नयन-मूलम्—आमने-सामने; अनन्त—हे अनन्त; राद्धः—प्राप्त किया; यर्हि—जब; एव—निश्चय ही; कर्ण-विवरेण—कानों से होकर; गुहाम्—बुद्धि; गतः—प्राप्त किया है; नः—हमको; पित्रा—पिता के द्वारा; अनुवर्णित—वर्णन किये गये; रहाः—रहस्य; भवत्-उद्भवेन—आपके प्राकट्य से।

कुमारों ने कहा : हे प्रिय प्रभु, आप धूर्तों के समक्ष प्रकट नहीं होते यद्यपि आप हर एक के हृदय के भीतर आसीन रहते हैं। किन्तु जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हम आपको अपने समक्ष देख रहे हैं यद्यपि आप अनन्त हैं। हमने आपके विषय में अपने पिता ब्रह्मा के द्वारा अपने कानों से जो कथन सुने हैं, वे अब आपके कृपापूर्ण प्राकट्य से वस्तुतः साकार हो गए हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर उन तथाकथित योगियों का वर्णन हुआ है, जो अपने मन को निर्विशेष या शून्य पर केन्द्रित करते हैं या उसका ध्यान करते हैं। *श्रीमद्भागवत* का यह श्लोक उन व्यक्तियों का वर्णन करता है जिनसे आशा की जाती है कि वे ध्यान में संलग्न अति कुशल योगी होंगे, किन्तु जो भगवान् को अपने हृदय के भीतर आसीन नहीं पाते। ऐसे व्यक्तियों को यहाँ पर *दुरात्मा* कहा गया है, जिसका अर्थ है ''अत्यन्त कुटिल हृदय वाला'' या ''कम बुद्धिमान व्यक्ति'' जो महात्मा का विलोम है, जिसका अर्थ है ''विशाल हृदयवाला।'' ऐसे तथाकथित योगी जो ध्यान में लगे रहते हुए भी विशाल-हृदय नहीं हैं, वे चतुर्भुजी नारायण रूप को नहीं देख सकते, भले ही भगवान् उनके हृदय में वास कर रहे होते हैं। यद्यपि परब्रह्म की प्रथम अनुभूति निर्विशेष ब्रह्म है, किन्तु परमेश्वर के निर्विशेष तेज का अनुभव करने से मनुष्य को तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। *ईशोपनिषद्* में भी भक्त प्रार्थना करता है कि उसकी आँखों से

ब्रह्म का चमकीला तेज हटा लिया जाय जिससे वह भगवान् के असली साकार रूप का दर्शन कर सके और इस तरह पूर्णतया सन्तुष्ट हो सके। इसी तरह, यद्यपि भगवान् प्रारम्भ में अपने चमकीले शारीरिक तेज के कारण दृष्टिगोचर नहीं होते, किन्तु यदि भक्त निष्ठापूर्वक उनका दर्शन करना चाहता है, तो भगवान् उसके समक्ष प्रकट होते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् हमारी अपूर्ण आँखों से नहीं देखे जा सकते, न ही वे हमारे अपूर्ण कानों से सुने जा सकते हैं और न ही अपूर्ण इन्द्रियों से अनुभव किये जा सकते हैं। किन्तु यदि कोई श्रद्धा तथा लगन से भक्ति करता है, तो ईश्वर स्वयं प्रकट होते हैं।

यहाँ पर चार मुनियों—सनत्कुमार, सनातन, सनन्दन तथा सनक—को निष्ठावान भक्तों के रूप में वर्णित किया गया है। यद्यपि उन्होंने अपने पिता ब्रह्मा से भगवान् के साकार रूप के विषय में सुन रखा था, किन्तु उन्हें केवल निर्विशेष रूप ब्रह्म ही बतलाया गया था। किन्तु वे भगवान् की निष्ठापूर्वक खोज कर रहे थे, अतएव उन्होंने अन्ततः उनके साकार रूप का दर्शन किया जो उनके पिता द्वारा बताये गये वर्णन के अनुरूप था। इस तरह वे पूर्णतया तुष्ट हो गये। यहाँ वे अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं कि यद्यपि प्रारम्भ में वे मूर्ख निर्विशेषवादी थे, किन्तु अब भगवत्कृपा से उन्हें उनके साकार रूप को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि ये मुनि अपने पिता ब्रह्मा से सुनने का अपना अनुभव बता रहे थे, जिनका जन्म सीधे भगवान् से हुआ था। दूसरे शब्दों में, भगवान् से लेकर ब्रह्मा और ब्रह्मा से नारद तथा नारद से व्यास इत्यादि की परम्परा को यहाँ स्वीकार किया गया है। चूँकि कुमारगण ब्रह्मा के पुत्र थे, अतएव उन्हें ब्रह्मा की शिष्य-परम्परा से वैदिक ज्ञान सीखने का अवसर प्राप्त हुआ था इसलिए निर्विशेषवादी शुभारम्भ के बावजूद अन्त में वे भगवान् के साकार रूप के साक्षात् दर्शक बने।

तं त्वां विदाम भगवन्परमात्मतत्त्वं
सत्त्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तमेषाम् ।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगै-
रुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; त्वाम्—तुमको; विदाम—हम जानते हैं; भगवन्—हे भगवान्; परम्—परम; आत्म-तत्त्वम्—परब्रह्म; सत्त्वेन—आपके सतोगुणी रूप के द्वारा; सम्प्रति—अब; रतिम्—ईश प्रेम; रचयन्तम्—उत्पन्न करते हुए; एषाम्—उन सबों का; यत्—जो; ते—तुम्हारी; अनुताप—कृपा; विदितैः—समझ गया; दृढ—अविचल; भक्ति-योगैः—भक्ति द्वारा; उद्ग्रन्थयः—अनुरक्ति से रहित, भौतिक बन्धन से मुक्त; हृदि—हृदय में; विदुः—समझ गये; मुनयः—मुनिगण; विरागाः—भौतिक जीवन में रुचि न रखने वाले।

हम जानते हैं कि आप परम सत्य अर्थात् परमेश्वर हैं, जो अपने दिव्य रूप को अकलुषित (विशुद्ध) सतोगुण में प्रकट करते हैं। आपका यह दिव्य शाश्वत रूप आपकी कृपा से ही अविचल भक्ति के द्वारा उन मुनियों द्वारा समझा जाता है जिनके हृदय भक्तिमयी विधि से शुद्ध किये जा चुके हैं।

तात्पर्य : परम सत्य को तीन रूपों में—निर्विशेष ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूपों में—समझा जा सकता है। यहाँ इसे स्वीकार किया गया है कि परम सत्य को समझने में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अन्तिम शब्द है। यद्यपि चारों कुमारों को उनके महान् विद्वान पिता ब्रह्मा ने शिक्षा दी थी, तथापि वे परब्रह्म को यथार्थ रूप में समझ नहीं पाये थे। वे परब्रह्म को तभी समझ पाये जब उन्होंने अपनी आँखों से भगवान् को साक्षात् देखा। दूसरे शब्दों में, यदि कोई भगवान् को देखता या समझ लेता है, तो परब्रह्म के अन्य दो रूप—निर्विशेष ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा रूप—भी स्वत: समझ में आ जाते हैं। इसीलिए कुमारगण पुष्टि करते हैं "आप परम सत्य हैं।" निर्विशेषवादी यह तर्क कर सकता है कि चूँकि भगवान् इतने सुन्दर ढंग से सुसज्जित थे, अतएव वे परब्रह्म नहीं थे। किन्तु यहाँ पर इस बात की पुष्टि की गई है कि परम पद की समस्त विविधता (विचित्रता) शुद्धसत्त्व से निर्मित है। भौतिक जगत में कोई भी गुण—सतो, रजो या तमो—कलुषित रहता है। यहाँ तक कि भौतिक जगत में सतोगुण भी रजो तथा तमो गुणों के स्पर्श से मुक्त नहीं है। लेकिन दिव्य जगत में एकमात्र सतोगुण विद्यमान रहता है, जिसमें रजो या तमोगुण का लेश भी नहीं रहता। इसलिए भगवान् का स्वरूप तथा उनकी विविध लीलाएँ एवं साज-सामग्री सारे के सारे शुद्ध सत्त्वगुण हैं। सतोगुण में ऐसी विविधता भगवान् द्वारा भक्त की तुष्टि हेतु सतत् प्रकट की जाती है। भक्त परम सत्य को शून्यता या निर्विशेषता में नहीं देखना चाहता। एक अर्थ में, परम दिव्य विविधता केवल भक्तों के निमित्त होती है, अन्यों के लिए नहीं, क्योंकि दिव्य विविधता का यह स्पष्ट रूप एकमात्र भगवत्कृपा से ही समझा जा सकता है, मानसिक चिन्तन या आरोही विधि से नहीं। कहा जाता है कि जब मनुष्य को भगवान् की किंचित्मात्र

भी कृपा प्राप्त होती है, तो वह भगवान् को समझ सकता है; अन्यथा उनकी कृपा के बिना मनुष्य हजारों वर्षों तक चिन्तन करते रहने पर भी यह नहीं समझ सकेगा कि वस्तुतः परब्रह्म क्या है। यह कृपा भक्त द्वारा तब अनुभव की जाती है जब वह कल्मष से पूरी तरह मुक्त हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि जब सारा कल्मष उन्मूलित हो जाता है और भक्त भौतिक आकर्षणों से पूर्णतया विरक्त हो जाता है तभी वह भगवान् की इस कृपा को प्राप्त कर सकता है।

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किम्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते ।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः
कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आत्यन्तिकम्—मुक्ति; विगणयन्ति—परवाह करते हैं; अपि—भी; ते—वे; प्रसादम्—वर; किम् उ—क्या कहा जाय; अन्यत्—अन्य भौतिक सुख; अर्पित—दिया गया; भयम्—भय; भ्रुवः—भौंहों का; उन्नयैः—उठाने से; ते—तुम्हारे; ये—वे भक्त; अङ्ग—हे भगवान्; त्वत्—तुम्हारे; अङ्घ्रि—चरणकमल; शरणाः—शरण लिये हुए; भवतः—आपकी; कथायाः—कथाएँ; कीर्तन्य—कीर्तन के योग्य; तीर्थ—शुद्ध; यशसः—यश; कुशलाः—अत्यन्त पटु; रस-ज्ञाः—रस के ज्ञाता।

वे व्यक्ति जो वस्तुओं को यथारूप में समझने में अत्यन्त पटु और सर्वाधिक बुद्धिमान हैं अपने को भगवान् के शुभ कार्यों तथा उनकी लीलाओं की कथाओं को सुनने में लगाते हैं, जो कीर्तन तथा श्रवण के योग्य होती हैं। ऐसे व्यक्ति सर्वोच्च भौतिक वर की, अर्थात् मुक्ति की भी परवाह नहीं करते, स्वर्गलोक के भौतिक सुख जैसे कम महत्वपूर्ण वरों के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं।

तात्पर्य : भगवद्भक्तों द्वारा जिस दिव्य आनन्द का भोग किया जाता है, वह अल्पज्ञों द्वारा भोगे गये भौतिक सुख से सर्वथा भिन्न है। भौतिक जगत में अल्पज्ञ लोग वरों के चार सिद्धान्तों में लगे रहते हैं, जो धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष कहलाते हैं। सामान्तया वे किसी भौतिक वर को प्राप्त करने के लिए धार्मिक जीवन अपनाते हैं जिसका उद्देश्य इन्द्रियों तो तुष्ट करना है। जब वे इस विधि से अधिकतम इन्द्रिय भोग की पूर्ति करने में हताश अथवा भ्रान्त हो जाते हैं, तो वे परम तत्त्व से तदाकार होना चाहते हैं, जो उनके विचार से *मुक्ति* है। मुक्ति पाँच प्रकार की है जिनमें सबसे कम महत्त्वपूर्ण *सायुज्य* या ब्रह्म से तदाकार होना है। भक्तगण ऐसी मुक्ति की परवाह नहीं करते, क्योंकि वे वास्तव में बुद्धिमान होते हैं। न ही वे अन्य चार प्रकार की मुक्तियों में से किसी की भी कामना करते हैं—ये हैं भगवान् के ही

लोक में निवास करना (सालोक्य), संगी के रूप में भगवान् के साथ साथ रहना (सामीप्य), उनके जैसा ही ऐश्वर्य पाना (सार्ष्टि) तथा वैसा ही शारीरिक रूप प्राप्त करना। (सारूप्य) वे तो एकमात्र भगवान् की तथा उनके शुभ कार्यों की महिमा का गुणगान करना चाहते हैं। शुद्ध भक्ति तो *श्रवणं कीर्तनम्* है। भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन में दिव्य आनन्द लेने वाले शुद्ध भक्त किसी प्रकार की मुक्ति की परवाह नहीं करते। यदि उन्हें पाँचों मुक्तियाँ भी प्रदान की जाँय वे उन्हें अस्वीकार कर देते हैं जैसाकि *भागवत* के तृतीय स्कन्ध में बतलाया गया है। भौतिकतावादी लोग स्वर्गलोक में स्वर्गिक सुख के इन्द्रिय-भोग की आकांक्षा करते हैं, किन्तु भक्तगण ऐसे भौतिक आनन्द का तुरन्त तिरस्कार कर देते हैं। भक्त इन्द्र के पद तक की परवाह नहीं करता। भक्त जानता है कि कोई भी आनन्दप्रद भौतिक पद कभी न कभी विनष्ट हो जायेगा। यदि वह इन्द्र, चन्द्र या किसी अन्य देवता के पद तक पहुँच भी जाता है, तो एक अवस्था ऐसी आयेगी जब वह विनष्ट हो जायेगा। भक्त कभी भी ऐसे क्षणिक आनन्द में रुचि नहीं दिखाता। वैदिक शास्त्रों से यह समझा जाता है कि कभी न कभी ब्रह्मा तथा इन्द्र तक नीचे गिरते हैं, किन्तु दिव्य भगवद्धाम से भक्त कभी नीचे नहीं गिरता। जीवन की इस दिव्य अवस्था की, जिसमें मनुष्य भगवान् की लीलाओं को सुनने में दिव्य आनन्द का अनुभव करता है, श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी संस्तुति की है। जब श्री चैतन्य महाप्रभु रामानन्द राय से बातें कर रहे थे तो आध्यात्मिक साक्षात्कार के विषय में रामानन्द ने तरह तरह के सुझाव रखे थे, किन्तु श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस एक सुझाव के अतिरिक्त सबों को निरस्त कर दिया था कि मनुष्य को शुद्ध भक्तों की संगति में भगवान् की महिमाओं का श्रवण करना चाहिए। वह सबों को स्वीकार्य है, विशेष रूप से इस युग में। मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध भक्तों से भगवान् के कार्यकलापों के विषय में सुनने में अपने को लगाये। मानव जाति के लिए यह सर्वोच्च वरदान माना जाता है।

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत ।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

कामम्—वांछित; भवः—जन्म; स्व-वृजिनैः—अपने ही पाप कर्मों से; निरयेषु—निम्न जन्मों में; नः—हमारा; स्तात्—ऐसा ही हो; चेतः—मन; अलि-वत्—भौंरे सदृश; यदि—यदि; नु—हो सकता है; ते—तुम्हारे; पदयोः—चरणकमलों पर; रमेत—लगे रहते हैं; वाचः—शब्द; च—तथा; नः—हमारे; तुलसि-वत्—तुलसी दल के समान; यदि—यदि; ते—तुम्हारे; अङ्घ्रि—चरणकमलों पर; शोभाः—सजाये गये; पूर्येत—पूरित हो जाते हैं; ते—तुम्हारे; गुण-गणैः—दिव्य गुणों के द्वारा; यदि—यदि; कर्ण-रन्ध्रः—कान के छेद।

हे प्रभु, हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि जब तक हमारे हृदय तथा मन आपके चरणकमलों की सेवा में लगे रहें, हमारे शब्द (आपके कार्यों के कथन से) सुन्दर बनते रहें जिस तरह आपके चरणकमलों पर चढ़ाये गये तुलसीदल सुन्दर लगने लगते हैं तथा जब तक हमारे कान आपके दिव्य गुणों के कीर्तन से सदैव पूरित होते रहें, तब तक आप जीवन की जिस किसी भी नारकीय स्थिति में हमें जन्म दे सकते हैं।

तात्पर्य : अब चारों मुनि भगवान् से अपनी दीनता दिखाते हैं, क्योंकि उन्होंने भगवान् के दो अन्य भक्तों को शाप देकर अपना अभिमान व्यक्त किया था। जय तथा विजय नामक दो द्वारपाल, जिन्होंने उन्हें वैकुण्ठलोक में प्रवेश करने से रोका था, निश्चित रूप से अपराधी थे, किन्तु वैष्णव होने के नाते इन चारों मुनियों को क्रोध में आकर उन दोनों को शाप नहीं देना चाहिए था। इस घटना के बाद उन्हें चेत हुआ कि भगवद्भक्तों को शाप देकर उन्होंने बुरा किया है, अतः उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि नारकीय अवस्था में भी उनके मन भगवान् नारायण के चरणकमलों की सेवा करने से विचलित न हों। जो लोग भगवान् के भक्त होते हैं, वे जीवन की किसी भी दशा से भयभीत नहीं होते बशर्ते कि वे भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहें। भगवान् नारायण के भक्तों *नारायणपरों* के बारे में कहा जाता है *न कुतश्चन् बिभ्यति* (भाग. ६.१७.२८) : वे नारकीय स्थिति में प्रवेश करने से डरते नहीं। क्योंकि वे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं, अतः उनके लिए स्वर्ग या नरक एकसमान होता है। भौतिक जीवन में स्वर्ग तथा नरक दोनों ही एकसमान होते हैं, क्योंकि वे भौतिक हैं। इनमें से किसी में भी भगवान् की सेवा में लगे रहने की कोई गुंजायश नहीं है। अतएव जो लोग भगवान् की सेवा में लगे हुए हैं, वे स्वर्ग तथा नरक में कोई अन्तर नहीं देखते। ऐसा तो केवल वे भौतिकतावादी देखते हैं, जो एक की अपेक्षा दूसरे को वरीयता देते हैं।

इन चारों भक्तों ने भगवान् से प्रार्थना की कि यद्यपि भक्तों को शाप देने के कारण हम नरक जा सकते हैं, किन्तु हम भगवान् की सेवा करना न भूलें। भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा तीन प्रकार से

की जाती है—मनसे, वाचन से तथा कर्म से। यहाँ मुनि-गण कहते हैं कि उनकी वाणी सदैव परमेश्वर के गुणगान में लगी रहे। कोई कितनी ही अलंकारमयी या नियंत्रित व्याकरण सम्मत भाषा क्यों न बोले, किन्तु यदि उसके शब्द भगवान् की सेवा में नहीं लगते तो उसमें न तो कोई स्वाद होता है और न वह किसी लाभ की होती है। यहाँ पर तुलसी दलों का दृष्टान्त दिया गया है। तुलसी दल ओषधीय या जीवाणुनाशक दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी हैं। ये पवित्र माने जाते हैं और भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित किये जाते हैं। तुलसीदल में असंख्य सद्गुण हैं, किन्तु यदि इन्हें भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित न किया जाता तो तुलसी का इतना महत्त्व न होता। इसी तरह कोई व्यक्ति अलंकार या व्याकरण की दृष्टि से कितने ही सुन्दर ढंग से क्यों न बोले और भौतिकतावादी श्रोता उसकी अत्यधिक प्रशंसा क्यों न करें, किन्तु यदि उसके शब्द भगवान् की सेवा में अर्पित नहीं होते तो वे व्यर्थ हैं। कान के छेद बहुत छोटे होते हैं और वे किसी नगण्य ध्वनि से पूरित हो सकते हैं, अत: वे भगवान् की महिमा जैसी महान् ध्वनि को कैसे ग्रहण कर सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि कान के छेद आकाश की तरह हैं। जिस तरह आकाश कभी भी पूरित नहीं होता, उसी तरह कान की विशेषता है कि कोई चाहे जितनी तरह की ध्वनियाँ उड़ेलता जाय फिर भी कान अधिकाधिक ध्वनियों को ग्रहण कर सकता है। यदि भक्त को निरन्तर भगवान् की महिमा सुनने का अवसर प्राप्त होता रहे तो वह नरक जाने से भयभीत नहीं होता। हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन का यही लाभ है। कोई किसी भी स्थिति में क्यों न हो, ईश्वर उसे हरे कृष्ण कीर्तन करने का अधिकार देता है। यदि जीवन की किसी भी स्थिति में मनुष्य कीर्तन करता रहे तो वह कभी भी दुखी नहीं होगा।

प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूत रूपं
तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः ।
तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम
योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान्प्रतीतः ॥५०॥

शब्दार्थ

प्रादुश्चकर्थ—आपने प्रकट किया है; यत्—जो; इदम्—यह; पुरुहूत—हे अतीव पूज्य; रूपम्—नित्यरूप; तेन—उस रूप से; ईश—हे प्रभु; निर्वृतिम्—सन्तोष; अवापु:—प्राप्त किया; अलम्—इतना अधिक; दृश:—दृष्टि; न:—हमारी; तस्मै—उस; इदम्—यह; भगवते—भगवान् को; नम:—नमस्कार; इत्—केवल; विधेम—अर्पित करें; य:—जो; अनात्मनाम्—अल्पज्ञों को; दुरुदय:—देखे नहीं जा सकते; भगवान्—भगवान्; प्रतीत:—हमारे द्वारा देखे गए हैं।

अत: हे प्रभु, हम भगवान् के रूप में आपके नित्य स्वरूप को सादर नमस्कार करते हैं जिसे

आपने इतनी कृपा करके हमारे समक्ष प्रकट किया है। आपका परम नित्य स्वरूप अभागे अल्पज्ञ व्यक्तियों द्वारा नहीं देखा जा सकता, किन्तु हम इसे देखकर अपने मन में तथा दृष्टि में अत्यधिक तुष्ट हैं।

तात्पर्य : चारों मुनि अपने आध्यात्मिक जीवन के आदि में निर्विशेषवादी थे, किन्तु बाद में अपने पिता एवं गुरु ब्रह्मा की कृपा से वे भगवान् के नित्य आध्यात्मिक स्वरूप को समझ गए और अपने को पूर्ण तुष्ट अनुभव करने लगे। दूसरे शब्दों में, जो योगीजन निर्विशेष ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा की आकांक्षा करते हैं, वे पूरी तरह तुष्ट नहीं होते और फिर भी अधिक के लिए लालायित रहते हैं। यदि वे अपने मन में तुष्ट हो भी जाँए तो भी आध्यात्मिक दृष्टि से उनकी आँखें तुष्ट नहीं होतीं। किन्तु ज्योंही ऐसे व्यक्ति भगवान् की अनुभूति करते हैं, वे सभी प्रकार से तुष्ट हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, वे भक्त बन जाते हैं और भगवान् के रूप को निरन्तर देखते रहना चाहते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में इसकी पुष्टि हुई है कि जिसने प्रेमरूपी अंजन को अपनी आँखों में लेप करके कृष्ण का दिव्य प्रेम विकसित कर लिया है, वह भगवान् के दिव्य रूप का निरन्तर दर्शन करता है। इस सन्दर्भ में प्रयुक्त विशिष्ट शब्द *अनात्मनाम्* उनको इंगित करता है जिनका अपने मन तथा इन्द्रियों पर कोई नियंत्रण नहीं होता, अत: जो चिन्तन करते हैं और भगवान् से तदाकार हो जाना चाहते हैं। ऐसे लोग भगवान् के नित्य रूप का दर्शन करने का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। निर्विशेषवादियों एवं तथाकथित योगियों के लिए भगवान् सदैव योगमाया के पर्दे में छिपे रहते हैं। *भगवद्गीता* कहती है कि जब भगवान् कृष्ण इस पृथ्वी पर विद्यमान थे और सबों के द्वारा दृश्य थे तब भी निर्विशेषवादी एवं तथाकथित योगी उनका दर्शन नहीं कर पाये, क्योंकि वे भक्तिमयी दृष्टि से विहीन थे। निर्विशेषवादियों एवं तथाकथित योगियों का सिद्धान्त है कि परमेश्वर तभी कोई विशेष रूप धारण करते हैं जब वे माया के सम्पर्क में आते हैं, यद्यपि वास्तव में उनके कोई रूप नहीं होता। निर्विशेषवादियों एवं तथाकथित योगियों की यह धारणा उन्हें भगवान् के यथारूप दर्शन करने से रोकती है। इसीलिए भगवान् ऐसे अभक्तों की दृष्टि से सदैव ओझल रहते हैं। चारों मुनि भगवान् के प्रति इतनी कृतज्ञता अनुभव कर रहे थे कि उन्होंने उनको बारम्बार नमस्कार किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''ईश्वर के साम्राज्य का वर्णन'' नामक

पन्द्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

वैकुण्ठ के दो द्वारपालों, जय-विजय को मुनियों द्वारा शाप

ब्रह्मोवाच
इति तद्गृणतां तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम् ।
प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; इति—इस प्रकार; तत्—वाणी; गृणताम्—प्रशंसा करते हुए; तेषाम्—उन; मुनीनाम्—चारों मुनियों का; योग-धर्मिणाम्—ब्रह्म के साथ युक्त होने में लगे हुए; प्रतिनन्द्य—बधाई देकर; जगाद—कहा; इदम्—ये शब्द; विकुण्ठ-निलयः—जिनका धाम चिन्ता से रहित है; विभुः—भगवान् ने।

ब्रह्माजी ने कहा : इस तरह मुनियों को उनके मनोहर शब्दों के लिए बधाई देते हुए भगवद्धाम में निवास करनेवाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने इस प्रकार कहा।

श्रीभगवानुवाच
एतौ तौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च ।
कदर्थीकृत्य मां यद्वो बह्वक्रातामतिक्रमम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एतौ—ये दोनों; तौ—वे; पार्षदौ—परिचर; मह्यम्—मेरे; जयः—जय नामक; विजयः—विजय नामक; एव—निश्चय ही; च—तथा; कदर्थी-कृत्य—अवहेलना करके; माम्—मुझको; यत्—जो; वः—तुम्हारे विरुद्ध; बहु—अत्यधिक; अक्राताम्—किया है; अतिक्रमम्—अपराध।

भगवान् ने कहा : जय तथा विजय नामक मेरे इन परिचरों ने मेरी अवज्ञा करके आपके प्रति महान् अपराध किया है।

तात्पर्य : भगवद्भक्त के चरणों पर अपराध करना एक भारी दोष है। यदि जीव वैकुण्ठलोक भी पहुँच जाय तो भी सम्भावना बनी रहती है कि वह अपराध करे, किन्तु अन्तर यही है कि जब वह वैकुण्ठ लोक में होता है और यदि संयोगवश वहाँ कोई अपराध करता भी है, तो भगवान् उसको बचा लेते हैं। भगवान् तथा सेवक के बर्तावों की यही विशिष्टता है, जैसाकि जय तथा विजय से सम्बन्धित प्रस्तुत घटना में देखा जाता है। यहाँ पर प्रयुक्त *अतिक्रमम्* शब्द सूचित करता है कि भक्त का अपमान करते समय मनुष्य स्वयं भगवान् की उपेक्षा कर देता है।

द्वारपालों ने गलती से मुनियों को वैकुण्ठलोक में प्रवेश करने से रोका, किन्तु क्योंकि वे भगवान् की दिव्य सेवा में लगे थे, अतएव बढ़े-चढ़े भक्तों को आशा न थी कि वे विनष्ट हो सकते हैं। उस

स्थान पर भगवान् की उपस्थिति भक्तों के हृदयों को अत्यन्त मोहक थी। भगवान् समझ गये कि असली झंझट तो उनके चरणकमलों का मुनियों को न दिखना था, इसीलिए उन्होंने स्वयं चलकर उन्हें प्रसन्न करना चाहा। भगवान् इतने दयालु हैं कि यदि भक्त को कोई अवरोध होता है, तो वे स्थिति को इस तरह सँभालते हैं कि भक्त को उनके चरणकमलों के दर्शन से विहीन नहीं होना पड़ता। हरिदास ठाकुर के जीवन में इसका अच्छा उदाहरण मिलता है। जब चैतन्य महाप्रभु जगन्नाथ पुरी में रह रहे थे तो हरिदास ठाकुर, जो जन्मना मुसलमान थे, उनके साथ थे। हिन्दू मन्दिरों में, विशेष रूप से उन दिनों, केवल हिन्दू को ही प्रवेश करने की अनुमति दी जाती थी। यद्यपि आचरण से हरिदास ठाकुर सर्वोच्च हिन्दू थे तो भी वे अपने को मुसलमान मानते थे और उन्होंने मन्दिर में प्रवेश नहीं किया। श्री चैतन्य महाप्रभु उनकी दीनता को समझ चुके थे और चूँकि वे मन्दिर में दर्शन करने नहीं गए थे, अतः श्री चैतन्य महाप्रभु, जो जगन्नाथ जी से अभिन्न हैं, हरिदास ठाकुर के पास नित्य ही आते और उनके साथ बैठते थे। यहाँ पर *श्रीमद्भागवत* में भी हम भगवान् के इसी आचरण को पाते हैं। उनके भक्तों को उनके चरणकमलों का दर्शन पाने से रोका गया था, किन्तु भगवान् उन्हीं चरणकमलों से चलकर उन्हें देखने आये जिसकी उन्हें कामना थी। यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि लक्ष्मीजी उन के साथ थीं। लक्ष्मी देवी सामान्य व्यक्तियों को नहीं दिखतीं, किन्तु भगवान् इतने कृपालु थे कि यद्यपि भक्तों ने ऐसे सम्मान की कामना नहीं की थी, तो भी वे लक्ष्मीजी के साथ उनके समक्ष प्रकट हुए।

यस्त्वेतयोर्धृतो दण्डो भवद्भिर्मामनुव्रतैः ।
स एवानुमतोऽस्माभिर्मुनयो देवहेलनात् ॥ ३॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; एतयोः—जय तथा विजय के विषय में; धृतः—दिया गया; दण्डः—दण्ड; भवद्भिः—आपके द्वारा; माम्—मुझको; अनुव्रतैः—भक्ति करने वाले; सः—वह; एव—निश्चय ही; अनुमतः—अनुमोदित; अस्माभिः—मेरे द्वारा; मुनयः—हे मुनियो; देव—आपके विरुद्ध; हेलनात्—अपराध के कारण।

हे मुनियो, आप लोगों ने उन्हें जो दण्ड दिया है उसका मैं अनुमोदन करता हूँ, क्योंकि आप मेरे भक्त हैं।

तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे ।
तद्धीत्यात्मकृतं मन्ये यत्स्वपुम्भिरसत्कृताः ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; वः—तुम मुनियों; प्रसादयामि—तुमसे क्षमा चाहता हूँ; अद्य—अभी; ब्रह्म—ब्राह्मण; दैवम्—अत्यन्त प्रिय व्यक्ति; परम्—सर्वोच्च; हि—क्योंकि; मे—मेरा; तत्—वह अपराध; हि—क्योंकि; इति—इस प्रकार; आत्म-कृतम्—मेरे द्वारा किया हुआ; मन्ये—मानता हूँ; यत्—जो; स्व-पुम्भिः—मेरे सेवकों द्वारा; असत्-कृताः—अनादरित।

मेरे लिए ब्राह्मण सर्वोच्च तथा सर्वाधिक प्रिय व्यक्ति है। मेरे सेवकों द्वारा दिखाया गया अनादर वास्तव में मेरे द्वारा प्रदर्शित हुआ है, क्योंकि वे द्वारपाल मेरे सेवक हैं। इसे मैं अपने द्वारा किया गया अपराध मानता हूँ, इसलिए मैं घटी हुई इस घटना के लिए आपसे क्षमा चाहता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् सदैव ब्राह्मणों तथा गौवों का पक्ष लेते हैं, इसीलिए *गोब्राह्मण हिताय च* कहा गया है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण या विष्णु ब्राह्मणों के पूज्य देव भी हैं। वैदिक वाङ्मय में, ऋग्वेद के *ऋग्मंत्र* में कहा गया है कि जो वास्तव में ब्राह्मण हैं, वे सदैव विष्णु के चरणकमलों की ओर ताकते हैं—*ॐ तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः*। जो लोग योग्य ब्राह्मण हैं, वे भगवान् के विष्णु रूप की ही पूजा करते हैं जिसका अर्थ कृष्ण, राम तथा विष्णु के समस्त अंश हैं। तथाकथित ब्राह्मण जो ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है, किन्तु वैष्णवों के विपरित कार्य करता है उसे ब्राह्मण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ब्राह्मण का अर्थ है वैष्णव और वैष्णव का अर्थ है ब्राह्मण। जो भगवान् का भक्त बन जाता है, वह भी ब्राह्मण है। सूत्र है *ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः*। ब्राह्मण वह है, जिसने ब्रह्म को समझ लिया है और वैष्णव वह है, जिसने भगवान् को समझ लिया है। ब्रह्म-साक्षात्कार तो भगवान् साक्षात्कार की शुरुआत है। जो भगवान् को समझता है, वह परम के निर्विशेष रूप को भी जानता है, जो कि ब्रह्म है। अतः जो व्यक्ति वैष्णव बनता है, वह पहले से ब्राह्मण होता है। यह ध्यान देना होगा कि भगवान् द्वारा इस अध्याय में वर्णित ब्राह्मण की महिमाएँ उनके *भक्त-ब्राह्मण* या वैष्णव की द्योतक हैं। इससे कभी यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि इस सन्दर्भ में तथाकथित ब्राह्मण का जो कि ब्राह्मण परिवारों में उत्पन्न होते हैं, किन्तु जिनमें कोई भी ब्राह्मण गुण नहीं पाये जाते, उल्लेख हुआ है।

यन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि ।
सोऽसाधुवादस्तत्कीर्तिं हन्ति त्वचमिवामयः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; नामानि—नाम; च—तथा; गृह्णाति—ग्रहण करता है; लोकः—सामान्य जन; भृत्ये—जब एक सेवक; कृत-आगसि—कुछ गलती कर चुकता है; सः—वह; असाधु-वादः—दोष; तत्—उस व्यक्ति की; कीर्तिम्—ख्याति; हन्ति—नष्ट करता है; त्वचम्—चमड़ी; इव—सदृश; आमयः—कोढ़।

किसी सेवक द्वारा किये गये गलत कार्य से सामान्य तौर पर लोग उसके स्वामी को दोष देते हैं जिस तरह शरीर के किसी भी अंग पर श्वेत कुष्ट के धब्बे सारे चमड़ी को दूषित बना देते हैं।

तात्पर्य : अतएव वैष्णव को पूरी तरह सुयोग्य होना चाहिए। जैसाकि *भागवत* में कहा गया है, जो कोई वैष्णव बन जाता है उसमें देवता के सारे सद्गुण आ जाते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में छब्बीस गुणों का उल्लेख हुआ है। एक भक्त को सदैव यह देखना चाहिए कि कृष्णभावनामृत में प्रगति के साथ साथ उसके वैष्णव गुणों में वृद्धि हो। भक्त को दोषरहित रहना चाहिए, क्योंकि भक्त द्वारा किया गया कोई अपराध भगवान् पर दाग है। भक्त का कर्तव्य है कि अन्यों के साथ अपने बर्तावों में, विशेष रूप से भगवान् के अन्य भक्त के साथ अपने बर्तावों में, सदैव सचेत रहे।

यस्यामृतामलयशःश्रवणावगाहः
सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः ।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अमृत—अमृत; अमल—दूषणरहित; यशः—यश, महिमा; श्रवण—सुनना; अवगाहः—प्रविष्ट करना; सद्यः—तुरन्त; पुनाति—पवित्र करती है; जगत्—ब्रह्माण्ड; आश्व-पचात्—कुत्ता-भक्षक तक; विकुण्ठः—चिन्तारहित; सः—वह व्यक्ति; अहम्—मैं हूँ; भवद्भ्यः—आप से; उपलब्ध—प्राप्त; सु-तीर्थ—तीर्थयात्रा का सर्वोत्तम स्थान; कीर्तिः—यश; छिन्द्याम्—काट देगा; स्व-बाहुम्—अपनी भुजा; अपि—भी; वः—तुम्हारे प्रति; प्रतिकूल-वृत्तिम्—शत्रुवत् कार्य करते हुए।

सम्पूर्ण संसार में कोई भी व्यक्ति, यहाँ तक कि चण्डाल भी जो कुत्ते का मांस पका कर और खा कर जीता है, वह भी तुरन्त शुद्ध हो जाता है यदि वह मेरे नाम, यश आदि के गुणगान रूपी अमृत में कान से सुनते हुए स्नान करता है। अब आप लोगों ने निश्चित रूप से मेरा साक्षात्कार कर लिया है, अतएव मैं अपनी ही भुजा को काटकर अलग करने में तनिक संकोच नहीं करूँगा, यदि इसका आचरण आपके प्रतिकूल लगे।

तात्पर्य : यदि मानव समाज के सदस्य कृष्णभावनामृत स्वीकार कर लें तो उसका वास्तविक शुद्धिकरण हो सकता है। सारे वैदिक वाङ्मय में इसका स्पष्ट उल्लेख है। जो भी निष्ठापूर्वक कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, वह, सद्व्यवहार में उन्नत न होने पर भी शुद्ध हो जाता है। भक्त का चयन मानव समाज के किसी भी वर्ग से किया जा सकता है, यद्यपि यह आशा नहीं की जाती कि समाज के सारे अंगों के सारे लोग अच्छे व्यवहार वाले हैं। जैसाकि इस श्लोक में तथा *भगवद्गीता* में

कई स्थानों पर कहा गया है कि यदि कोई ब्राह्मण कुल में जन्म न भी ले या यदि वह चण्डालों के परिवार में भी जन्म ले, किन्तु यदि वह केवल कृष्णभावनामृत को ग्रहण करता है, तो वह तुरन्त शुद्ध हो जाता है। *भगवद्गीता* (९.३०-३२) में स्पष्ट कहा गया है कि चाहे मनुष्य सुन्दर आचरण का न हो, किन्तु यदि वह केवल कृष्णभावनामृत को ग्रहण करता है, तो वह साधु स्वभाव वाला व्यक्ति समझा जाता है। जब तक कोई व्यक्ति इस भौतिक जगत में है, तब तक अन्यों के साथ बर्ताव में उसके दो विभिन्न सम्बन्ध रहते हैं—एक तो शरीर से सम्बन्धित और दूसरा आत्मा से सम्बन्धित। जहाँ तक शारीरिक मामलों या सामाजिक कार्यों का सम्बन्ध है, यद्यपि मनुष्य आध्यात्मिक स्तर पर शुद्ध होता है, किन्तु कभी कभी देखा जाता है कि वह शारीरिक सम्बन्धों के परिपेक्ष्य में कार्य करता है। यदि चण्डाल परिवार में उत्पन्न भक्त कभी कभी अपने स्वभावगत कार्य करता देखा जाता है, तो उसे चण्डाल नहीं समझा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, वैष्णव का मूल्यांकन उसके शरीर के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। शास्त्र कहते हैं कि मन्दिर के अर्चाविग्रह को कभी कोई काष्ठ या पत्थर का बना हुआ न समझे, न ही कोई यह सोचे कि निम्न जाति से आने वाला व्यक्ति जिसने कृष्णभावनामृत स्वीकार कर लिया है अब भी उसी निम्न जाति का है। ऐसे विचारों का निषेध है, क्योंकि जो भी कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, वह पूर्णतया शुद्ध समझा जाता है। कम से कम, वह शुद्धि की प्रक्रिया में लगा हुआ होता है और यदि वह कृष्णभावनामृत के सिद्धान्त पर दृढ़ रहता है, तो वह शीघ्र ही पूरी तरह से शुद्ध हो जाएगा। निष्कर्ष यह निकला कि यदि कोई गम्भीरता के साथ कृष्णभावनामृत को ग्रहण करता है, तो वह पहले से शुद्ध हुआ माना जाता है और कृष्ण उसे सभी प्रकार से सुरक्षा प्रदान करने के लिए तैयार रहते हैं। यहाँ पर भगवान् विश्वास दिलाते हैं कि वे अपने भक्त को सुरक्षा प्रदान करने के लिए तैयार रहते हैं चाहे उन्हें अपने ही शरीर के एक अंग को काट फेंकने की आवश्यकता क्यों न पड़े।

यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं
सद्यः क्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम् ।
न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः
प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान्वहन्ति ॥७॥

शब्दार्थ

यत्—जिसकी; सेवया—सेवा द्वारा; चरण—पाँव; पद्म—कमल; पवित्र—पवित्र; रेणुम्—धूल; सद्यः—तुरन्त; क्षत—पोंछी गई; अखिल—समस्त; मलम्—पापों को; प्रतिलब्ध—अर्जित; शीलम्—स्वभाव; न—नहीं; श्रीः—लक्ष्मीजी; विरक्तम्—कोई आसक्ति न रखना; अपि—यद्यपि; माम्—मुझको; विजहाति—छोड़ती हैं; यस्याः—लक्ष्मी का; प्रेक्षा-लव-अर्थः—थोड़ी भी कृपा पाने के लिए; इतरे—अन्य, यथा ब्रह्मा जैसे; नियमान्—पवित्र व्रतों को; वहन्ति—पालन करते हैं।

भगवान् ने आगे कहा : चूँकि मैं अपने भक्तों का सहायक हूँ, इसलिए मेरे चरणकमल इतने पवित्र बन चुके हैं कि वे तुरन्त ही सारे पापों को धो डालते हैं और मुझे ऐसा स्वभाव प्राप्त हो चुका है कि देवी लक्ष्मी मुझे छोड़ती नहीं, यद्यपि उसके प्रति मेरा कोई लगाव नहीं है और अन्य लोग उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं तथा उसकी रंचमात्र कृपा पाने के लिए भी पवित्र व्रत रखते हैं।

तात्पर्य : भगवान् तथा उनके भक्त के मध्य का सम्बन्ध दिव्यतः सुन्दर है। जिस तरह भक्त सोचता है कि भगवद्भक्त होने से वह समस्त गुणों में समुन्नत है उसी तरह भगवान् भी सोचते हैं कि सेवक के प्रति उनकी भक्ति के कारण ही उनकी सारी दिव्य महिमाएँ बढ़ गई हैं। दूसरे शब्दों में, जिस तरह भक्त भगवान् की सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहता है उसी तरह भगवान् भक्त की सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। यहाँ पर भगवान् यह स्वीकार करते हैं कि यद्यपि उनमें निश्चित रूप से ऐसा गुण है कि जिस किसी को उनके चरणकमलों की धूल का कण भी प्राप्त हो जाता है, वह तुरन्त ही महापुरुष बन जाता है, किन्तु यह महानता अपने भक्त के लिए उनके स्नेह के कारण है। इसी स्नेह के कारण लक्ष्मीजी उन्हें छोड़ती नहीं और एक नहीं, हजारों लक्ष्मियाँ उनकी सेवा में लगी रहती हैं। भौतिक जगत में लक्ष्मीजी से रंचमात्र कृपा पाने के लिए लोग तपस्या के अनेक कठोर अनुष्ठानों का पालन करते हैं। भगवान् भक्त की किसी भी असुविधा को सहन नहीं कर पाते। इसीलिए वे *भक्तवत्सल* के रूप में विख्यात हैं।

नाहं तथाद्मि यजमानहविर्विताने
श्च्योतद्धृतप्लुतमदन्हुतभुङ्मुखेन ।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; तथा—दूसरी ओर; अद्मि—खाता हूँ; यजमान—यज्ञकर्ता द्वारा; हविः—आहुति; विताने—यज्ञ-अग्नि में; श्च्योतत्—डालते हुए; घृत—घी; प्लुतम्—मिश्रित; अदन्—खाते हुए; हुत-भुक्—यज्ञ की अग्नि; मुखेन—मुँह से; यत्—

क्योंकि; ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण के; मुखतः—मुख से; चरतः—कार्य करते हुए; अनुघासम्—कौर; तुष्टस्य—तुष्ट; मयि—मेरे लिए; अवहितैः—अर्पित किया गया; निज—अपना; कर्म—कार्यकलाप; पाकैः—फलों के द्वारा।

यज्ञाग्नि में, जो मेरे ही निजी मुखों में से एक है, यज्ञकर्ताओं के द्वारा डाली गई आहुतियों में मुझे उतना स्वाद नहीं मिलता जितना कि घी से सिक्त उन व्यंजनों से जो उन ब्राह्मणों के मुख में अर्पित किये जाते हैं जिन्होंने अपने कर्मों के फल मुझे अर्पित कर दिये हैं और जो मेरे प्रसाद से सदैव तुष्ट रहते हैं।

तात्पर्य : भगवद्भक्त या वैष्णव भगवान् को अर्पित किये बिना कोई वस्तु ग्रहण नहीं करता। चूँकि वैष्णव अपने सारे कर्मफल भगवान् को अर्पित कर देता है, अतः वह किसी ऐसी खाद्य वस्तु का आस्वादन नहीं करता जो पहले भगवान् को अर्पित न की गई हो। भगवान् भी अपने को अर्पित सारे खाद्य पदार्थों को वैष्णवों के मुखों में देकर आस्वादन करते हैं। इस श्लोक से स्पष्ट है कि भगवान् यज्ञाग्नि तथा ब्राह्मण के मुख के माध्यम से भोजन करते हैं। अतः भगवान् को तुष्ट करने के लिए यज्ञ में अनेक वस्तुएँ—अन्न, घी, आदि—अर्पित की जाती हैं। भगवान् ब्राह्मणों तथा भक्तों से यज्ञ की भेंट स्वीकार करते हैं। अन्यत्र यह कहा गया है कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को खाने के लिए जो कुछ अर्पित किया जाता है उसे भगवान् भी स्वीकार करते हैं, किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि वे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के मुखों की भेंटों को और अधिक स्वाद से स्वीकार करते हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण हरिदास ठाकुर के साथ अद्वैत प्रभु के बर्तावों में पाया जाता है। यद्यपि हरिदास मुसलमान परिवार में जन्मे थे, किन्तु अद्वैत प्रभु ने पवित्र अग्नि उत्सव सम्पन्न करने के बाद प्रसाद की पहली थाली उन्हें ही भेंट की थी। हरिदास ठाकुर ने उन्हें बतलाया कि मैं मुसलमान परिवार में पैदा हुआ हूँ तो आप पहली थाली किसी उच्च ब्राह्मण को भेंट न करके एक मुसलमान को क्यों प्रदान कर रहे हैं? हरिदास ने अपनी विनयशीलतावश ही अपने को मुसलमान कहकर भर्त्सना की, किन्तु अनुभवी भक्त होने के कारण अद्वैत प्रभु ने उन्हें असली ब्राह्मण माना। अद्वैत प्रभु ने कहा कि हरिदास ठाकुर को पहली थाली भेंट करके वे एक लाख ब्राह्मणों को खिलाने का फल प्राप्त कर रहे हैं। निष्कर्ष यह निकला कि यदि कोई एक ब्राह्मण या वैष्णव को खिला सकता है, तो यह लाखों यज्ञ करने से अच्छा है। इसीलिए इस युग में संस्तुति की गई है कि *हरेर्नाम* अर्थात् भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करना तथा वैष्णवों को प्रसन्न करना ही मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन तक ऊपर उठाने के एकमात्र साधन हैं।

येषां बिभर्म्यहमखण्डविकुण्ठयोग-
मायाविभूतिरमलाङ्घ्रिरजः किरीटैः ।
विप्रांस्तु को न विषहेत यदर्हणाम्भः
सद्यः पुनाति सहचन्द्रललामलोकान् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

येषाम्—ब्राह्मणों का; बिभर्मि—धारण करता हूँ; अहम्—मैं; अखण्ड—अटूट; विकुण्ठ—बिना अवरोध के; योग-माया—अन्तरंगा शक्ति; विभूतिः—ऐश्वर्य; अमल—शुद्ध; अङ्घ्रि—पाँवों की; रजः—धूलि; किरीटैः—मेरे मुकुट पर; विप्रान्—ब्राह्मण; तु—लेकिन; कः—कौन; न—नहीं; विषहेत—ले जाते हैं; यत्—भगवान् का; अर्हण-अम्भः—पाँवों को धोने से प्राप्त जल; सद्यः—तुरन्त; पुनाति—पवित्र बनाता है; सह—सहित; चन्द्र-ललाम—शिवजी; लोकान्—तीनों लोकों को।

मैं अपनी अबाधित अन्तरंगा शक्ति का स्वामी हूँ तथा गंगा जल मेरे पाँवों को धोने से निकलता हुआ जल है। वही जल जिसे शिवजी अपने सिर पर धारण किए हुए हैं, उनको तथा तीनों लोकों को पवित्र करता है। यदि मैं वैष्णव के पैरों की धूल को अपने सिर पर धारण करूँ, तो मुझे ऐसा करने से कौन मना करेगा?

तात्पर्य : भगवान् की अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों में अन्तर यह है कि अन्तरंगा शक्ति में अथवा आध्यात्मिक जगत में सभी ऐश्वर्य अविचल रहते हैं जबकि बहिरंगा अथवा भौतिक शक्ति में सारे ऐश्वर्य नश्वर अभिव्यक्ति होते हैं। भगवान् की श्रेष्ठता आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही जगतों में समान होती है, किन्तु आध्यात्मिक जगत भगवत्-साम्राज्य कहलाता है और भौतिक जगत माया का साम्राज्य कहलाता है। माया द्योतक है उसकी जो वास्तव में तथ्य नहीं है। भौतिक जगत का ऐश्वर्य प्रतिबिम्बित ऐश्वर्य होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि यह भौतिक जगत उस वृक्ष की तरह है, जिसकी जड़ें ऊपर की ओर तथा शाखाएँ नीचे की ओर होती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत की छाया है। असली ऐश्वर्य तो आध्यात्मिक जगत में रहता है। आध्यात्मिक जगत के अधिष्ठाता देव स्वयं भगवान् हैं जबकि भौतिक जगत में अनेक स्वामी हैं। अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों में यही अन्तर है। भगवान् कहते हैं कि यद्यपि वे ही अन्तरंगा शक्ति के प्रधान कारण हैं और यद्यपि भौतिक जगत उनके पादप्रक्षालित जल से पवित्र बनता है, तो भी उनके मन में ब्राह्मण तथा वैष्णव के प्रति सर्वाधिक आदर रहता है। जब भगवान् स्वयं ही वैष्णव तथा ब्राह्मण को इतना आदर प्रदान करते हैं, तो फिर इन पुरुषों को ऐसा आदर प्रदान करने से कौन इनकार कर सकता है?

ये मे तनूर्द्विजवरान्दुहतीर्मदीया
भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्ध्या ।
द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान्
गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतुः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ये—जो पुरुष; मे—मेरा; तनूः—शरीर; द्विज-वरान्—ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ; दुहतीः—गौवें; मदीयाः—मुझसे सम्बन्धित; भूतानि—जीव; अलब्ध-शरणानि—आश्रयविहीन; च—तथा; भेद-बुद्ध्या—भिन्न मानते हुए; द्रक्ष्यन्ति—देखते हैं; अघ—पाप के द्वारा; क्षत—क्षतिग्रस्त; दृशः—निर्णय की शक्ति; हि—क्योंकि; अहि—सर्पवत्; मन्यवः—क्रुद्ध; तान्—उन्हीं व्यक्तियों को; गृध्राः—गीध जैसे दूत; रुषा—क्रोध से; मम—मेरे; कुषन्ति—नोच डालते हैं; अधिदण्ड-नेतुः—दण्ड के अधीक्षक, यमराज का।.

ब्राह्मण, गौवें तथा निस्सहाय प्राणी मेरे ही शरीर हैं। जिन लोगों की निर्णय शक्ति अपने पाप के कारण क्षतिग्रस्त हो चुकी है वे इन्हें मुझसे पृथक् रूप में देखते हैं। वे क्रुद्ध सर्पों के समान हैं और वे पापी पुरुषों के अधीक्षक यमराज के गीध जैसे दूतों की चोचों से क्रोध में नोच डाले जाते हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* के अनुसार गौवें, ब्राह्मण, स्त्रियाँ, बच्चे तथा वृद्ध पुरुष निस्सहाय प्राणी हैं। इन पाँचों में से ब्राह्मणों तथा गौवों का इस श्लोक में विशेष उल्लेख हुआ है, क्योंकि भगवान् ब्राह्मणों तथा गौवों के हित के विषय में सदा चिन्तित रहते हैं और इसी रूप में वन्दित होते हैं। अतएव भगवान् विशेष रूप से उपदेश देते हैं कि किसी को इन पाँचों से, विशेष रूप से गौवों तथा ब्राह्मणों से, ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। *भागवत* के किन्हीं किन्हीं पाठों में *दुहतीः* के स्थान पर *दुहित्रिः* शब्द का प्रयोग मिलता हैं। किन्तु दोनों ही शब्दों से अर्थ एक ही निकलता है। *दुहतीः* का अर्थ "गाय" है और *दुहित्रिः* का भी अर्थ "गाय" हो सकता है, क्योंकि गाय को सूर्यदेव की पुत्री माना जाता है। जिस तरह से बच्चों की देखरेख उनके माता-पिता द्वारा की जाती है उसी तरह स्त्री-वर्ग की देखरेख पिता, पति या सयाने पुत्र द्वारा की जानी चाहिए। जो लोग असहाय हैं उनकी देखरेख उनके अभिभावकों द्वारा की जानी चाहिए अन्यथा वे यमराज द्वारा दण्डित किये जायेंगे, क्योंकि यमराज भगवान् द्वारा पापी प्राणियों के कार्यकलापों का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त हैं। यहाँ पर यमराज के सहायकों या दूतों की उपमा गीधों से दी गई है और जो लोग अपने रक्ष्यों की रक्षा करने का कर्तव्य नहीं निभाते उनकी तुलना सर्पों से की गई हैं। गीध सर्पों के साथ बहुत ही बुरी तरह से बर्ताव करते हैं; उसी तरह दूत असावधान अभिभावकों के साथ बुरी तरह पेश आते हैं।

ये ब्राह्मणान्मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्त-
स्तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः ।
वाण्यानुरागकलयात्मजवद्गृणन्तः
सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाहृतस्तैः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ये—जो व्यक्ति; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणजन; मयि—मुझमें; धिया—बुद्धिपूर्वक; क्षिपतः—कटुवचन बोलते हुए; अर्चयन्तः—आदर करते हुए; तुष्यत्—हर्षित हुए; हृदः—हृदय; स्मित—हँसी; सुधा—अमृत; उक्षित—नम; पद्म—कमल सदृश; वक्त्राः—मुखमंडल; वाण्या—शब्दों से; अनुराग-कलया—प्रेम करते हुए; आत्मज-वत्—पुत्र के समान; गृणन्तः—प्रशंसा करते हुए; सम्बोधयन्ति—सान्त्वना देते हैं; अहम्—मैं; इव—सदृश; अहम्—मैं; उपाहृतः—नियंत्रित होकर; तैः—उनके द्वारा।

दूसरी ओर ऐसे लोग जो हृदय में पुलकित रहते हैं और अमृततुल्य हँसी से आलोकित अपने कमलमुखों से ब्राह्मणों द्वारा कटु वचन बोलने पर भी उनका आदर करते हैं, वे मुझे मोह लेते हैं। वे ब्राह्मणों को मुझ जैसा ही मानते हैं और प्रियवचनों से उनकी प्रशंसा करके उन्हें उसी तरह शान्त करते हैं जिस तरह पुत्र अपने क्रुद्ध पिता को प्रसन्न करता है या मैं तुम लोगों को शान्त कर रहा हूँ।

तात्पर्य : वैदिक शास्त्रों में कई स्थानों पर यह कहा गया है कि जब ब्राह्मण या वैष्णव क्रुद्ध होकर किसी को शाप देते हैं, तो शापित व्यक्ति ब्राह्मणों या वैष्णवों के साथ वैसा ही व्यवहार करने का भार अपने ऊपर नहीं लेता। इसके अनेक उदाहरण हैं। उदाहरणार्थ, जब कुवेर के पुत्रों को नारद मुनि ने शाप दिया तो उन्होंने उसी कटु रीति से बदला नहीं लेना चाहा, अपितु आत्म-समर्पण कर दिया। यहाँ भी जब जय और विजय चार कुमारों से शापित किए गए तो वे उन से कटु रीति से पेश नहीं आए; अपितु उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के साथ बर्ताव करने की यही विधि होनी चाहिए। कभी कभी ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न की गई गम्भीर स्थिति का सामना करना पड़ सकता है, किन्तु उसके साथ वैसा ही व्यवहार न करके हँसकर तथा मृदु व्यवहार द्वारा उसे शान्त करने का प्रयास करना चाहिए। ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को नारायण का पार्थिव प्रतिनिधि मानना चाहिए। आजकल कुछ मूर्ख व्यक्तियों ने *दरिद्रनारायण* शब्द गढ़ लिया है, जिससे यह सूचित होता है कि दरिद्र व्यक्ति को नारायण का प्रतिनिधि स्वीकार करना चाहिए। किन्तु वैदिक वाङ्मय में हम यह कहीं नहीं पाते कि दरिद्र व्यक्तियों को नारायण का प्रतिनिधि माना जाय। निस्सन्देह, "जो अलब्धशरणं या असुरक्षित हैं" का यहाँ पर उल्लेख है, किन्तु शास्त्रों से इस पद की परिभाषा स्पष्ट है। दरिद्र व्यक्ति को असुरक्षित नहीं

होना चाहिए, लेकिन ब्राह्मण को विशेष रूप से नारायण का प्रतिनिधि माना जाना चाहिए और उन्हीं नारायण के समान उनकी पूजा की जानी चाहिए। इसका विशेष उल्लेख है कि ब्राह्मण को शान्त करने के लिए कमल जैसा मुख होना चाहिए। कमल जैसा मुख तब दिखता हैं जब मनुष्य प्रेम तथा वात्सल्य से अलंकृत हो। इस सम्बन्ध में पुत्र पर पिता को क्रुद्ध होने तथा पुत्र द्वारा हँसीले तथा मधुर शब्दों से पिता को शान्त करने का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है।

तन्मे स्वभर्तुरवसायमलक्षमाणौ
युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः ।
भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे
यत्कल्पतामचिरतो भृतयोर्विवासः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; मे—मेरा; स्व-भर्तुः—अपने स्वामी का; अवसायम्—मनोभाव; अलक्षमाणौ—न जानते हुए; युष्मत्—तुम्हारे विरुद्ध; व्यतिक्रम—अपराध; गतिम्—फल; प्रतिपद्य—पाकर; सद्यः—तुरन्त; भूयः—पुनः; मम अन्तिकम्—मेरे निकट; इताम्—प्राप्त करते हैं; तत्—वह; अनुग्रहः—कृपा; मे—मुझको; यत्—जो; कल्पताम्—व्यवस्थित हो; अचिरतः—शीघ्र ही; भृतयोः—इन दोनों सेवकों का; विवासः—निर्वासन, देश निकाला।

मेरे इन सेवकों ने अपने स्वामी के मनोभाव को न जानते हुए आपके प्रति अपराध किया है, इसलिए मैं इसे अपने प्रति किया गया अनुग्रह मानूँगा यदि आप यह आदेश दें कि वे मेरे पास शीघ्र ही लौट आयें तथा मेरे धाम से उनका निर्वासन-काल शीघ्र ही समाप्त हो जाय।

तात्पर्य : इस कथन से हम समझ सकते हैं कि भगवान् अपने सेवकों को वैकुण्ठ वापस लाने के लिए कितने चिन्तित हैं। इसलिए यह घटना सिद्ध करती है कि जो लोग एक बार वैकुण्ठ में प्रविष्ट हो चुके हैं, वे कभी नीचे नहीं गिर सकते। जय तथा विजय का मामला पतन का नहीं है, यह तो मात्र एक घटना है। ऐसे भक्तों को जल्द से जल्द वैकुण्ठ वापस लाने के लिए भगवान् सदैव चिन्तित रहते हैं। यह कल्पना करनी होगी कि भगवान् तथा भक्तों के मध्य किसी प्रकार की भ्रान्ति की संभावना नहीं रहती, किन्तु जब एक भक्त तथा दूसरे भक्त के बीच कोई विभेद या व्यवधान आता है, तो भक्त को परिणाम भोगना पड़ता है, यद्यपि यह कष्ट क्षणिक होता है। भगवान् अपने भक्तों पर इतने दयालु हैं कि उन्होंने द्वारपालों के अपराध का सारा भार अपने ऊपर ले लिया और मुनियों से प्रार्थना की कि वे उन्हें ऐसी सुविधाएँ प्रदान करें जिससे वे जल्दी से जल्दी वैकुण्ठ वापस आ सकें।

ब्रह्मोवाच
अथ तस्योशतीं देवीमृषिकुल्यां सरस्वतीम् ।
नास्वाद्य मन्युदष्टानां तेषामात्माप्यतृप्यत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; उवाच—कहा; अथ—अब; तस्य—परमेश्वर का; उशतीम्—मनोहर; देवीम्—चमकते; ऋषि-कुल्याम्—वैदिक स्तोत्रों की शृंखला के समान; सरस्वतीम्—वाणी; न—नहीं; आस्वाद्य—सुनकर; मन्यु—क्रोध; दष्टानाम्—काटा गया; तेषाम्—उन मुनियों के; आत्मा—मन; अपि—यद्यपि; अतृप्यत—तुष्ट किया।

ब्रह्मा ने आगे कहा : यद्यपि मुनियों को क्रोध रूपी सर्प ने डस लिया था, किन्तु उनकी आत्माएँ भगवान् की उस मनोहर तथा तेजपूर्ण वाणी को सुनकर अघाई नहीं थीं जो वैदिक मंत्रों की शृंखला के समान थी।

सतीं व्यादाय शृण्वन्तो लघ्वीं गुर्वर्थगह्वराम् ।
विगाह्यागाधगम्भीरां न विदुस्तच्चिकीर्षितम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सतीम्—सर्वोत्तम; व्यादाय—ध्यानपूर्वक सुनकर; शृण्वन्तः—सुनते हुए; लघ्वीम्—ठीक से रचा हुआ; गुरु—गहन; अर्थ—आशय; गह्वराम्—समझ पाना कठिन; विगाह्य—मनन करके; अगाध—गहरा; गम्भीराम्—गम्भीर; न—नहीं; विदुः—समझते हैं; तत्—परमेश्वर का; चिकीर्षितम्—मनोभाव।

भगवान् की उत्कृष्ट वाणी इसके गहन आशय तथा इसके अत्यधिक गहन महत्व के कारण समझी जाने में कठिन थी। मुनियों ने उसे कान खोलकर सुना तथा उस पर मनन भी किया। किन्तु सुनकर भी वे यह नहीं समझ पाये कि भगवान् क्या करना चाह रहे हैं।

तात्पर्य : यह समझना चाहिए कि बोलने में भगवान् से कोई पार नहीं पा सकता। परम पुरुष तथा उनकी वाणी में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वे परम पद पर स्थित हैं। मुनियों ने भगवान् के होठों से निस्सृत शब्दों को कान खोलकर सुनने-समझने का प्रयास किया, किन्तु मुनिगण ठीक से समझ न पाये कि वे क्या कह रहे हैं, यद्यपि उनकी वाणी अति संक्षिप्त तथा अर्थपूर्ण थी। वे वाणी का तात्पर्य तक नहीं समझ पाये कि वे क्या कहना चाह रहे हैं। न ही वे यह समझ सके कि भगवान् उन पर क्रुद्ध हैं या प्रसन्न हैं।

ते योगमाययारब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम् ।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; योग-मायया—उनकी अन्तरंगा शक्ति द्वारा; आरब्ध—प्रकट किया गया; पारमेष्ठ्य—भगवान् का; महा-उदयम्—बहुमुखी यश; प्रोचुः—बोले; प्राञ्जलयः—हाथ जोड़कर; विप्राः—चारों ब्राह्मण; प्रहृष्टाः—अत्यधिक प्रसन्न; क्षुभित-त्वचः—रोमांचित।

तो भी चारों ब्राह्मण मुनि उन्हें देखकर अतीव प्रसन्न थे और उन्होंने अपने सम्पूर्ण शरीरों में रोमांच का अनुभव किया। तब उन भगवान् से जिन्होंने अपनी योगमाया से परम पुरुष की बहुमुखी महिमा को प्रकट किया था, वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : चारों मुनि भगवान् के समक्ष पहली बार बोलने में उलझन सी अनुभव कर रहे थे और अतीव हर्ष के कारण उन्हें रोमांच हो आया। भौतिक जगत का सर्वोच्च ऐश्वर्य *पारमेष्ठ्य* कहलाता है, जो कि ब्रह्मा का ऐश्वर्य है। किन्तु इस भौतिक जगत के सर्वोच्चलोक में रहने वाले ब्रह्मा का वह भौतिक ऐश्वर्य भगवान् के ऐश्वर्य की बराबरी नहीं कर सकता, क्योंकि आध्यात्मिक जगत में दिव्य ऐश्वर्य *योगमाया* द्वारा उत्पन्न होता है, जबकि भौतिक जगत में यह ऐश्वर्य *महामाया* द्वारा उत्पन्न होता है।

ऋषय ऊचुः

न वयं भगवन्विद्मस्तव देव चिकीर्षितम् ।
कृतो मेऽनुग्रहश्चेति यदध्यक्षः प्रभाषसे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः—ऋषियों ने; ऊचुः—कहा; न—नहीं; वयम्—हम; भगवन्—हे भगवान्; विद्मः—जानते थे; तव—तुम्हारा; देव—हे प्रभु; चिकीर्षितम्—करने की इच्छा; कृतः—किया हुआ; मे—मेरे प्रति; अनुग्रहः—कृपा; च—तथा; इति—इस प्रकार; यत्—जो; अध्यक्षः—परम शासक; प्रभाषसे—तुम कहते हो।

ऋषियों ने कहा : हे भगवन्, हम यह नहीं जान पा रहे कि आप हमारे लिए क्या करना चाहते हैं, क्योंकि आप सबों के परम शासक होते हुए भी हमारे पक्ष में बोल रहे हैं मानो हमने आपके साथ कोई अच्छाई की हो।

तात्पर्य : मुनिगण यह जान गये कि पुरुषोत्तम भगवान्, जो सबों के ऊपर हैं, इस तरह बोल रहे हैं, मानो उनसे कोई गलती हो गई हो। अतएव उनके लिए भगवान् के शब्दों को समझ पाना कठिन हो रहा था। किन्तु वे यह समझ गये कि भगवान् ऐसे विनीत स्वर में इसलिए बोल रहे हैं जिससे वे अपना सर्व-दयामय अनुग्रह उन्हें दिखा सकें।

ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो ।
विप्राणां देवदेवानां भगवानात्मदैवतम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मण्यस्य—ब्राह्मण संस्कृति के परम निदशेक का; परम्—सर्वोच्च; दैवम्—स्थिति, पद; ब्राह्मणाः—ब्राह्मण जन; किल—अन्यों को शिक्षा देने के लिए; ते—तुम्हारा; प्रभो—हे प्रभु; विप्राणाम्—ब्राह्मणों का; देव-देवानाम्—देवताओं द्वारा पूजे जाने के लिए; भगवान्—भगवान्; आत्म—स्वयं; दैवतम्—पूज्य विग्रह।

हे प्रभु, आप ब्राह्मण संस्कृति के परम निदेशक हैं। ब्राह्मणों को सर्वोच्च पद पर आपके द्वारा माना जाना अन्यों को शिक्षा देने के लिए आपका उदाहरण है। वस्तुतः आप न केवल देवताओं के लिए, अपितु ब्राह्मणों के लिए भी परम पूज्य विग्रह हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् समस्त कारणों के कारण हैं। निस्सन्देह, देवता तो अनेक हैं, किन्तु उनमें प्रधान ब्रह्मा तथा शिव हैं। भगवान् विष्णु ब्रह्मा तथा शिव के प्रभु हैं, तो इस भौतिक जगत में ब्राह्मणों के विषय में क्या कहा जाय? जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् ब्राह्मण संस्कृति या इन्द्रियों तथा मन के नियंत्रण, स्वच्छता, सहिष्णुता, शास्त्रों में श्रद्धा तथा सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान के गुणों के अनुसार सम्पन्न सारे कार्यों के प्रति अत्यधिक अनुकूल रहते हैं। भगवान् सबों के परमात्मा हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् समस्त उद्भवों के स्रोत हैं और इस तरह वे ब्रह्मा तथा शिव के भी स्रोत हैं।

त्वत्तः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्तव ।
धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकारो भवान्मतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

त्वत्तः—तुमसे; सनातनः—शाश्वत; धर्मः—वृत्ति; रक्ष्यते—रक्षा किया जाता है; तनुभिः—अनेक अभिव्यक्तियों द्वारा; तव—तुम्हारा; धर्मस्य—धार्मिक सिद्धान्तों का; परमः—परम; गुह्यः—विषय; निर्विकारः—अपरिवर्तनीय; भवान्—आप; मतः—हमारे मत से।

आप सारे जीवों की शाश्वत वृत्ति के स्रोत हैं और भगवान् के नाना स्वरूपों द्वारा आपने सदैव धर्म की रक्षा की है। आप धार्मिक नियमों के परम लक्ष्य हैं और हमारे मत से आप अक्षय तथा शाश्वत रूप से अपरिवर्तनीय हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक का *धर्मस्य परमो गुह्यः* कथन समस्त धार्मिक सिद्धान्तों के अति गोपनीय अंश का द्योतक है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है। अर्जुन को दिये गये उपदेश में भगवान् कृष्ण का निष्कर्ष है ''अन्य सारे धार्मिक कार्य त्याग दो और केवल मेरी शरण में आओ।'' धार्मिक सिद्धान्तों को सम्पन्न करने में यह सर्वाधिक गुह्य ज्ञान है। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि कोई व्यक्ति

अपने नियमित धार्मिक कर्तव्यों को दृढ़तापूर्वक सम्पन्न करके यदि कोई कृष्णभावनाभावित नहीं बनता है, तो तथाकथित धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करने में उसका सारा श्रम समय का अपव्यय मात्र है। यहाँ मुनिगण इस कथन की भी पुष्टि करते हैं कि देवता नहीं, अपितु परमेश्वर ही सारे धार्मिक सिद्धान्तों के चरम लक्ष्य हैं। ऐसे अनेक मूर्ख विज्ञापनकर्ता हैं, जो यह कहते हैं कि देवताओं की पूजा भी परम लक्ष्य तक पहुँचने की विधि है, किन्तु *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* के प्रामाणिक कथनों में इसे स्वीकार नहीं किया गया है। *भगवद्गीता* कहती है कि जो व्यक्ति किसी विशेष देवता की पूजा करता है, वह उस देवता के लोक पहुँच सकता है, किन्तु जो पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करता है, वह वैकुण्ठ में प्रवेश कर सकता है। कुछ विज्ञापनकर्ता कहते हैं कि कोई चाहे जो कुछ करता रहे अन्ततः वह भगवद्धाम पहुँचेगा ही, किन्तु यह वैध नहीं है। भगवान् शाश्वत हैं और भगवान् का सेवक शाश्वत होता है तथा भगवान् का धाम भी शाश्वत है। इन सबों को यहाँ पर *सनातन* या शाश्वत कहा गया है। इसलिए भक्ति का फल उतना अस्थाई नहीं है जितना कि देवताओं की पूजा करने से स्वर्गलोक की प्राप्ति है। मुनिगण इस बात पर बल देना चाह रहे थे कि यद्यपि भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से यह कहते हैं कि वे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की पूजा करते हैं, किन्तु वस्तुतः भगवान् न केवल ब्राह्मणों तथा वैष्णवों द्वारा पूजित हैं, अपितु देवताओं द्वारा भी पूजित हैं।

तरन्ति ह्यञ्जसा मृत्युं निवृत्ता यदनुग्रहात् ।
योगिनः स भवान्किं स्विदनुगृह्येत यत्परैः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तरन्ति—पार करते हैं; हि—क्योंकि; अञ्जसा—आसानी से; मृत्युम्—जन्म तथा मृत्यु को; निवृत्ताः—सारी भौतिक इच्छाओं को छोड़ करके; यत्—तुम्हारे; अनुग्रहात्—कृपा से; योगिनः—योगीजन; सः—परमेश्वर; भवान्—आप; किम् स्वित्—कभी सम्भव नहीं; अनुगृह्येत—अनुग्रह किया जा सकता है; यत्—जो; परैः—अन्यों द्वारा।

भगवान् की कृपा से योगीजन तथा अध्यात्मवादी समस्त भौतिक इच्छाओं को छोड़कर अज्ञान को पार कर जाते हैं। इसलिए यह सम्भव नहीं कि कोई परमेश्वर पर अनुग्रह कर सके।

तात्पर्य : जब तक किसी पर परमेश्वर की कृपा नहीं होती तब तक वह बारम्बार होने वाले जन्म तथा मृत्यु के अज्ञान-सागर को पार नहीं कर सकता। यहाँ यह कहा गया है कि *योगीजन* या अध्यात्मवादी लोग भगवान् की कृपा से अज्ञान-सागर को पार कर जाते हैं। *योगी* कई प्रकार के हैं

यथा *कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी* तथा *भक्तियोगी*। *कर्मीजन* तो विशेष रूप से देवताओं की कृपा की खोज करते हैं, ज्ञानीजन परब्रह्म से एकाकार हो जाना चाहते हैं तथा योगीजन भगवान् (परमात्मा) की आंशिक झलक मात्र से और अन्त में उनसे एकत्व प्राप्त करने से तुष्ट हो जाते हैं। किन्तु भक्तगण तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का शाश्वत सान्निध्य पाना और उनकी सेवा करना चाहते हैं। यह पहले ही माना जा चुका है कि भगवान् शाश्वत हैं और जो लोग परमेश्वर का निरन्तर अनुग्रह चाहते हैं, वे भी शाश्वत हैं। इसलिए यहाँ पर योगियों का अर्थ भक्त है। भगवत्कृपा से भक्तगण जन्म तथा मृत्यु के अज्ञान को सरलता से पार कर सकते हैं और भगवान् के नित्य धाम को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए भगवान् को अन्य की कृपा की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि कोई न तो उनके तुल्य है, न ही उनसे बढ़कर है। वस्तुत: अपने मानव उद्देश्य की सफल जानकारी के लिए सबों को भगवान् की कृपा की आवश्यकता पड़ती है।

यं वै विभूतिरुपयात्यनुवेलमन्यै-
रर्थार्थिभिः स्वशिरसा धृतपादरेणुः ।
धन्यार्पिताङ्घ्रितुलसीनवदामधाम्नो
लोकं मधुव्रतपतेरिव कामयाना ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; वै—निश्चय ही; विभूति:—लक्ष्मी जी; उपयाति—प्रतीक्षा में खड़ी रहती है; अनुवेलम्—यदा कदा; अन्यै:—अन्यों के द्वारा; अर्थ—भौतिक सुविधा; अर्थिभि:—चाहने वालों के द्वारा; स्व-शिरसा—अपने अपने सिरों पर; धृत—स्वीकार करते हुए; पाद—पाँवों की; रेणु:—धूल; धन्य—भक्तों के द्वारा; अर्पित—अर्पित; अङ्घ्रि—आपके चरणों पर; तुलसी—तुलसी दल के; नव—नवीन; दाम—माला पर; धाम्न:—स्थान वाला; लोकम्—स्थान; मधु-व्रत-पते:—भौरों के राजा का; इव—सदृश; काम-याना—प्राप्त करने के लिए उत्सुक है।

जिनके चरणों की धूल अन्य लोग अपने शिरों पर धारण करते हैं, वहीं लक्ष्मीदेवी आपकी पूर्व निर्धारित सेवा में रहती हैं, क्योंकि वे उन भौंरों के राजा के धाम में स्थान सुरक्षित करने के लिए उत्सुक रहती हैं, जो आपके चरणों पर किसी धन्य भक्त के द्वारा अर्पित तुलसीदलों की ताजी माला पर मँडराता है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले वर्णन किया जा चुका है, भगवान् के चरणकमलों पर चढ़ाये जाने के कारण तुलसी को सारे श्रेष्ठतम गुण मिले हैं। यहाँ पर प्रयुक्त उपमा अति उत्तम है। जिस तरह भौंरों का राजा भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित तुलसी दलों पर मँडराता रहता है उसी प्रकार लक्ष्मीजी,

जिनकी तलाश देवताओं, ब्राह्मणों, वैष्णवों तथा अन्य सबों को रहती है, भगवान् के चरणकमलों की सेवा में सदैव ही लगी रहती हैं। निष्कर्ष यह है कि कोई व्यक्ति भगवान् का उपकारी नहीं हो सकता। वस्तुत: प्रत्येक व्यक्ति भगवान् के दास का दास है।

यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां
नात्याद्रियत्परमभागवतप्रसङ्गः ।
स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजःपुनीतः
श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; ताम्—लक्ष्मी को; विविक्त—नितान्त शुद्ध; चरितैः—भक्ति; अनुवर्तमानाम्—सेवा करते हुए; न—नहीं; अत्याद्रियत्—अनुरक्त; परम—सर्वाधिक; भागवत—भक्तगण; प्रसङ्गः—अनुरक्त; सः—परमेश्वर; त्वम्—तुम; द्विज—ब्राह्मणों के; अनुपथ—पथ पर; पुण्य—पवित्र की गई; रजः—धूल; पुनीतः—शुद्ध किया हुआ; श्रीवत्स—श्रीवत्स का; लक्ष्म—चिह्न; किम्—क्या; अगाः—तुमने प्राप्त किया है; भग—सारे ऐश्वर्य या सारे सद्गुण; भाजनः—आगार; त्वम्—तुम।

हे प्रभु, आप अपने शुद्ध भक्तों के कार्यों के प्रति अत्यधिक अनुरक्त रहते हैं फिर भी आप उन लक्ष्मीजी से कभी अनुरक्त नहीं रहते जो निरन्तर आपकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगी रहती हैं। अतएव आप उस पथ की धूल द्वारा कैसे शुद्ध हो सकते हैं जिन पर ब्राह्मण चलते हैं, और अपने वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह के द्वारा आप किस तरह महिमामंडित या भाग्यशाली बन सकते हैं?

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि भगवान् अपने वैकुण्ठ लोक में लाखों लक्ष्मियों द्वारा सदैव सेवित होते हैं, किन्तु समस्त ऐश्वर्यों से विरक्त रहने की भावना से वे उनमें से किसी के प्रति भी अनुरक्त नहीं होते। भगवान् के छह ऐश्वर्य हैं—असीम सम्पत्ति, असीम यश, असीम बल, असीम सौन्दर्य, असीम ज्ञान तथा असीम त्याग। सारे देवता तथा अन्य जीव लक्ष्मीजी की कृपा पाने के लिए उनकी पूजा करते हैं। फिर भी भगवान् उन लक्ष्मीजी के प्रति अनुरक्त नहीं रहते, क्योंकि अपनी दिव्य सेवा कराने के लिए वे असंख्य लक्ष्मियों को उत्पन्न कर सकते हैं। कभी-कभी लक्ष्मीजी को उन तुलसी दलों से ईर्ष्या होती है, जो भगवान् के चरणकमलों पर चढ़ाये जाते हैं, क्योंकि वे दल वहीं पर स्थिर रहते हैं और हटते नहीं जबकि लक्ष्मीजी, उनके वक्षस्थल पर स्थित रहते हुए भी, कभी कभी उन अन्य भक्तों को प्रसन्न करने के लिए जाती रहती हैं, जो उनकी कृपा पाने के लिए प्रार्थना करते हैं। लक्ष्मी जी को कभी कभी अपने असंख्य भक्तों को तुष्ट करने जाना पड़ता है, किन्तु तुलसीदल कभी अपने स्थान को नहीं छोड़ते। इसीलिए भगवान् लक्ष्मीजी की सेवा की अपेक्षा तुलसी की सेवा को अधिक चाहते

हैं। इसलिए जब भगवान् यह कहते हैं कि ब्राह्मणों की अहैतुकी कृपा से ही लक्ष्मीजी उन्हें नहीं छोड़तीं तो हम यह समझ सकते हैं कि लक्ष्मीजी भगवान् के ऐश्वर्य से आकृष्ट होती हैं, उन पर ब्राह्मणों के आशीर्वादों के कारण नहीं। भगवान् अपने ऐश्वर्य के लिए किसी की कृपा पर आश्रित नहीं हैं, वे सदैव आत्माराम हैं। भगवान् का यह कथन कि उनका ऐश्वर्य ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के आशीष के कारण है, अन्य लोगों को यह शिक्षा देने के लिए है कि वे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों का आदर करें जो भगवान् के ही भक्त होते हैं।

धर्मस्य ते भगवतस्त्रियुग त्रिभिः स्वैः
पद्भिश्चराचरमिदं द्विजदेवतार्थम् ।
नूनं भृतं तदभिघाति रजस्तमश्च
सत्त्वेन नो वरदया तनुवा निरस्य ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—धर्मस्वरूप; ते—तुम्हारा; भगवतः—भगवान् का; त्रि-युग—तीनों युगों में प्रकट होने वाले आप; त्रिभिः—तीन; स्वैः—अपने; पद्भिः—पाँवों द्वारा; चर-अचरम्—चर तथा अचर; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; द्विज—दो बार जन्म लेने वाला; देवता—देवता; अर्थम्—के लिए; नूनम्—किन्तु; भृतम्—सुरक्षित; तत्—वे पाँव; अभिघाति—विनष्ट करते हुए; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; च—तथा; सत्त्वेन—सतोगुण का; नः—हमको; वर-दया—सारे आशीर्वाद देते हुए; तनुवा—अपने दिव्य रूप द्वारा; निरस्य—भगाकर।

हे प्रभु, आप साक्षात् धर्म हैं। अतः आप तीनों युगों में अपने को प्रकट करते हैं और इस तरह इस ब्रह्माण्ड की रक्षा करते हैं जिसमें चर तथा अचर प्राणी रहते हैं। आप शुद्ध सत्त्व रूप तथा समस्त आशीषों को प्रदान करने वाली कृपा से देवताओं तथा द्विजों के रजो तथा तमो गुणों को भगा दें।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् को *त्रियुग*—सत्य, द्वापर तथा त्रेता—इन तीनों युगों में प्रकट होने वाला कहा गया है। चतुर्थ युग अथवा कलियुग में उनके प्रकट होने का यहाँ उल्लेख नहीं हुआ। वैदिक वाङ्मय में वर्णन हुआ है कि वे कलियुग में *छन्न अवतार* के रूप में आते हैं, किन्तु प्रकट अवतार के रूप में नहीं आते। किन्तु अन्य युगों में भगवान् प्रकट अवतार होते हैं, इसीलिए उन्हें *त्रियुग* कहकर सम्बोधित किया गया है।

श्रीधर स्वामी ने *त्रियुग* का वर्णन इस प्रकार किया है : *युग* का अर्थ है "जोड़ा" तथा *त्रि* का अर्थ है "तीन।" भगवान् अपने छह ऐश्वर्यों के द्वारा तीन जोड़ों या ऐश्वर्य के तीन जोड़ों के रूप में प्रकट

होते हैं। इस तरह उन्हें *त्रियुग* के रूप में सम्बोधित किया जा सकता है। भगवान् धार्मिक सिद्धान्तों के साक्षात् रूप हैं। तीन युगों में धार्मिक सिद्धान्तों की रक्षा तीन प्रकार की आध्यात्मिक संस्कृति के द्वारा की जाती है जिनके नाम हैं तप, शौच तथा दया। इस तरह से भी भगवान् *त्रियुग* कहलाते हैं। कलियुग में आध्यात्मिक संस्कृति कि ये तीन आवश्यक अनिवार्यताएँ अनुपस्थित सी रहती हैं, किन्तु भगवान् इतने दयालु हैं कि कलियुग के इन तीनों आध्यात्मिक गुणों से रहित होने पर भी वे आते हैं और श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में छन्न अवतार के तौर पर इस युग के लोगों की रक्षा करते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु छन्न अवतार कहलाते हैं। यद्यपि वे स्वयं कृष्ण हैं, किन्तु वे कृष्ण के भक्त रूप में अपने को प्रस्तुत करते हैं, साक्षात् कृष्ण रूप में नहीं। इसलिए भक्तगण श्री चैतन्य महाप्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वे इस युग की सर्वाधिक प्रमुख सम्पत्तियों—रजो तथा तमो गुणों—को दूर कर दें। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में मनुष्य श्री चैतन्य द्वारा प्रवर्तित भगवान् के नाम, हरे कृष्ण, हरे कृष्ण का कीर्तन करके रजो तथा तमो गुणों को अपने से दूर कर सकता है।

चारों कुमार रजो तथा तमो गुणों में अपनी स्थिति से ज्ञात थे, क्योंकि वैकुण्ठ में होते हुए भी उन्होंने भगवान् के भक्तों को शाप देना चाहा। चूँकि उन्हें अपनी दुबर्लता का भान था, अतः उन्होंने अपने में शेष रजो तथा तमो गुणों को दूर करने के लिए भगवान् से प्रार्थना की। तीन दिव्य गुण—शौच, तप तथा दया—द्विजों तथा देवताओं के गुण हैं। जो सतोगुण में स्थित नहीं हैं, वे आध्यात्मिक संस्कृति के इन तीन सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन के लिए तीन पापकर्म हैं जिनकी मनाही की जाती है। ये हैं अवैध यौन, मादक द्रव्य सेवन तथा कृष्ण को अर्पित प्रसाद के अतिरिक्त अन्य भोजन खाना। ये तीनों निषेध तपस्या, शौच तथा दया के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। भक्तगण दयालु होते हैं, क्योंकि वे दीन पशुओं को नहीं मारते, तथा स्वच्छ रहते हैं, क्योंकि वे अवांछित खाद्य पदार्थों तथा अवांछित आदतों के कल्मष से मुक्त रहते हैं। तपस्या का प्रतिनिधित्व नियंत्रित यौन जीवन द्वारा किया जाता है। चारों कुमारों की प्रार्थनाओं द्वारा इंगित किये गये इन सिद्धान्तों का पालन उन भक्तों द्वारा किया जाना चाहिए जो कृष्णभावनामृत में लगे हुए हैं।

न त्वं द्विजोत्तमकुलं यदि हात्मगोपं

गोप्ता वृषः स्वर्हणेन ससूनृतेन ।
तर्ह्येव नङ्क्ष्यति शिवस्तव देव पन्था
लोकोऽग्रहीष्यदृषभस्य हि तत्प्रमाणम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; त्वम्—तुम; द्विज—दो बार जन्म लेने वाले का; उत्तम-कुलम्—सर्वोच्च जाति; यदि—यदि; ह—निस्सन्देह; आत्म-गोपम्—आपके द्वारा रक्षित होने के योग्य; गोप्ता—रक्षक; वृषः—सर्वोत्कृष्ट; सु-अर्हणेन—पूजा द्वारा; स-सूनृतेन—मृदु शब्दों के साथ साथ; तर्हि—तब; एव—निश्चय ही; नङ्क्ष्यति—खो जायेगा; शिवः—शुभ; तव—तुम्हारा; देव—हे प्रभु; पन्थाः—पथ; लोकः—सामान्यजन; अग्रहीष्यत्—स्वीकार करेगा; ऋषभस्य—सर्वोत्कृष्ट का; हि—क्योंकि; तत्—वह; प्रमाणम्—प्रमाण।.

हे प्रभु, आप सर्वोच्च द्विजों के रक्षक हैं। यदि आप पूजा तथा मृदु वचनों को अर्पित करके उनकी रक्षा न करें तो निश्चित है कि पूजा का शुभ मार्ग उन सामान्यजनों द्वारा परित्यक्त कर दिया जाएगा जो आपके बल तथा प्रभुत्व पर कर्म करते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् ने कहा है कि महापुरुषों के कार्यों तथा चरित्र का अनुसरण सामान्य जनों द्वारा किया जाता है। इसीलिए समाज में आदर्श चरित्र वाले नायकों की आवश्यकता पड़ती है। कृष्ण अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, इस जगत में पूर्ण प्रभुत्व का दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए ही प्रकट हुए और लोगों को उसी मार्ग का अनुसरण करना होता है। वैदिक आदेश है कि मनुष्य मात्र मानसिक चिन्तन या तर्क द्वारा परब्रह्म को नहीं समझ सकता। उसे महापुरुषों का अनुसरण करना होता है। *महाजनो येन गतः स पन्थाः*। महापुरुषों का अनुसरण किया जाना चाहिए—अन्यथा यदि हम शास्त्रों पर ही अवलम्बित रहें तो कभी कभी हम धूर्तों द्वारा गुमराह किये जा सकते हैं या फिर हम विभिन्न आध्यात्मिक आदेशों को समझ नहीं पाते, अथवा उनका अनुसरण नहीं कर पाते। सर्वोत्तम मार्ग यही है कि महापुरुषों का अनुसरण किया जाय। चारों ब्राह्मण मुनियों ने कहा कि कृष्ण स्वभावतः गौवों तथा ब्राह्मणों के रक्षक हैं—*गोब्राह्मणहिताय च*। जब कृष्ण इस लोक में थे तो उन्होंने व्यावहारिक दृष्टान्त प्रस्तुत किया था। वे ग्वालबाल थे और वे ब्राह्मणों तथा भक्तों का अत्यधिक आदर करते थे।

यहाँ पर इसकी भी पुष्टि हुई है कि ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ द्विज हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—तीनों ही द्विज हैं, किन्तु इनमें से ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं। जब दो व्यक्तियों में झगड़ा होता है, तो हर व्यक्ति अपने शरीर के ऊपरी भाग सिर, बाहें तथा उदर—की रक्षा करता है। इसी तरह मानव सभ्यता की असली प्रगति में, सामाजिक शरीर के सर्वोत्तम भाग यथा ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों को विशेष सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए श्रमिकों की सुरक्षा की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए किन्तु उच्च जातियों को विशेष

सुरक्षा दी जानी चाहिए। मनुष्यों के सारे वर्गों में ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को विशेष सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। उनकी पूजा की जानी चाहिए। जब उनकी रक्षा की जाती है, तो यह ईश्वर के पूजन जैसा होता है। यह यथार्थतः सुरक्षा नहीं है। यह कर्तव्य है। मनुष्य को चाहिए कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को सभी प्रकार से सम्पत्ति तथा मृदु वचन अर्पित करके उनकी पूजा करे। यदि किसी के पास कुछ भी अर्पित करने का कोई साधन नहीं है, तो उन्हें शान्त करने के लिए कम से कम मधुर वचनों का प्रयोग तो करे। भगवान् ने स्वयं कुमारों के प्रति ऐसा आचरण दर्शाया।

यदि नेतृत्व करने वाले इस प्रणाली का सूत्रपात्र नहीं करते तो मानव सभ्यता विनष्ट हो जायेगी। जब कभी भगवान् के भक्तों के लिए जो कि आध्यात्मिक जीवन में अत्यधिक बुद्धिमान हैं कोई सुरक्षा तथा विशिष्ट व्यवहार नहीं होता तब सारा समाज विनष्ट हो जाता है। *नङ्क्ष्यति* शब्द सूचित करता है कि ऐसी सभ्यता नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है और उसका संहार हो जाता है। जिस प्रकार की सभ्यता संस्तुत की गई है, वह *देवपथ* कहलाती है, जिसका अर्थ है ''देवताओं का राजमार्ग।'' देवताओं से अपेक्षा की जाती है कि वे भक्ति में अथवा कृष्णभावनामृत में पूर्णतया स्थिर हों। यही शुभमार्ग है, जिसकी रक्षा की जानी चाहिए। यदि समाज के महापुरुष या नेता ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को विशेष सम्मान नहीं प्रदान करते और उन्हें केवल मधुर वाणी ही नहीं, अपितु सारी सुविधाएँ नहीं देते तो मानव सभ्यता की प्रगति का मार्ग नष्ट हो जायेगा। भगवान् स्वयं ही इसकी शिक्षा देना चाहते थे इसलिए उन्होंने कुमारों की इतनी प्रशंसा की।

तत्तेऽनभीष्टमिव सत्त्वनिधेर्विधित्सोः
क्षेमं जनाय निजशक्तिभिरुद्धृतारेः ।
नैतावता त्र्यधिपतेर्बत विश्वभर्तु-
स्तेजः क्षतं त्ववनतस्य स ते विनोदः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तत्—शुभसूचक मार्ग का वह विनाश; ते—तुम्हारे द्वारा; अनभीष्टम्—पसन्द नहीं किया हुआ; इव—सदृश; सत्त्व-निधेः—सारी अच्छाई का आगार; विधित्सोः—करने के लिए इच्छुक; क्षेमम्—कल्याण; जनाय—सामान्य लोगों के लिए; निज-शक्तिभिः—अपनी ही शक्तियों द्वारा; उद्धृत—विनष्ट किया हुआ; अरेः—विरोधी तत्त्व; न—नहीं; एतावता—इससे; त्रि-अधिपतेः—तीन प्रकार की सृष्टियों के स्वामी का; बत—हे प्रभु; विश्व-भर्तुः—ब्रह्माण्ड के पालक; तेजः—शक्ति; क्षतम्—न्यून; तु—लेकिन; अवनतस्य—विनीत; सः—वह; ते—आपका; विनोदः—आनन्द।

प्रिय प्रभु, आप नहीं चाहते कि शुभ मार्ग को विनष्ट किया जाय, क्योंकि आप समस्त

शिष्टाचार के आगार हैं। आप सामान्य लोगों के लाभ हेतु अपनी बलवती शक्ति से दुष्ट तत्त्व को विनष्ट करते हैं। आप तीनों सृष्टियों के स्वामी तथा पूरे ब्रह्माण्ड के पालक हैं। अतएव आपके विनीत व्यवहार से आपकी शक्ति घटती नहीं, प्रत्युत इस विनम्रता द्वारा आप अपनी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं।

तात्पर्य : ग्वलाबाल बनने से, या सुदामा ब्राह्मण को अथवा नन्द महाराज, वसुदेव, महाराज युधिष्ठिर तथा पाण्डवों की माता कुन्ती जैसे भक्तों को सम्मान देने से, भगवान् कृष्ण के पद में कोई कमी नहीं आई। प्रत्येक व्यक्ति जानता था कि वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण थे; फिर भी उनका व्यवहार आदर्शमय था। भगवान् *सच्चिदानन्द विग्रह* हैं; उनका स्वरूप पूर्णतया आध्यात्मिक, आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण एवं नित्य है। चूँकि सारे जीव उनके अंश हैं, अत: मूलत: वे भी भगवान् के नित्य रूप के उसी गुण से सम्बद्ध हैं जिन से स्वयं भगवान्, किन्तु जब वे अपनी विस्मृति के कारण भौतिक शक्ति माया के संसर्ग में आते हैं, तो उनका अस्तित्व सम्बन्धी स्वभाव प्रच्छन्न हो जाता है। हमें भगवान् कृष्ण के आविर्भाव को इसी भाव से देखना चाहिए जिस भाव से कुमार उनसे प्रार्थना करते हैं। वे शाश्वत रूप से वृन्दावन के ग्वालबाल हैं, वे कुरुक्षेत्र युद्ध के नित्य नायक हैं, वे द्वारका के नित्य ऐश्वर्यवान् राजकुमार हैं और वृन्दावन की गोपिकाओं के प्रेमी हैं। उनके सारे प्राकट्य सार्थक हैं, क्योंकि वे उन बद्धजीवों को उनके असली गुण प्रदर्शित करते हैं जिन्होंने परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भुला दिया है। वे सारे कार्य उन्हीं के हितार्थ करते हैं। कृष्ण की इच्छाओं से तथा अर्जुन के माध्यम से कुरुक्षेत्र युद्ध में जो बल का प्रदर्शन हुआ वह भी आवश्यक था, क्योंकि जब लोग अधिक अधार्मिक बन जाते हैं, तो बल आवश्यक हो जाता है। इस सन्दर्भ में अहिंसा धूर्तता है।

यं वानयोर्दममधीश भवान्विधत्ते
वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।
अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डो
येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बिषेण ॥ २५॥

शब्दार्थ

यम्—जो; वा—अथवा; अनयो:—उन दोनों का; दमम्—दण्ड; अधीश—हे प्रभु; भवान्—आप; विधत्ते—प्रदान करता है; वृत्तिम्—अच्छा जीवन; नु—निश्चय ही; वा—अथवा; तत्—वह; अनुमन्महि—हम स्वीकार करते हैं; निर्व्यलीकम्—द्वैतरहित;

अस्मासु—हमको; वा—अथवा; यः—जो भी; उचितः—उचित हो; ध्रियताम्—प्रदान किया जाय; सः—वह; दण्डः—दण्ड; ये—जो; अनागसौ—पापरहित; वयम्—हम; अयुङ्क्ष्महि—नियत किया है; किल्बिषेण—शाप से।.

हे प्रभु, आप इन दोनों निर्दोष व्यक्तियों को या हमें भी जो दण्ड देना चाहेंगे उसे हम बिना द्वैत के स्वीकार करेंगे। हम जानते हैं कि हमने दो निर्दोष व्यक्तियों को शाप दिया है।

तात्पर्य : अब चारों कुमार मुनिगण जय तथा विजय नामक दो द्वारपालों को दिये गये शाप को निरस्त करते हैं, क्योंकि अब उन्हें यह चेत हुआ है कि भगवान् की सेवा में लगा रहने वाला व्यक्ति किसी भी अवस्था में दोषी नहीं हो सकता। यह कहा गया है कि जिसे भी भगवान् की सेवा में अन्तर्निहित श्रद्धा हो या जो वास्तव में दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हुआ हो उसमें देवताओं के सारे सद्गुण होते हैं। अतएव भक्त कभी भी दोषी नहीं हो सकता। यदि कभी यह पाया जाय कि उसने संयोगवश या किसी क्षणिक व्यवस्था के कारण कोई त्रुटि की है, तो उसे गम्भीरता से नहीं लिया जाना चाहिए। यहाँ पर जय तथा विजय के शापित होने पर पछतावा व्यक्त किया जा रहा है। अब कुमारगण अपनी स्थिति को रजो तथा तमो गुणों के रूप में सोच रहे हैं और वे भगवान् द्वारा दिये जाने वाले किसी भी प्रकार के दण्ड को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। सामान्यतया भक्तों के साथ बर्ताव करते समय हमें दोष ढूँढने का प्रयास नहीं करना चाहिए। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि हुई है कि जो भक्त निष्ठापूर्वक परमेश्वर की सेवा करता है, वह यदि भारी भूल करता भी पाया जाय तो भी उसे साधु ही मानना चाहिए। वह अपनी पहले की आदतों के कारण कोई त्रुटि कर सकता है, किन्तु उसके भगवान् की सेवा में लगे रहने के कारण उस त्रुटि को गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए।

श्रीभगवानुवाच

एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः
संरम्भसम्भृतसमाध्यनुबद्धयोगौ ।
भूयः सकाशमुपयास्यत आशु यो वः
शापो मयैव निमितस्तदवेत विप्राः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने उत्तर दिया; एतौ—ये दोनों द्वारपाल; सुर-इतर—आसुरी; गतिम्—गर्भ; प्रतिपद्य—पाकर; सद्यः—शीघ्र ही; संरम्भ—क्रोध से; सम्भृत—सम्वर्धित होकर; समाधि—मन की एकाग्रता; अनुबद्ध—दृढ़तापूर्वक; योगौ—मुझसे बँधे; भूयः—पुत्र; सकाशम्—मेरे पास; उपयास्यतः—लौटेंगे; आशु—शीघ्र ही; यः—जो; वः—तुम्हारा; शापः—शाप; मया—मेरे द्वारा; एव—एकमात्र; निमितः—नियत; तत्—वह; अवेत—जानो; विप्राः—हे ब्राह्मणो।.

भगवान् ने उत्तर दिया : हे ब्राह्मणो, यह जान लो कि तुमने उनको जो दण्ड दिया है, वह

मूलतः मेरे द्वारा निश्चित किया गया था, अतः वे आसुरी परिवार में जन्म लेने के लिए पतित होंगे। किन्तु वे क्रोध द्वारा वर्धित मानसिक एकाग्रता द्वारा मेरे विचार में मुझसे दृढ़तापूर्वक संयुक्त होंगे और शीघ्र ही मेरे पास लौट आयेंगे।

तात्पर्य : भगवान् ने कहा कि मुनियों द्वारा जय तथा विजय द्वारपालों को जो दण्ड दिया गया था उसकी योजना स्वयं भगवान् द्वारा बनाई गई थी। भगवान् की स्वीकृति के बिना कुछ भी घटित नहीं हो सकता। यह समझ लेना होगा कि वैकुण्ठ में भगवान् के भक्तों को शाप देने के पीछे एक योजना थी और उनकी इस योजना की व्याख्या कई उद्भट अधिकारियों ने की है। कभी कभी भगवान् युद्ध करना चाहते हैं। भगवान् में भी युद्ध करने का उत्साह पाया जाता है, अन्यथा युद्ध क्योंकर प्रकट होता? चूँकि भगवान् हर वस्तु के स्रोत हैं, अतः क्रोध तथा युद्ध प्रवृत्ति भी उनमें निहित रहती है। जब वे किसी के साथ युद्ध करना चाहते हैं, तो उन्हें शत्रु खोजना पड़ता है, किन्तु वैकुण्ठलोक में एक भी शत्रु नहीं है, क्योंकि सारे लोग भगवान् की सेवा में पूर्णतया लगे रहते हैं। इसीलिए कभी कभी वे अपना युद्ध में उत्साह प्रकट करने हेतु इस भौतिक जगत में अवतार-रूप में आते हैं।

भगवद्गीता (४.८) में भी कहा गया है कि भगवान् भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने तथा अभक्तों का विनाश करने के लिए ही प्रकट होते हैं। अभक्तगण भौतिक जगत में पाये जाते हैं, आध्यात्मिक जगत में नहीं। अतः जब भगवान् युद्ध करना चाहते हैं, तो उन्हें इस जगत में आना पड़ता है। किन्तु परम प्रभु से युद्ध कौन करेगा? कोई भी उनसे युद्ध करने में सक्षम नहीं है। इसलिए क्योंकि इस जगत में भगवान् की लीलाएँ अपने संगियों के ही साथ सम्पन्न की जाती हैं, अन्यों के साथ नहीं, अतः उन्हें ऐसा भक्त ढूँढना पड़ता है, जो शत्रु का अभिनय कर सके। *भगवद्गीता* में अर्जुन से भगवान् कहते हैं, "हे अर्जुन! तुम तथा मैं दोनों ही इस जगत में कई बार प्रकट हो चुके हैं, किन्तु तुम इसे भूल गये हो जबकि मुझे स्मरण है।" इस तरह भगवान् ने जय तथा विजय से भौतिक जगत में युद्ध करने के लिए उन्हें चुना और यही कारण था कि मुनिगण उन्हें देखने के लिए आये थे और संयोग-वश द्वारपालों को शाप दे दिया गया। भगवान् चाहते थे कि वे दोनों भौतिक जगत में भेजे जाँय, सदा के लिए नहीं बल्कि थोड़े समय के लिए। अतएव, जिस तरह कोई व्यक्ति रंगमच पर मंच के स्वामी के साथ शत्रु का अभिनय करता है, यद्यपि यह नाटक थोड़े समय के लिए होता है और सेवक तथा स्वामी के मध्य

स्थायी शत्रुता नहीं रहती, उसी तरह *सुरजनों* (भक्तगणों) को *असुरजन* या नास्तिक परिवार में जाने के लिए मुनियों द्वारा शाप दिया गया था। कोई भक्त नास्तिक परिवार में जाय, यह आश्चर्यजनक है, किन्तु है केवल दिखावा। छद्म युद्ध समाप्त करने के बाद भक्त तथा भगवान् दोनों पुन: आध्यात्मिक लोकों में मिल जाते हैं। यहाँ पर इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है। निष्कर्ष यह है कि कोई वैकुण्ठलोक से कभी पतित नहीं होता, क्योंकि यह नित्य धाम है। किन्तु भगवान् की इच्छानुसार भक्तगण इस जगत में उपदेशकों या नास्तिकों के रूप में आते हैं। हमें यह समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक घटना के पीछे भगवान् की योजना रहती है। उदाहरणार्थ, भगवान् बुद्ध अवतार थे फिर भी उन्होंने नास्तिकता का उपदेश दिया, ''ईश्वर नहीं है।'' किन्तु वास्तव में इसके पीछे एक योजना थी जिसकी कि *भागवत* में व्याख्या की गई है।

ब्रह्मोवाच

अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयनानन्दभाजनम् ।
वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठं च स्वयंप्रभम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; **अथ**—अब; **ते**—वे; **मुनयः**—मुनिगण; **दृष्ट्वा**—देखकर; **नयन**—आँखों का; **आनन्द**—आनन्द; **भाजनम्**—उत्पन्न करते हुए; **वैकुण्ठम्**—वैकुण्ठ लोक; **तत्**—उसका; **अधिष्ठानम्**—धाम; **विकुण्ठम्**—भगवान्; **च**—तथा; **स्वयम्-प्रभम्**—आत्म-ज्योतित।

ब्रह्माजी ने कहा : वैकुण्ठ के स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को आत्मज्योतित वैकुण्ठलोक में देखने के बाद मुनियों ने वह दिव्य धाम छोड़ दिया।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है और इस श्लोक में पुष्टि की गई है, भगवान् का दिव्य धाम स्वयं प्रकाशमान है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि आध्यात्मिक जगत में सूर्य, चन्द्रमा या बिजली की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह कथन सूचित करता है कि सारे लोक स्वत:प्रकाशित, आत्मनिर्भर तथा स्वतंत्र हैं। वहाँ पर प्रत्येक वस्तु पूर्ण होती है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जो एक बार वैकुण्ठलोक चला जाता है, वह कभी नहीं लौटता। वैकुण्ठलोक के निवासी भौतिक जगत में कभी वापस नहीं आते, किन्तु जय तथा विजय की घटना भिन्न प्रकार की थी। वे कुछ काल के लिए भौतिक जगत में आये और तब वैकुण्ठलोक में लौट गये।

भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्यानुमान्य च ।
प्रतिजग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

भगवन्तम्—भगवान् को; परिक्रम्य—प्रदक्षिणा करके; प्रणिपत्य—नमस्कार करके; अनुमान्य—जानकर; च—तथा; प्रतिजग्मुः—वापस आये; प्रमुदिताः—अतीव हर्षित; शंसन्तः—प्रशंसा करते हुए; वैष्णवीम्—वैष्णवों के; श्रियम्—ऐश्वर्य की।

मुनियों ने भगवान् की प्रदक्षिणा की, उन्हें नमस्कार किया तथा दिव्य वैष्णव ऐश्वर्य को जान लेने पर वे अत्यधिक हर्षित होकर लौट आये।

तात्पर्य : अब भी हिन्दू मन्दिरों में भगवान् की प्रदक्षिणा करने की सम्मानीय प्रथा है। विशेष रूप से वैष्णव मन्दिरों में अर्चाविग्रह को नमस्कार करने तथा मन्दिर की कम-से-कम तीन बार परिक्रमा करने की व्यवस्था रहती है।

भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम् ।
ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ने; अनुगौ—अपने दोनों सेवकों (अनुचरों) से; आह—कहा; यातम्—इस स्थान से जाओ; मा—मत; भैष्टम्—डरो; अस्तु—हो; शम्—सुख; ब्रह्म—ब्राह्मण का; तेजः—शाप; समर्थः—समर्थ होने से; अपि—भी; हन्तुम्—निरस्त करने के लिए; न इच्छे—नहीं चाहता; मतम्—अनुमोदित; तु—प्रत्युत; मे—मेरे द्वारा।

तब भगवान् ने अपने सेवकों जय तथा विजय से कहा : इस स्थान से चले जाओ, किन्तु डरो मत। तुम लोगों की जय हो। यद्यपि मैं ब्राह्मणों के शाप को निरस्त कर सकता हूँ, किन्तु मैं ऐसा करूँगा नहीं। प्रत्युत इसे मेरा समर्थन प्राप्त है।

तात्पर्य : जैसाकि श्लोक २६ के सम्बन्ध में बतलाया गया है, जितनी भी घटना घटी है उन्हें भगवान् का समर्थन प्राप्त था। सामान्यतया इसकी सम्भावना नहीं थी कि चारों मुनि द्वारपालों पर इतना क्रुद्ध होते, न ही भगवान् अपने दो द्वारपालों की उपेक्षा कर सकते थे, न वैकुण्ठ में एक बार जन्म लेकर कोई वहाँ से वापस आ सकता है। इसलिए ये सारी की सारी घटनाएँ भौतिक जगत में अपनी लीलाओं के हेतु स्वयं भगवान् द्वारा अभिकल्पित थीं। इस तरह वे साफ-साफ कहते हैं कि यह उनकी सहमति से किया गया है। अन्यथा केवल ब्राह्मण-शाप के कारण वैकुण्ठ के वासियों का इस भौतिक जगत में वापस आना असम्भव होता। भगवान् ने इन तथाकथित दोषियों को विशेष रूप से आशीर्वाद दिया, "तुम लोगों की जय हो।" भगवान् जिसे एक बार स्वीकार कर लेते हैं वह भक्त कभी पतित

नहीं होता। यही इस घटना का निष्कर्ष है।

एतत्पुरैव निर्दिष्टं रमया क्रुद्धया यदा ।
पुरापवारिता द्वारि विशन्ती मय्युपारते ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह प्रस्थान; पुरा—प्राचीन काल में; एव—निश्चय ही; निर्दिष्टम्—पहले से बतलाया गया; रमया—लक्ष्मी द्वारा; क्रुद्धया—क्रुद्ध; यदा—जब; पुरा—पहले; अपवारिता—रोकी गई; द्वारि—द्वार पर; विशन्ती—प्रवेश करते; मयि—जब मैं; उपारते—विश्राम कर रहा था।

वैकुण्ठ से यह प्रस्थान लक्ष्मीजी ने पहले ही बतला दिया था। वे क्रुद्ध थीं, क्योंकि जब उन्होंने मेरा धाम छोड़ा और वे फिर लौटीं तो तुमने उन्हें द्वार पर रोक लिया जब कि मैं सो रहा था।

मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य ब्रह्महेलनम् ।
प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाल्पीयसा पुनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; संरम्भ-योगेन—क्रोध में योग के अभ्यास द्वारा; निस्तीर्य—से मुक्त किया गया; ब्रह्म-हेलनम्—ब्राह्मणों की अवज्ञा का फल; प्रत्येष्यतम्—वापस आयेंगे; निकाशम्—निकट; मे—मेरे; कालेन—कालक्रम में; अल्पीयसा—अत्यन्त अल्प; पुनः—फिर।

भगवान् ने जय तथा विजय नामक दोनों वैकुण्ठवासियों को आश्वस्त किया : क्रोध में योगाभ्यास द्वारा तुम ब्राह्मणों की अवज्ञा करने के पाप से मुक्त हो जाओगे और अत्यल्प अवधि में मेरे पास वापस आ जाओगे।

तात्पर्य : भगवान् ने जय तथा विजय नामक दोनों द्वारपालों को यह सलाह दी कि क्रोध में *भक्तियोग* के अभ्यास के बल पर वे ब्राह्मण-शाप से मुक्त हो जायेंगे। श्रील मध्व मुनि ने इस सन्दर्भ में टिप्पणी की है कि भक्तियोग का अभ्यास करने से मनुष्य सारे पापों से मुक्त हो सकता है—यहाँ तक कि ब्रह्मशाप अर्थात् ब्राह्मण द्वारा दिया गया शाप जिसका किसी अन्य साधन से निवारण नहीं किया जा सकता भक्तियोग द्वारा निवारित हो सकता है।

मनुष्य भक्तियोग का अभ्यास कई रसों में कर सकता है। रस बारह हैं—पाँच प्राथमिक तथा सात गौण। पाँच प्रमुख रसों से प्रत्यक्ष भक्तियोग की रचना होती है, किन्तु सात गौण रस अप्रत्यक्ष होकर भी भक्तियोग के ही अन्तर्गत गिने जाते हैं, यदि उनका प्रयोग भगवान् की सेवा में किया जाए। दूसरे शब्दों

में, भक्तियोग में सभी सम्मिलित हैं। यदि कोई किसी तरह से पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति आसक्त हो जाता है, तो वह भक्तियोग में लग जाता है जैसाकि श्रीमद्भागवत (१०.२९.१५) में वर्णन हुआ है—कामं क्रोधं भयम्। गोपियाँ काम-सम्बन्ध में भक्तियोग द्वारा कृष्ण के प्रति आकृष्ट थीं। इसी तरह कंस अपनी मृत्यु के भय के कारण भक्तियोग के प्रति आसक्त था। इस तरह भक्तियोग इतना शक्तिशाली है कि भगवान् का शत्रु बनने तथा सदैव उनके विषय में सोचने पर अतिशीघ्र मनुष्य का उद्धार हो सकता है। कहा गया है—*विष्णु भक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद् विपर्ययः*—विष्णु के भक्त देवता कहलाते हैं जबकि अभक्तगण असुर कहलाते हैं। किन्तु भक्तियोग इतना शक्तिशाली है कि सुर तथा असुर दोनों ही इससे लाभ उठा सकते हैं, यदि वे भगवान् का सदैव चिन्तन करें। भक्तियोग का मूल सिद्धान्त है परमेश्वर के विषय में निरन्तर चिन्तन करना। भगवद्गीता (१८.६५) में भगवान् कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्तः*—सदैव मेरा चिन्तन करो। चाहे कोई जिस तरह से चिन्तन करे इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता; भगवान् का चिन्तन करना ही भक्तियोग का मूल सिद्धान्त है।

भौतिक लोकों में पापकर्मों की विभिन्न कोटियाँ हैं जिनमें से ब्राह्मण या वैष्णव का अनादर करना सबसे अधिक पापपूर्ण है। यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य इस गम्भीर पाप से भी मात्र विष्णु का चिन्तन करके, वह भी अनुकूल रीति से नहीं, अपितु क्रोध में करके, छुटकारा पा सकता है। इस तरह जो अभक्तगण सदैव विष्णु का चिन्तन करते हैं, वे भी सारे पापकर्मों से मुक्त हो जाते हैं। कृष्णभावनामृत सर्वोच्च प्रकार की सोच है। इस युग में भगवान् विष्णु का चिन्तन हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे कीर्तन द्वारा किया जाता है। *भागवत* के कथनों से ऐसा लगता है कि यदि कोई कृष्ण का चिन्तन शत्रु के रूप में भी करता है, तो यह विशेष योग्यता—*विष्णु या कृष्ण का चिन्तन*—उस के सारे पापों को धो डालता है।

द्वाःस्थावादिश्य भगवान्विमानश्रेणिभूषणम् ।
सर्वातिशयया लक्ष्म्या जुष्टं स्वं धिष्ण्यमाविशत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

द्वाः-स्थौ—द्वारपालों को; **आदिश्य**—आदेश देकर; **भगवान्**—भगवान्; **विमान-श्रेणि-भूषणम्**—उच्च कोटि के विमानों से सदैव विभूषित; **सर्व-अतिशयया**—हर प्रकार से अत्यधिक ऐश्वर्यशाली; **लक्ष्म्या**—ऐश्वर्य; **जुष्टम्**—से सजाया गया; **स्वम्**—अपने; **धिष्ण्यम्**—धाम में; **आविशत्**—वापस चले गये।

वैकुण्ठ के द्वार पर इस प्रकार बोलकर भगवान् अपने धाम लौट गये जहाँ पर अनेक स्वर्गिक विमान तथा सर्वोपरि सम्पत्ति तथा चमक-दमक रहती है।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि सारी घटनाएँ वैकुण्ठलोक के प्रवेश द्वार पर घटीं। दूसरे शब्दों में, मुनिगण वस्तुतः वैकुण्ठलोक के भीतर नहीं, अपितु द्वार पर थे। यह पूछा जा सकता है कि, ''यदि वे वैकुण्ठलोक में प्रविष्ट हुए तो फिर वे भौतिक जगत में किस तरह लौट पाये?'' किन्तु वास्तव में उन्होंने प्रवेश नहीं किया, अतएव वे लौट आये। ऐसी ही अनेक घटनाएँ हैं जहाँ महान् योगी तथा ब्राह्मण अपने योगाभ्यास के बल पर इस भौतिक जगत से वैकुण्ठलोक गये किन्तु उन्हें वहाँ रुकना नहीं था। वे वापस आ गये। यहाँ पर इसकी भी पुष्टि की गई है कि भगवान् अनेक वैकुण्ठ के विमानों से घिरे थे। यहाँ पर वैकुण्ठलोक को भव्य ऐश्वर्य से युक्त बताया गया है, जो इस भौतिक जगत से कहीं अधिक था।

देवताओं समेत अन्य सारे जीव ब्रह्मा से उत्पन्न हैं और ब्रह्मा भगवान् विष्णु से उत्पन्न हैं। *भगवद्गीता* के दसवें अध्याय में कृष्ण कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—भगवान् विष्णु भौतिक जगत की समस्त अभिव्यक्तियों के उद्गम हैं। जो यह जानते हैं कि भगवान् विष्णु सभी वस्तुओं के उद्गम हैं, जो सृजन विधि से ज्ञात हैं और जो यह समझते हैं कि विष्णु या कृष्ण समस्त जीवों में सर्वाधिक पूज्य विषय हैं, वे वैष्णवों के रूप में विष्णु की पूजा करते हैं। वैदिक मंत्र भी इसकी पुष्टि करते हैं—*ॐ तद् विष्णोः परमं पदम्*। जीवन का लक्ष्य विष्णु को समझना है। *भागवत* में भी अन्यत्र इसी की पुष्टि हुई है। मूर्ख लोग यह न जानते हुए कि विष्णु परम पूज्य विषय हैं इस भौतिक जगत में अनेक पूज्य विषयों की सृष्टि करते हैं, अतएव वे नीचे गिर जाते हैं।

तौ तु गीर्वाणऋषभौ दुस्तराद्धरिलोकतः ।
हतश्रियौ ब्रह्मशापादभूतां विगतस्मयौ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों द्वारपाल; तु—लेकिन; गीर्वाण-ऋषभौ—देवताओं में सर्वश्रेष्ठ; दुस्तरात्—बच सकने में असमर्थ; हरि-लोकतः—हरि के धाम वैकुण्ठ से; हत-श्रियौ—सौन्दर्य तथा कान्ति से हीन; ब्रह्म-शापात्—ब्राह्मण के शाप से; अभूताम्—हो गये; विगत-स्मयौ—खिन्न।

किन्तु वे दोनों द्वारपाल, जो कि देवताओं में सर्वश्रेष्ठ थे, जिनका सौन्दर्य तथा कान्ति

ब्राह्मणों के शाप से उतर गए थे, खिन्न हो गये और भगवान् के धाम वैकुण्ठ से नीचे गिर गये।

तदा विकुण्ठधिषणात्तयोर्निपतमानयोः ।
हाहाकारो महानासीद्विमानाछ्येषु पुत्रकाः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तदा—तब; विकुण्ठ—परमेश्वर के; धिषणात्—धाम से; तयोः—दोनों; निपतमानयोः—गिर रहे थे; हाहा-कारः—निराशा में गर्जते हुए; महान्—महान्; आसीत्—घटित हुआ; विमान-अछ्येषु—सर्वोत्तम विमानों में; पुत्रकाः—हे देवताओ।

तब, जब जय तथा विजय भगवान् के धाम से गिरे तो अपने भव्य विमानों में बैठे हुए सारे देवताओं ने निराश होकर उत्कट हाहाकार किया।

तावेव ह्यधुना प्राप्तौ पार्षदप्रवरौ हरेः ।
दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेज उल्बणम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों द्वारपाल; एव—निश्चय ही; हि—सम्बोधन किया; अधुना—अब; प्राप्तौ—प्राप्त करके; पार्षद-प्रवरौ—महत्त्वपूर्ण संगी; हरेः—भगवान् के; दितेः—दिति के; जठर—गर्भ; निर्विष्टम्—प्रवेश करते हुए; काश्यपम्—कश्यप मुनि का; तेजः—वीर्य; उल्बणम्—अत्यन्त प्रबल।

ब्रह्मा ने आगे कहा : भगवान् के उन दो प्रमुख द्वारपालों ने अब दिति के गर्भ में प्रवेश किया है और कश्यप मुनि के बलशाली वीर्य से वे आवृत हो चुके हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर स्पष्ट प्रमाण है कि मूलतः वैकुण्ठलोक से आने वाला जीव किस तरह भौतिक तत्त्वों में बन्दी हो जाता है। जीव पिता के उस वीर्य में शरण पाता है, जो माता के गर्भ में प्रविष्ट किया जाता है और माता के पायसीकृत डिम्ब की सहायता से जीव विशेष प्रकार के शरीर में बढ़ता है। इस सन्दर्भ में यह स्मरण रखना होगा कि कश्यपमुनि का मन तब व्यवस्थित नहीं था जब उन्होंने हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु नामक दोनों पुत्रों का गर्भाधान किया। अतएव उनका जो वीर्य स्खलित हुआ वह एकसाथ अतीव शक्तिशाली एवं क्रोध के गुण से मिश्रित था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शिशु का गर्भाधान करते समय मन को धीर तथा भक्तिमय रखना चाहिए। इस कार्य के लिए वैदिक शास्त्रों में *गर्भाधान संस्कार* की संस्तुति की जाती है। यदि पिता का मन संयत नहीं होता तो स्खलित हुआ वीर्य बहुत अच्छा नहीं होगा। इस तरह पिता तथा माता से उत्पन्न पदार्थ के भीतर लिपटा हुआ जीव हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु जैसा आसुरी होगा। गर्भाधान की परिस्थितियों का सावधानी के साथ

अध्ययन करना चाहिए। यह अतिमहान् विज्ञान है।

**तयोरसुरयोरद्य तेजसा यमयोर्हि वः ।
आक्षिप्तं तेज एतर्हि भगवांस्तद्विधित्सति ॥ ३६ ॥**

शब्दार्थ

तयोः—उन; असुरयोः—दोनों असुरों के; अद्य—आज; तेजसा—तेज से; यमयोः—जुड़वों का; हि—निश्चय ही; वः—तुम सारे देवताओं का; आक्षिप्तम्—क्षुब्ध; तेजः—शक्ति; एतर्हि—इस प्रकार निश्चय ही; भगवान्—भगवान्; तत्—वह; विधित्सति—करना चाहता है।

यह इन जुड़वे असुरों का तेज है, जिसने तुम सबों को विचलित किया है, क्योंकि इसने तुम्हारी शक्ति को कम कर दिया है। किन्तु मेरी शक्ति में कोई इसका उपचार नहीं है, क्योंकि भगवान् स्वयं ही यह सब करना चाहते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष, जो पहले जय तथा विजय थे, असुर बने, किन्तु इस जगत के देवता उन्हें नियंत्रित नहीं कर सके, अतएव ब्रह्मा ने कहा कि न तो वे, न ही सारे देवता, उनके द्वारा किये जा रहे उपद्रवों का शमन कर सकते थे। वे इस जगत में भगवान् के आदेश से आये थे और वे ही ऐसे उत्पातों का शमन कर सकते थे। दूसरे शब्दों में, यद्यपि जय तथा विजय ने असुरों के शरीर धारण कर लिये थे, किन्तु वे अन्यों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बने रहे। इस तरह यह सिद्ध हो गया कि भगवान् में युद्ध करने की इच्छा थी, क्योंकि उनके भीतर युद्ध करने की भी भावना रहती है। वे हर बात में मौलिक हैं, किन्तु जब वे युद्ध करना चाहते हैं, तो उन्हें भक्त के साथ युद्ध करना होता है। इसलिए उनकी इच्छा से ही जय तथा विजय को कुमारों द्वारा शापित होना पड़ा। भगवान् ने द्वारपालों को भौतिक जगत में जाकर अपने शत्रु बनने का आदेश दिया जिससे वे उनसे युद्ध कर सकें। इस तरह युद्ध करने की उनकी इच्छा की तुष्टि उनके निजी भक्तों की सेवा द्वारा हो सकेगी।

ब्रह्मा ने देवताओं को दिखलाया कि अंधकार के द्वारा उत्पन्न स्थिति जिसके कारण वे सभी विचलित थे परमेश्वर की इच्छा थी। वे यह दिखा देना चाहते थे कि यद्यपि ये दोनों अनुचर असुरों के रूप में आ रहे थे, वे अत्यन्त शक्तिशाली थे, देवताओं से भी बढ़कर जो उनको नियंत्रित नहीं कर सके। कोई भी परमेश्वर के कार्यों का पार नहीं पा सकता। देवताओं को यह भी सलाह दी गई है कि इस घटना का निवारण करने का प्रयास न करें, क्योंकि यह भगवान् द्वारा आदेशित थी। इसी तरह कोई भी

व्यक्ति जिसे इस जगत में कोई कार्य करने का, विशेष रूप से उनकी महिमा का प्रचार करने का, आदेश दिया जाता है, उसका प्रतिकार कोई नहीं कर सकता। सभी परिस्थितियों में भगवान् की इच्छा पूरी होकर रहती है।

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो
योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः ।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीश-
स्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

विश्वस्य—ब्रह्माण्ड का; यः—जो; स्थिति—पालन-पोषण; लय—विनाश; उद्भव—सृष्टि; हेतुः—कारण; आद्यः—सबसे प्राचीन पुरुष; योग-ईश्वरैः—योग के स्वामियों द्वारा; अपि—भी; दुरत्यय—आसानी से समझा नहीं जा सकता; योग-मायः—उनकी योगमाया शक्ति; क्षेमम्—कल्याण, मंगल; विधास्यति—करेगा; सः—वह; नः—हमारा; भगवान्—भगवान्; त्रि-अधीशः—तीनों गुणों के नियन्ता; तत्र—वहाँ; अस्मदीय—हमारे द्वारा; विमृशेन—विचार-विमर्श; कियान्—क्या; इह—इस विषय में; अर्थः—लाभ।

हे प्रिय पुत्रो, भगवान् प्रकृति के तीनों गुणों के नियन्ता हैं और वे ब्रह्माण्ड की सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए उत्तरदायी हैं। उनकी अद्भुत सृजनात्मक शक्ति योगमाया योगेश्वरों तक से आसानी से नहीं समझी जा सकती। सबसे प्राचीन पुरुष भगवान् ही हमें बचा सकते हैं। किन्तु इस विषय पर विचार-विमर्श करने से हम उन की ओर से और क्या कर सकते हैं?

तात्पर्य : जब भगवान् कोई व्यवस्था करते हैं, तो उससे मनुष्य को विचलित नहीं होना चाहिए, भले ही उसकी गणना के अनुसार वह विपरीत क्यों न लगे। उदाहरणार्थ, कभी कभी हम देखते हैं कि कोई शक्तिशाली प्रचारक मार डाला जाता है या कभी कभी वह कष्ट में पड़ जाता है, जिस तरह हरिदास ठाकुर के साथ हुआ। वे एक महान् भक्त थे, जो इस भौतिक जगत में भगवान् की महिमा का प्रचार करके भगवान् की इच्छा को पूरा करने आये थे। किन्तु हरिदास को बाईस बाजारों में मारे पीटे जाकर काजी के हाथों से दण्डित होना पड़ा। इसी तरह जीसस क्राइस्ट को क्रूस पर चढ़ाया गया तथा प्रह्लाद महाराज को अनेकानेक यातनाओं से गुजरना पड़ा। कृष्ण के प्रत्यक्ष मित्र पाण्डवों ने अपना राज्य खो दिया, उनकी पत्नी अपमानित की गई और उन्हें अनेक कठिन यातनाएँ उठानी पड़ीं। इन पराजयों से भक्तों को प्रभावित होते देखकर मनुष्य को विचलित नहीं होना चाहिए। उसे केवल इतना समझ लेना चाहिए कि इन मामलों में अवश्य ही भगवान् की कोई न कोई योजना होगी। *भागवत* का निष्कर्ष

है कि शुद्ध भक्त ऐसी पराजयों से विचलित नहीं होता। वह विपरीत स्थितियों को भी भगवत्कृपा के रूप में स्वीकार करता है। जो व्यक्ति विपरीत अवस्थाओं में भी भगवान् की सेवा करता रहता है, वह आश्वस्त रहता है कि वह भगवद्धाम या वैकुण्ठलोकों को वापस जायेगा। ब्रह्माजी ने देवताओं को आश्वस्त किया कि इस विषय में बात करने से कोई लाभ नहीं कि अंधकार की विचलित करने वाली स्थिति किस तरह घटित हो रही है, क्योंकि वास्तविकता तो यह थी कि इसका आदेश भगवान् द्वारा दिया गया था। ब्रह्मा इसे जानते थे, क्योंकि वे महान् भक्त थे। वे भगवान् की योजना को समझ सकते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''वैकुण्ठ के दो द्वारपालों जय-विजय को मुनियों द्वारा शाप'' नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।